लोकसंस्कृति
आयाम
एवं
परिप्रेक्ष्य

श्री प्रकाशन
(दुग म० प्र०)

लोकसंस्कृति : आयाम एवं परिप्रेक्ष्य

सम्पादक
महावीर अग्रवाल

सम्पादन सहयोग
जीवन यदु
गोरेलाल चन्देल
विशेष सम्पादन सहयोग
डॉ० रमाकान्त श्रीवास्तव
श्रीमती सन्तोष अग्रवाल

श्री प्रकाशन
एच० २४/७ सिविल लाइन–कसारीडीह
दुर्ग (म० प्र०) ४९१००१

श्री प्रकाशन
एच० २४/७ सिविल लाइन,
दुर्ग (म० प्र०) द्वारा प्रकाशित

•

संस्करण १९९३

•

आवरण अनिल कामड़े, दुर्ग

•

पुष्पी आफसेट
११९-बी, बाई का बाग, इलाहाबाद
द्वारा मुद्रित

मूल्य दो सौ तीस रुपये

क्रम

□ परिप्रेक्ष्य

□ संवाद

□ आयाम

दो शब्द मेरे भी

• वतमान मे विकसित किसी भी देश की सस्कृति का मूल उद्गम वहा का लोकजीवन ही है, क्योकि लोकसस्कृति ही तो मानव की सामूहिक ऊर्जा का स्रोत होती है। लोकजीवन का रस ही समाज की जडो को सीचता है। आज का मनुष्य जिस तरह की मनुष्यता को खोज रहा है, उसे लोकसस्कृति के विकास मे ही उपलब्ध किया जा सकता है। यह लोकसस्कृति तो लोक परम्पराओ म, लोकसाहित्य, लोकनाट्य, लोककला, लोकगीत मे सहज आत्मीयता के साथ उल्लसित है। लोक जीवन मे कटुता, द्वेष, घृणा की जगह प्रेम, सेवा, सहृदयता और हार्दिकता मिलती है। जनकल्याण की भावना से आपूरित लोकसस्कृति ने हमेशा लोकधर्म के माध्यम से ही अनुभूति और यथार्थ को अभि यक्ति दी है। उसके जीवन मूल्य हमारी धरोहर हैं। लोकसस्कृति की यह जो शक्ति है वह उसकी विज्ञान सम्मत धारणा के कारण ही है।

× × ×

• सस्कृति मनुष्य के जीवन की सबसे बडी वास्तविकता है। युग युग से समाज को विकास की प्रेरणा देती हुई यह सस्कृति विचार, कर्म और आचरण का यथार्थ है। यही कारण है कि सामा य से सामा य व्यक्ति भी अपनी सस्कृति को समझता है। उसी के अनुरूप वह आचरण करता है। इस तरह सस्कृति तो किसी समाज के उन सस्कारो के रूप म होती है जिनके द्वारा एक निश्चित दिशा म कार्य करने के निर्देश प्राप्त होते हैं। काल और परिस्थिति के अनुरूप समाज का आतरिक व बाह्य कलेवर बदलता है। सास्कृतिक मूल्य भी तो शन शन परिवर्तित होते रहते हैं। प्रसिद्ध विचारक मैथ्यु आनल्ड ने भी अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है—'मनुष्य अपनी आवश्यकताओ का पूर्ण करने म जिन साधनो और यन्त्रो का प्रयोग करता है वह सभी सस्कृतियो के अग हैं। सस्कृति मे जिन भौतिक, अभौतिक वस्तुओ का समावेश होता है, उसको भी हम सस्कृति के क्षेत्र म गिनते हैं।'

× × ×

• सस्कृति के अन्तर्गत समाज की आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, व राजनैतिक व्यवस्था का सम्मिलित प्रवाह निरतर गतिमान रहता है। सस्कृति वस्तुत व्यक्ति और समाज के मानसिक विकास का परिचायक है। लोक जीवन तो इसी सस्कृति का कुबेर है। यह लोक जीवन निरतर प्रवाहमान नदी की तरह उसे अनुप्राणित करता है। लोक कलाकारो की कला झरने की तरह कल-कल करती हुई सतत प्रवाहमान रहती है। लोककलाकारो के जीवन म और उनकी कलाओं मे लोक सस्कृति व्याप्त होती है। ग्राम्य जीवन की जीवन्त झांकी का ही दूसरा नाम **लोक-कला** है।

रंग बिरंगे परिधानों में इठलाती-झूमती ग्राम बालाएं। दूर ग्रामीण अंचलों में धर्म एवं देवी आस्था का स्वर हिलोरें मारता है। ऐतिहासिक परंपरा की पीढ़ी दर पीढ़ी ये कलाकार उत्सव पर्व और समाज की अनेकानेक स्थितियों को प्रतिबिंबित भी करते रहते हैं। यही उनकी शक्ति है और यही हमारी धरोहर है। इन्हीं कलाओं की दुनिया में देश और मानव जाति के सम्पूर्ण उत्कर्ष का रेखांकन होता हुआ नजर आता है।

× × ×

- लोक जीवन में सुख-दुःख, उल्लास दुःख, विषाद और तपन को अभिव्यक्त करते हुए लोकगीत कोटि-कोटि हृदयों का प्रतिनिधित्व करते हैं। पनिहारिन और खेतों में काम करती हुई स्त्रियों के साथ-साथ घर में चक्की पीसती हुई महिलाओं के सुरीले कंठों में रचे बसे मानवीय जनजीवन में इतने गहरे पैठे हुए हैं कि ये आज जन का अभिन्न अंग बन गए हैं। लोकजीवन के प्रत्येक पहलू में, मगहे-नगहे में, चारों ओर में लोकगीत रचे बसे हैं। समाज लोकगीतों के दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखता आया है। लोकगीतों को गाकर मजदूर और कृषक अपनी थकान मिटाते हैं। लोकगीतों की यह परंपरा आदिम युग से चली आ रही है जिससे लोक-संस्कृति अपने मूल रूप में प्रकट होती है। कहना न होगा कि मानव के संस्कारों की व्यंजना इन लोकगीतों में बराबर होती रही है।

× × ×

- लोकसंस्कृति जन जन के श्रम से सिंचित होकर प्रकृति की गोद में पनपती फलती रही है। मानव का मानव के प्रति सहज प्रेम ही लोकसंस्कृति का साध्य रहा है। श्रम की पूजा के साथ ही पारस्परिक प्रेम से भरी विश्वबन्धुत्व की भावना हमारे लोक जीवन का मूल आधार रहा है। जन जीवन के लोक कलाओं में लोकसंस्कृति आज भी स्पंदित है। लोककला को संरक्षण और प्रोत्साहन देने के नाम पर ढोल पीटने में लगे हुए शोषक वर्ग का नजरिया अभिजात समूह के मनोरंजन तक सीमित रह जाता है। जबकि आवश्यकता लोक-कला और लोक संस्कृति के माध्यम से जनता को बदलने, उसे चैतन्य करने, उसे परिष्कृत करने की है। जिनके बिना पर ही ये समाज टिका है। लोकसंस्कृति का यह अंक लोक संवर्धन की दिशा में सोचने की एक पहल है।

सम्पादक

परिप्रेक्ष्य

॥ रांगेय राघव ॥

प्रत्येक युग अपने साथ कुछ परिवर्तन लाता है। आदिकवि वाल्मीकि वास्तव मे आदिकवि नहीं थे। उनसे पहले उपनिषदो और उनके भी पहले वेदो के कवि थे। किंतु महाभारत युग के अंत मे जब लोककाव्य के रूप मे गेय महाभारत म लोकगाथाए संबद्ध हुई तब वाल्मीकि रामायण की पुरानी कथा मे भी नए संवर्धन प्रारम्भ हुए और क्योंकि उसमे मानव को प्रथम बार प्रतिष्ठित किया गया, जिससे लोक मे नई चेतना आई, तो उसे आदिकाव्य कहा गया।

॥ भगवतशरण उपाध्याय ॥

जब से मनुष्य ने चकमक से आग पैदा की और सयत उगलियो ने वर्णपरक ध्वनिया निर्मित की तब से वह जिज्ञासा के भाव से, जानने की अधीरता स और अंधेरे से प्रकाश की ओर बढ़ने की प्रेरणा से उद्विग्न रहा है। प्रणय-कामना ने उसके साहित्य का सृजन किया, नानपिपासा ने उसे अपने जगत् का बोध कराया और प्राणियों से सहानुभूति ने उसे दोलायमान जीवन का वह सुख दिया जो हसता है, नाचता गाता है, हास-परिहास मुहैया करता है। जीवन समग्र है, कम से कम उसकी सम्भावनाएँ समग्र हैं और सचमुच वे अभागे हैं जो इस समग्रता की समृद्धि तथा गौरव का अनुभव नहीं करते। (भारतीय संस्कृति के स्रोत)

× × ×

यह सही है कि कला का भी विकास हुआ है, जैसे सभ्यता और संस्कृति का, जैसे स्वय मानव का। पर लगता है कि कला सभ्यता-संस्कृति से भी पुरातन शुद्ध मानवीय पिंड की मेधा से सबद्ध रही है और जैसे ही मानव मे वाक् अथवा आकलन की दिशा में क्षमता आयी है वैसे ही उसकी आद्यधारा सोते की भाति सहसा और सहस्रश फूट पड़ी है। तब उसने सभ्यता की किरणों की अपेक्षा नही की है। और यही कारण है कि सभ्यता के उदय के सुदूर पूर्व ही मानव 'कोरने' 'गढ़ने', 'खीचने' 'सिरजने' लगा था। इस स्थिति का रहस्य सागोपाग आदि मानव के रूपायित प्रयत्नो मे खुल पड़ा है।

मानवीय प्रतिभा के पूर्वतम-प्राचीनतम सृजनो से प्रकट है कि आदिम आरभ से ही मानव स्रष्टा की प्रक्रिया से आविष्ट है, कि उसकी चेतना कला के अभिनव आख्यान, आलेख्य और रूप रचने को आतुर है।

भारतीय कला का इतिहास (आमुख)—(भगवतशरण उपाध्याय)

॥ वासुदेवशरण अग्रवाल ॥

लोक का अध्ययन बुद्धि का कुतूहल नहीं है। इसे बस एक और नया शास्त्र कहकर नहीं टाला जा सकता। लोक-सम्पर्क के बिना अन्य सब शास्त्र अधूरे हैं। लोक का अमृत निष्यन्द जिस शास्त्र मे नहीं मिला वह कितना भी पंडिताऊ हो, निष्प्राण रहता है। जो ज्ञान लोकहित के लिए नही वह अधूरा है यह मानवी चिन्तन का छूछा फल है। जो शास्त्र लोक के साथ नही जुडा, वह बुद्धि का छलावा है।

(सम्मेलन पत्रिका—लोक संस्कृति अंक)

× × ×

लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है। उसमे भूत भविष्य और वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। लोक ही राष्ट्र का अमर स्वरूप है। अर्वाचीन मानव के लिये लोक सर्वोच्च प्रजापति है। लोक में कृत्स्न ज्ञान और सम्पूर्ण अध्ययन मे सब शास्त्रों का पर्यवसान है। लोक का अध्ययन बुद्धि का कुतूहल नहीं है। लोकसंपर्क के बिना सब अधूरे हैं। जो ज्ञान लोकहित के लिये नही वह अधूरा है।

॥ रामनाथ सुमन' ॥

जब साहित्य राजप्रासादों के विलास-कक्षों मे बन्द हो गया, तब प्रणय का पावन कारी मुक्तिनाद ग्रामवधूटियों एवं ग्राम-तरुणो के कण्ठों से अमराइयों के बीच फूटा, तब साहित्य की सरस्वती सहस्रधा होकर लोक कण्ठ पर तरंगित हुई तब संस्कृति अतर्वय विश्वासों एव प्रेरणाओं का आधार लेकर मीरां की भक्ति के चरणो म घुंघरू बन गई तब वह लक्ष-लक्ष ग्राम निवासों की दीवारो पर शिल्प बनकर उभरी तब उसने सहस्रश शिलाओ को जीवित बहियां का रूप दिया संगीत और वाद्य उसकी झंकार से मुखरित हो गये। जीवन अगणित तरंगों में बहा अगणित वाद्यो मे बजा और अगणित गीतों मे फूट उठा। यही सब समष्टिगत आत्म-प्रकाश लोक संस्कृति है। इसमें हृदय का उद्रेक तथा स्वाभाविकता अधिक है। इसमें मानव हृदय का अमृत अकृत्रिम रूप मे विद्यमान है।

(सम्मेलन पत्रिका—लोक संस्कृति अंक)

जब सताइस वर्ष पूर्व मैं पहली बार मध्यप्रदेश के एक आदिवासी गाँव में रहने के लिये गया तो मैंने समझा था कि वहाँ गरीबी, बीमारी और अज्ञान से भेंट होगी। मैंने कभी नहीं सोचा था कि इन वर्षों म काव्यात्मक आत्मा से साक्षात्कार करके मैं प्रसन्न और प्रेरित होऊगा।

"मैंने आक्सफोर्ड में अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन किया था और जीवन भर मैं कविता के प्रति आकृष्ट रहा। यह अनुभव करना आश्चर्यजनक था कि उपाकथित और कितने गलत ढंग से पिछड़े कहे जाने वाले लोगो मे वह कविता थी जो अपनी सहजता, मोहकता और सूक्ष्मता में विश्व कविता की परम्परा में शामिल की जाने के योग्य है।"

सू-शुन ॥

जनता का सम्पूर्ण जीवन कच्चे माल की खान है, ऐसा कच्चा माल, जो अपने भाविक रूप मे उपलब्ध है। जो अनगढ होने के बावजूद सप्राण, समृद्ध और मौजूद रा है। इसके साथ तुलना करने पर देखा जा रहा समस्त कला-साहित्य फीका पड ता है। यह ही जनसाहित्य और जनकला का अनन्त स्रोत हो। क्योंकि यही कच्चा-माल सका एकमात्र स्रोत है। उसका कोई अन्य स्रोत है ही नहीं।

ग्रेस्त ॥

लोकप्रिय साहित्य व कला वह है, जो व्यापक जनता के लिए बोधगम्य हो, जसमे जनता के अभिव्यजना रूपो को अपनाया गया हो। उन्हें समृद्ध बनाया गया हो। जसमे जनता के दृष्टिकोण को स्वीकार किया गया हो। उसे समथन दिया गया हो। से सही दिशा मे सुधार का प्रयत्न किया गया हो। परम्परा से सम्बद्ध हो और विकास का प्रयत्न हो।

| माओ त्से तुग ||

नव जनवादी संस्कृति आम जनता की संस्कृति है और इसलिये एक जनवादी संस्कृति है। इसे मेहनतकश मजदूर किसान समुदाय की, जो राष्ट्र की जनसख्या का ६०% से अधिक है, सेवा करनी चाहिये, और कदम-ब-कदम उसकी अपनी संस्कृति बन जाना चाहिये। क्रांतिकारी काय-कर्ताओं को प्रदान किये जाने वाले ज्ञान और क्रांतिकारी जनता को प्रदान किये जाने वाले ज्ञान के दर्जे के बीच सांस्कृतिक स्तर उन्नत करने और लोक प्रचलित करने के कार्य के बीच फर्क किया जाना चाहिये और परस्पर सगति स्थापित की जानी चाहिये। क्रांतिकारी संस्कृति व्यापक जन समुदाय के लिये एक जबर्दस्त क्रांतिकारी हथियार है। क्रांति के आने से पहले यह उसके लिये विचारधारात्मक आधार तैयार करती है और क्रांति के दौरान यह आम क्रांतिकारी मोर्चे के अतगत एक महत्वपूर्ण और आवश्यक जुझारू मोर्चा है। क्रांतिकारी सांस्कृतिक काय मे जुटे हुये लोग इसी सांस्कृतिक मोर्चे पर विभिन्न स्तरों के तैनात कमाण्डर हैं। बिना क्रांतिकारी सिद्धांत के कोई क्रांतिकारी आंदोलन नही हो सकता,' इस प्रकार हम देख सकते हैं कि क्रांतिकारी व्यावहारिक आंदोलन के लिये क्रांतिकारी सांस्कृतिक आंदोलन का होना कितना महत्वपूर्ण है। सांस्कृतिक व व्यावहारिक दोनो ही आंदोलन जनसमुदाय के होने चाहिये।

× × ×

आज की दुनिया मे समूची संस्कृति और समस्त कला साहित्य निश्चित वर्गों के ही होते हैं उन्हें निश्चित राजनीतिक कायदिशाओं के अनुरूप ढाला जाता है। वास्तव मे 'कला कला के लिये' के सिद्धांत को मानने वाली कला, वर्गों से परे रहने वाली कला, तथा राजनीति के समानांतर रहने अथवा उससे स्वतन्त्र रहने वाली कला नाम की कोई चीज नहीं होती। सर्वहारा वर्ग का कला-साहित्य समूचे सर्वहारा क्रांतिकारी कार्य

का एक अग है, लेनिन के शब्दो मे, यह समूची प्रातिकारी मशीन के दाँते और पेंच के समान है।

॥ मैनेजर पाण्डेय ॥

लोकप्रिय साहित्य के बारे म भ्रम यह है कि लोक साहित्य, लोककथाओं और लोकप्रिय कलारूपो को अपनाने से ही कोई रचना लोकप्रिय हो जाती है। वास्तव मे लोक-साहित्य और लोक कला मे सब कुछ सदैव प्रगतिशील ही नही होता। लोक साहित्य और लोकप्रिय कलारूप भी कई बार शासक-वग की विचारधारा की अभिव्यक्ति के माध्यम बन जाते हैं। जब जनता की सास्कृतिक चेतना शासक वर्ग की विचारधारा के प्रभाव म होती है तो लोक साहित्य और लोक-कलाओ म भी यह प्रभाव प्रकट होता है। शासक वग अपने विचारों और जीवन मूल्यो को शाश्वत और सार्वभौम विचारो और जीवन मूल्यों के रूप मे प्रचारित करता है और इस प्रचार का शिकार जनता भी होती है। लोक साहित्य और लोक कलाओ म व्यक्त अतर्वस्तु का बिना विवेकपूर्ण मूल्याकन किये उनके रूप को यथावत् स्वीकार करना उचित नही है। अतर्वस्तु को छोड़कर केवल रूप पर ध्यान देना रूपवाद के जाल मे फँसना है। अत लोक-साहित्य, लोक-कथा और लोक-प्रचलित कलारूपों को विवेकपूण मूल्याकन करने के बाद ही स्वीकारना या अस्वीकार करना उपयोगी होगा। लोकप्रिय कविता का स्वरूप—(मैनेजर पाण्डेय)

॥ बी० टी० रणदिवे ॥

यह समूची प्रक्रिया दरअसल, भारतीय समाज के विभिन्न हिस्सो की जागृति की प्रक्रिया थी। यह जागृति अपने आसपास के वातावरण को समझने के लिए हो रही थी और धीरे धीरे टेढे मेढे रास्तों से गुजरकर, उस आम धारा की ओर जाने वाले मार्ग पर पहुँचने के लिए हो रही थी जो धारा साम्राज्यवाद के खिलाफ सघर्षरत थी और आजादी व लोकतत्र की पक्षधर थी। बहुत स लोग इस धारा स बाहर रह गये थ। मगर यह सिलसिला जारी रहा जो इस समूचे युग का एक अहम घटनाक्रम था। इस धारा क चलते, बहुत से बुद्धिजीवी पूजीवादी मूल्यों म गक हो गये। अक्सर उन्होने भूस्वामियों का हित साधन किया उनका सबध विभिन्न जातियों, समुदायो आदि से था और धीरे धीरे एक दूसरे के गुटों म अपना विलय करके, कृषि क्राति के सवाल पर जातिप्रथा और छुआछूत को खत्म करने के सवाल पर मजदूर वग और पूजीवाद के सवाल पर व साम्राज्यवाद विरोधी जनवादी क्राति क सवाल पर एकजुट होकर अवाम क विरुद्ध खड़े हो रहे थे। —जाति और वग (बी० टी० रणदिवे)

॥ कसरीनारायण शुक्ल ॥

कलाए ही केवल एक दूसरे से सम्पृक्त न थीं बरन् वे धर्म से भी अपृथक थीं, धम ज्ञान से अलग न था और ज्ञान परिश्रम के साथ जुड़ा हुआ था। इस युग मे कविता, गीत, सगीत, नृत्य तथा नाटकीय अभिनय के साथ सयुक्त थी यहाँ वह धर्म, ज्ञान

और परिश्रम की समन्वित अभिव्यक्ति थी। मैक्सिम गोर्की का कहना है कि 'अपने शैशव के युग मे स्वरक्षा की प्रेरणा से परिचालित अपने नि शस्त्र हाथो से प्रकृति से युद्ध करते हुए प्रकृति के समक्ष भय, आश्चय और उल्लास से अभिभूत होते हुए जनता ने धम की सृष्टि की जो कि उसकी कविता थी।'

× × ×

लोक साहित्य की जनात्मकता एक ओर तो जनजीवन की अभिव्यक्ति है और दूसरी ओर वह सामूहिकता की ओर सामूहिक जीवन को भी कृति है। दूसर शब्दो म लोक-साहित्य जनता की कृति है जो कि सामूहिक जनजीवन से प्रसूत है। यह सामूहिकता (रूसी) विवाह के गीतों मे, दफनाने के गीतों मे तथा अन्य सस्कार आदि क गीतों में स्पष्ट हो जाती है। गीतो के साथ जुडे हुए सस्कार और कर्मकाण्ड अकारण नही हैं, वे सामान्य जनता के सामूहिक जीवन के महत्वपूर्ण क्षण भी हैं और उसे सकेतित भी करते हैं। लोक साहित्य की सामूहिकता इस तथ्य में भी निहित है कि उसकी कृतिया सामूहिक रूप में रची जाती हैं जिनमें जनता के बहुत से लोग अपनी सजनात्मक प्रतिभा का योग देते हैं जिसके परिणाम स्वरूप इनका वस्तु-विषय जन-जीवन और समूह में प्रवेश कर जाता है। साथ ही गायक और वाचक से श्रोता के पास जाती हुई और एक पीढ़ी से दूसरी पीढी के पास पहुँचती हुई ये कृतिया व्यक्ति और युग के विचारों से सपृक्त हो जाती हैं और अन्त मे सामूहिक कलात्मकता की कलात्मक कृति के रूप मे प्रकट होती हैं।

(रूसी लोक साहित्य—डॉ० केसरीनारायण शुक्ल)

॥ ई० एम० एस० नबूदिरिपाद ॥

सस्कृति के निर्माण के बारे मे मैक्सिम गोर्की ने जो कुछ लिखा है उसे हम पढ़ना चाहिए। उन्होंने विश्व साहित्य की अनेक प्रसिद्ध रचनाओं की चर्चा की है। उन्होंने बताया है कि विश्व साहित्य की इन महान् रचनाओं में से हरेक की मौलिक अतर्वस्तु इन लेखकों द्वारा इन साहित्यिक रचनाओं का रूप दिए जाने से बहुत पहले से लोकगीतो तथा लोकसस्कृति के रूप मे चली आ रही थी। दूसरे शब्दों मे कहा जाए तो सभी श्रेष्ठतम कलात्मक या साहित्यिक रचनाओ का सृजन प्रथमत जनता ने ही किया था। लेकिन क्या आज जनता उनका परिष्कार कर सकती थी, उनमें निखार ला सकती थी ? नही। इसके लिए विशेष प्रतिभा वाले लोगों की आवश्यकता होती है और एक वग समाज मे विशेष प्रतिभा का सबध प्रभुत्वशाली वर्ग से ही होता है।

गोर्की ने जन सस्कृति की तुलना एक बिना तराशे हुए, अनगढ़ पत्थर से की है। लोकगीत, लोकनृत्य लोककला और अन्य सास्कृतिक रूप, बिना तराशे हुए पत्थरों की तरह हैं। कुशल दस्तकार इन पत्थरों को सुन्दर हीरों में बदल देते हैं। प्रतिभाशाली दस्तकार, प्रतिभाशाली व्यक्ति, प्रतिभाशाली लेखक, प्रतिभाशाली सर्जक आदि अनगढ़ पत्थरों को सुन्दर हीरों में बदल देते हैं। लेकिन ये दस्तकार कौन हैं ? लोकगीतों, नृत्यो आदि के बिना तराशे हुए पत्थरों को साहित्य और रचना का परिष्कृत रूप देने वाले ये

लोग कौन हैं ? ये प्रभुत्वशाली वर्ग के प्रतिनिधि ही हैं, ये वर्ग समाज मे प्रभुत्वशाली सामाजिक तबकों के प्रतिनिधि ही हैं, जैसा कि मार्क्स ने कहा है यद्यपि संस्कृति का वास्तविक स्रोत जनता, यानी मेहनतकश वर्ग ही है, वर्ग समाज मे शासक वर्ग की संस्कृति ही प्रभुत्वशाली संस्कृति होती है।

जन संस्कृति क्या है ?—ई० एम० एस० नम्बूदिरिपाद
(कला, साहित्य और संस्कृति)

॥ नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ॥

लोक संस्कृति विकासशील लोक-संस्कार पर आश्रित है और संस्कार परम्परागत होकर भी रूढ़ि का पर्याय नही है। वह व्यक्तिगत संस्कार से किंचित् भिन्न है जो व्यक्ति की भाँति जन्म लेकर मरता नहीं, अपितु विकसित होता रहता है। वह गतिशील, वृद्धिशील और प्रसार-प्रवण है। आनन्द उसका स्रोत है और मंगल भावना प्राण। परन्तु वह आनन्द व्यक्ति-मानस का न होकर लोक-मानस का होता है। मंगल-भावना व्यक्ति के लिए ही न होकर लोक के लिए होती है।

(सम्मेलन पत्रिका—लोक संस्कृति अंक)

॥ जार्ज थामसन ॥

आदिम कवि अकेले काम नहीं करता। उसका श्रोता वर्ग व्यापक होता जाता है। बिना एक सुननेवाली भीड़ की उत्तेजना या प्रेरणा के वह काम बिल्कुल नहीं कर सकता। वह लिखता नहीं है, पाठ करता है। वह रचता नहीं करता, वह आशु कथन करता है। जैसे ही उसे प्रेरणा मिलती है, वह श्रोता वर्ग पर तत्काल प्रभाव पैदा करता है। *वे विभ्रम के प्रति तत्काल सम्पूर्ण हृदय से समर्पित हो जाते हैं।* जब हम एक कविता पढ़ते हैं या किसी कविता को पढ़े जाते हुए सुनते हैं तो हम उससे गहरे प्रभावित होते हैं, परन्तु हम पूरी तरह शायद ही कभी आकर्षित होते हैं। एक आदिम श्रोता की प्रतिक्रिया कम उदात्त होती है। पूरा समुदाय अपने को इस छद्म के संसार में निमग्न कर देता है। वे अपने को भूल जाते हैं। मैंने इसे पश्चिमी आयरलैंड म कई बार देखा है। एक द्वीपसमूह क, आमगा भील के किनारे स्थित एक झोपड़ी में एक गाथा का पाठ करते हुए एक रूसी चारण का यह विवरण देखें—

'उसका ने खांसा। हर कोई मौन हो गया। उसने अपने सिर को पीछे किया और चारों तरफ एक मुस्कान के साथ देखा। उनको अधीर और व्याकुल नजरों को देखकर उसने एकाएक गाना शुरू किया। धीरे धीरे बूढ़े गायक का चेहरा बदला। उसकी सारी धूर्तता गायब हो गई। वह एक बच्चे की तरह सरल हो गया। उसमें अनुप्राणित जैसा कुछ प्रकट हुआ। पदुक जैसी आँखें खुलीं और चमकने लगीं। आँसू की दो छोटी बूंदें उनमें चमकीं और उसके गालों की सवलाई पर बढ़कर फैल गई। उसका अधीर फड़का। वह मुरम की इलिया से दुखी रहता था, क्योंकि वह तीस वर्षों से सत्ता-

प्रस्त होकर बैठ गया था। सोमये डाकू पर उसकी विजय के कारण वह गौरवान्वित था। उपस्थित जन-समुदाय सभी गाथा के नायक के साथ भी थे। कभी-कभी विस्मय भरी चीख उनम से किसी एक के मुँह से निकल जाती थी या किसी दूसरे की हसी पूरे कमरे म गूज उठती। दूसरे ने अनिच्छापूर्वक उसकी बरौनियों से गिरे आँसुओं को पोछ दिया। वे सभी अपनी आँखों को झपकाये तब तक बैठे रहे, जब तक कि गाथा समाप्त नहीं हो गई। उन्होंने इस एकरस किन्तु आश्चर्यजनक रूप से सरल धुन के प्रत्येक स्वर को पसन्द किया।'

ये सभी लोग निरक्षर थे, फिर भी कविता का उनके लिए कुछ अर्थ था, जिसका आज अग्रेजों के लिए वह अर्थ नहीं होता है। यह सच है कि हमने शेक्सपियर और कीट्स को पैदा किया है और वे उतना से ज्यादा बडे थे। लेकिन उतना लोकप्रिय था और शेक्सपीयर या कीट्स के बारे म हमारे देश म आज जितना कहा जा सकता है, उससे वह अधिक जाना जाता है। (मार्क्सवाद और कविता)

॥ श्यामाचरण दुबे ॥

कलाओ के उद्भव और विकास का पहला चरण लोक भावना और सामुदायिक चेतना से अनुप्राणित रहा। कला के सृजन और उपभोग दोनों म सामूहिकता स्पष्ट रूप से दिखाई पडती थी। समूह मिल-जुल कर गाता और नाचता था। दादियों और नानियों ने हजारो वर्षों तक सीमित सख्या के अभिप्रायों (मोटिफ्स) वाली लोक कथाओ से बच्चों की कई पीढ़ियों का मनोरजन और मानवर्द्धन किया और उन्हे सुलाया। ये लोक कथाएँ पूरे समुदाय की होती थी, उन पर किसी परिवार अथवा समूह विशेष का एकाधिकार नही होता था। समुदाय के मिथक उसका इतिहास और दर्शन होते थे, लोकजीवन-दृष्टि इनमे अभिव्यक्ति पाती थी। भित्ति चित्र और साधारण आकृतियाँ समुदाय का कोई भी सदस्य प्राय समान योग्यता स बना लेता था। सामान्य जीवन मे उपयोग म आने वाली वस्तुओ को भी कलात्मक ढंग स सजाया-सवारा जाता था। कलाकार और श्रोता अथवा दर्शक का अन्तर स्पष्ट नहीं था दोनों की भूमिकाए मिली जुली होती थी। एक ही व्यक्ति कभी गायक या नर्तक होता था, तो कभी वह दर्शक बन जाता था। गायन, नृत्य, कहानी कहने अथवा चित्राकन की क्षमताओ मे अन्तर अवश्य होता था, किन्तु इन क्षेत्रो मे विशेषता विकसित नहीं हुई थी। विभिन्न कला-रूपो के सबध में समूह के प्रत्येक व्यक्ति को जानकारी होती थी और वे थोडे बहुत अतर से उनमे सहभागी बन सकते थे। सामाजिक सरचना मे जटिलता आने के बाद कलाओ मे भी विशेषीकरण का आरभ हुआ, किन्तु लम्बे समय तक उनमे सामूहिकता के तत्व बने रहे और थोडे बहुत परिवर्तन के साथ आज भी बने हैं।

लोक कलाएँ जीवन के अंग प्रत्यंग से जुडी रहती थी। कठिन शारीरिक श्रम के काम सगीत से हल्के किये जाते थे। पेड काटना, नाव चलाना, बोझ खीचना, चक्की पीसना आदि किसी न किसी प्रकार के सगीत से जुडे होते थे। हर ऋतु के अपने गीत और नृत्य होते थे। जीवन के संक्रमण काल जन्म, विवाह, मृत्यु—नृत्य और गायन के

अवसर तो होते ही थे, उनसे चित्रांकन, मृद कलाएँ, काष्ठ शिल्प आदि भी सबद्ध होते थे। आर्थिक क्रियाओं म भी किसी न किसी तरह जाने-अनजाने कलाए प्रवेश पा जाती थीं। धर्म और जादू टोनों से भी कलाए असम्पृक्त नहीं थी। सच यह है कि धार्मिक क्रियाओं और लोक कलाओं में सावयवी संबंध था। यह कह सकना शायद उचित न हो कि शुद्ध सौन्दर्यवादी दृष्टि से कलात्मक सृजन होता ही नही था परन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कलाओं का उपयोगवादी पक्ष किसी भी दृष्टि से गौण नही था।

(लोक कलाओ का भविष्य—चौमासा अक, ६ फरवरी, ८५)

॥ रामदरश मिश्र ॥

लोक साहित्य मे एक ओर लोक जीवन का दुख दर्द, हर्ष उल्लास का अनुभव तथा जीवन पर वैचारिक प्रतिक्रियाए मिलती हैं दूसरी ओर पर्वों, त्यौहारों, प्रकृति के विविध चित्र मिलते हैं। लोक जीवन के दुख-दर्द, हर्ष उल्लास और वैचारिक प्रतिक्रियाओं का स्वर प्राय पारंपरिक अधिक होता है जो समकालीन अर्थ व्यवस्था के ठोस दबाव का परिणाम न होकर नियति के क्रूर विधान का परिणाम होता है जिनकी वैचारिकता सामाजिक विषमताओं की बेचैनियो से पैदा न होकर बने बनाये रूप में चलती आती हैं। किन्तु आधुनिक काल में आकर लोक साहित्य अपने समय की बेचैनियों से जुड जाता है। देश की गुलामी और समाज की जडता के विरुद्ध जो अनेक वैचारिक और भावात्मक आंदोलन उठे, उनमे केवल पढे लिखे लोग ही शामिल नहीं थे, अपढ़ किसान और मजदूर भी शामिल थे। शहर ही शामिल नहीं था, गाँव भी शामिल था। अर्थात् वह समुदाय भी शामिल था जिससे लोक बनता है। मैदान, जगल, पहाड सभी इलाकों मे एक नयी चेतना उत्पन्न हो रही थी। यह चेतना राष्ट्रीय थी जिसमे सामाजिक जागरण का स्वर भी था और आर्थिक विषमता को पहचान की आहट भी थी। इस प्रकार लोक चेतना पारंपरिक सुख-दुख राग विराग और मूल्य-दृष्टि को वहन करने क स्थान पर नये ठोस राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक सदर्भों में प्राप्त सुख-दु ख, राग-विराग और मूल्य दृष्टि से स्पदित होने लगी थी। ईश्वरीय न्याय व्यवस्था के नाम पर होने वाले सामाजिक शोषण के प्रति उसमें समझ उभरने लगी थी। इस प्रकार इस काल की लोक-सस्कृति अपनी वैचारिक और भावात्मक भूमि पर अधिक युगीन होने लगी थी।

रामदरश मिश्र—(संघर्ष, परिवर्तन और साहित्य)

॥ रामदरश मिश्र ॥

इन पारंपरिक लोकगीतों के साथ साथ आधुनिक काल म नयी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक चेतना के अनेक गीत लिखे गये। पारंपरिक लोक छदों में नयी वस्तु भर दी गयी। कजली, बिरहा, होली गाली (शादी के अवसर पर गाया जाने वाला गीत) अनेक लोक छदों मे अनेक समकालीन प्रसंगों और चेतनाओं को रूपायित किया प्रेम के प्रसंगों को गाने वाले छन्द सामाजिक और राष्ट्रीय कर्मों के गीत गाने लगे।

प्राय ही शोषित जातियो ने अपने पारपरिक गीतों म शोषण के विरुद्ध प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न स्वर ऊँचे किये।

आधुनिक काल मे लोक जीवन की पारपरिक स्तब्धता टूटने लगी और स्वाधीनता के पश्चात् तो उसके टूटने का क्रम बहुत तज हो गया। गाँवों मे नयी राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियाँ और तज्जन्य प्रभाव उभरे। इसके फलस्वरूप सामाजिक जीवन बहुत तेजी से बदलने लगा। शिक्षा का प्रसार होने लगा। शहरो से सपक घना हो गया। फलस्वरूप गाँव की अति भावात्मक मानसिकता व्यावसायिकता, उपयोगिता और बौद्धिक चतुराई से सम्पन्न होती गयी। सबधों और मूल्यों में बहुत बदलाव आये। प्रकृति और पर्वों क प्रति रागात्मक लगाव कम होता गया। राजनीति के प्रभाव ने एक ओर लोक जीवन को अपने अधिकारो के प्रति सचेत किया, दूसरी ओर उसमे भयानक टूटन, स्वार्थपरस्तता, असुरक्षा आदि भर दिया। आज लोक जीवन एक दूसरा ही लोक जीवन है। चाहे भला हो, चाह बुरा, यही यथार्थ है और इसकी सस्कृति अत्यत संक्रात और बहु आयामी बन गयी है। नये सदर्भों म एक ओर लोक-चेतना अत्यत जटिल बन गयी हैं, दूसरी ओर स्थायी रूप म वतमान प्रकृति क प्रति उसका लगाव कम हो रहा है। इस लगाव की कमी का परिणाम यह हो रहा है कि जगल, बाग, बगीचे कटते चले जा रहे हैं और खेत बनते जा रहे हैं।

॥ रामचेलावन पाण्डेय ॥

सस्कृति सगम की अवधारणा यदि विभिन्न जातियों और कबीलों का एकात्म सयोजन है तो हिंदी इसका अन्यतम विन्यास है। यह किसी विशेष वर्ण, वग, जाति, उपजाति, नस्ल और कबीले की भाषा कभी नहीं बनी। इसकी जीवतता को रूपायित करने वालों में नैष्ठिक ब्राह्मण हैं तो वर्ण-बाह्य निम्नतम श्रेणी के सदस्य भी। सिद्धों के काल से ही उमड पडने वाली यह प्राणधारा आज तक अविच्छिन्न रूप मे प्रवाहित रहती आयी है। चौरासी सिद्धों म ऐसी जातियो के सदस्य रहे जिनका सामाजिक स्तर सर्वथा निम्न था किंतु इसी कारण से उनका महत्व कभी क्षीण न हो सका। नाथों, सतों, भक्तों और रसते योगियों का साहित्य यह स्पष्टतया प्रमाणित कर देता है कि मात्र जाति ही किसी की महत्ता और प्रतिष्ठा का आधार नहीं था। वैदिक पौराणिक काल से जिस सास्कृतिक सगम की अविच्छिन्न धारा बही थी, उसकी एकातिक निष्ठा हिंदी मे उपलब्ध है। समाज का कोई ऐसा वर्ग नही, कोई ऐसा स्तर नही, कोई ऐसी जाति नही जिसके हिंदी के विस्तार-प्रसार मे योग और अवदान को नगण्य माना जाय। जुलाहे कबीर, धुनिया दादू, चमार रैदास, छीपी नामदेवों के शिष्यो मे ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि उच्च वण के लोग रहे तो रामानद के शिष्यों मे निम्न वण के सदस्य। और सभी ने हिंदी के माध्यम से अपने अपने सदेश प्रसारित किए। 'आदिग्रथ' मे सकलित वाणियाँ यह सिद्ध कर देती हैं कि सप्रदाय, वर्ण, वग, जाति आदि की संकीण सीमाओं का हिंदी ने अति-क्रमण किया। वस्तुत सकीणताओं से मुक्तिबोध के आत्म साक्षात्कार की विधा रही

हिंदी। सच पूछा जाये तो हिंदी उस क्रांति की, उस विद्रोह की माध्यम हो गयी जो सामाजिक जड़ता, रूढ़िवादिता, सकीर्णता और सीमा सकोच से विरोध की वाणी बनती रही।
—हिन्दी की अस्मिता, सांस्कृतिक सद्‌यात्रा के आयाम
डा० रामखेलावन पाण्डेय, (गगनाञ्चल) १९८३

॥ श्रीमती विनोद तिवारी ॥

भारतीय लोक विश्वासों, रीति-रिवाजों आदि का एक क्रमागत इतिहास है। इसका क्रमश विकास ही आधुनिक सभ्यता एवं संस्कृति के रूप म दृष्टिगत होता है। मानवोचित भावनाओं का तो लोक-साहित्य स्पष्ट दर्पण है। यहाँ मात्र आदर्श अथवा लोकमंगल की पुष्टि नहीं, अपितु मानव-मन की सहज सच्ची भावनाओं को स्थान दिया गया है। यही कारण है कि लोक-साहित्य की सी सरलता सहजता अन्यत्र प्राप्त नहीं होती। लोकमानस की भावभूमि में मानव जड़, चेतन सभी समान रूप से जीवन के गीत गाते हैं। जिन भावों को साहित्य आदर्श एव बाह्याडम्बर की सीमा के कारण व्यक्त नहीं कर सका, वही भाव लोक-साहित्य में अत्यन्त सरलतम रूप म अभिव्यक्त होते हैं। यही है, लोक-साहित्य की व्यापकता।

प्राचीन संस्कृति एव कला के मूल से लेकर आज तक के परिवर्तित एवं विकसित रूप लोक साहित्य में ही सम्भव हैं। 'चन्दन किवरिया,' 'रतन कटोरिया एवं 'रतन जरी चुनरी जहाँ धन धान्यपूर्ण स्वर्णिम भारत के अतीत की ओर इंगित करते हैं वहीं 'चुनरिया हो गई मन भर की आदि गीत आज की विपन्न स्थिति का चित्र भी अंकित कर देते हैं। अत देश के सांस्कृतिक मूल्यों को समझने के लिए लोक साहित्य को उपेक्षित नहीं रखा जा सकता। 'आधुनिक काल के अपेक्षाकृत विकसित साहित्य की धारा का परम्परागत स्रोत लोक साहित्य मे है। अधिकांशत अलिखित और मौखिक यह साहित्य लोक सस्कृति का दर्पण है। इसमे परम्परागत आचार विचार, लोक-जीवन का सुख-दु ख, अतीत एव वर्तमान सुरक्षित रहता है। वस्तुत ग्रामीण जनमानस निर्विकार एव स्वच्छ रहता है। प्रकृति की भाँति परिवर्तन के प्रत्येक रंग ज्यो के त्यों स्पष्ट कर देना लोक-मानस की सहजता है। लोक मानस का आदर्श, सिद्धांत, नियम सभी प्राकृतिक एव स्वाभाविक होते हैं। उसकी धृति ज्ञान विज्ञान की धृति नहीं अपितु शुद्ध प्रकृति की धृति है। अत लोक मानस से निस्सृत लोक-साहित्य भी सहजता एव स्वाभाविकता से परिपूर्ण है। क्रमागत विकास लोक साहित्य की सहज प्रवृत्ति है। युगो से चले आने वाले परिवर्तन लोक साहित्य मे मुखरित हो उठे हैं।

लोक-साहित्य एव सस्कृति—डा० श्रीमती विनोद तिवारी
(बुंदेलखण्डी एव बघेलखण्डी लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन)

॥ गोपाल भारद्वाज ॥

विश्वासों के विश्लेषण तथा व्याख्या का दायित्व भी दुरूह और विविधतापूर्ण होता इसका आकार प्रकार इस बात पर निर्भर करता है कि सकलित कच्चा माल

वितना व किस तरह का है। तथापि सकलित सामग्री को उपयुक्त वर्गीकरणो मे विभक्त कर देना तो पहली आवश्यकता है ही। वर्गीकरण की सम्पूण पद्धति की रचना, उसका सारणीरूप आदि सामग्री पर ही पूर्णत आधारित होगा। यह कार्य स्वय मे प्राथमिक महत्व का कहा जा सकता है। विश्वासों के विश्लेषण मे 'वस्तु-विश्लेषण' विधि काफी उपादेय सिद्ध होगी।

व्याख्या करते समय कतिपय मौलिक प्रश्न ध्यान मे रखना आवश्यक है। जैसे, विश्वासो की उत्पत्ति के मनोवैज्ञानिक आधार क्या हो सकते हैं? विश्वासो की उत्पत्ति का मूल वस्तुगत अनुभव रहा है या मात्र आरोपित धारणा? विश्वास किन अशों तक अज्ञान या ज्ञान का प्रतिनिधित्व करते हैं? समाज-व्यवस्था के सचालन, संस्कृति के सप्रवाह तथा व्यक्तित्व के निर्माण मे विश्वासों का क्या योगदान रहता है? विश्वासों के स्वरूप, सप्रेषण तथा प्रभाव की विवशताएँ तथा प्रक्रिया क्या रहती है, काल, स्थान, समूह, लिंग तथा आयुगत अन्तर्विश्वासो के प्रवचन के साथ कैसे जुड जाते हैं? आदि आदि।

वैज्ञानिक मान्यताओ या दृष्टिकोण के विकास के साथ विश्वास किस रूप मे टूटते हैं, बदलते हैं या नए विश्वासों अथवा वैज्ञानिक जानकारियो द्वारा प्रतिस्थापित कर दिये जाते हैं, इस प्रसग का अध्ययन भी अनिवार्य है। इतना अवश्य है कि नगरीकरण या आधुनिक शिक्षा के प्रभाव के फलस्वरूप सभी विश्वास एकदम न टूट रहे हों, किन्तु कई विश्वास हास्यास्पद अवश्य लगने लगे हैं एव लोगो की उनम आस्था सम्भवत क्षीण होने लगी है। जीवन के कई क्षेत्रो मे वैज्ञानिक ज्ञान या खोजों के प्रवेश के फलस्वरूप पूर्व प्रचलित विश्वासों पर इनसे सीधा आघात हुआ हो, ऐसा भी माना जा सकता है। उदाहरणार्थ चिकित्सा या औषध-उपचार के क्षेत्र मे। अत विश्वासों के सकलन के काय को हर सम्भव प्राथमिकता देने के महत्व से कौन इन्कार करेगा?

यह एक उचित दृष्टिकोण नही है कि विश्वासो को हमारे पिछड़ेपन की निशानी माना जाय तथा इनके अध्ययन की उपेक्षा की जाय। न यह ठीक है कि किसी तौर-तरीके से इनके क्षीण या विलुप्त होते रहने पर हम सतोष कर लें। विश्वासों के अध्ययन से वस्तुत हमे अपने सम्पूर्ण सामाजिक-सास्कृतिक विकास को समझने मे सहायता मिलती है और जो आज विश्वासो या 'अधविश्वासों' को मिटाना चाहते हैं उनके लिए भी तो प्रचलित विश्वासों से अवगत होना परम आवश्यक है। विश्वासों की समष्टि सत्ता पर प्रहार करने का प्रभाव इतना स्पष्ट व प्रत्यक्ष नही होगा जितना विश्वासों की एक-एक इकाई पर किया गया प्रहार। समाज को प्रगतिशील या आधुनिक बनाने के अभिकल्प म जो सलग्न हैं उनमे से कितने इस बात का महत्व समझते हैं कि मूल्यो, मान्यताओं, विश्वासों व चारित्रिक लक्षणो आदि को प्रत्यक्षत प्रभावित किए बिना शीघ्र और स्थायी परिवतन कैसे लाया जा सकता है? यह भी इस सदभ मे एक विचारणीय प्रश्न है।

विश्वासो के अध्ययन की पृष्ठभूमि, कुछ मुक्त विचार, प्रो० गोराल भारद्वाज
लोक साहित्य—१९७०, सम्पादक—डॉ० रामप्रसाद दाधीच

॥ हजारीप्रसाद द्विवेदी ॥

मुझे मानव-जाति की दुर्दम निर्मम धारा के हजारों वर्ष का रूप साफ दिखायी दे रहा है। मनुष्य की जीवनी शक्ति बड़ी निर्मम है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती बहाती यह जीवन धारा आगे बढ़ी है। संघर्षों से मनुष्य ने नयी शक्ति पायी है। हमारे सामने समाज का आज जो रूप है, वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बाद की बात है। सब कुछ में मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा (जीने की इच्छा)। वह गंगा की अबाधित-अनाहत धारा के समान सब कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है! सभ्यता और संस्कृति का मोह क्षण-भर बाधा उपस्थित करता है, धर्माचार का संस्कार थोड़ी देर तक इस धारा से टक्कर लेता है, पर इस दुर्दम धारा में सब कुछ बह जाते हैं। जितना कुछ इस जीवनी-शक्ति को समर्थ बनाता है, उतना उसका अंग बन जाता है, बाकी फेंक दिया जाता है। धन्य हो महाकाल, तुमने कितनी बार मदनदेवता का गर्व खण्डन किया है, धर्मराज के कारागार में क्रान्ति मचायी है, यमराज के निर्दय तारुल्य को पी लिया है, विधाता के सर्वकर्तृत्व के अभिमान को चूर्ण किया है! आज हमारे भीतर जो मोह है, संस्कृति और कला के नाम पर जो आसक्ति है, धर्माचार और सत्यनिष्ठा के नाम पर जो जड़िमा है, उसमें का कितना भाग तुम्हारे कुण्ठनृत्य से ध्वस्त हो जायेगा, कौन जानता है! मनुष्य की जीवन धारा फिर भी अपनी मस्तानी चाल से चलती जायेगी।

(हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली—भाग ९)

॥ जवाहरलाल नेहरू ॥

आजकल की दुनिया में चारों तरफ लड़ाई, दंगा, फ़साद हो रहा है। हिन्दुस्तान में भी काफ़ी फसाद हैं और तरह तरह की बहसें पेश होती हैं। ऐसे मौके पर यह और भी आवश्यक होता है कि हम अपनी नई संस्कृति की ऐसी बुनियाद रक्खें, जिसमें आजकल की दुनिया के विचार जम सकें और जब हमारे सामने पेचीदे मसले आयें तो हम बहके-बहके न फिरें। संस्कृति तो एक ऐसा पारस पत्थर होना चाहिए, जिसमें हर चीज की आजमाइश हो सके। अगर किसी जाति के पास यह नहीं है तो वह दूर तक नहीं जा सकती। हमें अपने सांस्कृतिक मूल्य कायम करने हैं और उनको अपने साहित्य की ओर सभी काम की बुनियाद बनाना है।

सम्मेलन-पत्रिका—लोकसंस्कृति अंक —(हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)—१९७३

॥ रल्फ फॉक्स ॥

'लेखक और जनता के बीच एक विचित्र और पेचीदा सम्बन्ध है। यह केवल लेखक और पाठक का ही सम्बन्ध नहीं है, बल्कि इससे कहीं बड़ी चीज है। कारण कि मैं विभिन्न श्रेणियों विविध हितों, अनुराग आकांक्षाओं और विभिन्न बौद्धिक-स्तर

वाले सभी प्रकार के स्त्री पुरुष होते हैं। यह जनता (चाहे वह ऊपर से देखने में कितनी ही उदासीन और निष्क्रिय क्यों न लगती हो) प्रचण्ड वर्ग-संघर्षों, राष्ट्रीय और जातीय पूर्वाग्रहों तथा मानवता के जीवन में अपनी अनिवार्य गति से आगे बढ़ते हुए इतिहास की विरासत से आन्दोलित होती रहती है। जनता के बीच से ही लेखक अपने पात्रों को लेता है और उसके पाठक भी जनता के बीच में ही मिलते हैं। अपनी कच्ची सामग्री भी वह इसी से प्राप्त करता है और उसके आलोचक भी इसी में से पैदा होते हैं। महान् उपन्यासों में स्रष्टा, पात्रों और पाठकों के बीच एक प्रकार की सजीव एकता होती है। जहाँ यह एकता नहीं होती, जहाँ लेखक अपनी जनता से पृथक् होता है, उसकी उपेक्षा करता है या लेखक की आत्मा इस मामले में अचेत होती है, वहाँ रक्त शून्यता की सम्भावना भी सर्वाधिक रहती है।" ('उपन्यास और लोक जीवन'—पृ० १२८)



लोक सस्कृति से जनवादी सस्कृति की ओर

□

रमेश कुंतल मेघ

एक

इमानुएल टैरे ने "मार्क्सिज्म एण्ड 'प्रिमिटिव' सोसाइटीज टवू स्टडीज" (मंथली रिव्यू प्रेस, न्यूयार्क १९७२) मे आदिम समाजों पर दो अध्ययन प्रस्तुत किये हैं, पहले में लेवी मोर्गन के उद्भववाद की प्रासंगिकता खोजी है तथा दूसरे मे फ्रांसीसी नृतत्वशास्त्री क्लाद मिलासों द्वारा आदिम समाजों के अध्ययन मे भी ऐतिहासिक भौतिकवाद को लागू करने के औचित्य को सिद्ध किया है। आदिम समाजों मे श्रम बल का समुदाय का विभाजन नातेदारी वाले समूहो म हो जाता है क्योंकि वर्गों का स्पष्ट मूर्तंतरण नही हो पाता। ऐसे समाज के समूचे समुदाय की ही श्रम एव कला दोनो की प्रतिमा मुखरित होती है। ऐसे समाजों मे शारीरिक श्रम एव मानसिक श्रम की एकता होती है कलावस्तु एवं उपयोगी वस्तु की एकता होती है। अतएव हम यह सुरक्षा के साथ कह सकते हैं कि आदिम मानव का कलाश्रम तथा श्रमकला ही लोककला तथा कलालोक होता है। हम यह भी कह सकते हैं कि आदिम मानव की कला तथा समुदाय (लोक) की लोर कला सामाजिक प्रगति की दो विभिन्न सीढ़िया पर उदित हुई होगी जब ठोस आधारों पर नातेदारी (किनशिप) के रिश्ते वर्गीय सबधों के बदल की छायाए भी देने लगे होंगे—नातेदारी-समूहों के बीच।

इसीलिए लोक संस्कृति म भी प्रेत-पूजा जादू टोना सामूहिक श्रम एव सामुदायिक गायन की प्रथाएँ आज भी मौजूद हैं।

इसीलिए हम यह स्थापना भी करते हैं कि लोक' का तात्पर्य जन है जनता की समग्रता है, अथवा पिछड़े हुए, मूक और असभ्य जन समुदाय का समाज है। 'लोक' जन समुदाय का वह भाग किंवा स्वयं जन समुदाय है जो नागरिक सस्कृति (विकसित ऐतिहासिक विभाजन) से किंचित् दूर होगा। उभरते हुए वर्गीय विभाजन के कारण ही मार्क्स एंगेल्स ने बताया कि विभिन्न वर्गों और उनके स्वाभाविक अतर्विरोध के कारण कला की प्रतिभा को कुछ लोगों में सीमित कर दिया गया तथा व्यापक तौर पर जनता की कलात्मक भावना को दबाया गया ('लिटरेचर एण्ड आर्ट', पृ० ७५)। अत इस सीढ़ी पर चद व्यक्तियों की कलात्मक प्रतिभा बनाम जनता की कलात्मक भावना का विभेद होने लगा। लोकायन या लोकयान (फोक लोर) की विभिन्न विधाओं का समारम्भ यूं होता है।

दो

अतएव हमे यह धारणा तो छोड देनी चाहिए कि 'लोकयान' की अवधारणा मात्र अतीत की है अथवा उसका उद्गम पाशविकता मे है। वस्तुत यह परम्परावाद का प्रबल संस्थापक होने के साथ-साथ सामाजिक परिवतन का भी प्रस्थापक है। यही इसका द्वंद्वात्मक चरित्र है। भारत मे लोकयानो की विविधता तथा विपुलता का प्रचुर भडार है किंतु अभी तक द्वंद्व—तनाव—परिवतन की शक्ति—डायलेक्टिक्स मे इनका अपेक्षित अध्ययन नहीं हो पाया है। इनके अध्ययन द्वारा हम आधुनिक भारतीय समाज के द्वंद्व—तनाव—परिवतन के मूल समाजशास्त्रीय उद्गम प्राप्त करके सामाजिक क्राति के सिंहद्वार खोल सकेंगे।

नृतत्त्वशास्त्री 'लोकयान' के अतर्गत मुख्यत लोक कथाएँ, मिथकें, कहावतें, मुहावरे, वीरगीत, लोकगीत आदि शामिल करते हैं। चाहे तो इन्हें 'लोक साहित्य' कह लें।

दूसरा समावेश लोक व्यावहारों का है (जो न तो साहित्य हैं, न कला) जो विश्वास, प्रथाओ, अंधविश्वासों, कर्मकाडों, लोकोत्सवों, परिपटियो, लोकखेलो, पशु-पक्षियों की प्रतियोगिताओं का पुज हैं।

तीसरा समावेश लोक कलाओं या कलात्मक लोकयान का है। इसके आनुष्ठानिक पक्ष म लोकनृत्य, लोकनाट्य, लोक नटन आदि तथा अनानुष्ठानिक पक्ष में लोकचित्र, लोक दस्तकारी, लोक वेशभूषा, लोकालकरण आदि हैं।

चौथा समावेश लोक विज्ञान एव औद्योगिकी का है जिसमे लोकोपचार, लोकोपधियाँ, लोकनुस्खे, लोक भोजन खाद्य, लोककृषि रूढ़ियाँ, जादूटोने आदि हैं। (दे० "फोकलोर दि परस्र आफ़ दि पीपुल"। मजहरुल इस्लाम, कासेप्ट, दिल्ली, १६८५)।

निष्कर्षत लोक सस्कृति व उसके अनुरूप लोकायन मे अतर्गत (i) ज्ञान भडार, (ii) समुदाय की चितन को प्रणालियाँ तथा (iii) कलाकसौटी द्वारा प्रासगिक बने हुए नाना कला-कौशलों के तत्त्व की त्रयी शामिल है। यही दृष्टि आधुनिक अध्ययन को ऐतिहासिक भौतिकवाद का आधार देती है। इसी के अतर्गत हम कतिपय नृतात्त्विक उपसिद्धातो को भी समेट लपेट सकते हैं। जैसे फ्रेंज बोआस की प्रसरण—ट्रासमिशन— अवधारणा कि कथा घटनाएँ सास्कृतिक सपक के ठीकों पर अतर्विधलाव के द्वारा एक कबीले से दूसरे कबीले तक पहुँचती हैं, बेनेडिक्ट की समाज-तनाव की उन्मुक्ति की धारणा कि मौखिक साहित्य में दमित तनाव अभिलक्षित होते हैं, मेलिनोवस्की की मनोवैज्ञानिक प्रतिबिंबन की अवधारणा कि मिथकों म आदिम मानव का प्रतिबिंबन होता है, तथा बास्कम की लोकयान में प्रकार्यवादी अवधारणा आदि।

सूचकांको के आधार पर सर्वाधिक लोकप्रिय 'आरने-थाम्पसन इंडेक्स' के मुताबिक कथा चौखटों के चार व्यापक अंतर्वर्ग हैं—पशुकथाएँ, सामान्य कथाएँ, मजाक और दृष्टांत तथा नुस्खे (—फार्मूला) कथाए। आधुनिक अध्ययनों के अंतगत कथा प्रारूप (टेल टाइप) के क्रमांक भी निश्चित कर दिये गए हैं।

इन सुव्यवस्थाओं के आधार पर हम यह कहने में सक्षम हैं कि 'लोकचक्र' के लोग

(लोक) तथाकथित सुसंस्कृत (शिष्ट), तथा सुसभ्य लोगों के प्रभावों से बाहर, या कम अथवा अधिक रूप में प्रवर्ती—सामुदायिक अवस्था में—सरल एवं अकृत्रिम समाजदशा में—निवास करते हैं। तथापि लोकसंस्कृति बनाम शिष्ट संस्कृति का द्वंद्वमान चक्र करने वाला चक्र चलता रहा है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद के आलोक में तो हम यही पाते हैं कि जनजीवन तथा लोकसंस्कृति से ही शिष्ट संस्कार होता आया है। यदि ऋग्वेद शिष्ट संस्कृति का परिचायक है तो अथर्ववेद—उसका पूरक होकर—लोकसंस्कृति का। अथर्ववेद के विचारों का धरातल सामान्य जीवन है तो ऋग्वेद का विशिष्ट जीवन' [बलदेव उपाध्याय, "समाज", वर्ष ४, अंक ३ पृष्ठ ४४६ (१९५८ काशी विद्यापीठ)]। ऋग्वेद में यज्ञ यागादि का विधान पाया जाता है तो अथर्ववेद में जादू मन्त्र, टोने टोटके आदि मिलते हैं। यही स्थिति उपनिषदों में भी परिलक्षित है। उनमें यदि अभिजात संस्कृति के चक्र वाले आत्मा-परमात्मा, जीव, जगत्, ब्रह्म आदि के सूत्र हैं तो लोकजीवन, लोकविश्वास तथा लोकपरंपराओं के विवरण भी हैं। इसी कड़ी में गुणाढ्य की 'वड्डकहा' (बृहत्कथा), सोमदेव का 'कथा सरित्सागर', विष्णु शर्मा के पंचतंत्र' आदि लोकगाथाओं के अगाध समुद्र हैं। वस्तुतः श्रमणसंस्कृति बनाम श्रमिक संस्कृति के विचारधारात्मक संघर्ष के ऐसे सूक्ष्म एवं स्थूल प्रमाण हमारे इतिहास के भौतिकवादी जनसूत्र को ददीप्यमान कर डालते हैं। लोकसंस्कृति में कलाकृति कमोडिटी (जिंस) भी हो जाया करती है किन्तु क्रूर उग्र शोषण की मंडीवाली चालों में नहीं जकड़ती है। इसीलिए लोकसंस्कृति में बहुधा बाधाओं एवं विपत्तियों का तो चित्रण होता है, लोकचित्त की गहरी एवं मार्मिक छुवन तथा पहचान होती है, लेकिन संघर्ष तथा शोषण के अमानुषी प्रकथन लगभग नहीं होते क्योंकि इनमें सामुदायिक जीवन तथा नातेदारी की प्रगाढ़ताएं शहरातों जैसी विच्छिन्न नहीं हैं। सामूहिक श्रम-साधना के प्रभाव नृत्यरूपों में दृष्टिगोचर हैं, जहाँ श्रम और सृजन के बीच अंतरावलंबन है। अहीर, धोबी, कहार समुदाय के पेशों के, खेतिहरों की कटाई-बोवाई-रोपाई आदि के चित्रगान तथा नृत्यनाट्य घुले मिले हैं।

तीन

यदि प्रकृति तथा मानव दक्षता के बीच के द्वंद्वात्मक रिश्तों में ही लोकसंस्कृति का पुराना रूप है तो हम यह मानकर भी पाते हैं कि आज उसका नया रूप जन-संस्कृति है। जब समाज के वर्गीय संघर्षों की समाप्ति का यथार्थ उपस्थित हो, या उसकी संभावना हो तो हम सामुदायिक सहकार की दशा में जन-संस्कृति का अभ्युदय पा रहे हैं। समाजवादी देशों में जनसंस्कृति का उन्मेष इसका प्रमाण है। आज के मिथक तथा जनसांस्कृतिक कथाचक्र सक्रिय एवं संघर्षशील, संलक्ष्यी एवं संस्कारी हैं—अक्तूबर क्रांति, लम्बा चीनी अभियान, जे के क्रांति क्रम, भगतसिंह की बलिदान गाथा, बिरसामुण्डा का वीर, नक्सल-मालाकार का झंडा, जयप्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रांति, होचीमिन्ह की डायरी के पन्ने, गोपालन और नम्बूदिरिपाद के आन्दोलन, फिलिस्तीन की लैला खालिद आदि ऐसे ही

आधुनिक लोक निजंधरी-कथाचक्र हैं। अत इनमें एक नया सौंदर्यबोध शास्त्र भी उद्-घाटित हो रहा है—संघर्ष की प्रचंड सौंदर्य प्रतीति। इसमें हास्य-व्यंग्य है, हास्य-करुणा है, भय-करुणा है, चिंता-आक्रोश है, आश्चर्य एवं रहस्य है, काम एवं कर्म का संयोग है। कुल मिलाकर मानो समूचे मानवीय मनोविज्ञान को सामंतीय-पूंजीवादी व्यास-रेखा से उठाकर इन कथाचक्रों तथा मानक अभिप्रायों को सामुदायिक-समाजवादी शकु-पथ पर उच्छलित कर दिया गया है, मानो समूचा समाज ही एक विशाल स्कूल में बदल दिया गया है, मानो वर्ग विहीनीकरण (डि-क्लासमेंट) की प्रक्रिया ने समूहों को समुदाय तथा नातेदार बना दिया है। अतएव ऐसी स्थिति में शहर और ग्राम में, शिष्ट और लोक में, पुराने और आधुनिक के गौण अंतर्विरोध प्रशमित-से हो जाते हैं तथापि वर्ग-संघर्ष की बुनियाद ओझल भी नहीं होती —

"'लोक' शब्द का अर्थ 'जनपद' या 'ग्राम्य' नहीं है, बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत, रुचि-सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारिता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं उनको उत्पन्न करते हैं।"

—हजारीप्रसाद द्विवेदी, "जनपद", वर्ष १, अंक १, पृ० ६५

प्रकृति और मानव के सम्बन्ध, मनुष्य की दक्षता का विकास, उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के सहवतन में ही स्वतंत्रता की सिद्धि है ताकि अंतत एक 'सम्पूर्ण मनुष्य' तथा प्रकारांतर से 'मनुष्य की सम्पूर्णता सिद्ध हो सके' (लुकाच) —

"प्रकृति के ऊपर मनुष्य की दक्षता जितनी ही अधिक होगी, सौंदर्य की प्रतीति भी उनके अंदर उतनी ही होगी। जिस समय पर्वतमालाएँ मनुष्य के लिए दुर्गम बाधा के रूप में थीं, उस समय पर्वतीय भू दृश्य मन में भय और आशंका की भावना को जन्म देते थे। चित्रकला तथा साहित्य में दृश्य चित्रों का इतिहास इस वक्तव्य को प्रमाणित करता है।'

—"सोवियत एन्साइक्लोपीडिया" (निबंध 'सौंदर्यशास्त्र')

लुई हैरप ("सोशल रूट्स आफ दि आर्ट्स", पृ० ११६) ने भी कहीं लिखा है कि आदिम मानव की कला और लोककला समाज की प्रगति की दो विभिन्न सीढ़ियों पर उदित हुई। तब तक समाज के अंतर्भूत विभिन्न वर्गों के सम्बन्ध भी बहुत बदल चुके थे। अत हमारे कथानक (टेल टाइप्स), कथा अभिप्राय (टेल-मोटिफ्स) तथा आदरूप (आर्केटाइप्स) भी बदलते हैं। यदि मोर्गन तथा सोफिया बर्न आदि ने आदिम मानव तथा लोकजन के युग्म को लेकर लोकमानसिकता में जादू-टोने, मंत्रतंत्र, शकुन-अपशकुन आदि शामिल किये थे, तो हम आधुनिक मानव तथा समाजवादी मानव को भी तो लगभग पचास या तीस सालों से मूर्त एवं महाबली होता हुआ पा रहे हैं। अत आज के लोकजन विश्वास,

जन व्यवहार, जनगीत, जनगाथाएं, लोकोत्सव, आंदोलन और जुलूस, संघर्ष और संगठन आदि भिन्न होंगे। आज हम नये सिरे से नये कथानकों तथा उनके प्रभावों, नये कथा-भिप्रायों आदि की अनिवार्यता है। निस्संदेह इसमें लोक सौंदर्यबोधशास्त्र का सामूहिक-सामुदायिक, समाजवादी-वैज्ञानिक चतुरंग या चौसट होगा किंतु अंधविश्वास तथा सामंतीय सम्बन्ध विलीन हो जाएंगे। जो हम ग्रहण करना है उनका चयन ऐसे ही स्रुजों से होगा —

(क) सरल लोककथाओं में एक ही अभिप्राय होता है तथा ये शिक्षाप्रद, पुरुष-जीवन तथा जाति आदि से सबधित होती हैं। (इनमें) नीतिवाणी तथा जीवन के साधारण अंग भी निहित रहते हैं। मूर्खों की धोखे की, ठगों की बुरी पत्नी, सौतेली मां, सनके, गजे, बहरे, आलसी पति आलसी दोस्त तथा अतिशयोक्तिपूर्ण कथाएं इनके अतंगत आती हैं, उदाहरणार्थ बालाकी में बनिया नाई की चालाकी, चटोरी जाटनी जाट की उतमी-परस्ती बात, कुम्हार आदि सामाजिक तथा जातिगत कहानियां हैं। पशु पक्षी संबंधी कहानियों में 'सोने के बाल वाला बंदर' तोता मैना आदि कहानियां हैं। इसी प्रकार 'विष्णु भगवान् के दर्शन,' करवाचौथ की कहानी भाई दूज की कहानी आदि धार्मिक कहानियों के अंतर्गत आती हैं।.. लोकरुचि में कहानी की प्रवृत्ति की मूल अधिष्ठात्री है नारी। कुछ सुधारक इनमें अंधविश्वास रूढ़िवाद एवं अज्ञान का बोलबाला पाते हैं।'

—सत्या गुप्ता लोककथा (लेख नीचे की पुस्तक में)

(ख) 'हमारे विविध त्योहारों, उल्लास उत्सवों तथा संस्कारों पर गृह आंगन चौक, दीवाल तथा शारीरिक अंग-प्रत्यंग को आंकने चौकने की सुरम्य परंपरा रही है। यह परंपरा कई विश्वासों, आस्थाओं, अनुष्ठानों तथा संस्कारों से पोषित एवं पल्लवित है। पारिवारिक ऋद्धि सिद्धि, समृद्धि तथा सुख, सौभाग्य के प्रतीक भी ये ही विविधा चन हैं जो इस जन्म को ही नहीं, अपितु जन्म जन्मांतर तक को साधक करते हैं। इन अंकनों में महदी मांडने, थापे सांझी, भित्ति चित्र, गोदने जमीन के मांडने आदि प्रमुख हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि लोकानुरंजन और लोकांकन के इन विविध रूपों ने हमारे जीवन को विशिष्ट संस्कारों में ढाला है।'

—महेंद्र भानवत, लोकांकनों में अभिव्यक्त सौंदर्यानुभूति' (लेख)

चार

इस तरह लय, संगीत और कविता की श्रमधर्मा वापसी ही लोक संस्कृति एवं जन-जीवन का प्रारम्भ है। पहले के समाज में भी लोक जीवन तथा लोककार्य द्वारा सामाजिक रूपांतर उभरे थे जिनके सौंदर्यतत्त्व में निम्नलिखित की प्रधानता थी—

'लय, संगीत और कविता आदि मानव के श्रम से पैदा हुए। शारीरिक परिश्रम उस दशा में अत्यंत आसान हो उठता लय के साथ [illegible] था। हाथ से सामूहिक रूप से काम करते [illegible] के लिए उस एक लय में बां[illegible]

में जब अधिकतम शक्ति लगने लगती थी तो अपने आप एक स्वर फूट पड़ता था। इन स्वरों पर आदि मानव ने शब्दों का पर्दा चढ़ा दिया और वह संगीत बन गया। इसके अतिरिक्त औजारों की धातुओं से टकरा लगना और उनके स्वर का निकलना भी उसके लिए प्रेरणा का कारण बना। इसी तरह बहुत से औजार भी वाद्य यंत्रों में परिणत हो गये। दे० कार्ल बुशर "रिद्म्स"

आज नये औजारों, नये संगठनों, नये कार्यों में भी लोकजीवन तथा जनकार्य तथा जनसंस्कृति ऐतिहासिक भौतिकवादी उपक्रम से साकार होती चलेगी।

—प्रो० रमेश कुंतल मेघ
A-५, यूनिवर्सिटी कैंपस, अमृतसर-१४३००५



सस्कृत-वाङ्मय में लोकोन्मुखता



कमलेशदत्त त्रिपाठी

संस्कृत वाङ्मय में लोकोन्मुखता के आधार की खोज अपने में एक विरोधाभास सी लग सकती है। 'संस्कृत' का अर्थ ही 'परिष्कृत' और 'परिमार्जित' है। स्वभावत संस्कृत वाङ्मय का सम्बन्ध शिष्ट', 'अभिजात' और उच्च वर्ग से होना चाहिये, जबकि 'लोक शब्द का अर्थ 'सामान्यजन' होगा। अत सस्कृत' और 'लोक' प्रस्तुत सन्दर्भ में परस्पर विरुद्ध से प्रतीत होते हैं।

सस्कृत वाङ्मय मे लोकोन्मुख प्रवृत्ति पर चर्चा के लिये यह आवश्यक है कि पहले 'लोक' शब्द के अर्थ पर विचार कर लिया जाय। सांस्कृतिक सन्दर्भ में 'लोकवार्ता', 'लोक साहित्य', 'लोकसगीत 'लोककला', 'लोकविश्वास' आदि शब्द Folklore की पश्चिमी अवधारणा से जुड़े हुए हैं। 'फोक्लोर शब्द का प्रयोग पहले-पहल १८४६ ई० मे एक अंग्रेज पुराविद् विलियम जान टाम्स ने किया। उसने 'Populer Antiquities जैसे एक अटपटे शब्द के स्थान पर 'फ़ोकलोर' शब्द का प्रयोग किया। उन्नीसवीं शताब्दी में सतत अनुसन्धान के बीच पश्चिम मे 'फोकलोर' की अवधारणा के साथ 'मौखिक परम्परा' से प्राप्त अलिखित-रूप से लोककण्ठ मे प्रवाहित संस्कृति का अर्थ सन्निविष्ट हुआ। 'फ़ोकलोर' मे पुराकथा, आख्यान लोक-कथा, मौखिक परम्परा से लोक-कण्ठ मे जीवित अलिखित नैरेटिव, लोकगीत, कहावतें, पहेलियाँ, लोकविश्वास, लोकरीति, लोकाचार लोक कर्मकाण्ड, जादू-टोने सभी कुछ समाहित हैं। उन्नीसवीं शताब्दी मे पूँजीवाद के विकास के साथ ही 'साइन्स' को इस युग के एक मुख्य 'मिथक के रूप में स्वीकार किया गया, अत 'फ़ोकलोर' से उस समग्र ज्ञान को कहने की चेष्टा की गयी, जो 'साइण्टिफिक नालेज' से अलग है। आधुनिक समाजवैज्ञानिक और नृतत्त्वशास्त्रीय सन्दर्भों मे आदिम और कबीलाई समाज तथा कृषक और ग्रामीण समाज के समस्त सास्कृतिक उपादानों और आयामों को 'फ़ोकलोर' अथवा 'लोकवार्ता मे समेटा गया। पश्चिमी पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के विकास से जिस मशीनी सभ्यता का प्रसार हुआ, उससे पूँजीपति और श्रमिक वर्ग के उदय के साथ ही एक विशाल मध्यवर्ग का भी उदय हुआ। इस योरपीय शहरी उच्चवर्ग एव मध्यवर्ग ने अपने को न केवल अपनी कृषक और मजदूर संस्कृति से विलग किया, अपितु पूँजीवादी बाजार और कच्चे माल की खोज में आरूढ़ साम्राज्यवाद ने विजित देशों की सस्कृति से श्रेष्ठ और प्रगतिशील होने की धारणा का दम्भ भी भरा। इसलिये आधुनिक, सभ्य, प्रगतिशील, वैज्ञानिक, व्यवस्थित, परिष्कृत

और निबद्ध के विलोम में आदिम, बर्बर, असभ्य या अर्द्धसभ्य, अविकसित, अवैज्ञानिक, अलिखित अथवा मौखिक संस्कृति को 'लोक-संस्कृति' कहा गया। इसलिये पश्चिम ने जिन पुराकथाओं और आख्यानों की परम्परा को अतीत की थाती, यूनानी या अन्य संस्कृतियों से प्राप्त किया और अपनी ग्रामीण, कृषक-संस्कृति या श्रमिक-संस्कृति में देखा, उस सबको पिछड़ी या अवैज्ञानिक ही समझा। चार्ल्स फ्रांसिस पाटर ने सम्पूर्ण लोक संस्कृति को 'जीवित-जीवाश्म' (Lively Fossil) कहा, जो मरने से इनकार करता है।

स्पष्ट है, लोकप्रवृत्ति पर चर्चा में पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के उदय और वर्गों के द्वन्द्वात्मक चरित्र को भी ध्यान में रखना होगा। चाहे ग्रिम बन्धुओं का जमन लोक-कथाओं पर कार्य हो, अथवा मानहार्ट (Mannhardt) का 'योरपीय कृषकसमाज' पर अध्ययन हो या जेम्स जे० फ्रेज़र का 'गोल्डेन बाउ' जैसा महाग्रन्थ हो अथवा लेवी स्ट्रास का पुराकथा और पुराख्यानों की आधुनिकतम व्याख्या का प्रयास हो, सभी के मूल में लोक-संस्कृति को मृत, निष्प्राण और निरर्थक 'जीवाश्म' मानने का ही भाव है, जिसका अधिकाधिक पुरातात्विक महत्व ही हो सकता है।

इस परिप्रेक्ष्य में 'संस्कृत वाङ्मय में लोकप्रवृत्तियों' के विश्लेषण का आरम्भ करने से पहले संस्कृत वाङ्मय में प्रतिबिम्बित सामाजिक रिश्तों और सामाजिक वर्ग रचना के अन्तःसम्बन्ध की विशिष्टता भी देख लेनी चाहिए। 'लोक' की भारतीय अवधारणा को ठीक उन्हीं सन्दर्भों में व्याख्या मुश्किल होगी, जिन सन्दर्भों में 'फ़ोक' को पश्चिम में पारिभाषित किया गया है। संस्कृत वाङ्मय में "लोक" आदि, बर्बर, असभ्य या अर्द्धसभ्य, अविकसित, अवैज्ञानिक समुदाय या वर्ग नहीं है और सर्वोच्च मौखिक परम्परा या अलिखित परम्परा तो वह है, जिसे सर्वथा दिव्य, दोषशून्य, पूर्ण और शाश्वत माना गया है—वह है वैदिक परम्परा या श्रौत परम्परा। अतः 'फ़ोकलोर' के आधार में विद्यमान मौखिक परम्परा की धारणा भारतीय सन्दर्भों में अर्थहीन हो जाती है, जहाँ सामन्ती विकास के अन्तिम दौर में भी सर्वशुद्ध, दोषरहित, शाश्वत और परिष्कृत परम्परा का प्रतिनिधित्व मौखिक परम्परा ही करती है। इसके साथ ही 'दास' और 'कृषक' वर्ग की सम्पूर्ण संस्कृति थोक भाव से बबरता, असभ्यता, अविकास और पिछड़ेपन के सन्दर्भों में कभी नहीं देखी गयी। इसके विपरीत 'लोक' और 'शास्त्र' में एक सतत संवाद और आदान प्रदान का सम्बन्ध है। जो कुछ लोक में है, वही कभी 'शास्त्र' बनता दीखता है और जो शुद्ध शास्त्रीय रूप है वह कालान्तर में शास्त्रीय न रह कर लोक में जीवित दीखता है। जब शास्त्रीय और अभिजात संस्कृति मुरझाने लगती है या मलिन हो जाती है तो "लोक" से जीवन-रस पाती है। ठेठ 'वन्य' और 'ग्राम्य' संस्कृति का विलक्षण अनुशासन है। आश्चर्यजनक 'शास्त्र' का सम्प्रवाह वहाँ जागरूक दीखता है। 'लोक' और 'शास्त्र' में मध्य विग्रह और विरोध कम, संवाद और विनिमय का सम्बन्ध ही अधिक है।

लोक की संस्कृत वाङ्मय में प्रतिबिम्बित अवधारणा को अनेक स्तरों अनेक सन्दर्भों में जांचा जा सकता है। धर्म, दर्शन एवं भाषिक सन्दर्भ में

'प्रतियोगी' है। 'वेद' अनादि साक्षात्कृत शाश्वत, दिव्य, इतिहासातीत 'श्रुति'-स्वरूप, निगमात्मक, आम्नायरूप एवं साक्षात्कृत आनुपूर्वी अथवा विशिष्ट क्रममय शब्दसंघात, और कर्मकाण्ड-ज्ञानकाण्डात्मक ज्ञानराशि है। 'वेद' का क्षेत्र 'अदृष्ट' अर्थ का प्रतिपादन है, जबकि 'लोक' व्यवहार विषय, ऐहलौकिक, कार्य-कारणात्मकता में मर्यादित परिवर्तमान जगत् से सम्बद्ध है। 'लोक' का क्षेत्र दृष्ट अथवा प्रत्यक्ष जागतिक जीवन है। भाषिक सन्दर्भ में अनादि आनुपूर्वी 'वेद' है और 'संस्कृत भाषा' लौकिक शब्दराशि है। इस अर्थ में सम्पूर्ण क्लासिकी संस्कृत वाङ्मय ही 'लौकिक' है। 'प्राकृत' की तुलना में संस्कृत 'देववाणी' भले ही हो, वेद के समक्ष तो वह भाषा है। इस अर्थ में संस्कृत वाङ्मय में जीवन की इह-लोक-परक विद्या, चिन्तन और वास्तविकताओं का प्रतिबिम्बन है। तथापि संस्कृत को 'प्राकृत' की तुलना में देखने पर यदि 'प्राकृत' सहज और सामान्य-जनाश्रित भाषाएँ हैं, तो संस्कृत संस्कारवती, परिमार्जित, विशिष्ट और अभिजात वर्ग की भाषा है। 'प्राकृत' के साथ उसके सम्बन्ध को दो ही तरह से देखा जा सकता था—संस्कृत परिशुद्ध, दोषरहित है और प्राकृत 'उसका अपभ्रंश अथवा प्राकृत' मूल है और संस्कृत उसका परिष्कार। दोनों ही दृष्टियाँ अपनायी गयीं, किन्तु दोनों ही स्थितियों में संस्कृत प्राकृत का सम्बन्ध 'संवाद' का ही रहा 'विरोध' का नहीं।

धर्मपरक, विधिपरक, आचार-परक और समाजशास्त्रीय सन्दर्भों में 'लोक' 'शास्त्र' का प्रतियोगी है। शास्त्राचार और लोकाचार का द्वन्द्वात्मक रूप है। वेदविहित परम्परा-प्राप्त, शाश्वत, सार्वजनीन धर्म, विधि, व्यवहार, आचार और नीति 'शास्त्र' में प्रतिष्ठित है, जबकि लोकसिद्ध, देशकाल मर्यादित धर्म, विधि, आचार-व्यवहार 'लोकाचार' है। 'शास्त्र' और 'लोक' का सम्बन्ध भी अविरोध का ही सम्बन्ध है, अतः धर्मशास्त्र 'लोक धर्म' 'लोकाचार' लोकव्यवहार' और 'लोकविधि' को यत्नपूर्वक रक्षित करने का मार्ग सुझाते हैं। शर्त इतनी ही है कि 'शास्त्र' से उनके अविरोध का रास्ता ध्यान में रखना चाहिये। पूर्वमीमांसा जैसे पारम्परिक और रूढ़िपरक शास्त्र ने यद्यपि इस दृष्टि से व्यवहार और आचार की ग्राह्यता के मानक निर्धारित किये, जैसे कि इन्हें प्राचीन अवश्य होना चाहिए, इनका श्रुति या स्मृति के स्पष्ट वचनों से विरोध नहीं होना चाहिये उनके पीछे दृष्टार्थ नहीं होना चाहिए और उन्हें अनैतिक नहीं होना चाहिये, किन्तु वैदिक वचनों और स्मृतियों से विघटन होता रहा।

किंचत् क्रमशः धर्मशास्त्र में अनुमोदित धर्म के रूप में भी जुड़ता गया जबकि अनेक सर्वस्वीकृत धर्म, आचार और व्यवहार अपनी स्वीकृति मात्रसिद्ध और व्यावहारिक अर्थों में खोते हुए भी देखे गये। इस प्रसंग में सुप्रसिद्ध आचार्य कुमारिल का कथन ध्यान देने योग्य है—

'उत्तर भारत के ब्राह्मण अयाल वाले घोड़ों खच्चरों, ऊँटों, दो दाँतों, दाँत वाले पशुओं के विक्रय एवं दान में संलग्न रहते हैं और पत्नी, बच्चों और मित्रों के साथ एक ही पात्र में खाते हैं दक्षिण में ब्राह्मण मामा की पुत्री से विवाह करते हैं और बैन्त (बेंत या बाँस की खाचियों से बने मोढ़े) पर बैठ कर भोजन करते हैं, दोनों ही

(उत्तरी और दक्षिणी ब्राह्मण) मित्रों या सम्बन्धियों के खा लेने पर (पात्रों में रखा) या उनसे खाते समय छुआ हुआ पका भोजन खा लेते हैं, वे तमोली की दूकान पर पान को सुपारी और कत्था के साथ मोड़कर खा लेते हैं, पान खाने के अन्त मे आचमन नही करते, धोबियों द्वारा धोए गये और गधों पर लाये गये कपड़े पहनते हैं, महापातकियों के संस्पर्श का परित्याग नही करते, चारो ओर मनुष्य मात्र, जाति या परिवार के लिये व्यवस्थित धर्मनियमो का अत्यधिक उल्लंघन पाया जा रहा है, जो श्रुति और स्मृति के विरोध मे पड़ता है।" (तन्त्रवार्तिक)

जैमिनि ने (१-३/१५-२३) होलकाधिकरण या सामान्य श्रुतिकल्पनाधिकरण मे कुछ महत्वपूर्ण बातें कही हैं—"कुछ कृत्य जैसे कि होलका (वसन्त म होली) का उत्सव, पूर्वीय लोगो द्वारा मनाये जाते हैं, किसी कुल द्वारा करज और अर्क के बढते पौधों की पूजा (आहीनैबुक) जैसे कुछ कृत्य दाक्षिणात्यों द्वारा मान्य है, उद्‌वृषभयज्ञ (ज्येष्ठ पूर्णिमा को बैलो का पूजन और दौड़) उत्तर के लोगों म मान्य है।"

जैमिनि और कुमारिल द्वारा इन कृत्यों के आधार पर श्रुति के अनुमान करने का प्रश्न उठाया गया है। पर अन्तत ये प्रश्न लोक विश्वास और लोकाचार, लोकव्यवहार और लोक धर्म के शास्त्र म स्वीकृति पाने से ही सम्बद्ध हैं।

भट्टोजिदीक्षित के शिष्य वरदराज ने 'गीर्वाणपदमंजरी' नामक ग्रन्थ मे एक कान्य-कुब्ज ब्राह्मण और विजयनगर के एक संन्यासी के बीच बातचीत म कहलाया है कि प्रत्येक देश म कुछ दुराचार पाये जात हैं जैसे कि दक्षिण म मातुलकन्या से विवाह, कर्नाटक म बिना स्नान किये भोजन, महाराष्ट्र मे ज्येष्ठ पुत्र के पहले छोटे पुत्र का विवाह और पर्वतीय प्रदेशो म नियोग की प्रथा।

इस प्रकार के स्थल अभिजात और सामान्य वर्ग के धर्म, व्यवहार, आचार और कानून के सतत आदान-प्रदान, संवाद और परिवर्तन की प्रक्रिया को द्योतित करते हैं। "लोक" का यह दायरा कभी देश विशेष के अभिजात वर्ग की परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है और उसके बरक्स पूरे देश मे प्रतिष्ठित एवं स्वीकृत अभिजात परम्परा को रखा जाता है, कभी एक ही प्रदेश म अभिजात और निम्न वर्ग की परम्परा के विरोध अथवा वैपरीत्य को सामने रखता है, पर अन्तत यह मामला जुड़ता है, वस्तुत कानून के प्रभु और प्रभावित, शोषक और शोषित वर्गों की संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध के स्वरूप स ही। समाज वैज्ञानिक और विधि शास्त्रीय दृष्टि स यह सम्बन्ध सामञ्जस्य की खोज की ही दिशा हो सकती है। इसी लिए हिन्दू कानून मे अन्तर्गत व्यवहार या आचार द्वारा स्थापित साध्य निश्चित कानून से बढ़कर है। प्राचीनकाल म लोकनीतियाँ या आचार प्रामाणिक माने गये हैं। संस्कृत वाङ्मय म प्रतिष्ठित विशाल स्रोत, स्मृति और धर्म-शास्त्रीय साहित्य धर्म, आचार व्यवहार और विधि की दृष्टि से [illegible] [illegible] हुए जीवित है। श्रौत साहित्य और श्रौतकर्मो म निहित विशाल विवरण के अतिरिक्त शान्ति और पुष्टिकर्म प्रतिपादक मन्त्र थे—गृह्य एवं धर्मसूत्र, आगम तथा धर्मशास्त्र की परम्परा केवल अभिजात वर्ग की संस्कृति का ही नहीं, अपितु इस विशाल देश के जटिल

और अनेकस्तरीय समाज की संस्कृति के प्राय हर आयाम का प्रामाणिक दस्तावेज है। इसमें निहित लोक-प्रवृत्तियों का प्रामाणिक अध्ययन किया जाना अभी भी शेष है। इस प्रसंग में "धर्मशास्त्र के इतिहास" के लेखक महामनीषी महामहोपाध्याय पांडुरंग वामन काणे का कथन याद आता है, जो फ्रेजर की ही भांति इस सम्पूर्ण उपलब्ध साहित्य का अनुशीलन करना चाहते थे, किन्तु एक ओर तो इसकी विशालता और दूसरी ओर फ्रेजर जैसी दृष्टि के जैसे के तैसे रूप में प्रयोग के खतरे के कारण वे इस प्रकार के अध्ययन में प्रवृत्त न हो सके। उन्होंने उपलब्ध विशाल तथ्य राशि के विवरण-संयोजन, तुलना और व्यवस्थित करने तक ही अपने को सीमित रखा।

धर्म, दर्शन, आचार, व्यवहार और विधि से जब हम साहित्य और कलाओं में प्रतिबिम्बित लोक प्रवृत्तियों पर दृष्टिपात कर सकते हैं। भाषिक दृष्टि से वैदिक साहित्य के बाद लौकिक संस्कृत काव्य का उदय एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना थी—"आम्नाया-दन्यत्र नूतनश्छन्दसामवतार" (उत्तररामचरित भवभूति)। वस्तुत व्याध के द्वारा विद्ध क्रौंच के वध और व्याकुल, असहाय क्रौंची के चीत्कार से लौकिक संस्कृत काव्य की उत्पत्ति के मिथक की अपनी पृष्ठभूमि है। आर्ष महाकाव्यों के उदय के मूल में वैदिक युग के सामान्य मनुष्य द्वारा अपने ही लिये सम्बोधित कविता की खोज की यात्रा छिपी है। वैदिक-सूक्त मुख्यतया अधिष्ठातृ देवों के लिये सम्बोधित सूक्त हैं। उनमें भी सामान्य मनुष्य की उपस्थिति देखी जा सकती है। ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्साहित्य भी मुख्यत कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के विविध आयाम उद्घाटित करते हैं, किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों मे ही आख्यानों के बीच मे—"गाथा" नामक छन्द उपस्थित है। इन गाथाओं में मनुष्य की कथा है। ऐतरेय-ब्राह्मण मे शौन शेपाख्यान में आयी गाथाएँ इसका उदाहरण हैं। देवपाश से बद्ध मनुष्य के मुक्त होने की गाथा। पारस्कर-गृह्यसूत्र मे विवाह के कर्मकाण्ड मे गाथा-गायन का विधान है—सरस्वती के लिये आयी एक गाथा है—

"सरस्वती प्रेदमव सुभगे वाजिनीवति।
तामस्य गाथा गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यश।"

'गाथा'—नारी का उत्तम यश। अश्वमेध आदि यज्ञों के अवसरों पर देवों और वीरों के आख्यान को प्रस्तुत करने वाली ये 'स्वरचित' गाथाएँ वीणावादकों द्वारा गायी जाती थीं। ऐसे आख्यान में "सुपर्णाध्याय" जैसा एक आख्यान आज भी प्राप्त है। 'गाथा नाराशंसी' या मनुष्य की प्रशसा मे गीत इतिहास और पुराण के साथ-साथ उपलब्ध हैं। इसका सम्बन्ध एक ओर ऋक्संहिता की दानस्तुतियों से है और दूसरी ओर अथर्व-संहिता के "कुन्तापसूक्त" से। ये इतिहास अथवा आर्षमहाकाव्यों से सीधे सम्बद्ध और पूर्ववर्ती हैं। आख्यान, इतिहास, पुराण और गाथाओं को विन्टरनिट्ज ने Literary Public Property कहा है, जिसे वैदिक परम्परा ने ही नहीं, बौद्ध और जैन परम्परा ने भी उपजीव्य बनाया।

'गाथा नाराशंसी' की यह उपजीव्यता संस्कृत काव्य के रूप मे मनुष्य की उसकी "सम्पूर्ण वास्तविकता" मे अवतार की भूमिका है। रामायण और महाभारत मे अवतीर्ण

मनुष्य दूरस्थ क्षितिज पर तारे की तरह टिमटिमाता, वास्तविक जीवन से बाहर 'आदर्श पुरुष' नहीं, अपितु जीवन की वास्तविकता में स्वीकृत मूल्यों का सम्पुञ्जित आकार है, जो उसी काल में है, उसी देश में है—

"कोऽन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान् ?"

जैसे सीधे प्रश्न का सामने उपलब्ध उत्तर है।

इस अर्थ में सम्पूर्ण संस्कृत काव्य का मानवीय धरातल स्पष्ट है। आगे भी परम्परा शुद्ध पारमार्थिक-दार्शनिक चिन्तन, शास्त्र और स्तवराशि से विविक्त इहलोक-परकता की ओर अधिकाधिक उन्मुख होती जाती काव्य परम्परा है। यह महत्वपूर्ण है कि क्लासिकी संस्कृत साहित्य का दिव्यनायक भी अपनी मानवीयता में प्रतिबिम्बित है—कालिदास के शिव और भवभूति के राम इसके उदाहरण हैं। किन्तु इससे भी सुस्पष्ट मनुष्य—सामान्य मनुष्य—प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तकों में, कथा, आख्यायिका, नीतिकथा और रूपककथाओं में अवतीर्ण होता है। दस प्रकार के रूपकों में पूरे पाँच प्रकार के रूपक—प्रकरण, भाण, प्रहसन आदि सामान्य व्यक्तियों की उनकी सारी कमजोरियों में कही कथा कहते हैं। दशकुमार चरित, मृच्छकटिक, श्यामिलक तथा शूद्रक आदि के सुप्रसिद्ध भाण, भगवदज्जुकीयम् प्रहसन, पंचतंत्र की परम्परा में नीतिकथाएँ, 'बृहत्कथा' की संस्कृत-परम्परा और रजककथाएँ, क्षेमेन्द्र के व्यंग्य और विद्रूप, दामोदरगुप्त का वैशिक संसार—एक विशाल साहित्य-संसार है, जिसमें सामान्यलोक, वह लोक भी जो शोषित वर्ग में आता है, भूरिशः वर्णित है। लोकचित्रण ही लोकोन्मुखता नहीं है। लोकपरता लोक के ठोस यथार्थ को देखना और उसे निर्णायक भूमिका भी देना है। संस्कृत काव्यशास्त्र ने इस दृष्टि से 'वक्रमार्ग' के समक्ष 'स्वभावोक्ति' को समान गरिमा दी है। संस्कृतकाव्य की आन्तरिक रचना में 'स्वभाव' और 'लोक' को यथोचित स्थान प्राप्त है।

इसी तरह संस्कृत-नाट्य की संरचना वस्तु चरित्र और शिल्प के आधार पर लोक-स्वभाव से अनिवार्यतः जुड़ी है। संस्कृत-नाट्य के इस लोकस्वभाव की उपलब्धि के लिये संरचनात्मक स्तर पर लोकभाषाओं के प्रयोग का स्वीकार उसकी लोकोन्मुखता को प्रामाणिक और असंदिग्ध रूप में रखती है। विराटलोक की वृत्तियों और प्रवृत्तियों के अनुरूप प्राकृत और अपभ्रंश के उपयोग ने संस्कृत नाट्य में लोकचरित्र, लोकजीवन और लोकविश्वास की उपस्थिति के द्वार खोल दिये।

उपरूपकों ने तो और भी अधिक सम्भावनाएं उपस्थित कर दीं। वस्तुतः अनेक उपरूपक शुद्धरूप में लोकनाट्य ही हैं, जिनमें लोकभाषा, लोकाख्यान, लोकरंगमंच, लोकसंगीत पूरी तरह से स्वीकार किया गया।

रंगशैली के संधारण में 'नाट्यधर्मी और लोकधर्मी — इन दो धर्मियों का और संगीत तथा अन्य कलाओं के सन्दर्भ में 'मार्ग' और देशी की परम्पराओं को स्वीकृ[ति] संस्कृत रंगमंच, प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय कलाओं एवं संगीत में लोकधारा की उपस्थिति को रेखांकित करती है। नाट्यशास्त्र और उत्तरवर्ती परम्परा में शारदातनय शार्ङ्गदेव और मतंग ने नाट्य तथा संगीत में लोक और देशी प्रवृत्ति सुपरिभाषित क[ी]

है। 'संगीतरत्नाकर' में लोकधर्मी के दो प्रकारों का उल्लेख हुआ—'चित्तवृत्त्यर्पिका' और 'बाह्यवस्त्वनुकारिणी'। दोनों ही प्रकार शैलीबद्धता की न्यूनतम उपस्थिति और सहजता की प्रवृत्ति को समेटते हैं। लोकोन्मुख होने का कलागत अर्थ ही है—बाह्यवस्तु से अधिकाधिक संवाद, सहजता और ऐसी शैलीबद्धता जो व्यापक सामूहिक स्तर पर कला का सम्प्रेषण सम्भव कर सके। जहाँ नाट्यधर्मी अथवा मार्ग-कला मुख्यतः सर्जनात्मक धरातल पर वैयक्तिकता, इसलिये कठोर साधना से निरन्तर विकसित किये जाते व्यक्ति अथवा घराने में विकसित परिष्कार, को व्यक्त करते हैं, वहाँ 'लोकधर्मी' और 'देशी' कला की सामूहिक अभिव्यक्ति की ओर अधिक उन्मुख होंगे। उनकी भी अपनी शैलीबद्धता और परम्परा तो है ही, किन्तु अन्तर तारतम्यता का है—इतना कि लोकरूप 'अनगढ़' से लगने लगें।

पारम्परिक चिन्तन, साहित्य और कलाओं में लोकोन्मुखता की इस प्रवृत्ति ने उसे सतत सजीव और गतिशील बनाया है। 'लोक' और 'शास्त्र' का यह अन्तःसम्बन्ध हमारे जीवन और चिन्तन की निजता है, उसकी असली पहचान है। लोकदृष्टि का सार जीवन की सच्चाई और गतिमयता का साक्षात्कार है। 'शास्त्र' ने इस गतिमयता को सदा 'लोक' से ग्रहण किया है। आज के सन्दर्भ में अपने समय के 'लोक' में स्थित उस गति और परिवर्तन के सच्चे सूत्रों से जुड़ना हमारी सांस्कृतिक सजीवता के लिये इतिहास के द्वारा संकेतित रास्ता है। 'लोक' से दूर हटना या लोकमानस को विरूपित करने वाली प्रक्रिया का आश्रय न केवल ग़लत रास्ता है, बल्कि इस प्रवृत्ति का अन्ततः पराजित होना निश्चित है। 'लोक' की हमारी अपनी अवधारणा उसके प्रति अडिग प्रतिश्रुति से अनिवार्य रूप से जुड़ी है।

*

लोकसंस्कृति और मूल्यपद्धति



हरिशंकर परसाई

मेरी माँ अपढ़ थी। वह 'संस्कृति' शब्द भी नहीं जानती थी। वह शाम को आरती के बाद हाथ जोड़कर भगवान् से प्रार्थना करती थी—हे भगवान्, सबको भली करियो और तिनके पीछे हमारी भली करियो। तब तो नहीं, पर उम्र आने पर, सोचने विचारने लायक होने पर मैंने सोचा—मेरी माँ के मन में यह कामना कैसे आई कि सबका भला करने के बाद भगवान् हमारा भला करे। सबका भला पहले और हमारा भला बाद में—यह भावना कहाँ से उस अपढ़ में आ गई? प्राणी स्वार्थी होता है। वह अपना भला, अपना सुख पहले देखता है। मगर मेरी माँ अपने भले के पहले दूसरों के भले की कामना करती है—यह सहज चित्तवृत्ति उसमें कहाँ से आई? यह क्या सैद्धांतिक अध्ययन से आई, ग्रंथों से आई, प्रवचनों से आई, सितार से आई, तबले से आई, संगीत से आई? नहीं, इधर कहीं से नहीं आई। मेरी माँ की तरह असंख्य स्त्रियाँ अपने भले से पहले दूसरों के मंगल की कामना करती हैं, यह लोकभावना है जो लोकसंस्कृति से आई।

सदियों के अनुभवों से मनुष्य ने सीखा कि इतना ही काफी नहीं है कि मैं सुखी आदमी होऊँ बल्कि यह भी जरूरी है कि मैं बेहतर आदमी बनूँ। मुझे पूर्णता का अनुभव तभी होगा। अपनी ऐतिहासिक जीवन यात्रा के अनुभवों से सामाजिक मनुष्य ने पाया कि जैसा मेरा सुख वैसा दूसरे का सुख। मुझे दूसरे के सुख का भी साधक होना चाहिये। कुछ बातें सबके लिए मंगलकारी होती हैं और कुछ सबके लिए अमंगलकारी। मुझे मंगलकारी चीजों को ग्रहण करना चाहिये। लोकमंगल में सबका मंगल है। लोकमंगल के लिए मुझे कुछ स्वार्थ-त्याग भी करना चाहिये। इस तरह सर्वमंगलकारी मूल्यों को लोक ग्रहण करता गया और अमंगलकारी जो भी है उसे छोड़ता गया। यही संस्कृति है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' किसी मनीषी के मानस में अकस्मात् नहीं आया। लोकजीवन के अनुभवों और निष्कर्षों की परिणति थी यह कि मनीषी ने उसे ग्रहण किया।

संस्कृति लोकसंस्कृति ही होती है, वर्ग संस्कृति नहीं। यह सही है जैसा मार्क्स ने कहा है कि जिस वर्ग के हाथों में उत्पादन के साधन होते हैं वह वर्ग धर्म, संस्कृति आदि पर भी कब्जा कर लेता है। सामंत संस्कृति को दरबार में ले गये और पूँजीपति अपनी दुकान में ले गया। सामंत संगीतज्ञों कवियों को दरबार में बिठाता था और पूँजीपति पाँच सितारा होटल में रविशंकर से सितार बजवाता है। पर लोक में व्याप्त संस्कृति

नहीं रहती है। संगीत, नृत्य आदि संस्कृति नहीं संस्कृति के उपादान हैं। ये चित्त का उदात्तीकरण करते हैं। जितना हम संगीत सुनते हैं हमारे मन में किसी के प्रति मैला नहीं होता। हमारे चित्त का उदात्तीकरण हो चुका होता है। संस्कृति में चित्त का उदात्तीकरण और आनंद जरूरी है। इसीलिए नृत्य संगीत के कार्यक्रम को सांस्कृतिक कार्यक्रम कहा जाता है।

लोक ने अपनी कला विकसित की—कुछ और नहीं तो दीवार पर गेरु से आकार बनाये। लोकनृत्य, लोकसंगीत, लोकनाट्य विकसित किये। इनमें रूढ़ियों में प्रवहमान जीवनधारा है और तात्कालिकता भी। यही शास्त्रीय बना दिये गये। लोकसंगीत से ही शास्त्रीय संगीत बना। लोकचित्रकला से ही तरह-तरह के कलारूपों ने जन्म लिया। प्रसिद्ध चित्रकार यामिनी राय ने बड़ा काम किया। उन्होंने जीवन भर गाँवों की दीवारों पर अंकित *'भित्ति चित्रों' को न केवल एकत्र किया, बल्कि इसी आधार पर स्वयं चित्रांकन* करते रहे। कला के किसी सिद्धांत और आंदोलन को उन्होंने नहीं माना।

अब हो यह रहा है कि अपने चरित्र के अनुसार उच्च और उच्च मध्यम वर्ग लोकसंस्कृति के इन कला-रूपों को अपनाकर उन्हें शहर के वातानुकूलित भव्य हालों में प्रस्तुत करता है। वह इन्हें हड़प रहा है अपनी प्रतिष्ठा के लिए। यह वर्ग जिसकी कोई संस्कृति नहीं है, जिसकी जड़ें इस भूमि से ही उखड़ चुकी हैं, जिसके पास शरीर के सब बाकी सब विदेशी हैं। वह देखता है कि यूरोप और अमेरिका में भारत और भारतीय और भारतीयता के प्रति एक क्रेज है। तो वह भी *भारतीयता को ग्रहण करके दिखाता* है। उच्चवर्गीय स्त्रियाँ देहातिन भारतीय स्त्री की तरह लाख की चूड़ियाँ पहनती हैं। मोटी और खरखरी। क्यों? विजय चौहान की कहानी की अफसर की बेटी कहती है— इट इज ए फैशन टू बी इण्डियन दीज डेज़। जी हाँ, भारतीय होना इस वर्ग के लिए फैशन है।

हमें इस लोकसंस्कृति की रक्षा करना चाहिए। पाँच सितारा होटल में गोंड की टिमकी बजवाने से संस्कृति की रक्षा नहीं होगी। सांस्कृतिक जीवनमूल्यों की रक्षा का प्रश्न है। पूँजीवाद के विपुल उत्पादन अंतरराष्ट्रीय वितरण और विज्ञापन से गैर समाजवादी दुनिया में 'उपभोक्तावाद' चल रहा है। हमारे यहाँ उच्च तथा उच्च मध्यम वर्ग में यह उपभोक्तावाद आ चुका है। रूस में खुशहाली अच्छे रहन-सहन के सुभीते तो हैं, पर रूसियों ने अपने समाज को उपभोक्ता समाज नहीं बनाया। उपभोक्तावाद पहले जीवन पद्धति बदलता है। यह बहुत खर्चीली होती है। इसके लिए धन कहाँ से आये? तो फिर मूल्य-पद्धति बदली जाती है। मूल्यपद्धति के केन्द्र में मनुष्य होता है। तो उसे हटाकर केन्द्र में पैसा बिठा दिया जाता है। मानव जीवन मानव साम्य के लिए इस पद्धति में कोई स्थान नहीं। इसी का नतीजा यूनियन कार्बाइड जैसा हत्याकांड होता है। हमें संस्कृति को इस क्रूर अमानवीय साम्यपद्धति से बचाना है।

*

उत्पादक वर्गों का जीवन और लोक-संस्कृति



राजेश्वर सक्सेना

लोक के नये अर्थ और नये मॉडेल की तलाश—

आधुनिक विज्ञान और आधुनिक दर्शन की भौतिकवादी विचारपद्धति से देखने पर 'लोक' (लोकतत्व/लोकजीवन) मानवीय रूप और मानवीय चेतना के ऐतिहासिक विकास की बुनियादी अवस्थाओं (की रचना) को स्पष्ट करने वाला एक संवर्ग है। संस्कृति-उत्पादन के स्रोतों, प्रकारों और उसके अगणित प्रारूपों की दृष्टि से यह लोक आदिम से आधुनिक तक बराबर प्रवहमान है। यह परम्परा से विच्छिन्न कभी नहीं हुआ है, बल्कि इस लोक के द्वारा ही परम्परा को समय के मुताबिक नई जिन्दगी मिलती रही है। इसके अतिरिक्त सामाजिक जीवन में समस्त प्रकार के प्रयोगों और समस्त प्रकार की प्रगतियों के मानकों का निर्धारण भी इस लोक से ही होता रहा है। मानवीय इतिहास की सृजनशीलता का प्रत्यक्ष सम्बन्ध लोक से होता है। इतिहास की निरंतरता को बनाये रखने में इस लोक की हमेशा ही मूलगामी भूमिका रही है।

जीवन-समृद्धि की सामग्री को जुटाने के पीछे जो श्रम लगा होता है, उस श्रम की सहजता तथा उसके खुलेपन का सम्बन्ध इस लोक से होता है। जीवन की हर गति को सबसे पहले धारण करने वाला यह लोक ही है, जीवन के हर नये घटक को ताक़त देने वाला यह लोक ही है। जीवन की नई बिसात को, उसकी नई सामर्थ्य को मजबूती से क़ायम करने वाले श्रम को कसौटी मानकर विचार किया जाए तथा श्रमजनित स्पर्शों, संसर्गों और सम्पर्कों से बनने वाली सैद्धान्तिकता को प्रस्थान बिंदु मानकर चिंतन किया जाए तो यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि मानवीय अस्मिता लोकबद्ध होती है। यथार्थवाद के संदर्भ में यह अस्मिता एक व्यापक शब्द है। इस अस्मिता का संकट तो लोकजीवन के विघटन से पैदा होता है। लोक के विघटन की परिस्थितियों में, लोक-दर्शन की अवमानना में, लोकधर्म की निरर्थकता में ही व्यक्ति की निजता संस्कारहीन होने लगती है, व्यक्ति की नागरिकता भंग होने लगती है। और ऐसी हालत में अस्मिता के लुप्त हो जाने की, उसकी जातीयता के मिट जाने की परिस्थितियाँ जुट जाती हैं। लोकजीवन के विघटन से व्यक्ति की निजता सामाजिक सरोकारों से छिटक कर अलग-थलग पड़ने लगती है, वह प्रकृत रूप में घटने लगती है। इसीलिए तो अस्मिता को बनाये रखने के वास्ते निजता के सामाजिक रूपों को समयानुरूप नवीनीकृत करना पड़ता है।

क्या यह यथार्थ नहीं है कि आज अनेक तरह की अलगाववादी पृथक्करणवादी और मूलतत्ववादी साम्प्रदायिक ताकतें सिर ऊंचा कर रही हैं ? देश भर में आतंककारी स्थितियाँ पैदा हो गयी हैं ? क्या यह यथार्थ नहीं है कि दुनिया भर की नव उपनिवेशवादी विचारधारायें इन्हें हवा दे रही हैं और भारतीय जनता की एकता को नष्ट कर रही हैं ? और क्या यह सब कुछ यहां के लोकजीवन के विच्छिन्न हो जाने की सूचना नहीं है ? ये विघटनकारी ताकतें इसीलिए तो सिर उठा रही हैं कि यहां के लोकजीवन में अपने इतिहास और अपनी परम्परा की उर्वरता के प्रति बेखबरी का और अविश्वास का भाव पनपने लगा है। क्या यह सत्य नहीं है कि अपनी हठधर्मिता के कारण इतिहास को पीछे की ओर धकेलने वाली ये प्रतिगामी शक्तियां यहां के लोक की जिजीविषा को तोड़ने में तुल गयी हैं ? यह नहीं भूलना चाहिये कि इतिहास और इतिहास की परम्परा का निषेध करने वाली हर विचारधारा लोक विरोधी होती है, वह अपने सारतत्व में प्रतिक्रियावादी होती है।

इतिहास ही तो इस सच्चाई का असली गवाह है कि जब कभी भी और जहाँ कहीं भी इस लोक की अवहेलना हुई है अथवा इस लोक के विरुद्ध आचरण किया गया है तो समाज के जीवन में—विकास में वस्तु पक्षों और आत्म-पक्षों में अव्यवस्था फैलती गयी है। विकास में ग्रंथियाँ पड़ती गयी हैं। इस लोक की उपेक्षा से अनेक प्रकार की आत्मवादी धारायें उच्छृङ्खल और निरंकुश होती गयी हैं। इस लोक से प्राप्त होने वाली वस्तुगत सूचनाओं की अनदेखी के कारण विकास की प्रक्रिया में तरह-तरह की वर्जनाओं और कुण्ठाओं की वृद्धि होती गयी है। वर्गों और वर्णों की रूढ़ियाँ बनती गयी हैं। लोक की उपेक्षा से दम्भ और अहंकार के साथ ही व्यक्तिवादिता की ओर झुकाव बढ़ता गया है, चिंतन की धारा अन्तर्मुखी होती गयी है। भेदोपभेदों की तथा विरुद्धों की शृंखला खड़ी होती गयी है। परजीवीपन और परापेक्षण की जगह बनती गयी है। इस लोक की अवि-भाज्यता और सामंजस्यता के टूटने से ही विरोधी चरित्रवाली बमेल रीतियों और परि-पाटियों का जन्म होता गया है, जिम्मेदारियों के प्रति दुराव बढ़ता गया है, जीवन का कोडीफ़िकेशन यान्त्रिक और कड़ा होता गया है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि वर्ण और वर्ग के विरोधी तत्त्वों से भरे इतिहास में लोक के निरंतर टूटने और फिर से उसके नये रूपों में जुड़ने का क्रम आदिकाल से आज तक बराबर मिलता है। और फिर मनुष्य जाति के इतिहास की असलियत भी तो यही है कि उसमें उत्पादक वर्गों और गैर उत्पादक वर्गों में समय की जरूरत के हिसाब से आपसी मेल-मिलाप और संघर्ष बना रहा है। प्राचीन युगों में प्रकृति, मनुष्य और इतिहास के जैसे सम्बन्ध रूप बने थे, उन सम्बन्ध रूपों का जिस विधि से विकास हुआ था, उन्हीं के अनुरूप ऐन्द्रिक अनुभवों की, नैसर्गिक ज्ञान की और तर्क-पद्धतियों की सृष्टि होती रही थी। किन्तु इस वास्तविकता को कभी नहीं झुठलाया जा सका कि लोक के सज्ञान की रचना में उत्पादक वर्गों के द्वन्द्व की सक्रियता हमेशा बनी रही है। लोकसज्ञान के द्वन्द्वों से सामाजिक जीवन की वेगवान शक्तियाँ हमेशा ही अग्रगामी रही

है। ऐसी वेगवान और स्फूर्तिवान शक्तियों की पहलकदमी से ही यथार्थ की सैद्धान्तिक पुर्तियाँ बनती रही हैं।

इतिहास के किसी भी दौर में यह लोक द्वन्द्वहीन कभी नहीं रहा है। इतिहास की हर विजय और हर पराजय में, दर्शन की हर नवीनता में, शास्त्र की हर विधि में, धर्म में, काव्य में और समस्त कलारूपों में इस लोक को ही बांधने और उसे मर्यादित करने का प्रयास किया गया है। और चूंकि लोक-द्वन्द्व के मूल हमेशा ही वर्गीय रहे हैं, इसीलिये, मर्यादा के नाम पर, प्रजाहित और कल्याण के नाम पर इस लोक के द्वन्द्व की वर्गीय पहचान को मिटा देने के लिये बहुत ही कड़े कदम उठाये जाते रहे हैं। लोक की वर्गीय छवि को धूमिल कर देने के लिये धर्मों और दर्शनों से भरी अधिरचनाओं की कल्पना की जाती रही है। शास्त्र के द्वारा, पुरोहित के द्वारा और राजा (राजनीति) के द्वारा पेंचदार धर्मों को और बर्बर मिथ्या विश्वासों को थोपा जाता रहा है। किन्तु यह यथार्थ है कि तमाम आडम्बरों के बावजूद लोक के सहजात द्वन्द्वों को कभी भी दबाकर नहीं रखा जा सका। आदिम चिह्नों और प्रतीकों में, आद्यरूपों और मिथकों में, सभी तरह के गाथाचक्रों में, कथाओं और आख्यानकों में—सम्पूर्ण इतिवृत्त में इस लोकबद्ध वर्ग शक्ति का द्वन्द्वपूर्ण सृजन और पुनसृजन दिखाई देता है। भाषा और नृवंश सम्बन्धी या जातिवृत्त सम्बन्धी (Language ethnos) विविधताओं में, जीवन की अन्तर्रचना और उसके बाह्य विस्तार में इस लोक की वर्गीय शक्तियाँ बहुत ही सृजनधर्मी रही हैं।

भारत के इतिहास में चाहे आदिमानव की सांस्कृतिक पहचान का प्रश्न हो या वैदिक संस्कृति के विकास का, चाहे बौद्ध और इस्लामिक संस्कृति के प्रतिपक्षों की ठोस भूमिका का सम्बन्ध हो या कि फिर आधुनिक युग में साम्राज्यवादी अंग्रेजों की पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव का—इन सभी दौरों में लोक संघर्ष की जातीय परम्परा अविच्छिन्न रही है। भारत के इतिहास में लोकबद्ध संघर्ष की एक महान् सांस्कृतिक परम्परा रही है और इसे आदिम जादू से लेकर परवर्ती युगों के धार्मिक मतमतान्तरों, भक्ति, योग और तन्त्र की हर पद्धति और साधना में देखा जा सकता है। इन सभी में लोक की अन्तश्चेतना ध्वनित होती रही है। तांत्रिक पद्धतियों में तो कहीं-कहीं आदिम युग के कबीलाई टोटमिक रिवाजों की जीवन्तता के पुनः दर्शन होते हैं। दर्शन और धर्म के क्षेत्र में पायी जानेवाली तपस्याओं और साधनाओं की जो प्राणी-वैज्ञानिक और मनोदार्शनिक अभिव्यक्तियाँ दिखाई देती हैं अनेक प्रकार की मतवादी और साम्प्रदायिक शैलियाँ दिखाई देती हैं और इन सबों में जो आपसी फूट और तनातनी दिखाई देती है, इन सभी के भीतर लोक की वर्गीय विषमताओं को फूटते हुये देखा जा सकता है। यदि पक्षपातहीन होकर इतिहास की मुख्य चेष्टाओं को पहचानने का प्रयास किया जाए तो मालूम होगा कि इस लोक की परम्परा में ही युग की मूल्य-दृष्टि का रचनात्मक प्रतिपादन होता रहा है।

मानव की आत्मा के उन्नयन का यज्ञस्थल वह सक्रिय लोक है जो अगाध तत्परता के साथ क्रियाशील रहते हुये, यथार्थ का अनुभव करते हुये और समय के अनुकूल विचारोत्पादक चिंतन करते हुये सत्य की सार्वभौमिकता को व्यवहार से बांधता चलता है।

मार्क्सवाद की यह स्पष्ट मान्यता है कि अतीत से साथ किया जाने वाला संवाद इतिहास के द्वन्द्वात्मक नियमों पर आधारित होता है। इस संवाद में अतीत के गतिमान भौतिक वृहत्तर और गतिमान आत्मिक वृहत्तर की परस्पर सम्बद्धता पर निगाह टिकी रहती है। किन्तु इन दोनों गतिमान वृहत्तरों को किसी भी तरह से पृथक् नहीं किया जा सकता। क्योंकि ये दोनों वृहत्तर प्रगतिमान प्रक्रियाओं को ही विशिष्ट अवस्थाओं में परिचायक होते हैं। इसी ऐतिहासिक प्रक्रिया के द्वारा अतीत की भौतिक और आत्मिक सापेक्षताओं को भी पहचाना जा सकता है। ये सापेक्ष रूप भी अपने वर्तमान की आवश्यकताओं से—भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की आवश्यकताओं से बनते हैं। इन सापेक्षों के द्वारा ही अतीत की निरंतरता इतिहास की भौतिक गतिविधि मे प्रकट हो पाती है। (आइन्स्टीन का सापेक्षवाद नहीं जिसकी दार्शनिक परिणति पाजिटिविज्म में होती है।) यह जीवन के सगुण-साकार का ठोस रूप धारण कर पाती है। और तभी इस निरंतरता को यथार्थ रूप में प्रतिपादित किया जा सकता है, उसे शब्दान मे बाँधा जा सकता है। अत यह स्पष्ट हो जाता है कि इतिहास में सापेक्ष ही परम्परा की जीवन शक्ति के रूप विधायक होते हैं। उत्पादक वर्गों के श्रम से नई ताकत लेने वाले इतिहास मे इन सापेक्षों की अनेक भूमिकायें होती हैं। विशिष्ट और सामान्य की अनेक श्रेणियाँ होती हैं। इतिहास के ये सापेक्ष अपने समय के प्रतिरूपों और प्रतिरोध से जूझते रहते हैं और वृहत्तर आकारों मे रूपांतरित होते रहते हैं। इनके ढेर सारे कार्य होते हैं। ये परम्परा की जीवन शक्ति को सजोते हुये, उसे लोकोन्मुखी बनाते हुये आगे की ओर धकेलते रहते हैं।

मध्य युग के सामन्तवाद मे और आधुनिक युग के पूँजीवाद ने इस लोक को, लोकबद्ध प्राणी को भाँति-भाँति से विभक्त किया है। उसे ऊँच-नीच के वर्णों और वर्गों मे विभक्त किया है। किन्तु इस विभक्तीकरण के बाद भी मार्गन का यह कथन कितना सही साबित होता है कि ' The history of human race is one in source one in experience one in progress '' इतिहास के प्रगतिशील नियमों के अनुरूप आज लोकबद्ध चेतना का जो नया पैटर्न बना है (वैज्ञानिक समाजवाद का) मानवीय चरित्र की जो नई सार्वभौमिक तस्वीर बनी है, उससे यह सिद्ध हो जाता है कि मानव मात्र का अस्तित्व ही श्रम की बुनियाद पर टिका हुआ है। यह साबित हो जाता है कि सामाजिक अस्तित्व की प्रगति भी उसी के भीतर पाये जाने वाले आन्तरिक लोकवाद की गति से ही तय होते हैं। इसीलिये श्रम के दर्शन को नकारने से, श्रम के प्रति प्रतिबद्धता को नकारने से, श्रम की अन्तर्राष्ट्रीयता को नकारने से तथा श्रम को सामाजिक विज्ञानों और प्राकृतिक विज्ञानों में सही जगह न देने से समाज के जीवन में विघटनकारी और विनाशकारी हालात उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसी ही हालत में गतिरोधों की शृंखला खड़ी हो जाती है।

आज के परिवेश मे तो यह साफ दिखाई देने लगा है कि सामाजिक जीवन मे अनुदारवादी विचारदृष्टियों की भूमिका पूर्णतया प्रतिक्रियावादी हो चुकी है। यह अनुदारवाद तो एक तरह से इतिहास को थम जाने, थक जाने और उसके महत्वहीन हो जाने का प्रतीक बन गया है। यह अनुदारवाद इतिहास को पीछे की ओर ले जाना चाहता है। हर

तरह के बदलाव के विरुद्ध प्रतिक्रिया ही इस अनुदारवाद का प्रस्थान बिन्दु बन गयी है। इस अनुदारवाद ने तो अब प्रैग्मेटिज्म के दर्शन को भी रूढ़ियों से बांध दिया है। फलस्वरूप, आज के युग म लोकतंत्र और अनुदारवाद की विचारधारायें एक दूसरे के प्रतिपक्ष में आ गयी हैं। अभिजन और लोक के दो शत्रुवत् खेमे बन गये हैं। इस अनुदारवाद और सुम्पेनी चरित्र माने अभिजन के तहत व्यक्ति और समाज के रिश्ते ही शत्रुतापूर्ण हो गये हैं।

व्यक्ति और समाज में किसकी सत्ता प्रथम है तथा इन दोनों मे कौन नियामक है? इसके बदले यदि यह पूछा जाए कि क्या व्यक्ति को समाज से या समाज को व्यक्ति से अलगाया जा सकता है? और इस अलगाव से किस तरह के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है? यह देखा गया है कि व्यक्ति और समाज को दो पृथक् सवर्गों मे रखनेवाले अक्सर गलत ढंग से और गलत निर्णय के साथ सवाल उठाते हैं। ऐसे लोग अपने आधे-अधूरे निष्कर्षों पर ही टिके रहते हैं। इस तरह के सवालों का जवाब तो आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी की शक्तियों को आत्मसात् किये हुये हमारे युग के इतिहास ने समाज के पक्ष मे, लोकवाद के पक्ष मे और समाजवाद के पक्ष में दे दिया है। अब स्वांत सुखाय का रोमाचक आह्लाद केवल प्रकृत मानव, निरपेक्ष मानव और एब्सल्यूट मैन तक, अनुदारवादी-रूढ़िग्रस्त मानव तक सीमित रह गया है। 'परम' के सदर्भों (परमतत्व, परमेश्वर, परमज्ञान आदि) ने जगत् या ससार को मिथ्या बना दिया है! इस 'परम' की निरपेक्षता ने, इस परम की अनिर्वचनीयता ने ऐन्द्रिक संसार की सारग्राहिता को ही क्षीण कर दिया है। आत्मतत्व को वस्तुतत्व से, अध्यात्मतत्व को लोकतत्व से पृथक् कर दिया है। अध्यात्म विद्या के रहस्यवादी सवादो ने जनता को पूरी तरह से खपा दिया है। अध्यात्म विद्या के मूल्य जनता के कार्यों से मेल नहीं खाते। इनमे व्यक्ति के प्राकृतिक और अति प्राकृतिक का यान्त्रिक समायोग मिलता है। इनमे प्रवृत्ति और आसक्ति के कायिक और मनोवैज्ञानिक रूपों की तथा निवृत्ति और अनासक्ति के निरपेक्षतावादी-सर्वखडनवादी धारणाओं की अभिव्यक्ति होती है।

आधुनिक युग के मनुष्य की सत्ता पर सोचते हुये क्या हमे इस तथ्य का यथार्थ ज्ञान नहीं हो जाता कि व्यक्ति की सर्जना म, उसके व्यक्तित्व की रचना में लोकवादी शक्तियों के संचार से वैयक्तिकता के वृहद् और विराट् रूप बन जाते हैं? तथा वैयक्तिकता लोकाच्छादित होने लगती है? और ऐसी हालत मे क्या फिर इस अर्जित की गयी अथवा समृद्ध की गयी वैयक्तिकता में वृहद् और विराट् की भौतिकता को नकारा जा सकता है? यह वृहद् और विराट् तो वास्तव में मानव की भौतिक क्रियाओं से ही पल्लवित होता है। इस प्रकार हमारे युग में हर तरह की अनुदारवादी धारा के विरुद्ध और वैज्ञानिक यथार्थवाद के तहत सामाजिक मनुष्य की सृजनशील शक्तियां निरतर प्रौढ़ से प्रौढ़तर होती जा रही हैं और इनमें व्यापक कोटि की एकरूपता आ रही है।

अत फिर से विषय पर लौटते हुये यह साहस के साथ कहा जा सकता है कि यह लोक अब एक पिछड़ी हुई कृषि संस्कृति या ग्राम सस्कृति तक तथा सामंतवादी-पारिवारिक और धार्मिक व्यवस्था तक सीमित नहीं रह गया है। **आधुनिक** युग के

इतिहास की सैद्धान्तिक भूमिका पर इस लोक का नया अर्थ गूढ़ और विशद हो गया है। अब यह लोक पूरी तरह से वैज्ञानिक चिंतन का विषय हो गया है। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि लोकसंस्कृति जनता की संस्कृति होती है, वह श्रमिक जनता की धरोहर होती है, वह मानवीय क्रिया से फलती-फूलती है। तो फिर यह जनता चाहे किसान हो या मिलों, फ़ैक्ट्रियों और उद्योगों में काम करनेवाले मजदूर वर्ग के रूप में हो। चूंकि हमारे देश में कृषि ही उत्पादन का मुख्य साधन है, इसीलिये कृषि उत्पादन के उन्नत स्वरूप से ही लोक की व्यवस्था का निर्माण होता रहा है। किन्तु अब आज के आधुनिक परिवेश में अन्य देशों की ही तरह भारत का वर्तमान जीवन भी आधुनिक विज्ञान और तकनालाजी पर निर्भर होता जा रहा है। ऐसी निर्भरता भारत के विकास का आधार बन चुकी है। यहाँ तक कि कृषि उत्पादन की तकनीक भी बदल रही है। यहाँ की कृषि एक उद्योग के रूप में, कृषि-उद्योग के रूप में बदल रही है। भारत में कृषि की आंचलिक संस्कारशीलता भंग हो रही है। कृषि की देशीयता का चरित्र गुम हो रहा है। अब कृषि उत्पादन की एक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था ही निर्मित हो चुकी है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय हितों और लाभों के अनुरूप ही कृषि उत्पादन को बढ़ावा दिया जाने लगा है।

इतना ही नहीं बल्कि इस कृषि के अलावा उत्पादन के अगणित नये स्रोत मिल गये हैं। नई तकनालाजी इन नये उत्पादन स्रोतों का साधन बन गयी है। कृषि के समानान्तर अथवा यूँ कहें कि कृषि-व्यवस्था को आत्मसात किये हुये एक विशाल औद्योगिक जीवन व्यवस्था खड़ी हो गयी है। इस नई औद्योगिक व्यवस्था का बुनियादी चरित्र भी लोकवादी है। किन्तु यह विशाल औद्योगिक व्यवस्था अपने स्वरूप और गुण में कृषि व्यवस्था के पारम्परिक अर्थ से भिन्न है। इस औद्योगिक व्यवस्था की अपनी लोकदृष्टि है। इसके निर्माता वर्गों की भी अपनी लोक संस्कृति है। आधुनिक शब्दावली में इसे जनता की जनवादी संस्कृति के नाम से भी पुकारा जाता है। इस तरह जीवन के नये रूपान्तरण की प्रक्रिया में यह स्पष्ट दिखाई देता है कि उत्पादन व्यवस्था का नये रूपों में ऐतिहासिक रूपान्तरण हुआ है। कृषि और उद्योग में सहकार बढ़ता गया है दोनों में पारस्परिकता आती गयी है। परिणामस्वरूप, उत्पादन संस्कृति की, श्रम संस्कृति की या लोकसंस्कृति की एक नई तस्वीर सामने आयी है।

लोक का परम्परावादी अर्थ बदल चुका है। अब लोक अपने आधुनिक अर्थ में जनवाद का एक मंज़िल और आगे बढ़कर वह समाजवादी जनवाद का द्योतक हो गया है। यह आधुनिक जनवाद तो लोक के मध्यकालीनतावादी आदेश का ही बदली हुई भौतिक परिस्थितियों में नया रूपान्तरण है जो रूप-गुण धर्म के स्तर पर भिन्न चरित्र वाला है। लोक के इस नये रूपान्तरण को इतिहास के द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी नियमों से ही समझा जा सकता है। इस नये लोकवाद या जनवाद ने अपने समय और स्थान की जरूरतों के मुताबिक एक लोकतांत्रिक विचारधारा का निर्माण भी कर लिया है। इस नवीन लोकतांत्रिक या जनवादी विचारधारा की अपनी जातीय पहचान भी है। यह

जनवादी-लोकवादी विचारधारा अपने ही इतिहास से, अपनी मिट्टी से रस लेकर उग रही है। सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि इस जनवाद के पास आधुनिक युग की नवीनतम सरनालाओं से प्रभावित होने वाले समाज के रिश्तों और सघर्षों को व्यक्त करनेवाली भाषा भी है। इस जनवाद के पास नई भौतिकता से उत्पन्न होने वाले शब्दों का नया भडार भी है। यह आधुनिक जनवाद भारत की कृषि सस्कृति को आगे बढ़ाता है, उसमें नये जमाने के द्वन्द्व भरता है। इस प्रकार लोकजीविता के नये भौतिक उपादानों से नवीन लोक-दर्शन की सृष्टि हुई है। इस नवीन लोक-दर्शन को दृष्टिहीन होकर, परिप्रेक्ष्यहीन होकर और यथास्थितिवादी होकर नहीं समझा जा सकता।

थोड़ा रुक कर इस नये लोकायत पर, इस नये लोकायत के घटकों पर विचार कर लेना जरूरी हो जाता है। आज के इस नये लोकायत अथवा नये लोकवाद के सज्ञान की भौतिक क्रियाविधि का अपना एक पूरा संसार है, सार्वभौमिक नियमों वाली एक पूरी सस्कृति है। किन्तु इस लोकायत की सस्कृति को अवलोकित करने के वास्ते नये परिवेश के मूलगामी स्वभाव का अध्ययन और चिंतन करना होगा। आधुनिक जीवन व्यवस्था की, उसकी बाह्यांतरिक सरचना की पूर्वाग्रहमुक्त, पूर्वनिर्धारणमुक्त तथा हर तरह की जड सूत्रवादिता से मुक्त स्थितियों का मूल्यांकन करना होगा। धर्म निरपेक्षता को नये प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों की विचार दृष्टि के रूप में स्वीकार करना होगा। यह नहीं भूलना चाहिये कि जीवन के नये भौतिक परिवेश की इयत्ता ही धर्मनिरपेक्षता है। यह धर्मनिरपेक्षता मानव समूहों को एकजुट करती है। इस नई इयत्ता से प्रतिबद्धताओं और उद्देश्यों में व्यापक कोटि की एकरूपता का मार्ग प्रशस्त होता है। हमे बहुत अच्छी तरह से मालूम है कि वर्णगत भेदों वाला एण्टागानिजम सामन्तवादी उत्पादन-सम्बन्धों की अनिवार्य उपज था जिसे आधुनिक युग के पूँजीवाद ने धराशायी कर दिया है। ठीक उसी तरह से वर्णगत भेदों वाला एण्टागानिजम आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था की अनिवार्य उपज है जिसे समाजवादी सामाजिक सम्बन्धों के विकास से समाप्त किया जा सकता है। इस तरह नया लोकायत और नया लोकवाद समाजवादी माडेल के रूप में गहमागहमी और सरगर्मी का विषय बन गया है।

आज की दुनिया सक्रमण के दौर से गुजर रही है। इस सक्रमण की आंतरिक शक्तियों में गुणमूलक अंतर भी दिखाई पड़ने लगा है। दुनिया समाजवादी लोकवाद की ओर बढ़ रही है। हमारे युग का इतिहास उस निर्णायक बिन्दु पर पहुँच चुका है कि यदि मनुष्य को इस पृथ्वी पर स्वतंत्रता के साथ जीवित रहना है तो उसके भविष्य की इयत्ता के हर अध्याय में समाजवादी सम्बन्धों को परिभाषित करनेवाली भाषा को विकसित करना होगा। आज की दुनिया बड़ी तेजी के साथ इस विकल्प के लिये एकजुट होने लगी है। प्रतिक्रिया और प्रगति का सघर्ष अब मनुष्य जाति के अस्तित्व की समस्या बन गया है। आज की परिस्थिति तो ऐसी बन गयी है कि अपनी सम्पूर्ण ऐतिहासिक विरासत को थामे हुये मनुष्य की सृजनधर्मिता के सम्मुख जीवन और मौत में से किसी एक के चुनाव का सवाल उठ खड़ा हुआ है। किन्तु आशा सिर्फ इसलिये बँध पाती है कि

जिन्दगी का इतिहास से वैज्ञानिक नियमों से नैसर्गिक कोटि का सम्बन्ध होता है और यह नैसर्गिकता अब समाजवादी विकल्प की ओर ले जाने लगी है। तकलीफें चाहे जैसी भी हों, अब सवाल मन-पसन्दगी का नहीं रह गया है। इतिहास के इस दौर में 'जिन्दगी' समाजवादी सम्बन्धों वाले विकल्प तक पहुँच पाने की जद्दोजहद बन गयी है। समाजवाद तो भविष्य की निश्चयात्मकता बन गया है। प्रतिक्रिया चाहे जितनी भी ताकतवर क्यों न हो, उसे बदलाव को पसंद करने वाली जिन्दगी के सामने, झुकना ही पड़ेगा। उसे जिन्दगी के नियमों के तहत झुकना ही पड़ेगा। आकस्मिक झटके दे-देकर जिन्दगी को रोकने वाली विचार पद्धतियाँ बेमानी हो चुकी हैं। बेहतर तो यही है कि जिन्दगी को आगे बढ़ने की छूट दे दी जाए, उसे इतिहास की नई मंजिल पर स्वतंत्र कर दिया जाए। जिन्दगी की स्वतंत्रता का विकल्पहीन सम्बन्ध अब (इतिहास की इस नई मंजिल पर) समाजवादी जनवाद या समाजवादी लोकवाद से हो गया है।

प्रकृति में, उसकी भौतिकता में अन्तर्निहित ऊर्जा को (दिक्‌काल की बदली हुई अवस्थाओं के अनुरूप) मानवीय हितों के निमित्त रूपान्तरित कर लिया गया है। सिद्धान्त, नियम और क्रिया के धरातलों पर भौतिकता और ऊर्जा के गूढ़तम और सूक्ष्मतम अन्तर्सम्बन्धों का, उच्चतर गुणों को व्यक्त करने वाला रूपान्तरण मानवीय भौतिक विवेक के रूप में हो चुका है। आज की मनुष्यता बहुत ठोस हो चुकी है। सामाजिक बोध की, दायित्वबोध की नैतिक और तार्किक धुरियाँ बदल चुकी हैं। इस विराट भौतिक विवेक के गुण-धर्म को समझने और धारण करने की योग्यता और कुशलता बढ़ गयी है। प्रतिमा लोकबद्ध और विश्वदृष्टि यथार्थवादी हो गयी है! नये युग की चेतना में इस भौतिक विराट् की ऊर्जा का नैसर्गिक प्रतिबिम्बन दिखाई देता है। आज का विज्ञान उस बिन्दु पर पहुँच गया है जहाँ से मानव और उसकी मानवीयता को, उसकी नियति को, उसके अस्तित्व को सीधे प्रभावित किया जा सकता है। हमारे युग की राजनीत्यार्थिकी का ढाँचा भी ऐसे ही भौतिक विवेक के बल पर खड़ा हुआ है। अतः अब आज के युग मे धर्म, धार्मिक अमूर्तन और रहस्यवाद किसी भी अर्थ में सकारात्मक नहीं रह गये हैं। सबसे महत्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि नये प्रकार के जीवनोत्पादन मे धर्म का प्रतिबिम्बन किसी भी रूप में नहीं होता है। जीवनोत्पादन के स्रोतों और साधनों के किसी भी रूप का प्रतिबिम्बन धर्म मे नहीं हो पाता है। नये जीवन मे धार्मिक शैलियों का कोई यथार्थ तक नहीं रह गया है।

अतः दिमाग की सच्ची स्वीकृति इसी मे है कि जीवन को ताकत देने वाले हर उत्पादन में, उसे नया रूप देने वाले हर उत्पादन मे धर्मनिरपेक्षता के भौतिक रूपमानों की अवमानना न की जाए। कहने का आशय यही है कि नये जीवन के किसी भी पहलू का प्रतिबिम्बन धर्म में नहीं हो पा रहा है। धर्म और नैतिकता तथा विज्ञान और नैतिकता की दो पृथक् दृष्टियाँ बन गयी हैं। इनमे प्रथम (धर्म और नैतिकता) का सम्बन्ध आधुनिक से, आधुनिकता और आधुनिकता-बोध से यहाँ तक कि आधुनिकीकरण से नहीं रह गया है। धर्म अब आज के नये जीवन की सर्जनात्मक शक्ति नहीं रह गया है, उसकी वास्तविकतायें पुरानी पड़ चुकी हैं, वह अब अपनी ही धुरी पर एक्लैक्टिक हो गया है। इस धर्म के

स्थान पर अब धर्मनिरपेक्षता ही नये भौतिक विवेक की सार्वभौमिक वस्तुनिष्ठता का परिचायक हो गयी है। इसीलिये तो आधुनिक युग की राजनीत्यार्थिकी विज्ञान से, उत्पादन की भौतिकता से अभिन्न हो गयी है। धर्म की व्यवस्था और धर्म की मूल्य-दृष्टि इस आधुनिक विज्ञान के सृजनशील स्वभाव के विरुद्ध दिखाई देती है। इस तरह नये लोकायत में या नये लोकवाद मे विज्ञान और राजनीति की प्रतिबद्धता दिखाई देती है। और इस प्रतिबद्धता मे किसी भी तरह की एपालाजिस्टिक दृष्टि का लेशमात्र भी स्थान नही रह गया है। समर्पण, उदासीनता और यथास्थिति की आज के जीवन मे कोई जगह नही रह गई है। राजनीतिक अन्तवस्तु मे प्लेटो के भाववाद की या रहस्यवाद की भूमिका पूरी तरह गुणहीन हो चुकी है। इतिहास के हर नये मोड पर "प्लेटो का भूम फिर कर लौटते रहना" अब असंभव हो गया है।

इतना होते हुये भी आधुनिक युग की बुर्जुआ राजनीत्यार्थिकी मे मिथ्या और भ्रम के, धर्म और रहस्यवाद के आडम्बरपूर्ण छलावे मौजूद हैं। बुर्जुआ—जनवाद या बुर्जुआ प्रजातंत्र का चरित्र साफ नहीं है, उसमें घातक असर पैदा करने वाला दोगलापन दिखाई देता है। जहाँ एक ओर वर्गीय विषमताओं और वर्गीय द्वन्द्वों के स्तर पर जनवाद वैज्ञानिक समाजवाद से अपनी प्रतिबद्धता को स्पष्ट करता है और लोक के जागरण को, सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक जागरण की आवाज को बुलन्द करता है, वहीं ठीक इसके विपरीत दूसरी ओर इस जनवाद मे अनेक प्रकार की बुर्जुआ विचारधारायें भी घुस आयी हैं, जो जनता मे भ्रम फैलाती हैं और उसे भटकाव के रास्ते पर ले जाती हैं।

आजादी के बाद भारत मे एक नये प्रकार की ग्रामीण बुर्जुआजी अस्तित्व मे आ चुकी है। कृषि में भी इजारेदारी की प्रवृत्ति पनपने लगी है। कृषि एक लाभदायक उद्योग के रूप में बदलती जा रही है। यहाँ तक कि कृषि भी नव उपनिवेशवाद के दायरे मे आती जा रही है। कुछ स्थानों पर कृषि-सामंतवाद टूट अवश्य रहा है। कृषि से सम्बद्ध श्रमिक-वर्गों की सोच भी बदल रही है। किन्तु इस बदलाव के बाद भी जनवादी धारा राष्ट्रव्यापी असर पैदा नहीं कर पा रही है। इतना तो जरूर है कि ऐतिहासिक बदलाव की प्रक्रिया में वर्गीय द्वन्द्व भर गये हैं, नक्शा बदलने लगा है।

भारत में पूँजीवादी जनवाद के विस्तार के बावजूद, कृषि के क्षेत्रों मे पूँजी के व्यापक दखल के बावजूद अभी तक सामंतवादी आर्थिक सामाजिक सम्बन्धों के अवशेष शेष हैं। मध्ययुगीन महाजनवाद और पुरोहितवाद अभी तक जीवित हैं। इतना अवश्य दिखाई देता है कि सामंतवादी शोषण के गहरे संकट ने किसान को मजदूर के निकट ला दिया है। परिवर्तन की ऐसी प्रक्रिया में हजारों हजार अन्तर्विरोध किसी एक ही बिन्दु पर पैदा हो गये हैं, कहीं-कहीं तो इतिहास का यह संक्रमण दिशाहीन सा हो गया है। साम्राज्यवादी और पूँजीवादी ताकतें इस संक्रमण से पूरा लाभ उठाने में लगी हैं, इस संक्रमण को अपने अनुकूल बनाने में लगी हैं। इन विरोधी परिस्थितियों के बाद भी किसान और मजदूर की एकता का मार्ग प्रशस्त होने लगा है। अब किसान और मजदूर दोनों ही अपनी एकता को, पारस्परिक सहयोग की भावना को प्रकट करने लगे हैं। दोनों ही मिल-

कर नये प्रकार की लोकवादी संस्कृति की रचना मे लगे हुये हैं। किसान और मजदूर की एकजुटता को व्यक्त करने वाली यह लोक-संस्कृति विज्ञान और तकनालाजी की समरसता में आगे बढ़ रही है। यह लोकसंस्कृति सम्प्रदायमुक्त है। इस नई लोक संस्कृति ने नगर और गाँव मे उत्पादक वर्गों के आपसी सम्बन्धों को एकरूप बनाया है। यह लोकसंस्कृति अब नये समाज की अग्रगामी चेतना का सवाहक बन रही है। इसी लोकसंस्कृति में सम्पूर्ण मानवीयता की रक्षा और उसके विकास का संघर्ष भी व्याप्त है।

इस तरह अब आज के युग मे लोक का, लोकवाद का अर्थ ही पूरी तरह से बदल गया है। अतः इस लोक के *अध्ययन की* प्रचलित पद्धतियों की भी नये सिरे से जाँच करनी होगी। पश्चिम मे, मुख्य रूप से अमरीका म सामाजिक या सांस्कृतिक नृविज्ञान (एन्थ्रापालाजी) के तहत ही लोक का लोकसंस्कृति का अध्ययन किया जाता है। वहाँ पर इस सांस्कृतिक या सामाजिक नृविज्ञान की हर कैटीगरी मे या सवर्ग मे मनोविश्लेषण शास्त्र और सामाजिक विकासवाद की सहायता ली जाती है। अनुभववादी अवधारणा वृत्त मे ही हर तरह के तथ्य की जाँच-पड़ताल की जाती है। इस सांस्कृतिक नृविज्ञान मे *प्राकृतिक व्यवस्था और सामाजिक वातावरण का* घालमेल रहता है। इस प्राकृतिक व्यवस्था और सामाजिक वातावरण म एक दूसर की अवस्थाओं का आरोपण-प्रत्यारोपण होता रहता है। इस सांस्कृतिक नृविज्ञान की अधिकांश स्थापनाओं मे प्राणी विज्ञान और मनोविज्ञान की भूमिकायें प्रमुख होती हैं। इसी प्राणी विज्ञान और मनोविज्ञान की सहायता से इथनोलाजी और इथनोग्राफी के सूत्रों को रचा जाता है। इस नृवंश शास्त्रीयता के द्वारा ही भाषा के उद्‌भव और उसके विकास को भी समझने का प्रयास किया जाता है। इस सांस्कृतिक नृविज्ञान मे प्राकृतिक और सामाजिक परिवेश का निरूपण नस्ल गोत्र, वंश, जाति और सम्प्रदाय के द्वारा होता है। और इसी मे भाव, भाषा और भव की—पूरी संस्कृति की और सांस्कृतिक विरासत की खोज की जाती है। सांस्कृतिक नृविज्ञान की पद्धति से विकासवाद की सैद्धान्तिकता को पुष्ट किया जाता है। यहाँ तक कि तुलनात्मक भाषा-शास्त्र का अध्ययन भी इसी के अन्तर्गत किया जाता है। लोक के, लोकसंस्कृति के तथा लोकसाहित्य के विविध अंगों का लोककथाओं, लोकगीतों, लोकनृत्यों, लोककलाओं और लोकोक्तियों आदि का अध्ययन भी किया जाता है। सामुदायिक भाव के बोध की *विकासवादी-अनुभववादी पद्धति से अतीत के मानवीय क्रियाकलापों* को भी नस्लवादी और जातिगत सम्प्रदायों की अनेक श्रेणियों में बाँट दिया जाता है।

किन्तु लोक के विवेचन की यह नृवैज्ञानिक पद्धति अधूरी और दोषपूर्ण है। ऐतराज की बात यह है कि इस सांस्कृतिक नृविज्ञान में प्रकृति के सम्मुख मनुष्य को घटाकर रखा जाता है। इसमें अधिकतर तो मनुष्य को प्रकृति के अधीन ही दिखाया जाता है। इसमें प्राकृतिक व्यवस्था और सामाजिक वातावरण के आपसी सम्बन्धों में यांत्रिकता मिलती है। इसीलिए तो यह जरूरी है कि लोक का, लोकजीवन का अध्ययन ऐतिहासिक प्रगति के उन नियमों द्वारा किया जाना चाहिये जिन्हें समय की जरूरत के अनुसार मनुष्य ने अपने द्वारा किये गये श्रम से बनाया है। क्योंकि मनुष्य अपने श्रम के द्वारा ही प्रकृति

से, प्राकृतिक व्यवस्था से सहता है। प्रकृति की व्यवस्था पर विजय हासिल करता है। और तब इस तरह उसे (प्राकृतिक व्यवस्था को) मानवीय बनाता है। प्रकृति का श्रम के द्वारा मानवीय होने का अर्थ ही प्रकृति के मानवीय इतिहास में रूपान्तरण से होता है।

इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था से इतिहास की अवस्था मे रूपातरण की प्रक्रिया के भीतर मनुष्य न तो प्रकृति की आधीनता स्वीकार करता है और न हो वह किसी भी रूप मे प्रकृति की शक्तियों से स्वयं को पृथक् ही कर पाता है। वह तो हमेशा ही प्रकृति के सान्निध्य मे रहकर, प्रकृति से जुडकर ही उसके गुण-धर्म को मानवीय बनाता चलता है। (पूंजीवादी पश्चिम मे आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के सामने मनुष्य या तो लघु और नाचीज सा हो गया है या फिर वह वहाँ एकदम आततायी और निरंकुश सा हो गया है —ऐसा इसलिए हुआ है कि पश्चिम, नृविज्ञान और डार्विनवाद से तथा मनोविश्लेषण और अस्तित्ववाद से बाहर नही निकल सका है।) स्पष्ट है कि इस सास्कृतिक नृविज्ञान की पद्धति से उसके द्वारा तैयार किये गये अनुभववादी सवर्ग-सूत्रों से ऐतिहासिक यथार्थ के प्रगतिशील प्रवाह को कभी नहीं समझा जा सकता। इस सास्कृतिक नृविज्ञान में यथार्थ रूप की अपेक्षा प्रकृति रूप को, यथार्थवाद की अपेक्षा प्रकृतिवाद को वरीयता मिलती है। इस सास्कृतिक नृविज्ञान मे मानव-जीवन को उसकी अन्तग्रथित प्रक्रियाओ मे, उसके बृहत्तर रूपों मे फैलने और विस्तृत होने की अपेक्षित अवस्थाओ पर ध्यान नहीं दिया जाता। इसीलिए तो ऐतिहासिक वस्तुवाद की द्वंद्वात्मक पद्धति के सामने एंथ्रापालाजी की समस्त शाखाओं के नियम और सूत्र एकदम यान्त्रिक से लगते हैं।

सस्कृति, साहित्य और कलाओं मे जिसे फ़ाक (Folk) कहा जाता है, 'फाकलोर' या लोकवार्त्ता साहित्य के नाम से पुकारा जाता है, लोकवार्त्ता विज्ञान के नाम से अभिहित किया जाता है, उसका अध्ययन और अनुसंधान भी सास्कृतिक नृविज्ञान के ही अन्तर्गत किया जाता रहा है। यह फ़ाकलोर एक व्यापक पारिभाषिक पद है। यह प्राचीन और मध्यकालीन लोक जीवन के अध्ययन का एक महत्वपूर्ण सवर्ग है। इस फाकलोर में या लोकवार्त्ता साहित्य मे आदिम युगों से लेकर मध्यकाल तक के तथा एक हद तक आधुनिक काल तक मे घुमन्तूपन, पशुपालन और कृषि-सम्बन्धो की नैसर्गिक और पारम्परिक झलक दिखाई देती है। इस फ़ाकलोर मे लोक नृत्य, लोक-कलायें, लोक सगीत, लोक कलाओं आदि के विविध रूप समाहित होते हैं। इतना ही नही, इस लोकवार्त्ता-साहित्य मे आदिम विज्ञान (जादू), दर्शन और धर्म की तथा ग्रह-नक्षत्रो, वनस्पतियों और पशु जगत् से सम्बन्धित अनेक प्रकार की आख्यानात्मक और मिथकीय परिकल्पनायें भी मिलती हैं। अति प्राकृतिक और अति मानवीय शक्तियों से भरे इन काव्यीय मिथकों में प्राचीन और मध्यकालीन मनुष्य के मनोविज्ञान की, उसकी प्रवृत्ति इच्छाओं की, स्तुतियों-अस्तुतियों की, भय, करुणा और आनन्द के रहस्यात्मक कल्पों की, आमोद प्रमोद और क्रीडा-कलापों की अभिव्यक्ति के नमूने मिलते हैं। स्वत स्फूर्तता, रोमाचकता, चमत्कार-प्रियता और रहस्यात्मकता के ताने बाने से बुनी इन लोक मिथकों के द्वारा तत्कालीन मनुष्य की चेतना के विकास की अवस्थाओ को समझने मे मदद मिलती है। इन लोक-मिथकों के अध्ययन

से ऐतिहासिक यथार्थ की खोज सम्भव हो सकती है, क्योंकि इनमें अपने समय के भौतिक परिवेश का द्वंद्व भी समाहित होता है। ये मिथकें बहुत अमूर्त सी होती हैं किन्तु एकदम निरपेक्ष नहीं होतीं।

'इन्साइक्लोपीडिया आफ़ सोशल साइंसेज में फाकलोर के बारे में कहा गया है—'Folklore is literature and like any art it has traditional—regional stylistic forms which may be studied like another art forms Modern folkloristic study is freeing itself of preoccupations and of farfetched allegories and is founding itself upon the importance of Folklore as a social phenomenon and as a means of expression by a social group of its own attitudes and cultural life by regarding Folklore as a cultural trait like technology, social—organisation or religion Folk lore then tends to crystallise and perpetuate the forms of culture that it has *made articulate* " (Vol V-VI Page 291)

हिन्दी मे अंग्रेजी के शब्द फाक के वज़न पर ही लोक के अर्थ को निश्चित किया गया है। भारत के सम्पूर्ण इतिहास मे, मुख्यरूप से 'हिन्दी प्रदेश' या 'मध्य देश' की ऐतिहासिक विरासत में लोक-साहित्य अंग्रेजी के 'फ़ाक लिटरेचर' की ही तरह व्यापक अर्थ वाला है। हिन्दी प्रदेश या मध्य देश के इस लोक-साहित्य में यहाँ के दर्शनों और धर्मों की, सम्प्रदायों और मतमतान्तरों की भीतरी वैमनस्यता बराबर उजागर होती रही है। हिन्दी प्रदेश मे लोक के या लोक-जीवन के अनेक ऐतिहासिक वृत्त मिलते हैं। इस देश का लोक-दर्शन और लोक-साहित्य वर्गीय द्वन्द्वों से एकदम अछूता नहीं रहा है। यहाँ पर ब्रह्म की, ईश्वर की और बाद के भगवानों की, देवी-देवताओं की परिकल्पनाओं का शास्त्र से बाहर और लोक के भीतर भी रूपायन होता रहा है। और फिर ब्राह्मणोत्तर चिन्तन का लोकवृत्त तो बहुत जुझारू रहा है। यहाँ पर शास्त्र की परिपाटी और लोक की परिपाटी म हमेशा ही मतभेद बना रहा है। यहाँ का लोक सिर्फ पेस्टोरल-पीजेण्ट रोमाण्टीसिज़्म' तक सीमित नहीं रहा है। इस लोक में तो वेदान्त और शास्त्र की परम्परा के विरुद्ध ऊचे स्वर सुनाई पड़ते रहे हैं। लोकायत की अपनी शानदार परम्परा रही है, जिसमें सज्ञान के क्रियारूपों की वस्तुनिष्ठता कभी क्षीण नहीं हो सकी है।

यदि पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के शब्दसमूहों को उनके भाषिक रूपों को विश्लेषित करते हुए कलाभिरुचि के बदलते हुये प्रतिमानों मे लोक की शक्ति को आँका जाये तथा बाद की मध्यकालीन बोलियों और देशज भाषाओं के विकास को दृष्टि-पथ में रखा जाये, इन बोलियो और भाषाओं के संवेदन रूपों तथा छद रूपों की छानबीन की जाये तो स्पष्ट होने लगेगा कि वेदान्त और शास्त्र की परिपाटी से लोक की परम्परा का झगड़ा वर्गीय विशेषताओं वाला ही रहा है। वेदान्तवाद और शास्त्र के पाडित्यवाद और कर्मकाण्डवाद के विरुद्ध इस लोक में, लोक साहित्य म यथार्थवाद के द्वन्द्व भरे रहे हैं।

ने ही इन लोकबद्ध द्वंद्वों की अभिव्यजना अनेक प्रकार के दार्शनिक और धार्मिक मत-वादों के रूप में ही क्यों न हुई हो ?

इसी सन्दर्भ मे 'शिष्ट' विशेषण के तले दबे हुए और बँधे हुए साहित्य को सकुचन वृत्ति को यहीं पर स्पष्ट कर देना ठीक होगा। व्यापक कोटि के जीवनानुभवों की दरिद्रता और ऐन्द्रिक रूपों के सीमित व्यापार की वजह से सृजन की तथाकथित शिष्टता और परिनिष्ठता केवल अलंकार बनकर रह जाती है। यह शिष्टता और परिनिष्ठता पद-रचना के वैशिष्ट्य का रीतिवाद बनकर रह जाती है। ऐसे शिष्ट साहित्य की सृजनशील कल्पना और कलाभिरुचि में शब्दों की, पदों की शुद्धता या यूं कहें कि रचना की वैयाकरणी भूमिका प्रमुख हो जाती है। इस तथाकथित शिष्ट और परिनिष्ठित मे सामंतवादी अभि-जात की, सामंती अभिजन के मैनरिज्म की लाक्षणिक अभिव्यक्ति होती रही है। आज के वर्तमान युग मे तो ऐसे तमाम विशेषण एकादमिक रूढ़ि के परिचायक हो चुके हैं। इनका चलन बन्द हो चुका है।

वर्तमान युग मे एक नये प्रकार का रूपवाद या कलावाद उभरकर सामने आया है। इसका 'शिष्ट' और 'परिनिष्ठित' से कोई रिश्ता नही है। जीवन के पतनशील चरित्र की व्याख्या करने वाले आधुनिकताबोध की रचना का अपना एक काव्यशास्त्र बन चुका है। मूल्यसकट और मूल्यहीनता के सदर्भों को रूप देनेवाली रचना की सैद्धान्तिकता बन चुकी है। विसगतियों से भरे जीवन को अर्थहीनता का भी अपना सैद्धांतिक आधार खड़ा हो चुका है। अविचारित अथवा अबौद्धिकता की सैद्धान्तिकता बन चुकी है। इस तरह इस नये रूपवाद और कलावाद के स्रोत आधुनिक जीवन की कुरूपताओं और अमूर्तताओं तक व्याप्त हैं। सपाटबयानी की भी एक सौंदर्य-दृष्टि बन चुकी है। इस नए रूपवाद या कलावाद में सामंती आभिजात्य की शिष्टता और परिनिष्ठता का एकात अभाव मिलता है। इस आधुनिक कलावाद ने शास्त्र के 'औचित्य' की परिधियों को तोड़ दिया है। इस रूपवाद या कलावाद मे विद्रूप और विसंगति के यथार्थ की नकारात्मक शक्तियों वाला एक पूरा शिल्प बन चुका है।

इस आधुनिक कलावाद की अपनी सास्कृतिक परिस्थितियाँ हैं जिनके कारण ही इसमें मूल्यहीनता और अर्थहीनता के उत्तेजक रूपमानों की सृष्टि हो पाती है। इसमे सनकीपन और जिद्दीपन की क्रूर किन्तु नपुंसक अभिव्यंजना शैली का बखान होता है। स्नायविक तनाव मे प्रकट होनेवाला बीमार और बड़बोला आक्रोश, जो कि दिमागी कम-जोरी का लक्षण होता है, इस आधुनिक रूपवाद की लाक्षणिक विशेषताओं की रचना करता है। इस आधुनिक रूपवाद के दार्शनिक और आध्यात्मिक प्रेरणास्रोत सूख चुके हैं। दर्शन के धरातल पर यह सकटग्रस्त हो गया है, इसमें आध्यात्मिक रिक्तता आ गयी है। इसका रचनात्मक व्यवहार पूरी तरह से प्रतिक्रियावादी हो गया है। इसने प्रतिबद्धता और विचारधारा विरोध की राजनीतिक साजिशों वाले रास्ते को पकड़ लिया है, इसका विचार-क्षेत्र अस्तित्ववाद तक सीमित रह गया है। इस आधुनिक रूपवाद मे एकाकीपन और अजनबीपन की, असंतुलन और असामंजस्य की तथा सर्वनिषेधवाद की गुस्सैल किन्तु तटस्थ

मुद्राओं वाली छवियाँ मिलती हैं । इसम कभी तो संयोगवश मुट्ठी तनी हुई दिखाई देती है
और कभी अकारण ही हथेली लटकी हुई सी नजर आने लगती है । कुत्ते की लार टप-
काती हुई जीभ की तरह यह रूपवाद अब आस्वाद के मानवीय आशयों से रिक्त हो चुका
है । समकालीन हिन्दी रचना में दिखाई पड़ने वाले रूपवाद या कलावाद का चरम पतन
या तो पुनरुत्थानवादी मूलतत्ववाद मे और रहस्यवाद म होता है या फिर वह अब सृजन
के शब्द शास्त्र की अथवा रूप सरचना और शैली विज्ञान की गिरफ्त म आ चुका है ।

कला और साहित्य मे शिष्ट, क्लासिकल और रूपवाद के भेद को न पकड़ पाने
के कारण कई बार भारी भूलें हो जाती हैं । कई बार तो यह भी देखने मे आया है कि
तथाकथित 'शिष्ट' को क्लासिकल का पर्याय मान लिया गया है । इस शिष्ट को क्लासिक्स
से जोड़कर देखा गया है । हिन्दी की एकादमिक आलोचना आज तक रूढ़ियों और भ्रांतियों
से मुक्त नहीं हो पायी है । इसीलिये परम्परा स प्राप्त प्रतिमानो की पुनरचना नही हो सकी
है मूल्यो का अभिनव ढाँचा खड़ा नही हो सका है । अभी तक तो ऐतिहासिक-परिप्रेक्ष्य की
नींव ही नही पड़ सकी है । ऐतिहासिक वास्तविकता के शोध की कोई विवादरहित पद्धति
नही बन पायी है । परम्परा के यथार्थवाद की सैद्धान्तिक अवधारणाओ को नये युग की
ज़रूरत के अनुसार बदलना होगा । अत कला और साहित्य के बारे म पहली बात तो
यह है कि क्लासिक्स को सामंती मूल्यो वाल शिष्ट-परिनिष्ठित और शालीन से तथा
आधुनिकताबोध वाल रूपवाद से अलग करके देखना होगा । सांस्कृतिक इतिहास की इस
वास्तविकता को तथा कला और साहित्य की इस ठोस सच्चाई को क्योंकर भुला दिया
गया है कि क्लैसिक्स का सम्बन्ध लोक से बराबर ही रहा है कि लोकजीवन के द्वन्द्व ही
क्लैसिक्स की प्रेरणा के स्रोत रहे हैं ।

ऋक साम् यजु और अथर्ववेद की परम्परा कितनी क्लासिकल है और कितनी
लोकबद्ध ? आदिकवि की रामायण से लेकर महाभारत तक क्लैसिक्स और लोकबद्ध को
क्या अलगाया जा सकता है ? इनके रचना स्रोतो तक पहुँचिये । क्या इनमे पाया जानेवाला
लोकसघर्ष प्रेरणा का मूल नही रहा है ? पाली, प्राकृत, अपभ्रश से लेकर मध्यकालीन
हिन्दी रचना के विशाल भडार को देखिये, कबीर, जायसी सूर तुलसी के पूरे-पूरे निकायो
को देखिये । क्या इन सबकी रचनायें क्लैसिक्स की कोटि में नही आतीं ? या कि वे सब
लोक से बाहर की हैं ? किन्तु इन्हे किसी भी तरह स शिष्ट की और रूपवाद की श्रेणी मे
नहीं रखा जा सकता । जीवित परम्परा को शक्ति इज़हार करने वाले सभी रूप क्लैसिक्स
का विषय होते हैं । रामचरितमानस को क्या कहेंगे ? उसे किस श्रेणी म रखेंगे ? असल
बात तो यह है कि परम्परा की जीवन शक्ति ही लोकबद्ध होती है । यह लोकबद्धता भी
इतिहास की नवीनताओं के अनुरूप नवीन वस्तुरूपों म प्रगट होती रहती है । इस तरह
वह हमेशा प्रासगिक बनी रहती है । इस परम्परा मे, लोकबद्ध परम्परा मे युगानुरूप
जीवन के उच्चतर को प्रतिबिंबित करती रहती है ।

उक्त प्रकार के सैद्धान्तिक आकलन के बाद एक और अहम मुद्दा बन जाता है कि
में सामंतवादी वर्गसम्बन्धों की दार्शनिक एव धार्मिक भूमिकायें विभिन्न वर्णों और

वर्गों वाली रही हैं। दर्शन और धर्म की विविधताओं से भरी ऐसी परम्परा मे ग्रामसमुदायों की लौकिक-भौतिक इच्छाओं का द्वन्द्व भी हमेशा सजीव रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि दर्शन और धर्म के द्वन्द्वो मे भौतिक परिवेश की प्रतिक्रिया बहुत डायरेक्ट रही है। यह प्रतिक्रिया अनेक प्रकार के ऐन्द्रिक व्यापारों मे प्रकट होती रही है। उल्लेखनीय बात तो यह है कि इन द्वन्द्वों मे अपने सामयिक की आलोचनात्मक पड़ताल भी होती रही है। भारत के प्राचीन इतिहास की इस मूलभूत विशेषता का प्रतिपादन भी यहाँ के लोक की जीवंतता मे ही हो पाता है जहाँ एक ओर वैदिक परम्परा मे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का सहकार और शूद्र का बहिष्कार मिलता है वहीं दूसरी ओर इस वैदिक परम्परा के विरुद्ध खड़े होने वाले बौद्ध-धर्म-दर्शन में ब्राह्मणत्व लगभग बाहर रहा है। इन बौद्धों की परम्परा मे क्षत्रिय-वैश्य और शूद्र का सहकार दिखाई देता है। इस बौद्ध संस्कृति ने भारत के लोक-जीवन मे एक क्रान्तिकारी भूमिका का निर्वाह किया। बौद्धों के प्रभाव मे आकर भारतीय समाज की छोटी और पिछड़ी जातियो ने, शूद्र समझी जाने वाली जनजातियों ने, उत्पादन के कार्यों मे लगी श्रमिक जातियों ने अपने वर्गीय द्वन्द्वों को ऐसे धार्मिक-दार्शनिक कलेवर म बाँधा जो शास्त्र और अभिजात दोनों को अस्वीकार करता था। इस बौद्ध संस्कृति के विकास मे क्षेत्र-क्षेत्र का अपना लोकल कलर भी दिखाई पड़ता है। काव्य और कलाओ के भाव-जगत् में तरह-तरह की बौद्धिक प्रतिक्रियायें दिखाई देती हैं।

बौद्ध सम्प्रदायों के परवर्ती दृश्यपटल को देखने से यह स्पष्ट होने लगता है कि भारत का लोकसंज्ञान द्वन्द्वो से भर गया था। वैदिक युग से लेकर बौद्ध युग तक के लम्बे दौर में भारतीय सामंतवाद की अनेक प्रकार से रचना होती है और इसी दौर में उसकी अन्तर्रचना बार-बार टूटती भी है। सामंतवाद जर्जर भी होता है और पुन नया जीवन भी पाता है। इस तरह इतिहास मे सामंतवाद की रचना, उसके विघटन और फिर पुन-रचना का यह दौर बौद्धिक संघर्षों से भरा रहा है। इस दौर मे इतिहास की दृष्टि भी बदलती रहती है और इतिहास की अन्तर्वस्तु का तेजी से विकास भी होता है। इस कालखण्ड में एक तरफ तो जीवन के ऐन्द्रिक-भौतिक व्यापारों को तुच्छ और घटिया बताने वाली, जगत् को मिथ्या कहने वाली आत्मवादी विचारणायें निरंकुश होती नजर आती हैं तो कहीं दूसरी तरफ प्रवृत्त इच्छा और लोक-व्यापार की सच्चाई का दृढ़ता के साथ प्रति-पादन करने वाली सामाजिक शक्तियाँ ऊपर उठती हुई दिखाई पड़ती हैं। इन सामाजिक शक्तियों ने अपने समय की भौतिकता से नाता-रिश्ता कायम कर लिया था। और फिर सामंती युगों मे किसी भी तरह की कोई भी सामाजिक शक्ति धर्म का सहारा लिये बगैर काम नहीं कर सकती थी। इसीलिये लोकजीवन मे नये प्रकार के द्वन्द्वो को जगाने वाली सामाजिक शक्तियों की धार्मिक और दार्शनिक प्रतिक्रियायें बहुमुखी रही हैं। इनमें प्रवृत्तिवाद, रहस्यवाद और यथार्थवाद की धर्मोन्मुखी अभिव्यक्ति दिखाई देती है।

सामंतवादी व्यवस्था म पाये जाने वाले द्वन्द्वों को तत्कालीन जीवन के परिदृश्य में मुखरित होते हुये देखा जा सकता है। लोकजीवन को नया रूप देने वाली सामाजिक शक्तियों में पास परम्परा, प्रयोग और प्रगति की एक मिलीजुली दृष्टिपद्धति भी

इस दृष्टि-पद्धति के द्वारा ये नई शक्तियाँ शास्त्र को, अभिजात को, महाजनवाद और पुरोहितवाद को पराजित कर सकी थीं। सामंतवादी जीवन के अनेक गतिरोधों को तोड़ सकी थीं। इन नई शक्तियों ने सबसे बड़ा काम तो यह किया कि उस समय की छोटी जातियों को सामाजिक हीनता और दुराव की कुंठा से मुक्ति दिलाई। भक्तिवाद को, उसकी हर शाखा और उपशाखा को इसी तरह की एक नई सामाजिक शक्ति के रूप में देखना चाहिये जिसने मध्ययुगीन सामंतवाद की वैचारिक और व्यावहारिक पृष्ठभूमि को लोकबद्ध कर दिया था।

अपभ्रंश और देशज भाषाओं में पाये जाने वाले साहित्य की विषय वस्तु का अध्ययन करके देखिये, इसके नवीन छंदों की लोकशक्ति को पहिचानिये तो स्पष्ट हो जाएगा कि वस्तु और रूप दोनों में अपने समय के भौतिक परिवेश की सीधी प्रतिक्रिया दिखाई देती है। तांत्रिकों, शाक्तों, कापालिकों से लेकर सिद्धों, नाथों और निर्गुण पंथियों तक के रहस्यवाद में तत्कालीन भौतिक परिवेश की शक्ति का उछाल दिखाई देता है। इन सभी में आध्यात्मिकता और भौतिकता का आन्तरिक संघर्ष छिड़ गया था। इनके अध्यात्म पर लोकल कलर की छाप दिखाई देती है। यह अध्यात्म आंचलिक स्वभाव वाला हो गया था। किन्तु इसके आवगो अनुषंगों का क्षेत्र बहुत व्यापक था। दूर-दूर तक विस्फोटक तारतम्य दिखाई देता है। इस युग के रहस्यवाद में लोकजीवन का भौतिक समान चुका हुआ नहीं है। यह रहस्यवाद तो उस समय के यथास्थितिवादी जीवन की तथा उस समय के प्रतिक्रियावादी जीवन की बखिया उधेड़ने में लगा था। यह रहस्यवाद तो प्रतिक्रिया पर प्रखर चोट करने वाली व्यापक शैली को बनाने में सहायक हुआ था। कुल मिलाकर यह कहना अधिक युक्तिसंगत होगा कि मध्ययुग के समाज में उत्पादक वर्गों की धार्मिक और रहस्यवादी अभिव्यंजनाओं में कृषि-संस्कृति के अन्तर्विरोधों का विस्फोट दिखाई देता है।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास में, मुख्य रूप से गुप्त युग के बाद के इतिहास में हाशिये में पड़ी छोटी छोटी जातियाँ गैर ब्राह्मण धर्मों के आश्रय में न केवल एकजुट होने लगी थीं बल्कि वे सब अपनी धारदार प्रतिक्रियायें भी व्यक्त करने लगी थीं। इन छोटी-छोटी जातियों के पास अपने अपने जीवन सत्य को उद्घाटित करनेवाले ऐसे शब्दसमूह थे जिनकी रचना तत्कालीन भौतिक परिवेश में हुई थी, लोकबद्ध भौतिक और आध्यात्मिक द्वन्द्वों से हुई थी। नये शब्दसमूहों में, नये भाषिक रूपों में जीवन के नये अर्थ को प्रकट करनेवाले वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ के अगणित पैटर्न बन रहे थे। इन नये शब्दसमूहों के, नये भाषिक रूपों में कृषि संस्कृति की लौकिकता ध्वनित होती थी। तद्भवरूप के विकास की परिस्थितियों का सम्बन्ध शास्त्र से नहीं होता, उत्पादक-वर्गों के मानसिक क्रियाव्यापारों की रचनात्मकता से होता है। अपने वर्तमान की जिज्ञासा और उत्कंठा से भरे इन तद्भव रूपों में बदलाव के प्रति धनात्मक प्रतिक्रिया का स्वर तीखा और प्रभावकारी रहा है। इस लोकबद्ध तद्भव संस्कारों वाली भाषा के पास विशेष प्रकार की पारिभाषिक शब्दावली भी थी, इसके पास अपना विशेष वस्तुशिल्प भी था।

इस भाषा ने बौद्ध धर्म की क्लासिक्स परम्परा को भी निर्ममता के साथ छोड़ने में कोई कसर नहीं छोड़ी। इस भाषा की संस्कृति में लोक-संघर्ष का विस्तार मिलता है। इस युग में नये शब्दरूपों के अनुरूप ही नई अभिव्यंजना शैलियों का भी जन्म होता रहा। साहित्य में और कलाओं में लोकाभिरुचि का आधिपत्य बढ़ता गया। इसी युग में शब्द की अभिधा के द्वन्द्व अनेक प्रकार की ऐन्द्रिक शक्तियों को जगाने में सहायक हो सके। इसी युग में जीवन की सामाजिकताओं का भी सबसे कठिन विधान निर्मित हुआ। नये सांत्रिक सूत्रों की, सूक्तियों की, लोकोक्तियों और मुहावरों की—एक भरे-पूरे सांत्रिक शिल्प की रचना इसी युग में हुई। इसी युग के रचनाचिंतन में संघर्षशील पारस्परिकता और सामूहिक हार्दिकता का नया विकास होता है। सबसे मुख्य बात तो यह है कि इसी युग में भक्तिवाद के आगमानुमोदित रूपकल्पों की उपेक्षा करते हुये, भक्ति के परिस्थिति-सापेक्ष निगमनात्मक वस्तुरूपों का स्वच्छन्द विकास भी होता है। इन निगमनात्मक वस्तुरूपों को आगे बढ़ाते हुये भक्तों ने अपनी लोकप्रिय पहचान कायम कर ली थी। ऐसे भक्तों की साख लोक में काफी ऊँची थी। इस तरीक़े से भक्तिवाद की ऐसी लोकबद्ध धारा ने सामंतवादी जड़ता के विरुद्ध क्रान्ति छेड़ दी थी।

यदि उत्पादक वर्गों के जीवन को आधार बनाकर इतिहास का, संस्कृति का, साहित्य और कलाओं का अध्ययन किया जाए तो ज्ञात होगा कि भारत में कृषिजीविता के स्वच्छन्द उन्मेष में ही यहाँ का इतिहास करवटें लेता रहा है और संस्कृति केंचुली बदलती रही है। इतिहास के सकारात्मक तत्वरूपों की खोज के वास्ते इस कृषिजीविता के समयानुकूल उन्मेष की अगणित धाराओं की सही सही समझ हासिल कर लेनी होगी, तब कहीं जाकर यह सिद्ध किया जा सकेगा कि भारत का लोकसाहित्य कृषिवर्गों के सामाजिक उत्पादन का ही वास्तविक रूप रहा है। हिन्दी भाषा के जातीय द्वन्द्वों में, हिन्दी की रचना में, शब्द और अर्थ के साथ ही वस्तु और भाव के समस्त सदर्भ स्रोतों में यह कृषिजीविता ही बद्धमूल रही है। यहाँ के इतिहास में कृषि और लोक की प्रतिबद्धता हमेशा ही निर्णायक रही है। श्रम की प्रकृति ही रचनात्मक और संगठनात्मक होती है, श्रम के मूल्य लोकवादी होते हैं, इसीलिये सामंतवादी-महाजनी व्यवस्था के विरुद्ध कृषि की लोक-संस्कृति का चरित्र हमेशा ही जनवादी रहा है। इस लोक-संस्कृति में सृजनशील जीवन के सार्वजनिक उत्कर्ष को देखा जा सकता है।

★

आदिवासी संस्कृति और हम



धनंजय वर्मा

एक लम्बे अन्तराल, लगभग एक चौथाई सदी, के बाद उस जगह (बस्तर) जाना जहाँ आपका बचपन बीता हो, कैसा लगता है ? कितनी यादें कितने लोग, कितने दृश्य, कितनी घटनायें और कितने हादसे, एक साथ कौंध नहीं जाते ?

इन सबके बीच एक याद और एक औरत है जो इस वक्त जेहन में सबसे अधिक केन्द्रीय होकर उभर रही है।

उसे मैंने बचपन से देखा है एक ऐसे घर और परिवार में जिसमें होती हुई भी, वह उसकी नहीं हो पाई। उसे वे भगाकर लाये थे। चाहते तो अपने सभ्य, आर्य संस्कारों और भाषा में वे उसे गांधर्व विवाह भी कह सकते थे, लेकिन सभ्य और सुसंस्कृत समाज का कोई सदस्य जब किसी आदिवासी औरत को लाता है तो उसे भगा कर ही लाया जाता है। बहरहाल, उस औरत की आदिम ताक्त और निष्ठा से उन्होंने अपने घर परिवार को सम्पन्न और समृद्ध किया। उससे उनका वंशवृक्ष फूला और फला लेकिन हैरत की बात अपने संस्कार और संस्कृति की रक्षा के लिए न तो वो उसके हाथ की बनी हुई रोटी खा पाये और न उसका छुआ पानी पी सके। और परिवार के लगभग हर सदस्य के लिए ताजिन्दगी वो एक अद्भुत और परायी वस्तु ही बनी रही।

यह किसी एक घर या परिवार का किस्सा नहीं है। बस्तर में इस तरह की कई औरतें मिल जायेंगी जो अपने घर-परिवार में होती हुई भी उसकी नहीं हो पातीं, क्योंकि वे एक सभ्य समाज के तथाकथित सुसंस्कृत आदमी के द्वारा आदिवासी समाज से भगाकर लाई जाती हैं।

आदिवासी समाज और संस्कृति के प्रति हमारे तथाकथित सुसंस्कृत समाज का रवैया क्या है ? वो चाहे सैलानी पत्रकार लेखक हों या समाजशास्त्री-नृतत्वशास्त्री, आम तौर पर सबकी एक ही मिलीजुली कोशिश इस बात को खोज निकालने की रही है कि आदिवासियों में अद्भुत और विलक्षण क्या है ? उनके जीवन और व्यवहार में आश्चर्य और तमाशे के लायक चीजों की तलाश और हमसे बेमेल और पराये पहलुओं को इकट्ठे तरीके से रोशन करके लोगों का ध्यान आकर्षित करने और मनोरंजन के लिए ही लोग आदिवासी समाज और संस्कृति की ओर जाते रहे हैं। नतीजा हमारे सामने है उनके

यौन जीवन और रीतिरिवाजों के बारे म गुदगुदाने वाले सनसनीखेज ब्योरे तो खूब मिलते हैं, उनके पारिवारिक जीवन की मानवीय व्यथा नही। उनके अलौकिक विश्वास, जादू टोने और विलक्षण अनुष्ठानो का आखो देखा हाल तो मिलता है, उनकी जिन्दगी के हर सिम्त हाडतोड सघष की बहुरूपी और प्रामाणिक तस्वीर नही। वो आज भी आदमी की अलग नस्ल के रूप मे अजूबा की तरह पेश किये जाते है विचित्र वशभूषा म आदिम और जगली आदमी की मानिन्द।

सवाल है कि आदिवासी समाज और सस्कृति पर सोचते हुए हम उन्ह तमाम मानव समुदाय और तथाकथित सभ्य आदमी की सस्कृति से अलग थलग और निस्बतन 'पिछडा' हुआ मानकर ही क्यो चलत आ रहे हैं ? फिर दूसरी ही सास मे उसकी प्रामाणिकता म उसे सुरक्षित और सरक्षित करने की कोशिशो के जरिए हम उन्ह अपने लिए अजायब घर बनाने की जिद पर क्यो तुले हुए हैं ? सभ्यता और सस्कृति के प्रसग म विकसित या अविकसित सरीखे शब्दो का इस्तेमाल बहुत सोच समझ कर ही किया जाना चाहिए वर्ना हम आप भी उसी साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी भाषा क शिकार हो सकते हैं जिसमे हम आप यानि एशिया अफ्रीका और लातीनी अमरीका के लोग 'पिछडे' हुए है। आदिवासी क्या पिछडे हुए सिर्फ इसलिए हैं कि वे निरक्षर हैं पढे-लिखे नही हैं ? क्या वे अविकसित सिर्फ इसलिए हैं कि हमार नगर, राज्य और राष्ट्र की तुलना म गाव, कुटुम्ब और कबीला तक ही उनकी सामाजिकता की व्याप्ति है ? क्या उनकी सस्कृति एक अजूबा सिर्फ इसलिए है कि ये आधुनिक सभ्यता की आर्थिक विशषता और तकनीकी दौड म हमारी निस्बत जरा पीछे हैं ? लेकिन राष्ट्रीय और अन्तराष्ट्रीय परिसर तक फैले हुए, आर्थिक और तकनीकी प्रगति क सिरमौर देशो का उच्चतम शिक्षा प्राप्त सभ्य समाज हो कितना और किस हद तक 'सस्कृत है' ? उसकी सस्कृति की मिसाल हम 'गुएरनिका' और वियतनाम', 'आशाविटज' और 'लबनान म देख चुके हैं।

यह हमारी ही तथाकथित सस्कृति है जो हमारे जीवन, व्यवहार और मानवीय कम से अलग थलग रूप ले सकती और ले रही है। महज ऊपरी साज सज्जा और सभ्यता का सिर्फ बौद्धिक पहलू बनकर रह गई है। हमारे सभ्य समाज म तो यह गुजाइश है कि हमारी सामाजिक सस्कृति, भौतिक आधारो स कटा हो और हमारी आध्यात्मिक सस्कृति का जीवन यथाथ और वास्तविकता स कोई रिश्ता न हो, हमार यहा तो होता यह है कि किस्सा कहानियो क पात्रो और नाटक कविता से द्रवित होने वाले बुद्धिजीवी समकालीन मनुष्य के जीवन के दुखदद और नृशसताओ पर, आलीशान इमारतो के बन्द एयरकडीशण्ड कमरों म सिर्फ बहस करते हैं। हमारी सौन्दर्यात्मक अवधारणाओ और कलात्मक अभिव्यक्तियो म सवेदनाओं का पृथक्करण और उनका आदर्शीकरण होता है, लकिन आदिवासी सस्कृति मे ऐसी कोई फाक, दरार और घपला मुमकिन नही है। उस समुदाय की सामाजिक सस्कृति उसकी भौतिक जिन्दगी, उसके इस्तमाल की तमाम चीजों से अलहदा नही की जा सकती। वह अपने भौगोलिक वातावरण म आदमी क समायोजन क जरिये ही स्थापित होती और वह हमारी आपकी सस्कृति की तरह मानव क्रियाओं

के स्वय सम्पूर्ण और स्वायत्त इलाकों मे बँटकर नहीं, उनकी समावेशी समग्रता में ही मुमकिन होती है। जरा गौर करने की बात है कि क्या संस्कृति कतरनों से बनी कोई ऐसी पोशाक है जिसमें आप पेव द दर-पैवन्द लगाते जाँय ? क्या वह एक ऐसी आंगिक अभिव्यक्ति नहीं होती जिसमें जिन्दगी का हर पहलू हर स्तर हर कम, और हर हिस्सा एक दूसरे से रगो रेशे की मानिन्द जुड़ा होता है और एक जिन्दा सम्पूर्ण को मुमकिन बनाता है ?

किसी घने जंगल के बीच एक झोपड़ी मे रहने वाले परिवार या क़बीले की जिंदगी म संस्कृति का जो रूप उभरता है, वह हमारे आधुनिक बंगलों और ड्राइंगरूमों म पनप रही अक्ल संस्कृति मे अलहदा तो निश्चित ही होगी जरूरी और जाहिरा तौर पर अधिक समग्र सम्पूर्ण और आंगिक अभिव्यक्ति लिए हुए भी होगी। वहाँ संस्कृति खोखला नहीं होगी जिन्दगी की बुनियादी जरूरतों से समरस, भौतिक आधार पर खड़ी मानवीय अभिव्यक्ति होगी।

इसीलिए आदिवासी संस्कृति पर सोचते हुए आदिवासियों के भौगोलिक वातावरण, रोजमर्रा इस्तेमाल मे आने वाली उनकी चीजों, उनके विश्वासों और मूल्यों रीति रिवाजों, उनकी संस्थाओं के जटिल और संश्लिष्ट चरित्र और उनमें विद्यमान अंतर्सम्बन्धों को उनकी गत्यात्मकता म न देखा गया तो हम खतरनाक नतीजों पर पहुँच सकते हैं। उनकी बुनियादी और प्राथमिक जरूरतों के साथ उनकी उत्पन्न जरूरतों और संघटित जरूरतों की रोशनी म उनकी संस्कृति को स्थापित होता हुआ न देखा गया तो हम उसी उतार आधुनिकवाद के शिकार हो सकते हैं जो हमारी संस्कृति चिंता पर आज भी हावी है। मसलन उनके धार्मिक विश्वास और जादू टोनों को ही लें वो हमारे आपके लिए चौंकाने वाली विचित्रताएं हो सकती हैं, उन्हें हम बचकाने अंधविश्वास और बौद्धिक मूर्खता की जिद्दी सनातनता भी कह सकते हैं, लेकिन तब आप उनकी 'स्थिति' को उनके नहीं, अपने नजरिए स देख रहे होते हैं। हमें गौर करना चाहिये कि आदिवासी समुदाय के मानवीय कम म इनकी एक सक्रिय भूमिका रही है, आतंक, हताशा और नृशंसता के मौकों पर उनके खिलाफ इनके जरिए उन्हे एक सुरक्षा मिली है और यह सब उस नैतिक और आचार पद्धति का अविभाज्य हिस्सा रहा है जिसकी वजह से उनका अस्तित्व बरकरार रह सका है।

हम यह नहीं कह रहे हैं कि उनके धार्मिक विश्वासों, बल्कि अंधविश्वासों और जादू टोनों को बरकरार रखा जाय। दुनिया की महान् सभ्यताओं के विकासकेन्द्रों से सदियों तक अलगाव म जीने के लिए जो मजबूर हुए या किए गए, उनको आदमी की हैसियत स कम अज-कम देखने और समझने की जरूरत को क्या आप नकार सकते हैं ? और फिर ऐसा भी तो नहीं है कि सब कुछ हमारी आपकी कृपा पर ही मुनहसिर हो और सभ्यता की हमारी आपकी जो भी, जैसी भी अवधारणायें हैं उससे अब तो वो भी अछूते नहीं हैं। आधुनिकीकरण के असर से अब वो भी वंचित नहीं हैं। तो उनका सांस्कृतिक सिंहासन यदि कोई है, वो टूटेगा उनकी ही चेष्टाओं से। हम तो अपने प्रयत्नों का
!

अन्तर्विरोध देखना-दिखाना चाहते हैं। क्या हमीं-आप नहीं हैं जो विकास की उनकी कोशिशों को, उनकी कला और संस्कृति की प्रामाणिकता के सुरक्षा के नाम पर पीछे मोड़ना चाहते हैं ? आज भी आदिवासी नृत्यों में औरतों की खुली जाँघों और नंगी छातियों म ही प्रामाणिकता की तलाश आखिर हम क्यों करना चाहते हैं ?

बेशक किसी भी समाज का अतीत भी महत्वपूर्ण होता है। मगर किसलिए ?

आदिवासियों के आख्यान, उनके मिथक, उनकी परम्परायें आज इसलिए महत्वपूर्ण नहीं हैं कि वो बीते युगों की कहानी कहती हैं, बल्कि उनकी अपनी संस्थाओं और संस्कृति के ऐतिहासिक तर्क और बौद्धिक प्रासंगिकता के लिहाज स भी वो महत्वपूर्ण हैं। उनकी कलात्मक अभिव्यक्तियाँ, सौन्दर्यात्मक चेष्टायें और आनुष्ठानिक क्रियायें, हमारी-आपकी कला संस्कृति की तरह महज आराम के क्षणों को भरने वाली चीजें नहीं हैं उनकी पूरी जिन्दगी से उनका एक क्रियाशील, प्रयोजनशील और पारस्परिक रिश्ता है, इसीलिए उनकी संस्कृति एक ऐसी अभिव्यक्ति के रूप म आकार ग्रहण करती है जिसम उनके जीवन और यथार्थ की पुनरचना होती है।

इसलिए मुद्दा यह भी है कि क्या हम आदिवासी संस्कृति को मानव विकास के दौरान सामाजिक जीवन के अवशेष के रूप म देखें ? क्या यह एक ऐसी उपस्थिति भी नहीं है जिसमें मानवीय सभ्यता की प्रगति यात्रा के दौरान, एक दूसरे से अन्तर्क्रिया करते हुए, एक-दूसरे से सीखते हुए अब तक का सांस्कृतिक सचरण संभव हुआ है।

और आज (वह औरत,) एक पूरी आदिवासी संस्कृति (की प्रतीक और प्रतिनिधि होकर सामने खड़ी) है, जिसने अपनी आदिम ताकत और निष्ठा से हमारे आपके घरों-परिवारों को सम्पन्न और समृद्ध बनाया, हमारे आपके रुग्ण संस्कारों और खुदगर्ज संस्कृति की रक्षा के लिए अपनी सांस्कृतिक अस्मिता की कुर्बानी दी और दे रही है।

निष्कर्ष और दावे हमारे कोई नहीं हैं, वो शास्त्रियों और शास्त्रज्ञों के हो सकते होंगे, हम तो एक गहरी मानवीय संलग्नता स महज उन्हें समझने की कोशिश भर कर सकते हैं, इसीलिए आदिवासियों और उनकी संस्कृति के प्रति हमारी चेतना मे फिलहाल वेरियर एल्विन या फ्रोबर की बजाय गोर्की और अलवर हाले की आत्मा की पुकार है, उस ब्लैक कांशसनेस, नेग्रीट्यूड और दलित कवियों का त्रासद बोध है, जिसमें-से एक प्रामाणिक अनुभूति की रचना का जन्म होता है। इन आदिवासियों म वह चेतना आ रही है, चुनांचे आपकी हमारी करुणा के मोहताज अब वो नहीं रहेंगे।

*

लोक-संस्कृति और साहित्य

□

सोमदत्त

लोक क्या है ?

अंगरेजी पढ़े लिखे शहरातियों के लिए यह अंगरेजी फोक (Folk) का समानार्थी है।

अंगरेजी 'फोक' का क्या अर्थ है—

आधुनिक प्रचलित अंगरेजी की आक्सफोर्ड डिक्शनरी बताती है—

(यह शब्द आर्केक है—अर्थात्—पुरातन—(Primitive) आदिकालीन आज कल प्रयोग से बाहर हो गई सत्ता—यद्यपि विशद अवसरों पर काम में लाई जाने के लिये सुरक्षित—)—जन, राष्ट्र प्रजाति जनता का कोई खास वर्ग (अब जो अब 'पीपुल' शब्द द्वारा धकिया कर बाहर ठेला जा रहा है)

इसी से पारम्परिक विश्वास, संगीत कथाएं आदि भी जोड़ी गई है।

प्रचलित व्यवहार में—याने श्रेष्ठ वर्गों प्रशासन। आधुनिक संस्कृतिप्रेमियों के बीच यह सत्ता—अपेक्षाकृत भौतिक रूप से पिछड़ी अपने पारम्परिक रीति रिवाजों विश्वासों, कला कौशल कृषि उद्योग, कथाओं गीतों संगीत, नृत्य तथा प्राकृतिक भाव बोध से जुड़े समुदायों के लिए काम में लाई जाती है। इसी से सगा होना है इन समुदाय का वनों और गाँवों का वासी होना।

भीतर ही भीतर इस शब्द से ध्वनित होते अर्थ में—असंस्कृत असभ्य गंवार आदि विशेषण गूंजते रहते हैं।

गणतंत्र दिवस पर हमारे यहाँ लोकजीवन की जो झाँकियाँ विजय चौक पर प्रदर्शित की जाती हैं उनके पीछे यही आंग्ल दृष्टिकोण रहता है।

लेकिन हमारे लिए—हम भारतीयों के लिए—जिनके वेद पुराण महाभारत यहाँ तक कि अभिज्ञान शाकुन्तलम् और मेघदूत सब वन में वास करने वालों द्वारा रचे गए—जिनके यहाँ भौतिक सुख-सुविधा का चरम उपभोग कर चक्रवर्ती सम्राट को भी वानप्रस्थ धारने की ललक होती थी (इसे आज की उस फार्म हाउसों वाली संस्कृति से मिलाकर परखिए जो बड़े अफसर पूंजीपति राजनेता अपने लिए तैयार कर रखते हैं—शहरों से दूर—शांत क्षेत्रों में—प्रकृति की गोद में ताकि रिटायर होने के बाद वे वहाँ शांति से रह सकें) उसके लिए—

जिनके महाकवि कह गए हैं—

जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़चेतन जीव जहाना।।
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहां जेहि पाई।।
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु वेद न आन उपाऊ।।

जहां बुद्धि, बड़ाई, गति, ऐश्वर्य, भलाई सब लोकसत्संग से प्राप्त बुद्धि से होती है।—वह क्या अर्थ ले?

—जहां तुलसी बार बार कहते हो—

"लोकहुँ वेद विदित सब काहू।।"
'लोकहिं वेद सुसाहिब रीती'।

अर्थात् जहां लोक की रीति ही सु साहिब की रीति है—याने लोक के मानदंडों से ही कोई 'साहिब' 'सुसाहिब' हो सकता है—होता है—जहां रीति का निर्धारण लोक का वेद करता है—साहिब नहीं—

ऐसों के लिए लोक का अर्थ क्या हो—

बेहतर है हम अपने फोक लिटरेचर के आदिपुरुष वेद व्यास की शरण में जांय—वे क्या कहते हैं—

वे कहते हैं—"प्रत्य दर्शी लोकाना सर्वदर्शी भवेन्नर"

(वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा उल्लिखित—लोक का प्रत्यक्ष दर्शन, सम्मेलन पत्रिका ६६—"लोकसंस्कृति विशेषांक")

अर्थात् जो प्रत्यक्षदर्शी है जगत् का—वही 'लोक' है—वही हमारे जीवन का समुद्र है, उसमें भूत भविष्य-वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है—यह राष्ट्र का अमर स्वरूप है। लोक और लोक की धात्री सर्वभूतरता पृथ्वी और लोक का व्यक्त रूप मानव

यह लोक हमें अपने पुरखों से जोड़ता है, प्रकृति से जोड़ता है, भूत और वर्तमान से जोड़ने के साथ भविष्य के द्वार खोलता है—

यह लोक—वह है जो जगत् का—जीवन का—ज्ञान प्रत्यक्ष अपनी ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त करता है—और तदनुसार वह अपना जीवन-व्यवहार, कार्य-व्यापार—तथा मानव धर्म—निर्धारित करता है। उसकी रचनाओं में इसीलिए प्रकृति समाई रहती है। इसी की बोली-बानी से फूटते हैं मुहावरे, कहावतें। प्रकृति और इसी लोक के तादात्म्य से उपजता है गीत, संगीत, नृत्य। बर्तन-भांड, घर दुआर, वसन औजार, सब इन्हीं की टक्कर में गढ़ जाते हैं। यह लोक दूर से देखने सुनने वाले को भले ही पारलौकिक भावनाओं से ओत प्रोत लगे—सचाई यह है कि उसके द्वारा सृजित देवी देवता भी मनुष्य की इह लौकिक क्रियाएं—जन्म, विवाह, युद्ध करते हुए ही देवत्व को प्राप्त होते हैं। उनके चरित्र में मानवीय अच्छाइयां और कमजोरियों का दृढ़ प्रतिष्ठित करना ऐहिक जगत् को महत्व देने वाली लोकचेतना का ही प्रमाण है।

हमारा यह लोक केवल वनों, या ग्रामों तक सीमित नहीं, नगरों में भी उतना ही उपस्थित है जितना हमारे घरों मे, विश्वासों में, चरित्र में। इसकी अगरेजी 'फ्रोक' से कोई जोडी नहीं।

इसीलिए लोक और वेद मे कोई अन्तर नही माना गया—क्योंकि दोनों ही प्रत्य ज्ञान से अपनी शक्ति अर्जित करते हैं और मनुष्य को लोक-चेतस् दृष्टि देते हैं।



अब हम सस्कृति शब्द पर विचार करें—

'प्राचीन भारत की सभ्यता और संस्कृति' नामक अपनी पुस्तक में डॉ० डी० कोसाम्बी कहते हैं—

उत्पादन के साधनों और सम्बन्धों मे क्रमिक परिवतन का कालक्रम से विवरण ही इतिहास है। अब सस्कृति को भी नृवंशशास्त्र के अर्थ म, सम्पूण जन समुदाय की मुख्य जीवन पद्धतियों के रूप मे समझना होगा।"

अर्थात् भारतीयों के लिए इतिहास केवल चद 'महत्वाकांक्षी लोगों के नामों और बडी बडी लडाइयों की सूची या क्रमबद्ध वणन भर नहीं है, बल्कि समूचे 'लोक' ने 'बदर' से मानव' होने और उसके बाद आज तक की विकास यात्रा म (स्वय को मानव जाति के रूप म जीवित रखने और निरन्तर विकसित करने के लिए) उत्पादन के हर क्षेत्र मे जो प्रयत्न किए और इस दौरान उसके विभिन्न समुदायों के बीच जो अन्त सम्बध पनपे और रहे वही इतिहास है।

इसी तरह 'सस्कृति मात्र प्रबल सत्ताभोगी समुदायो या समूहो की आचार-विचार पद्धति भर नही बल्कि सम्पूर्ण समुदाय की मुख्य जीवन पद्धति से जुडे आचार विचार कला कौशल और चिंतन की प्रतिच्छवि है।

यह कहते हुए हम जानते हैं कि सस्कृति का निर्माण एक या दो महान् पुरुष या वर्गों द्वारा किसी विशेष कालखड मे नही सामान्य जनसमुदाय द्वारा निरन्तर किया जाता रहता है। लोक—अपने प्रत्यक्ष ज्ञान, 'कल्पनाप्रसूत अप्रत्यक्ष-उद्भूत स्वानुभूति', और इच्छाशक्ति के योग स ऐसी सम्पूण जीवन पद्धति निर्मित करता है जिससे हर व्यक्ति जाने अनजाने परिचालित होता है। स्पष्ट है कि इसमे भौतिक मूल्यों के साथ आत्मिक या नैतिक मूल्य भी प्रवाहित रहते हैं।

इसीलिए सस्कृति मनुष्य को सस्कार देती है—या कहे जन-समुदाय के संस्कारों की ही सज्ञा संस्कृति है। इसमे लोक में प्रचलित रीति रिवाज विश्वास विधि विधान, कला, विज्ञान याने जीवन से सम्बद्ध सभी व्यवहार आ जाते हैं। यों भी कह सकते हैं कि कम (हर तरह का) और चिंतन (हर अनुशासन का) के क्षेत्र में अपनी सामूहिक प्रतिभा के बल पर लोक जो श्रेष्ठतम उपलब्ध करता है वही उसकी संस्कृति है।



यहां पहुँच अगर 'लोक सस्कृति शब्द पर ठहर सकते हैं।

लोक और सस्कृति दोनों शब्दों के ऊपर आए अर्थों को लेकर चलें तो आज

हमारे बीच प्रचलित इस बोध का बटाग्गर हो जाएगा जो 'फोक-कल्चर' के नाम पर केवल लोक नृत्य या लोक संगीत नगरवासियो को परोसता रहा है। गणतंत्र दिवस पर लोकसंस्कृति की जो झलक दिखाई जाती है, क्या उसका कोई तादात्म्य उस चेतना से है जो हजारों वर्षों से इस देश के विराट जनसमुदाय को एक सूत्र मे बांधे रही है? क्या उसे यह अहसास है कि 'लगभग १५० ई० पू० की भरहुत की मूर्तियो म दिखाई पड़ने वाली बैलगाडिया और झोपडियो अथवा २०० ई० क कुषाणयुगीन उद्भूत फलको म बने हुए हल और हलवाह' आज भी किसी भारतीय गांव मे (और बहुत सभव है—किसी आधुनिक औद्योगिक नगर की पृष्ठछाया म) 'नजर आ सकते हैं? क्या उन्ह यह अनुभूति होती है कि 'भारतीय जन जीवन म ऋतुओ के परिवतन का क्रम ही सबस महत्वपूर्ण' रहा है? क्या व यह जानत हैं कि गांवो मे और पिछल ४० वरस म—किसी भी आर्थिक या सामाजिक या राजनतिक शोध प्रब ध म लिख जाने वाले पहले वाक्य—भारत की ८० प्रतिशत जनसख्या गांवो म निवास करती है—म केवल १० प्रतिशत का अंतर आया है)? अब भी जन-समुदाय अपने पुराने रीति रिवाजो, रहन सहन आचार-विचारो गीत-सगीत मे उसी तरह रमा हुआ है जिस तरह आज से स्वतत्रता के ५० वष पहले था। पजामा और ट्राजिस्टर अब भी इन्ही १० प्रतिशत के खात आए ह जो शहरो और गांवो के बीच झूल रहे हैं।

अब भी हमारी अधिकाश खेती वषा के पानी पर—हल बैल, और गोबर या जल खेत की राख पर निभर है। सावन भादो कुवार कातिक की बोहारें खरीफ और रबी के भाग का फैसला तो करती ही है, तीज-त्योहारों, शादी ब्याह ज्योनारो का भी फैसला करती हैं। तीतरा' और 'मघा, 'मकर सक्रांति और 'दीपावली' का महत्व भी इसी कारण है।

इसीलिए लोकसस्कृति और साहित्य के सम्ब ध परखना जरूरी है।

लोक लोक चेतना और उससे उपजी सस्कृति किसी भी सभ्यता की, किसी भी साहित्य की परिचालक शक्ति होती है। जो साहित्य अपन लोक की चेतना और सस्कृति से जितना जुडा रहता है (इसे द्वद्वात्मक अर्थों म लिया जाय) उतना ही वह सच्चा और प्रतिनिधि होता है, उतना ही लोकव्यापी, कालजयी।

कालिदास के काव्य म प्रकृति का उपस्थिति इसीलिए रही। इसीलिए हमारे नायक बार बार प्रकृति की गोद म, लोक के बीच पाये गए। उच्च और श्रेष्ठ कुलों म उत्पन्न होन के बाद भी दिलीप गाय की सवा कर अमर होते है, गोपालकृष्ण को द्वारिकाधीश होने के बाद भी ब्रज नही बिसरता और राम को अपना रामत्व विभिन्न लोक-समुदायों के बीच ही प्राप्त होता है।

अपनी लोक-सस्कृति का सच्चा प्रतिरूप होने की वजह से तुलसी की चौपाइयाँ, सूर और कबीर के पद, ऐसे लोगो के ओठो म बस गए जिन्हे अक्षरज्ञान भी नहीं है।

नजीर अकबराबादी के गीत अपने समय में तो लोगों को रोजी-रोटी कमाने में मदद देते ही थे, आज भी रेलों में गाकर आजीविका कमाने वाले या चनाजोर गरम बेचने वाले के मुख से उनका सस्वर गायन सुना जा सकता है।

आश्चर्य नहीं कि भारतीय नवजागरण और खड़ी बोली के उदयकाल में हमारे पुरखों—भारतेंदु प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त आदि के साहित्य में पग-पग पर साहित्यिक राजनैतिक चर्चा के बीच लोककहावतों, लोकप्रचलित मुहावरों, में रच बस कर खान-पान, रहन सहन, कपड़े लत्तों, तीज त्योहारों मेले-ठेलों के वर्णन आते हैं। फाग, आल्हा, कवित्त और सवैये उनके लिए पराए नहीं हैं।

कम बेशी यह तत्व हिन्दी साहित्य की 'प्रगतिशील' विशेषण से जानी जाने वाली कविता तक लगभग अबाध चलता रहा। लोक-तत्व, लोक-संस्कृति, स्वाधीनता संग्राम के आसपास तक हिन्दी साहित्य के प्रेरक तत्व रहे। यह वह समय था जब साहित्य और जन समुदाय के बीच एका था। लोग कविताएं सुनते पढ़ते थे और उन पर विश्वास करते थे। लेख पढ़ते थे और उनमें व्यक्त विचारों को सच्चा और निश्छल मानते थे। उनमें उन्हें अपने जीवन की धड़कन सुनाई देती थी।

फिर एकाएक पश्चिम से आधुनिक चेतना की ऐसी आंधी आई कि नगरों में बसे (ध्यान रहे तुलसी कबीर सूर नजीर, भारतेंदु बालमुकुन्द गुप्त बालकृष्ण भट्ट गुलेरी, प्रेमचन्द, निराला आदि भी खासे बड़े शहरों में ही रहते थे) हिन्दी लेखकों की लोक-चेतना के पाँव उखड़ गए।

हर ओर नयेपन का (टटकेपन का नहीं) बोलबाला हुआ। कहानियों कविताओं में भारतीय लोक सम्वेदन से जुड़े भावों और कल्पना चित्रों का स्थान फ्रांस और अमेरिका और लंदन के स्त्री-पुरुषों के बीच उभरे पतनशील सम्बन्धों की गूंजों और छवियों ने रचना का चित्त घेर लिया।

लोक-लय के प्रयोग



श्यामसुंदर दुबे

उन दिनों सरगुजा में आकाशवाणी केन्द्र खुला खुला ही था। केन्द्र निर्देशक श्री अशोक हुनरी रुचि संपन्न कवि हृदय व्यक्ति थे। उन्होंने सरगुजा के लोकगीतों के संकलन का काम प्रारम्भ किया। वहां के प्रचलित लोक रागों की स्वरलिपियां तैयार करायी। इसके पूर्व मैंने भी वहाँ के लोकगीतों का एक संकलन तैयार कराया था। अतः स्वाभाविक था कि मैं भी श्री हुनरी के काम से अपनी संलग्नता महसूस करता। गाहे बगाहे उनसे इस संबंध में बातचीत भी होती थी। उन्हें महसूस हो रहा था कि सरगुजा के जितने भी लोकगीत हैं उनमें सोलह मात्राओं से अधिक की राग चेष्टा नहीं है। ददरिया, करमा, छेरता आदि लोकगीतों की बंदिश का विस्तार सचमुच इन्हीं मात्राओं में विकसित होता था। मेरा संबंध बुंदेलखंड से रहा है अतः मैंने बुंदेली लोकगीतों की बात उनके समक्ष रखी और वहां की लोकगायकी के वैविध्य की चर्चा की। बुंदेली में दादरा, फाग, सोहर, राई नारदी, बमभुलिया लमटेरा, मछरयाऊ गारी, कहरवा आदि न जाने कितने प्रकार की लोक-रागिनी प्राप्त हो जाती है। लोक-रागों में यह विस्तारगत अंतर कैसे आ गया और इनको प्रभावित करने वाले तत्व कौन-कौन से हैं—इन मुद्दों पर हमारी अक्सर बहस होती रहती थी लेकिन कि हो निश्चित निष्कर्षों पर हम नहीं पहुँच पाये, और इस बीच हमारे इस तरह के संवाद का सिलसिला ही खत्म हो गया। मेरे भीतर बार-बार यह बात कौंधती रही कि लोक की असल सीमारेखा क्या हो सकती है? कम से कम कलाओं के क्षेत्र में तो उस तक किसी न किसी तरह पहुँचने का प्रयत्न किया ही जा सकता है।

लोक कलायें मानवीय चेतना के विकास के साथ सहज स्फूर्त चेष्टायें हैं। उसकी सौन्दर्यपरक मानसिक अनुरागों की अभिव्यक्ति के रूप में ये अस्तित्ववान हुई। आदिम मनुष्य के भीतर की सृजनात्मक चेष्टायें उसके प्रकृष्टतम भाव बिंदुओं की उपज हैं। कलाओं की सृष्टि के साथ ही मानव-सभ्यता के विकास का सूत्रपात हुआ। मनुष्य के भीतर की स्फुरित प्रेरणा विभिन्न कला माध्यमों में बाह्य प्रतिक्रियाओं के परिणामस्वरूप हो उजागर हुई। इस प्रकार के अध्ययन की एक उपपत्ति यह भी है कि मनुष्य की आदिम-कलायें उसकी श्रम मूलक चेष्टाओं से ही निष्पन्न हुई हैं। श्रम के साथ साथ प्रकृति की उत्तेजक परिवर्तनशीलता उसके क्रिया कलाप और उसकी भाव परक आसक्ति भी लोक-कलाओं को आविष्कृत करने में सहयोगी रही है। मनुष्य की अपनी मानसिक दशायें—एका-

तिक्ता, रमण मूलक उत्तेजना क्षण, भूख प्यास, समूह भाव, विपरीत लिंगी आकर्षण, उम्र के चढ़ाव-उतार और जैवकीय परिवर्तन भी लोक-कलाओं के लिये प्रेरणाबिंदु रहे हैं। पशु-पक्षियों की अनेकश चेष्टायें, रूपाकृतियाँ एवं उनकी ध्वनियाँ भी कला-संसार के विस्तार में सहयोगिनी रही हैं। लोक कलायें—वैयक्तिक और सामूहिक संघातों की सहजात अभिव्यक्तियाँ हैं। अकेले व्यक्ति के भाव ने चिन्ता ने, श्रम योजना ने, प्रकृति उद्दीपन ने जहाँ लोक-मानस को कला सृजन के लिए उत्प्रेरित किया, वहीं समूह चेतना, उत्सवी-उत्साह ने, फसलों और वृक्षों की फलभरता ने सामूहिक आयोजना ने कलाओं को रूपायित किया। प्रारम्भ म इन कला-सर्जनाओं म प्रकृति और मानव की हिस्सेदारी ही प्रमुख रही होगी—झरनों की ध्वनि, नदी की लहरों का अनुनाद, हवा की साय साय, कलियों की चटकारी, पक्षियों का कूजन फसल का लहराना, शाखा का हिलना, पशुओं का गतिशील होना, झुकना झूमना, दुबकना, ऋतुओं के अनुसार फूलों और पत्तों के रंगों में परिवर्तन होना—आदि प्राकृतिक क्रियाओं और परिवर्तनों ने कला-संवेदना को झंकृत किया। कालांतर मे मानवीय क्रिया कलापों की हिस्सेदारी भी कला जगत् म दाखिल हुई—नाव चलाना, चक्की पीसना, हल हाँकना, उगाहनी करना लकड़ी चीरना और काटना जैसी कृषिकर्म-प्रधान श्रम चेष्टाओं का महत्व इस रूप में स्वीकार किया जायगा। बाह्य जीवनगत सन्दर्भों के साथ-साथ मानवीय मस्तिष्क के अदृश्य पक्षों ने भी इस क्षेत्र म अपना प्रभाव छोड़ा। मस्तिष्क का वह हिस्सा जो आदिम संस्कारों से परिपूर्ण था—सभ्यता विकास के साथ-साथ सिमटता गया किंतु उसकी समाप्ति नहीं हुई। इन अवशिष्ट संस्कारों ने भी लोक कलाओं का विस्तार दिया। टोने टोटके, भूत प्रेत की अवधारणा ने कलाओं के क्षेत्र म कर्मकाण्डीय अनुष्ठानों का समावेश कराया जो बाद म धार्मिक अनुष्ठानों म पर्यवसित हो गये। चारागाही संस्कृति ने उन्मुक्त प्रकृति साहचर्य परक कला चेतना का उदय किया। यही लोक कलाओं के असल संवेदन थे—जिनका विभिन्न सांस्कृतिक दौरों में परिमार्जन परिसंशोधन और पर्यवस्थापन होता रहा कृषि संस्कृति ने त्यौहारी और उत्सवी मानसिकता को विकसित किया जिसमें समूह चेतना का लोक व्यापीकरण सम्भव हुआ। यहीं से धार्मिक कर्मकाण्ड म परिपोषित होने वाली कला दृष्टि विकसित हुई। यही वह काल था जब लोक कलाओं के भीतर अनुशासन की तलाश होने लगी थी। इसी अनुशासन न शास्त्रीयता को जन्म दिया। लोक-कलाओं को नियमों और विधानों म बाँधा गया। उनमे निजंधरी कथावृत्तियों को सूत्रित किया गया। इस शास्त्रीयता को फिर एक बार लोकोन्मुखी होना पड़ा। यह प्रक्रिया कब प्रारम्भ हुयी—स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि आज की अधिकांश लोक कला सृष्टियाँ इस द्वितीय क्रम से प्रभावित हैं। इन तथ्यों को लोकगीतों के संदर्भ म परखने का प्रयास करेंगे।

आदिवासी क्षेत्रों के लोकगीतों म न अधिक राग रागिनियों का समावेश होता है और न ही उनका शब्द संयोजन अधिक सधा रहता है। कथात्मकता तथा विवरणात्मकता का तो उनम एकदम अभाव ही रहता है। अक्सर वह एक प्रतिक्रिया पंक्ति होती है—प्रकृति के रंगों पत्तों, फूलों की क्रियाओं से मेल खाती भावनाओं की मनुष्य की एका-

तिकता को तोड़ने के लिए जो प्राकृतिक हरकतें सहयोग कर सकती हैं उनका उल्लेख तथा गायक की भावना का मिला-जुला संसार यह प्रतीक पक्ति होती है। आदिवासी इलाकों के लोक गीतों की लयें एकदम आदिम आरोहों-अवरोहों में ही जीवित रहती हैं। करमा-गायन या करमा नृत्य भूमती धान की फसल को परिलक्षित करता है। एक सीधी उठान और उसका फैलाव और पुन उसका सिमटाव सतत वृत्तों की सृष्टि घूम घूम कर वहीं आ जाना, उसी एक ही पक्ति को सम के वृत्तों को क्रमश कम करते जाना और फिर उस वृत्त को पुन फैलाना, इसी लय विस्फार में ये लोकगीत चलते हैं। आदिवासी क्षेत्र से अधिक विकसित क्षेत्रों के लोकगीतों में राग-रागनियों की बहुलता पायी जाती है। बुंदेली लोकगीतों में नारदो, फाग, भजन, दादरा न जाने कितनी राग रागनियाँ हैं। ये रागनियाँ निश्चित ही शास्त्रीय गुम्फ से छिटकी हुई हैं। लोकजीवन में जब शास्त्रीयता पहुँच गई होगी तब इसी में से ये लोक रागनियाँ फूटी होंगी। सामाजिक-चेतना निरतर निषेधात्मकता में विकसित होती है। लोक को सभ्यता के बढते आवर्तों ने अस्वीकार किया। दरबारों की गायकी धीरे-धीरे लोक तक पहुँची और लोक ने अपने को अधिक सभ्य प्रतिपादित करने के लिये इन रागनियों को अपने अनुरूप ढाल दिया। सामतवादी सस्कार कला के क्षेत्र में यहीं से पनपे। बुंदेली के ऐसे सैकडों लोकगीत है जिनमें लोकमन की अभिव्यक्ति नहीं है। शिष्ट या सभ्य मन ही अधिक मुखरित हुआ है। इन गीतों में सामंती जीवन-पद्धति का पोषण है—'बैठी ही रइयो रानी सतखडा पे खइयो डबन के पान' निश्चित ही उस व्यवस्था का पोषण करने वाली पक्ति है जिसमें श्रम के प्रति आस्था नहीं है। मध्यकालीन जीवन-दर्शन से प्रभावित लोक अपने सहज स्वरूप से स्खलित होता रहा है। लोक-व्यवहारों में जैसे-जैसे परिवर्तन आते गये वैसे-वैसे लोकगीतों में तब्दीलियाँ होती गयीं। उसकी विषय वस्तु में, उसकी सरचना में, और उसकी गायकी में इनको स्पष्ट रूप से रेखांकित किया जा सकता है। लोकगीतों में धार्मिक प्रयोजनों को बहुत पहले से ही उत्प्रेरित किया जाने लगा था। उपासना के द्रों के आधार पर मध्यकाल में उन्हें विभाजित किया गया। 'भगत' इसका अच्छा उदाहरण हैं। भक्तिकालीन साहित्य की निवेदनपरकता निर्वेदता और दर्शनवृत्ति इनमें समाहित है। देवताओं की महिमा और उनकी अपराजयता की कथाओं से जुडी इन रचनाओं में मानवीय करुणा और आस्था भी हिल्लोलित है। इनकी प्रतीक सरचना में लोक-मन की उन्मुक्त उडान का वह आकर्षण है जो उसकी आदिम लोक-वृत्तियों में सुरक्षित रहा है। 'इक मन ढूढी, दो मन ढूढी सीजे वन ढढन जाये हो माँ' इस तरह की लोक-आकाक्षापूर्ण पक्तियाँ इन गीतों में यदा-कदा ही मिलती हैं अन्यथा लोक के नगरीकरण के आसार इनके समूचे परिवेश में ध्वनित होते हैं—'ऊची अटरिया लाल किवरियाँ सूरज सामू दोर हो माँ —'गगा जमुन की बारू रेत में माई ने हिंडोला घलवाये हो।' मोतियों की माला, रतन-जतन की चूडियाँ, रेशम के वस्त्र आदि साज-सज्जा स्पष्ट कर रही है कि विकसित सभ्यता ने क्रमश लोक को बेदखल करना इसी चरण में प्रारभ कर दिया था। विभिन्न प्रकार के सस्कार गीतों में भी यह प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। केवल लयकारी शेष

है और गीतों का परिवेश परिवर्तित हो रहा है। यहाँ तक कि आदिम राग को प्रयोग के आधार पर कुछ नये रागों मे ढालने का सिलसिला इसी समय शुरू हो जाता है। बन्ना जैसे लोकगीतो म शास्त्रीयता की भलक मिलती है 'केशर की क्यारी खिवाओ बना की केशर सोहे' 'ईरी रगा पीरी रगो रग दऊ चारउ रग तोरो सुवाफा मै रग दऊ।' जब ये गीत किसी शिष्ट मन के द्वारा रचे जा रह थे—तभी किसी कुशल शास्त्रीय गायक द्वारा इनका राग निबधन हो रहा था। यह जुगलबदी एक नये लोक की सृष्टि कर रही थी। इस समय तक जो एकदम आदिम लोकगीत थे व लुप्त होने लग थ क्योंकि उनकी ओर से तत्कालीन समाज का ध्यान ठीक उसी तरह हट गया था जैसा कि आज हमारे साथ भी हो रहा है।

अभी भी लोकगीतो के कुछ प्रकार ऐसे हैं जो अनेक परिवर्तनो के बाद भी ज्यो क त्यो हैं। ये लोकगीत अधिकतर जातिगत चेतना से जुडे हैं। जातीय स्मृतियाँ इनके राग-ससार म कहीं भाषा म और कहीं प्रतिपाद्य म सगठित हैं। बुदेली के मछरयाऊ लोकगीत म जो राग सवेदना है वह आदिम लय को उजागर करती है। राई और लमटेरा म भी लोक मन का बिंब भी प्रकट होता है। राई म प्रेम की एक सहज निश्छल अनुभूति है। तथाकथित शिष्ट और कर्मकाण्डीय इलाको म राई एक बहिष्कृत रागिनी है। इस नाते जातियो की गायकी माना जाता है। उच्चभ्रू सभ्यता का यही दोष है कि वह जो कुछ आदिम है—सहज है—लोकजात है—उस अस्वीकृत करती चलती है। राई में कर्मकाण्डीय अनुष्ठानो का प्रयोग बाद म हुआ। राई नृत्य म जो गति-भगिमा और पाद निक्षेपण है वह शास्त्रीयता के पूर्व की रचना है। बहुत सम्भव है कत्थक जैसी नृत्य शैलियो म राई का भी योगदान हो। ध्रुपद गायकी म भी राई की आघूर्णन शक्ति को पाया जा सकता है। बूदा ले गई मछरिया हिलोर पानी या 'गुईयाँ पारी ने जाओ पीपर के पत्ता म देवता जैसे बोलों मे लोकमानस ही प्रतिध्वनित होता है। चरवाहों के गीत लमटेरा के भीतर जगल की उपस्थिति बार बार यही चरितार्थ करती है कि इन गीतो म लोकमन अभी भी शेष है। बाद म अहीरो के लोकगीत 'दिवारी' म यह स्थिति नहीं रह जाती है। उनम कृष्ण लीला का पुट आ जाता है। इन सभी गीतो का अस्तित्व केवल एक ही पक्ति मे केन्द्रित है। लोकगीत म शब्द विस्तार के लिये गुजाइश नहीं होती। आज के विस्तारित लोकगीतो मे टेक या पुन पुन आघूर्णित होने वाली ध्रुव पक्ति ही आदिम लोकगीत की अवशेषित पहचान है। कहीं कहीं यह पक्ति धुन के निर्धारण म अपनी मुख्य भूमिका निबाहती है। 'ह रामा,' के हाऊ के कइयो भ रसवारी क भौरा रे 'हो हईया' आदि ऐसी ही पक्तियाँ हैं। कहीं कहीं ये ध्रुव पक्तियाँ घिसती घिसती आधी रह गई हैं या कहीं कहीं एक दो शब्द मात्र, कहीं कहीं पूरी पक्ति यथावत् मिल जाती है। 'पीपर का पत्ता हिलत नईया' जैसी उक्तियाँ लोकमन की उपज हैं। यदि इन पक्तियो को आधार बनाकर लोकगीतो का परीक्षण हो तो आदिवासी क्षेत्रों के अन्तवर्ती लोकगीतो से इनका एकदम साम्य मिलेगा। सरगुजा क लोकगीतो म बहुत बडा प्रतिशत ऐस ही लोकगीतो का है—जिनम एक ही पक्ति और एक ही राग है। ऐसा नहीं है कि आदिवासी

क्षेत्रों के लोकगीतों में धार्मिक आख्यान या सामाजिक संस्कारों की अनुगूंज नहीं है—वहां भी इनका प्रभाव है।

राग चक्र भी अपने स्वरूप को सांस्कृतिक परिवर्तनों से अप्रभावित नहीं रख पाता है। अपनी प्रारंभिक चर्चा में हमने लोकगीतों की यात्रा में ऐसे दो महत्वपूर्ण राग परिवर्तनों की चर्चा की थी। पहला—लोकगीतों की धुनों का शास्त्रीय धुनों में बंधना और दूसरा,—इन शास्त्रीय धुनों का लोकोन्मुखी होना। लोक गीतों की मिठास, भाव-उष्मा, आत्मीयता, गहन आस्था, व्याकुलता, विह्वलपन, लोच और लचक अर्द्धशास्त्रीय गायकी 'ठुमरी' में प्रत्यभीभूत होने वाले तत्व हैं। ध्रुपद में एक ही पंक्ति की जो बार-बार महीन गायकी है—वह लोकगीत का परिष्कृत नादानुसंधान है। लोक प्रत्येक जड़ीभूत संस्कार को ताजगी देता है। जहां अनुशासन अपनी जकड़बंदी पूर्णरूप से कर लेता है—वहां स्थिरता आ जाती है। जीवन में यात इस स्थिरता को लोक ही तोड़ता है, क्योंकि निसर्ग संसर्ग के कारण वह निरंतर तरोताजा रहता है। लोक-रागिनी में जो ताजगी और हृदय स्पर्शी गुण है—वह प्रत्येक जड़ होती परिस्थिति में संजीवनी का कार्य करता है। कविता में जब-जब हम अपनी जातीय स्मृतियों से रूबरू होते हैं—तब तब भीतर उमग पड़ते हैं। भाषा वहां पीके फोड़ती हुई महसूस होने लगती है—जहां वह लोकशब्दों से मिल जुल जाती है। लोक से बार बार हमारा परिश्रुत नागर मन जुड़कर एक नयी स्फूर्ति और ताजगी प्राप्त कर लेता है। इस व्यापार में लोक का शोषण ही बहुत सीमा तक किया जाता है। उसे कचर-कुचर कर भदेस बना दिया जाता है। इधर के सिनेमा गीतों में जहां जहां लोकगीतों की लयों को रचनात्मकता का हिस्सा बनाया गया है वहां-वहां लोकगीतों की लय का शोषण ही किया गया है। लोककवि मुखड़ नहीं रहा। लोक कभी सरता नहीं रहा। उसकी जनात्मणी राग विवृति लेकर उसे चूसे गये गन्ने के समान निचोड़ कर फेंक दिया गया। आकाशवाणी से प्रसारित अधिसस्य लोकगीतों की यही हालत है। लोकधुनों को बिगाड़कर, तोड़कर उसकी नस नस को फटाकर उसके लहू का लाभ व्यावसायी लोग ले लेते हैं, और फिर उस मुर्दाघर में फेंक देते हैं। लोक रागिनियों से हटकर भी यदि हम अन्य कला माध्यमों पर इस तरह सोचें तो स्पष्ट हो जायेगा कि मध्यकाल ने लोक का इस्तेमाल शास्त्रीयता के नजदीक किया। उसे एक सामंती स्पर्श दिया, फिर लोकगीत को मुक्त करने का प्रयत्न भी हुआ, किन्तु उसकी मुक्ति ठीक उस तरह थी—जैसी परिंदे को पिंजड़े से छोड़ दिया जाये और वह पंख फैलाने में भी अभ्यासवश असमर्थ रह जाये।

इधर समकालीन कविता में लोक लय लौटकर आ रही है। छायावादोत्तर काव्य में यह प्रवृत्ति अधिक विकसित हुई। नयी कविता और गीत दोनों विधाओं में इसका इस्तेमाल हुआ है। बच्चन ने गीत को लोकधुनों में ढालने का प्रयत्न किया—'जाओ पिया लाओ नदिया से सोन मछरी' या 'महुआ के नीचे मोती झरें' जैसी बंदिशों में पूर्वी उत्तरप्रदेश की लोकधुनों का परिचय प्राप्त होता है। बच्चन ने लोकधुन को अपनी लय में ढाल दिया। ठाकुरप्रसाद सिंह जैसे गीतकारों ने आदिवासी क्षेत्रों की लोकलयों को आज को

कविता के साथ बैठाया लेकिन वे शब्दों को ही पकड़ पाये लय को नहीं। लय तो जीवन में स्पंदित होती है। जीवन के साथ जुड़ी राग सतायें भी लय के रूप में आविष्कृत होती हैं। संथाल परगना के लोकगीतों में वही सोलह मात्राओं वाली बंदिश है जो सरगुजा के आदिवासी लोकगीतों की है। इस धुन को आधुनिक कविता में लाने के मायने थे भाषा में ऐसी चमक पैदा करना कि वह प्रतीकात्मकता के लाघव से लेकर जंगली अल्हड़ता तक अपने थाप को स्थापित कर सके। भाषा का अपना सांस्कृतिक अर्थ और अपनी लय होती है। इस लय को किसी विजातीय संस्कृति में रखा तो जा सकता है किन्तु उसको पुनरा विष्कृत नहीं किया जा सकता। खड़ी बोली की प्रकृति और संस्कृति निश्चित ही बोलियों के शब्दों और लोकजीवन से दूर पड़ जाने के कारण लोक से भिन्न हो गई। इसकी नाग रता को लोक में परिवर्तित करने की चेष्टायें चल रही हैं। यह एक स्वाभाविक क्रम क रतव ही हो रहा है। लोक एक बार फिर खड़ी बोली का नागर चरित्र में अपना अलग शास्त्र विकसित करने की फिराक में है। न केवल कविता में अपितु गद्य में भी यही प्रवृत्ति परिलक्षित हो रही है। गीतों में लोक लयों के प्रयोग बहुत बड़ी मात्रा में हुए। नवगीत कारों का जो एक खेमा आया—उसकी संपूर्ण जीवनी का आधार लोक लयें हैं। भोजपुरी राजस्थानी, ब्रजी बुंदेली छत्तीसगढ़ी आदि अनेक बोलियों की लोकधुनों की तर्ज पर इस तरह के रचनाकारों ने गीत लिखे हैं। लेकिन नगरों की मानसिकता में ये टूटी-फूटी लयें न तो लोक लयों का संसार रचा बसा पायीं और न ही लोक लयों का एक अलग अंदाज उत्पन्न कर सकीं। फैशन की तरह इनका प्रयोग हुआ और अधकचरे शोषण में इनका अंत हुआ।

गीतों के लयाधारों में एक निनादकारी पंक्ति जो ध्रुव पंक्ति के रूप में रहती है निरंतर विकसित होती है—जिसका आघूर्णन गीत को लोक लय के करीब ले जाता है। यह उपक्रम प्रत्येक अनाड़ी रचनाकार से नहीं सध पाता। आवश्यकता इस बात की है कि ऐसे प्रयोग तभी सफल होते हैं—जब लयों के उस संसार में अपने को फेंक दिया जाये। उन लयों में ही जीवन जागे और सोये। नई कविता में लोक लय को भाषा के स्वर पर उभारा गया। विभिन्न प्रकार की भाषिक संरचनाओं यथा—बिम्बों और प्रतीकों में वह ताजगी लायी गयी जो लोकगीतों में पायी जाती है। जातीय स्मृतियों की यह रोमानी प्रस्तुति रचनात्मकता की गहन पर्तों से जूझकर हासिल की गयी है। इसलिये इसमें लय को सुरक्षित रख पाना अधिक संभव हुआ है। लोक लयों के प्रयोगों में सावधानी की आवश्यकता है क्योंकि इससे लोक का स्वरूप तो बिगड़ता ही है गलत ढंग से उसे पेश करने में उसकी परंपरायें विनष्ट होती हैं।

लोक लयों को सुरक्षित रखने के लिये सामूहिक उद्यम की आवश्यकता है क्योंकि हम एक ऐसे बिंदु पर खड़े हैं जहाँ से लोक-लयों की रचनात्मक शक्तियों को किसी भिन्न अनुशासन में ढालने की सामर्थ्य समय में नहीं है। शास्त्रीय संगीत ने लयों को सुरक्षित रखा था और उन्हें नया आयाम भी दिया था। सिनेमा रेडियो और टी० वी० लोक के लिये एक बहुत बड़ा खतरा लेकर आये हैं। लोकगीतों की असल धुनें अब खोजने से

नहीं मिलेंगी। सिनेमायी धुनों ने इन्हें चीथ नोच लिया है। नयी पीढ़ी में पुराने के प्रति एक घृणा भाव पनपता जा रहा है। साहित्य से लेकर समस्त संबंधित कलायें इन लयों को उपयोगितावादी दृष्टिकोण के तहत अपना रही हैं। लोक लय को रौंदती हुई इन विनष्टकारी ताकतों के खिलाफ रचनात्मकता के तहत कैसे जूझा जाये ? यह प्रश्न अब और आवश्यक हो उठा है।

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग शासकीय महाविद्यालय, हटा (दमोह) म० प्र०

✻

लोक-संस्कृति का परिप्रेक्ष्य और हिन्दी साहित्य

□

बच्चन सिंह

हिन्दी साहित्य के अध्ययन की अनेक दृष्टियाँ विकसित हो चुकी हैं। किन्तु अभी लोक संस्कृति के दृष्टिकोण से उसके अध्ययन की शुरुआत भी नहीं हो पाई है। कुछ लोगों ने विशिष्ट ग्रन्थों में से लोक तत्त्वों को परिश्रमपूर्वक ढूंढ निकाला है। कुछ ग्रन्थों से लोक तत्त्वों का ढूंढ लेना एक बात है और सामाजिक विकास में उनका उपयोग दूसरी बात। संस्कृत साहित्य के अध्ययन के लिए यह नज़रिया उतना मौज़ू नहीं है क्योंकि उसमें नागर संस्कृति की अभिव्यक्ति हुई है। स्वयं संस्कृत भाषा का उपयोग अभिजातों की श्रेष्ठता का सूचक था। हिन्दी की उत्पत्ति के साथ ही हिन्दी जाति की उत्पत्ति भी लगी हुई है। हिन्दी ही क्यों बंगला, मराठी, गुजराती पंजाबी आदि के साथ तत्तद् जातियाँ भी उगी और विकसित हुई। भिन्न भिन्न भाषाओं में अभिव्यक्त संस्कृतियाँ की अपनी-अपनी इकाइयाँ है। दूसरे शब्दों में सापेक्षिक रूप से स्वतंत्र लोक संस्कृतियाँ है। ये स्वतन्त्र भी है और एक दूसरे से अन्तरग्रथित भी।

नागर संस्कृति का अपना व्याकरण होता है जो व्यक्तिगत संपत्ति ऐश्वर्य, सभ्यता, नैतिकता अलंकृति आदि पर निर्भर है। संस्कृत का मशास्त्र में नागरिक की अभिरुचियों का विस्तृत वर्णन किया गया है। नाट्यशास्त्र में नाट्य के दो उपादानों का उल्लेख है—नाट्यधर्मी और लोकधर्मी। नागर संस्कृति श्रमपूर्वक अर्जित की जाती है। किन्तु पूंजीवादी समाज मे वह पैसे से खरीदी जाती है और नवधनाढ्य वर्ग उसे समझने का नाट्य करता है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि नागर संस्कृति समग्रत हेय है। वह हमारे लिए अब भी सराहणीय है, उससे बहुत कुछ सीखा जा सकता है। फिर भी नागर संस्कृति या संस्कृत साहित्य और लोक संस्कृति या हिन्दी साहित्य का मूलभूत अन्तर यह है कि पहला श्रुत मूलक है जो लौकिक अव्यवस्था के परे एक भूमाजन्य प्राकृतिक व्यवस्था में पर्यवसित होता है। यह उसकी वैश्विक दृष्टि है। दूसरा लौकिक अव्यवस्था को व्यवस्था की ओर ले जाने में संलग्न।

हिन्दी साहित्य की शुरुआत ही ऐसे लोगों द्वारा होती है जो लोक के व्यक्ति हैं किसान, कारीगर या छोटे मोटे कारबार में लगे लोग। लोक संस्कृति का मतलब सिर्फ ग्राम्य संस्कृति नहीं है बल्कि शहरों में बसनेवाले आम आदमी की भी है। कबीर, जायसी सूर, तुलसी आदि छोटे-मोटे शहरों और कस्बों में रहते थे। बनारस, आगरा, मथुरा

आदि धार्मिक केन्द्र ही नहीं थे, व्यापार के केन्द्र भी थे। संतों और भक्तों की वाणियों का प्रचार इन केन्द्रों से होता था। इसके साथ ही वे स्वयं घुमक्कड़ थे जो आम आदमियों के बीच रहा करते थे और जन-जीवनगत संकटों के भोक्ता थे। राजाओं, महाराजाओं, सेठ, साहूकारों से उनका कोई वास्ता नहीं था। कुंभनदास सभी भक्तों का प्रतिनिधित्व करते हुए कह गए हैं—'संतन को कहा सीकरी सों काम।

लोक संस्कृति म केवल साहित्य (लोकगीत, लोककथा आदि) ही नहीं आता, चित्र, संगीत, नृत्य, नाट्य, हस्त-कौशल आदि भी आते हैं। धीरे-धीरे य लोक-कलाएँ लुप्त होती जा रही हैं। इनके संरक्षण का प्रयास जारी है। किन्तु उसे संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। जन जातियों और कबीलों म य अभी भी सुरक्षित हैं। उनकी कलाओं को यथा वत् बनाय रखने की गरज से सभ्य जातियाँ उन्हें आधुनिक बनाने के पक्ष मे नहीं हैं। अमेरिका म यही किया जा रहा है। उन्हें अजायबघरों म सुरक्षित शिलाखंडों और चित्रों की तरह रखा जाता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि ये कबीले फेन बुदबुद की तरह लुप्त होते जा रहे हैं। जरूरत है कि उन्हें सुरक्षित भी रखा जाये और आधुनिक भी बनाया जाय। किन्तु यह बड़ी ही जटिल प्रक्रिया है। यदि उनके अपने पेशे से ही समुचित आर्थिक संरक्षण प्राप्त हो जाय तो इस जटिल प्रक्रिया को आसान बनाया जा सकता है।

लोकभाषा के उभरने और विकसित होने की प्रक्रिया लोक म ही शुरू होती है। शुक्लजी का कहना है—'भारतीय जनता का सामान्य स्वरूप पहचानने के लिए पुराने परिचित ग्रामगीतों की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है, केवल पंडितों द्वारा प्रवर्तित काव्य परम्परा का अनुशीलन ही अलम् नहीं है।' जिन संतों ने लोक-संस्कृति को अपनी रचनाओं म सन्निविष्ट किया वे पंडित जाति के नहीं थे। अत पंडितों द्वारा प्रवर्तित काव्य परम्परा से उनका कोई सरोकार नहीं था। फिर भी पंडित शोधार्थी उनम रस-अलंकार ढूँढें तो उनका क्या दोष? इन्हीं पंडितों के लिए कबीर ने कहा है—'पंडित बूड़ मिवहु तम पानी।' 'पंडित दसहु हृदय विचारी।

कुछ लोग लोक संस्कृति को सीमित अर्थ मे लेते है। ग्रामगीतों के संकलनों ने यह भ्रम पैदा किया है कि जन्म मुंडन विवाह आदि संस्कारों के समय तथा विभिन्न ऋतुओं मे गाये जाने वाले गीत ही लोक संस्कृति के मुख्य अंग हैं। पर साहित्य म इनसे प्रेरणा तो ली जाती है तो उसका निश्चित सामाजिक उद्देश्य भी होता है।

कबीर संस्कृति को कूपजल कहते है और भाषा को बहता नीर। वे इसी स्वच्छ और प्रवहमान जल का ग्रहण करते हैं यानी जो कुछ कहते हैं ठेठ बोली म कहते हैं। उनके साथ चलने के लिए पंडिताई का घर जलाकर आना होगा। वे पंडितों और मुल्लाओं को हद दर्जे तक जलील करते हैं। उनके शोषण जाल को काटते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह दिखाई पड़ती है कि वे शोषित जनता म आत्म सम्मान का भाव भर कर अभिजात वर्ग से संघर्ष करने के लिए तैयार करते हैं। वे जनता म इतने लोकप्रिय क्यों हुए? तुलसीदास को भी जनता प्यार करती है। पर कबीर की जनता तुलसी की जनता नहीं है। कबीर तथाकथित निम्न श्रेणी को तुलसी से अधिक प्यारे हैं।

कबीर अपनी वाणी मे अतिशय वैयक्तिक (इंडिविडुअल) हैं। अपने श्रोताओं से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। वे या तो पंडितों और मुल्लाओं को सम्बोधित करते हैं या साधुओं को 'सुनो भाई सतों'। पहले वर्ग के लोगों का सम्बोधन उन्हें लताड़ता है तो दूसरे वर्ग का सम्बोधन उनके साथ भाईचारा स्थापित करता है। तुलसी, सूर और मीरा सीधे भगवान् को सम्बोधित करते हैं। उनका रिश्ता भगवान् से है। कबीर पहले जनता से सबद्ध हैं फिर भगवान् से। वे मानवीय समता की बात उठाकर शोषित जनता की भावनाओं को ही रेखांकित करते हैं। रमैनी, सबद, बसंत, चाँचर, कहरा, हिंडोला आदि छंद-विधान लोक से ही लेते हैं। बाद में चलकर इनके पदों को रागबद्ध भी किया गया। इन रागों मे बहुत से राग लोक जीवन से लिए गये। भाषा छंद और राग के अध्ययन के लिए लोक संस्कृति मे धँसना होगा।

जायसी के साथ तब तक न्याय नहीं किया जा सकता जब तक उन्हें अवध की लोक संस्कृति के परिप्रेक्ष्य मे न देखा जाय। कबीरदास बुनकर थे तो जायसी किसान। कबीर में बनारसी अक्खड़पन था तो जायसी मे किसानी सरलता। जायसी के अध्ययन के लिए तो अवध की लोक-संस्कृति की गहरी जानकारी आवश्यक है। शुक्लजी ने लिखा है —'मलिक मुहम्मद जायसी एक गृहस्थ किसान के रूप में जायस में रहते थे। वे आरम्भ से बड़े ईश्वर-भक्त और साधु प्रकृति के थे। उनका नियम था कि जब वे अपने खेतों में होते तब अपना खाना वहीं मँगा लिया करते थे। खाना वे अकेले कभी न खाते, जो आसपास दिखाई पड़ता उसके साथ बैठकर खाते थे।' अत जायसी को समझने का मतलब है अवध के किसानी जीवन को समझना। ठेठ अवधी की मिठास देखना हो तो कोई जायसी की रचनाओं को देखे। जायसी मे किसी ने हुस्नयुफ देखा है तो किसी ने सिर्फ कविता देखी है, किसी ने इस्लाम की पक्षधरता देखी है तो किसी ने मानववादी स्वर। पर जायसी तो अवध की मिट्टी से हिरामन सुए की कहानी उठाते हैं और उसे अवध के हाट बाट, ऋतु-परिवर्तन छान-छप्पर जादू-टोना आदि से अलंकृत कर देते हैं। आज के आंचलिक उपन्यासों के गाँवों की माटी गंध बहुत जल्दी निगंध हो गई है। पर जायसी की अवधी से अब भी अवध की मिट्टी की गंध ताजा बनी हुई है।

गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं मे लोक संस्कृति के अनेक आयाम उभरे हैं। लोक के जितने अधिक रूप उनकी रचनाओं म दिखाई पड़ते हैं उतने अन्य किसी की रचनाओं म नहीं मिलते। सामान्यत हमारी दृष्टि उनके वर्णाश्रम धर्म तक ही सीमित रह जाती है। किन्तु थोडा ध्यान देने पर प्रतीत होता है कि उनका काव्य लोक और वेद के ताने-बाने से बुना गया है। यदि लोक को हटा दिया जाय तो उनकी काव्य संरचना ही टूट जायगी। वे गृहस्थी के कवि हैं। पूर्वोत्तर प्रदेश की सारी लोक रीतियाँ उनमें एकत्र हो गई हैं। सच पूछिये तो उनमें जहाँ लोकसंस्कृति का समावेश हुआ है वहाँ काव्यगत सरसता अत्यन्त जीवन्त हो उठी है।

यदि सूरदास का काव्य प्रेमोत्सव है तो तुलसी का काव्य लोकोत्सव। राम साथ नगरनिवासी, गाँव के भोले लोग, वानर-भालुओं के कबीले, गुह-निषाद, शबरी,

कोस विराउ आदि सभी पा देखा जा सकता है। अवध, पूर्वोत्तर प्रदेश और बिहार के विवाह की रीतिनीतियाँ बहुत कुछ बदल जाने पर भी तुलसी मे सुरक्षित रहेंगी। विवाह हिन्दू जीवन का अत्यन्त पवित्र संस्कार है। बाबा स्वयं तो साधु सन्त थे पर विवाह-प्रथा का विस्तृत विवरण देते समय रस लेते हैं। अतः वे स्वयं भी रसाद्र हो गये हैं। औरतों की गालियाँ उन्हें विनोद प्रिय हैं। बीच-बीच मे चुहल भी करते चलते हैं। इन पुराने संस्कारों म जीवन का कितना रस भरा पड़ा है! उनमें से बहुत-सी चीजें पुरानी पड़ गई हैं पर उन्हें पढ़कर विशिष्ट आनन्दानुभूति होती है। जादू-टोना, शकुन-विचार, ज्योतिष, मुहूर्त आदि बिना लोकसंस्कृति का समग्र चित्र नहीं आ सकता। लोकजीवन म वे आज भी व्याप्त हैं। यदि किसी को समाज बदलना है तो इनके साथ चलना होगा, इनके रचनात्मक उपयोग द्वारा। सूरदास मे स्वच्छन्द आभीर लोकसंस्कृति तथा ब्रजमंडल का सांस्कृतिक माहौल सजीव हो उठा है। लोकसंस्कृति और काव्य का जैसा मिश्रण सूर के काव्य म हुआ है वैसा अन्यत्र नहीं मिलेगा। तुलसी मे लोक और वेद के ताने बाने को पहचाना जा सकता है। सूरदास को इन दोनों की कोई चिन्ता नहीं है मानो उन्हें मर्यादाबद्ध घुटते लोकजीवन की चिन्ता नहीं है। भक्ति के आवरण म उन्होंने नारी समाज को जो उन्मुक्तता दी है वह अन्यत्र दुर्लभ है। मानवीय जीवन में इतना प्रेम, इतना वात्सल्य कहाँ मिलता है। वे पुरानी मर्यादाओं को तोड़कर नई मर्यादाएँ स्थापित करना चाहते थे। संरचना की दृष्टि से विचार करने पर देखना होगा कि इनकी रचनाओं को लोकसंस्कृति कहाँ तक प्रभावित करती है और स्वयं रचनाएँ उलटकर उन्हें कितना नियन्त्रित करती हैं।

रीतिकाल म लोकसंस्कृति का अंकन बहुत कम हुआ है। पर भारतेन्दु मंडल ने साहित्य को लोक संस्कृति के साथ जोड़ा। भारतेन्दु ने लोक को नई दृष्टि से देखा-परखा और उसके माध्यम से साहित्य ही नहीं जीवन को भी प्रगतिशील दिशा की ओर मोड़ा। उस समय देश व्यापारिक पूँजीवाद की सीमा मे प्रविष्ट हो रहा था, संचार-साधन बढ़ गये थे और मुद्रणयन्त्र की सुविधा उपलब्ध हो गई थी। उन्होंने भाषा म सम्प्रेषणीयता बनाई, पत्रिकाएं निकाली, पत्रिकाओं के माध्यम से जनता को राष्ट्रीय चेतना के रंग म रंगा। गद्य म व्यंग्य विनोद शैली के कारण वे जनता से सीधे सम्पृक्त हो उठे, नाटकों को खुला मंच दिया उनमे सामान्य पात्रों की अवतारणा की। पद्य म लावनी, होली, कजली आदि को लोकजीवन से लिया।

इस तरह आधुनिक काल के समस्त साहित्य को लोकजीवन के परिप्रेक्ष्य म आँका जा सकता है। कहना न होगा कि लोकजीवन से सम्बद्ध साहित्य ही आज जीवन्त है, शेष मरणोन्मुख हैं।

निराला निवेश, महमूदगंज, वाराणसी-१०

★

लोकजीवन और लोकसंस्कृति



मोहन उप्रेती

पिछले तीस वर्षों के भीतर भारतीय बुद्धिजीवियों का ध्यान कई बार हमारी लोकसंस्कृति की ओर आकर्षित किया गया है—विशेष कर हमारे तेजी के साथ बदलते हुए सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवेश के साथ इसको ढालने की समस्याओं के बारे में विभिन्न सगठनों द्वारा आयोजित सभाओं और गोष्ठियों में इसके पुनर्जागरण और नवीनीकरण, सरक्षण व सवर्धन और लोकप्रिय बनाने के तरीकों व इसके रचनात्मक उपयोग की समस्याओं पर विस्तार के साथ विचार विमर्श व चर्चायें हुई हैं। सचमुच ही हमारी लोककलायें व्यापक रुचि व चिन्तन का विषय हैं। इन विचार-विमर्शों के अनुकूल व समानान्तर लोकसंगीत सामग्री को एकत्र करने और समकालीन सृजनात्मक कला में इनका उपयोग करने तथा साथ ही साथ गणतन्त्र दिवस, लोक नृत्य समारोहों जैसे राष्ट्रीय उत्सवों के माध्यम से इनकी जीवन्त शक्ति के दिग्दर्शन कराने के प्रयास हुए हैं।

लोककला के क्षेत्र में बुद्धिजीवियों की गतिशीलता कोई बिलकुल ही नयी बात नहीं है। वस्तुत कई अर्थों में तो यह रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा झावेरचन्द्र मघानी जैसे विशिष्ट कवियों और लोकसंगीतकारों के प्रारम्भिक कृतित्वों की अनवरतता का ही परिणाम है। फिर भी यह बात असाधारण है कि अपने अतीत का पूरी तरह से पता लगाने की हमारी उत्सुकता व लालसा के अनुपात में ही लोककलाओं में भी हमारी रुचि बढ़ी है। यह इस जागरूकता को भी परिलक्षित करता है कि अगर कुछ फौरी कदम नहीं उठाए गये तो हमारे गाँवों में तेजी के साथ हो रहे परिवर्तनों के कारण इस विरासत का अधिकाश अन्ततोगत्वा नष्ट हो जायेगा।

विभिन्न संस्थाओं तथा व्यक्तियों द्वारा उठाए गए कदमों का विवरण दिए बिना ही मैं यह पूछना चाहूंगा कि क्या सचमुच ही इनसे सामान्य जनता के सांस्कृतिक जीवन को पुष्ट करने में मदद मिली है। इसका तो यही उत्तर है कि ये समस्या के नजदीक तक नहीं पहुँच सके हैं। जनता की सरचनात्मक शक्ति के ऊपर विश्वास का अभाव है उन्हीं लोगों के ऊपर जो कि लोककला के वास्तविक उत्तराधिकारी तथा शक्तिपुंज हैं। हमने अपनी लोकविरासत के साथ अभिजात्य व्यवहार किया है और इसको औपचारिक पक्षों से हटकर देखने का प्रयास ही नहीं किया है। दैनिक उद्देश्यों के अलावा, इसके

तत्वों को जानने-समझने का शायद ही प्रयास हुआ हो। लोककला की संभावनाओं को एक जीवन्त सांस्कृतिक शक्ति के रूप में देखने का प्रयास ही नहीं हुआ है।

यहाँ पर मैं इण्डियन पीपुल्स थियेटर एसोसिएशन (इप्टा) की, हमारी लोक-कलाओं को पुनर्जीवित तथा पुष्ट करने की, ऐतिहासिक भूमिका की चर्चा करूंगा। यद्यपि यह दौर थोड़े समय का ही रहा है, फिर भी यह सरचनात्मक कलाकारों को एक ऐसी पीढ़ी को आगे लाया, जिन्होंने कि एक लोकसंस्कृति के निर्माण के लिए जोरदार तरीके पर काम किया। यह एक ऐसा जनान्दोलन था जिसने कि लोगों को साधक कारवाई के लिए जागरूक करने और उन्हें असमानता व सामाजिक असंगतियों तथा साम्राज्यवाद व सामन्तवाद के विरुद्ध संघर्ष में संगठित करने में लोकसंगीत की विरासत का उपयोग किया। जनता में एक नया उत्साह और एक नयी चेतना पैदा करने के लिए बंगाल के कीर्तन जैसी धार्मिक या महाराष्ट्र की तमाशा जैसी धर्मनिरपेक्ष विधाओं का लाभप्रद उपयोग किया गया। इप्टा ने लोककला के आधार पर एक जनकला के विकास का प्रयास किया। किसी भी गम्भीर संकट के समय पर तुरन्त पहुँच करके इसकी टोलियों ने लोगों का नैतिक साहस बढ़ाया।

लेकिन जल्दी ही इप्टा टूट-फूट करके, सांस्कृतिक क्षितिज से तिरोहित हो गयी। कई अन्य संगठनों की भी यही नियति हुई। साफ बात तो यह है कि, वह कोई भी गतिविधि जो जनता जनार्दन को दरकिनार करके हमारी लोककलाओं को बढ़ाने का प्रयास करे वह खोखली होगी और इसे किसी राजनीतिक पार्टी या सरकार के अस्त्र के रूप में लाना कोई अधिक लाभप्रद नहीं होगा। कई बार एकत्र होकर हमने लोककला के भविष्य के बारे में चर्चा करने व किसी निर्णय पर पहुँचने का प्रयास किया है। और हर बार हम एक अंधेरी गली में भटकते रह गए हैं। हमारा अभिजात्य वर्ग अब तक हमें इस नियति से बचा नहीं सका है। अपनी सीमित भूमिका तथा दूसरी गलतियों के बावजूद, जनता को जागृत व संगठित करने की दिशा में लोकसंस्कृति के उपयोग के क्षेत्र में इप्टा के कार्य आज भी महत्वपूर्ण मार्गदर्शक हैं। यह स्थिति लोककलाओं के बुनियादी चरित्र के कारण है।

१९३४ में सोवियत लेखकों की पहली कांग्रेस में प्रस्तुत अपनी रपट में मैक्सिम गोर्की ने लोकसंगीत व लोककला की शुरुआत, उद्देश्य व भूमिका की इन स्पष्ट शब्दों में व्याख्या की

> लोकसंगीत की सामग्री, जनता की अलिखित रचनायें, धर्मगाथाओं के विवरण अगर इन्हें इनकी पूर्णता में लिया जाये तो ये व्यापक कलात्मक परिवेश में प्रकृति, प्रकृति के साथ संघर्ष और सामाजिक जीवन के प्रतिबिम्ब हैं।*

किसी भी समुदाय के जीवन में लोककला के निर्माण की प्रक्रिया तथा उपयोग

---

* ए० भेडनोव एम गोर्की एट एल, सोवियत साहित्य की समस्यायें **प्रथम सोवियत** लेखक सम्मेलन में रपट और भाषण, लन्दन, मार्टिन लारेंस।

सभी जगह निस्सन्देह एक ही है। इसके जन्मजात स्वरूप व तात्विक विशेषतायें क्या हैं?

लोककला के रचयिता

लोककला की रचना करने वाले मुख्यत वे लोग हैं जिन्हे कि शारीरिक श्रम करना पड़ता है। मुख्यत ये वे लोग हैं, जो कि श्रम की प्रक्रिया से हट करके या अपने सामुदायिक जीवन स अलग-थलग हो करके सोच ही नहीं सकते। वे लोग कामगार हैं, जो कि भौतिक वस्तुयें बनाते और हर सामाजिक व्यवस्था के आधार-स्तम्भ हैं। प्राचीन लोककथाओं कहानियो और मिथकों के बारे मे बोलते हुए मैक्सिम गोर्की ने अपने उसी भाषण मे कहा था

और उनका अर्थ है प्राचीन श्रमिक जनता की अपनी मशक्कत की थकावट को कम करना, अपनी उत्पादकता बढ़ाना, शब्दों की शक्ति से सुदृढ़ होना, प्रकृति के उन मूल तत्वों पर अपना प्रभाव बढ़ाना जो कि उनके विपरीत हैं उनका ईश्वर भी कोई काल्पनिक वस्तु नहीं है वरन एक वास्तविक विशिष्टता है जो कि श्रम के किसी उपकरण से सम्पन्न है, किसी विधा का गुरु है, महत्वाकांक्षी है, बदला लेने वाला है, मनुष्यों की ही तरह शंकालु और क्रोधी है ईश्वर भी श्रम की उपलब्धि की कलात्मक अभिव्यक्ति है और श्रमिक जनता के धार्मिक विचारों को भी उद्धरणों के बीच रखना चाहिए क्योंकि ये एक विशुद्ध कलात्मक सरचना के प्रतीक हैं।

इस तरह से लोक कलाकार प्रत्यक्षत भौतिक वास्तविकताओं के निर्माण म भाग लेता है। लोककला मे जो कुछ भी बहुमूल्य है, उसका कारण यह विशिष्टता है। उदाहरण के लिए, इसमे परिष्कृत व कलात्मक रुचियों तथा उपयोगिता का सम्मिश्रण है। गोर्की का कहना है कि जिन लोगों को थका देने वाला श्रम करना पड़ता था उन्हीं के अन्दर इस थकावट को दूर करने की भावना पैदा हुई। 'कल्पना की प्रत्येक प्राचीन उड़ान के पीछे छिपी हुई भावना का पता लगा लेना आसान है और यह भावना है—सदा ही अपने श्रम की थकावट को कम करने की श्रमिक मान की इच्छा।' गोर्की ने इस बात की भी व्याख्या की है कि लोकसंगीत में तकनीकी विचार किस तरह से मिले-जुले हैं। ' इन तमाम प्राचीन गाथाओं और मिथकों के पीछे कोई उद्देश्य छिपा हुआ है, इनसे यह दिखता है कि कल्पनाशील व्यक्ति कितने दूरदर्शी थे, इनसे यह पता चलता है कि प्रागैतिहासिक मानव के तकनीकी विचार कितने उवरक व कल्पनाशील थे।'

यद्यपि परम्परागत विचारों में मानव की प्राचीन कल्पनाशीलता को धार्मिक दृष्टि से ही देखा गया है और परिवतन के आधुनिक पक्षधर उनमे केवल वहम, अज्ञान और तर्कहीनता की ही झलक पाते हैं, गोर्की ने हमें लोकसंगीत को मानव की सरचनात्मक कर्तृत्व के एक महत्वपूर्ण चरण के रूप में देखने में सहायता दी है। अन्य महान् कला कृतियों की तरह इनका भी शाश्वत सांस्कृतिक महत्व है।

रचना के तौर-तरीके

कला की विभिन्न शास्त्रीय तथा अधिकाधिक सुरुचिपूर्ण विधाओं से लोककला

को स्पष्टत अलग थलग करने वाली वस्तु उसकी सरचना या तौर-तरीका ही है । इस संरचनात्मक प्रक्रिया म, प्रत्यग तथा अप्रत्यग दोनों ही रूप मे समुदाय भाग लेता है प्रत्यग तब जब कि समुदाय एक साथ एक गीत बनाने, गाने और उस पर नृत्य करने मे लगा होता है और अप्रत्यगत तब जब कि एक समुदाय विशेष में एक या अनेक व्यक्ति ऐसी संरचना मे लगे होते हैं । यदि इन रचनाओं का लोकरग वास्तविक व प्रभावशाली हुआ तो ये समुदाय की कलात्मक परम्परा म घुस-मिल जाते हैं । गोर्की ने इस सामूहिक तत्व पर बल देते हुए कहा है

'साथियों ! दुबारा आप सबका ध्यान लोकसगीत की इस विशिष्टता की ओर दिलाना चाहूँगा कि यह श्रमिक मानव की वह अलिखित रचना है, जिसम कि सर्वाधिक पूर्ण विशिष्ट और कलात्मक दृष्टि से परिपूर्ण नायकों की संरचना की जाती है ये सब उस सरचना क अंग हैं जिसमे तर्क और अनुभूति, विचार व भावना को एकाकार व समिश्रित किया गया है यह बात ध्यान म रखना बहुत ही महत्वपूर्ण है कि लोकसगीत में निराशा के लिए कहीं कोई जगह नहीं है । किसी न किसी तरह स समुदाय स्वयं अपने अमरत्व के आत्मबोध तथा सभी विरोधी शक्तियों पर अपनी विजय की आशावादिता से ओतप्रोत है । अगर कभी लोकसगीत म कहीं निराशा या सदेह का स्वर है तो निश्चय ही यह उस पर उस ईसाई चच का प्रभाव है, जिसने कि दो हजार वर्षों मे निराशावादिता का प्रचार किया है । उस समय लोक-सगीत का महत्व बिलकुल ही स्पष्ट हो जाता है जबकि हम इसकी श्रम की सफलता पर आधारित कल्पना की उडान की म द व निराशा-पूर्ण धार्मिक गीत कल्पना या साहसिक रोमास की दयनीय धुन से तुलना करत हैं ।'

संक्षेप म गोर्की का कहना है कि लोककला एक भौतिकवादी जगत् का विवरण प्रस्तुत करती है और यह अपरिमित को प्राप्त करने का कल्पनाशील प्रयास है और सामूहिक भावना को अभिव्यक्ति प्रदान करने के कारण इसका चरित्र विशिष्ट बन जाता है । हमारे लोक-सगीत पर एक सरसरी चिन्तन भी गोर्की के कथन की तार्किकता व विचार की पुष्टता को स्पष्ट करता है ।

ब्रिटिश शासन के दौरान हमे अपने सास्कृतिक अतीत विशेष करके लोकसस्कृति के प्रति हिकारत से देखना सिखाया गया था । अपने स्कूली जमाने मे मैं अपने क्षेत्र की लोक-सस्कृति और नृत्य को उस शास्त्रीय सगीत से घटिया समझता था, जिस तब सीख रहा था । मुझे याद है कि उस समय कुछ सवण हिन्दू सगठनों ने देहातों मे लोक-संगीत और नृत्य के विरुद्ध एक जेहाद छेड रखा था और ये लोक-सस्कृति और मानवीय गिरावट को पर्यायवाची मानते थे । गाँवों के समारोहों को तोडने फोडने के लिए ये कभी कभी बल प्रयोग भी करते थे और लोक-कलाकारों व गीतकारो के मेलों या उत्सवो पर सार्वजनिक समारोहों मे भाग लेने से जबरदस्ती रोका जाता था ।

इस तरह के माहौल मे पलते हुए मैं नास्तिकता के प्रभाव मे आया तथा धर्म से दूर-दराज का भी सम्बन्ध रखने वाली हर वस्तु को सडीगली वहमी, प्रतिक्रियावादी मानने लगा । इसलिए लोक संस्कृति के बारे मे भी मेरा दृष्टिकोण नकारात्मक था । अधिकाश

लोक संगीत तथा नृत्य से जुड़ी हुई आस्थाओं, परिपाटियों व रीति-रिवाजों से मैं नफरत करता था। फिर भी जब मैं विश्वविद्यालय में पहुँचा, उन दिनों मैं इप्टा में शामिल हुआ। उस समय मैंने अनिच्छापूर्वक अपने क्षेत्र के लोक संगीत में रुचि लेना शुरू किया। यह रुचि बढ़ती ही गयी और १९५५ में उस समय मेरे जीवन की धारा ही बिलकुल बदल गयी जबकि एक गाँव की आकस्मिक यात्रा के दौरान मेरी मुलाकात अल्मोड़ा जिले के सर्वश्रेष्ठ लोक-संगीतकार मोहन सिंह से हुई। उनके संगीत का मेरे ऊपर इतना जबरदस्त प्रभाव पड़ा कि मैंने लोक-संस्कृति को अपने जीवन का एकमात्र व्यवसाय व उद्देश्य बनाने का फैसला किया।

मुझे अपने क्षेत्र के लोक संगीत में क्या मिला? इसके व्यापक मानवीय पक्ष तथा न्याय के प्रति इसकी परिष्कृत भावना से मैं अभिभूत और चमत्कृत था। एक तरफ जहाँ इसके वीरतापूर्ण गीतों में जाति के साहस व शौर्य की गाथा थी, वहीं दूसरी तरफ इसके प्रेम गीत उस वास्तविक प्रेम का गुणगान करते थे जो कि वंश, कबीले, समुदाय या जाति के भेदभाव से ऊपर उठकर अन्ततोगत्वा विजयी होता है। धार्मिक आकृतियों व प्रतिमाओं का उपयोग करके जीवन की सरचना तथा प्रकृति की जटिलताओं को स्पष्ट करने वाले ये गीत अपने सुरीले व लचीलेपन तथा परिस्थितिजन्य एकात्मकता की दृष्टि से अलौकिक हैं। इनमें सामाजिक उत्पीड़न और मानवीय गिरावट तथा सभी प्रकार के अत्याचारों का विरोध कूट कूट कर भरा है। इसी तरह से इनमें राजाओं और उनके मंत्रियों की कुटिल जोड़-तोड़ का विरोध भी परिलक्षित होता है। मैंने यह गौर किया कि कठिन शारीरिक श्रम के दौरान ये गीत ग्रामवासियों को शक्ति प्रदान करते हैं।

स्वतंत्रता संग्राम के दौरान जो नए लोकगीत विकसित हुए उनमें मुझे एक नयी जागरूकता और एक नयी चेतना के अभ्युदय के दर्शन हुए। इन सबसे मुझे प्रेरणा मिली और इनमें लोक-संस्कृति की सुन्दरता और सरलता के दर्शन हुए। मुझे इसकी जीवन्तता, शौर्य, गहन मानवीयता, न्याय के प्रति अप्रतिम दृष्टिकोण, प्रकृति प्रेम, लौकिक जगत, मौलिकता व अनिवार्यता तथा समुदाय के जीवन को प्रभावित व प्रतिबिम्बित करने की शक्ति से भी परिचय हुआ। इसमें एक ऐसी आस्था और विश्वास के भी दर्शन हुए जहाँ प्रेम और मानवीय भ्रातृभाव इतना प्रबल है कि मनुष्य के साथ ही साथ देवताओं का सह अस्तित्व सम्भव है। इन सबके ऊपर मैं इसकी सतत पुनर्जीवन क्षमता से बेहद प्रेरित हुआ।

प्रकृति तथा मानव समाज के बारे में लोक-संगीत जो कुछ दृष्टिकोण अपनाता है, मैंने उसकी ओर संकेत करने का प्रयास किया है। समुदाय के दृष्टिकोण को प्रतिबिम्बित करने तथा इससे ही शक्ति प्राप्त करने वाला लोक-संगीत कभी भी एक-सी स्थिति नहीं स्वीकार कर सकता, जो कि सामान्य कल्याण के विपरीत हो। यह एक ऐसी कला है जो कि प्रेम, सामाजिक न्याय और मानवीय भ्रातृभाव से प्रतिबद्ध है और यह लौकिक समस्याओं के समाधान का प्रयास करता है। यह मानव व्यक्तित्व के बिखराव का नहीं वरन् मानवीय प्रवृत्तियों के एक सांझे सामूहिक व्यक्तित्व में एकीकरण का प्रयास करता है।

सास्कृतिक नीति और लोककला

मैंने लोककला की विशिष्ट प्रवृत्तियो के साथ ही साथ सामुदायिक जीवन मे इसकी भूमिका की चर्चा की है। अब प्रश्न उठता है भारत के बदलते हुए सास्कृतिक मानचित्र पर इसकी क्या स्थिति होगी ? इस समय भारत औद्योगीकरण के कगार पर खड़ा है। सुधरे हुए सचार माध्यमो से वे समुदाय व समाज भी एकजुट होते जा रहे हैं, जो अब तक अलग-थलग थे और सुदूरवर्ती गाँवो मे भी औद्योगिक उत्पादनो के पहुँचने के कारण उसके आर्थिक व सामाजिक आधार बदल रहे हैं। अगर इस गति को अपने रास्ते पर चलते रहने दिया गया तो इस प्रक्रिया से लोगों का अपनी परम्पराओ पर से विश्वास चकनाचूर हो जायेगा और उनकी खडित दुनिया मे अराजकता आयेगी। लोककलाओं की समस्या को हमें इस परिवेश म समझना है। इस सामग्री को शोधकार्य के लिए एकत्रित और सम वयित करने की जल्दी व अनिवार्यता के बारे म दो राय नही हो सकती है और न तो इसके नाटककारों, निर्माताओं तथा साहित्य, सगीत व नृत्य मे उपयोग के बारे में कोई विवाद है। इस कार्य के लिए राज्य के सरक्षण व हर कदम पर प्रोत्साहन की आवश्यकता है। जैसा कि मैंने पहले कहा है इस तरह के शहरी और शिक्षित दृष्टिकोण मे लोगों को आमतौर पर अलग ही रखा गया है फिर भी देश की किसी भी भावी सास्कृतिक नीति म उनके सास्कृतिक हितों की उपेक्षा नही की जा सकती है। फिर भी यह दलील दी जा सकती है कि यदि लोककलाओं मे परिष्कृत कलात्मकता तथा एक समूह या समाज की आवश्यकता परिलक्षित होती है, तो जैसे ही वह समूह या समाज समाप्त होगा उसकी लोककला तिरोहित हो जायेगी। उस लोककला को जिदा रखने के हमारे सभी प्रयास बेकार होंगे—उसका भविष्य अधकारमय होगा।

मेरे विचार में, लोककला का समुदाय के साथ सम्ब ध के प्रति यह दृष्टिकोण अपर्याप्त है। यह दोनों की द्वन्द्वात्मक एकता को देखने में असफल है। हमने इस बात पर गौर किया है कि यद्यपि लोककला की प्रवृत्ति क्रियात्मक है यह अनिवार्यत एक ऐसी सामूहिक चेतना की व्युत्पत्ति है जिसकी सीमायें तत्सम्बधी समाज की परिधि की तुलना मे अनन्त हैं। लोककला का स्वरूप तो बदल सकता है लेकिन यह नष्ट नही हो सकती, क्योंकि यह समान ऐतिहासिक अनुभवो से उत्पन्न मानव के अनुभवो की पूर्णता का प्रतीक है। प्रागैतिहासिक समाज की वर्गविहीन सामूहिक चेतना ने प्रागैतिहासिक कला को जन्म दिया। जब वर्गों का अभ्युदय हुआ, इस सामूहिकता का स्वरूप बदला और तब इसने बदले मे लोककला को जन्म दिया। हमारे औद्योगिक युग में पुरानी सामूहिकता अब फिर एक नयी सामूहिकता को स्थान देकर खुद पीछे हट रही है। जैसे कि लोककला ने प्रागैतिहासिक कला को आत्मसात् कर लिया, उसी तरह से आधुनिक चेतना लोककला को आत्मसात् कर सकती है।

सीधा-साधा सवाल केवल यह है कि आधुनिकता की ओर बढ़ते हुए भारतीय समाज इस सामूहिकता को किस हद तक कायम रख सकता है ? पश्चिमी देश ऐसा नहीं कर

पाये और इसलिए उनकी अधिकांश लोक कला नष्ट हो गयी। सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात क्या पूंजीवादी रास्ता इन्हें कायम रहने देगा? भारत मे अभी स्थिति उन्मुक्त है और सचेतनशील दखलन्दाजी के द्वारा हालत को बदला जा सकता है। औद्योगिक क्रान्ति के बाद पश्चिम ने जो रास्ता चुना उससे हम बच सकते हैं। मुझे विश्वास है कि यह सामूहिक भावना न केवल बचायी जा सकती है वरन् इसे एक अधिक ऊँचे स्तर पर ले जाया जा सकता है बशर्ते कि आम लोगो को भारत के सांस्कृतिक विकास की मुख्य धारा मे शामिल किया जाये। एक ऐसी स्थिति का निर्माण करना है जिसमे कि परिवर्तनो को लोग स्वेच्छा से स्वीकार कर लें। वस्तुत वे न केवल इसे स्वीकार ही कर लें वरन् इसके लिए खुद उत्साहपूर्वक काम भी करें। अगर समाजवाद देश का उद्घोषित लक्ष्य है तो देश के सांस्कृतिक उत्थान में जनता का सक्रिय योगदान कठिन नही होना चाहिए।

लोककला भी अपरिवर्तित नही रहेगी। हमारी दखलन्दाजी के बिना इसका स्वरूप और तत्व बदल रहा है। हमारी दखलन्दाजी इस बात की सुरक्षा होगी कि जो भी परिवर्तन होगा, वह अच्छी दिशा में होगा। देश की भावी कलायें लोकपरम्पराओं को आत्मसात् करके, स्वरूप तथा तत्व दोनो ही दृष्टि से समृद्ध होंगी।

अन्त मे, हमारी लोककलाओं से निबटने के लिए मैं एक तीन सूत्री कार्यक्रम रखना चाहूँगा, (१) दीर्घकालीन सामाजिक उद्देश्यों के अनुरूप किन्तु राजनीतिक प्रभावों से विरत इप्टा की तरह का एक ऐसा राष्ट्रीय कलाकार संगठन बनाया जाय जिसकी जड़ें गाँवों तक मे हो (२) लोककला पर शोध तथा इसके वैज्ञानिक दस्तावेजीकरण के लिए लोककला सम्बन्धी एक केन्द्रीय संस्थान स्थापित किया जाय और (३) लोकसंस्कृति की क्षेत्रीय टोलियों को प्रशिक्षित व सहायता देने के लिए एक लोकनृत्य व संगीत केन्द्र की स्थापना की जाय। यह तीन सूत्री कार्यक्रम लोककला तथा संस्कृति सम्बन्धी हमारी सांस्कृतिक नीति का त्वरित आधार होना चाहिए।



लोक और संस्कृति



ईश्वरशरण पाण्डेय

'संस्कृति' संप्रत्यय कुछ अस्पष्ट सा है। इसके स्थान पर 'सामाजिक चेतना' संप्रत्यय का इस्तेमाल कहीं अधिक सटीक है। 'संस्कृति' की सभी कृतियाँ—यथा राजनीति, विधि, नैतिकता, कला, विज्ञान, दर्शन और धर्म लोगों के आत्मिक कार्यकलाप, मानव की सामाजिक चेतना के मुख्य रूप हैं। मानव कृतित्व और कर्तृत्व की व्याख्या संस्कृति है।

इससे पहले कि मनुष्य सोचे, उसे अपने लिये भोजन, वस्त्र, आवास आदि की व्यवस्था करनी पड़ती है। इसका मतलब है कि इतिहास का आधार भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली वस्तुओं का उत्पादन है और इतिहास निर्माण में निर्णायक भूमिका उन लोगों की है जो भौतिक संपदाओं का उत्पादन करते हैं। और वे कौन हैं? मेहनतकश जनसमुदाय। 'लोक' शब्द से मैं इसी अर्थ को अभिहित करता हूं।

और इसी कारण 'लोक संस्कृति' सामासिक शब्द की जगह 'लोक और संस्कृति' कहना विषय पर सुस्पष्ट वैज्ञानिक विचार करने के लिए आवश्यक मानता हूँ। जब हम 'लोक संस्कृति' कहते हैं, तब यह ध्वनित होता है कि तथाकथित सभ्य, शिष्ट, बौद्धिक कार्यकलाप करने वालों की 'संस्कृति' से बिल्कुल भिन्न 'असभ्य', 'अशिष्ट', 'अशिक्षित', शारीरिक श्रम करने वालों की संस्कृति अथवा सभ्यता की दौड़ में अत्यन्त पिछड़े आदिवासियों या गिरिजनों या 'गँवार' लोगों की संस्कृति। आज लोक-कला, लोक-साहित्य, लोक-संगीत, लोक-संस्कृति की बड़ी धूम है और यह धूम मचाये हुए हैं वे लोग जो 'साहित्य-संगीत और कला से विहीन' कहकर या रखकर इन मेहनतकश जनसमुदाय को आज तक 'सींग पूंछ के बिना पशु' कहते आ रहे थे। 'बिना सींग और पूंछ के पशुओं में संस्कृति देखने को ये सींग और पूँछ वाले आज व्याकुल हो उठे हैं। क्यों? विचारणीय है। क्या यह अभिजातवर्गीय अभिरुचि मानव-संस्कृति के स्रोत की खोज की भूख के कारण है जैसी मौर्गन की थी या 'कायरताहन को विनोद' की वस्तु मानने वालों का 'नये विनोद का क्षेत्र' तलाशना है? ये वे लोग हैं जो कल तक मानव कार्यकलाप के वैचारिक हेतुओं को ही महत्वपूर्ण बताते थे और आर्थिक कारकों को गौण और महत्त्वहीन कहकर उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। ये वे लोग हैं जो कल तक मानते थे कि इतिहास मात्र भीड़ से ऊपर उठे वीरों, सेना नायकों राजा महाराजाओं, राजनेताओं आदि के कार्यकलापों का परिणाम होता है, इतिहास को महान् विभूतियों का जीवन-चरित कहकर

परिभाषित करते थे। वे लोग आज 'लोक-संस्कृति' के अध्ययन, अन्वेषण में निरत होने की बात कर रहे हैं, लोक जीवन की, लोक-कला की स्थायी सुरक्षा के लिये कटिबद्ध दिखाई दे रहे हैं? क्यों? क्या ये सामाजिक विकास के वैज्ञानिक भौतिकवादी अवधारणों की सच्चाई के कायल हो गये हैं? हमे तो ऐसा नहीं लगता।

'लोक' मे इनकी इतनी दिलचस्पी के कारणो को उजागर करना उन लोगो का 'लोक और संस्कृति' के प्रति परम कर्तव्य है जो इतिहास का आधार विचार को नही, भौतिक उत्पादन को, और इतिहास का निर्माता महापुरुषों और सेना नायकों को नही, अपितु आम लोगो, मुख्यत मेहनतकश लोगों को मानते हैं।

ये लोक-जीवन और लोक-संस्कृति स प्रेम के नाम पर लोक साहित्य, लोक-कला, लोक-नृत्य आदि को अपने ड्राइग रूम की टेबिल पर रखे गुलदस्ते की तरह फैशन की वस्तु समझने वाले हैं। 'गुलदस्ते' वाले फूलों के प्रेमी नहीं, फूलों के प्राणहन्ता होते हैं। यह पते की बात एक प्रसंग में जार्ज बर्नाड शा ने कही थी। एक साक्षात्कार करने वाले ने सुन रखा था कि बर्नाड शा फूलो के बडे प्रेमी हैं। जब शा के बैठक कमरे म पहुँचा, उसे कहीं फूल नहीं दिखे। थोडी देर आश्चर्यचकित रह कर आखिर वह शा महाशय से पूछ ही बैठा कि आप फूलों को प्यार करते हैं किन्तु यहां मुझे एक भी गुलदस्ता नही दिखाई दे रहा है, यह कैसा प्यार है? शा ने अपनी चिरपरिचित निराली शैली मे उत्तर दिया—आप अपने बच्चो को प्यार करते हैं तो क्या उनके हाथ-पाँव तोड कर उन्हें अपने ड्राइग रूम की टेबिल पर बिठा देते हैं? हमारे इन लोक संस्कृति-प्रेमियों का लोक जीवन-प्रेम क्या शा जैसा है या भिन्न कोटि का? ये 'अबूझ माड़ को अबूझ बनाये रखना चाहते हैं और स्वांग भरते हैं उनके प्रति प्रगाढ़ प्रेम का। ये आदिवासियों को सब प्रकार के विकास से अलग-थलग रखकर 'आदिवासी ही बनाये रखने के लिय ही उनकी संस्कृति के संरक्षण की बात क्या नहीं करते हैं? शष विश्व से असबद्ध ही उन्हें बनाये रखकर उनके अध्ययन, मनन, अन्वेषण, अनुसधान करके उनसे महत्वपूर्ण, समाज विज्ञान सबधी वैज्ञानिक (या अवैज्ञानिक) निष्कष निकालने वाले और उन निष्कर्षों को स्वयं आदिवासियों म और शेष विश्व म प्रचारित-प्रसारित ही नही दूर-दर्शन से देखने दिखाने के लिये अपने द्वारा रचित झूठी सच्ची कथाओं को फिल्माने वाले किस उद्देश्य से प्रेरित हैं, गम्भीरता से सोचने की बात है। ऐसा कौन लोग कर रहे हैं? क्यों कर रहे हैं? इनके इस लोक संस्कृति-रक्षण के अनाहूत पुण्य कार्य स लोक मे अपनी अविकसित अवस्था से आगे बढ़ने, ऊपर उठने की आकांक्षा उत्पन्न होने के बजाय उसक प्रति मोह उत्पन्न हो रहा है, उस बन्दरिया की तरह मोह जो अपने मृत बच्चे को भी अपनी छाती से लगाये रहती है। यह सामाजिक विकास के वैज्ञानिक नियमों और कारणो से उन्ह अनभिज्ञ रखने की साजिश क्या नहीं है? आर्थिक कारकों के महत्व को सर्वथा नकारते हुए किसी भी वैचारिक कारक—अन्धविश्वास, रूढ़ियो रीति-नीति, परम्परा, लोक भाषा, तथाकथित लोक-साहित्य-कला संस्कृति—के प्रति मोह उत्पन्न करना विकास के सही रूप से हटाना मात्र है। यही सब लोक-संस्कृति रक्षण संरक्षण के नाम पर हो रहा है।

तृतीय विश्व में अविकसित-अर्धविकसित देशों में जन-गण में इजारेदारी के चरम विकास से उत्पन्न नव साम्राज्यवाद को येन केन प्रकारेण बनाये रखने के लिये जो वैचारिक संघर्ष सूक्ष्म और तीव्र रूप से चलाया जा रहा है, उसी की एक अत्यन्त महत्व-पूर्ण रणनीति है लोक-संस्कृति के रक्षण-पोषण का अभियान। इससे जनता के सच्चे हमदर्दों को सावधान रहना चाहिए। यह जो उच्च वर्ग का, प्रभुत्व-सम्पन्न वर्ग का, अभिजात वर्ग का, 'दी इलिट' क्लास का जन जीवन के प्रांगण में अवतरण हो रहा है, शुभेच्छा से नहीं है, यह घुसपैठ है तोड़-फोड़ के लिये, सच्चे संघर्षशील जन-गण को दिक् भ्रमित कर मरणासन्न पूंजीवाद को आक्सीजन देकर कुछ समय और जिलाये रखने के लिये। यह बहु राष्ट्रीय कम्पनियों के लिये नये चरागाह की टोह का ही अंग है। तृतीय विश्व के देशों में आज जो हिंसा, पृथक्तावाद, आतंकवाद, जातीयवाद, भाषावाद, साम्प्रदायिकता, रंगवाद आदि खुले आम नंगा नाच कर रहे हैं, उन सब से इस लोक-संस्कृति के संरक्षण जैसे परम पुनीत निर्दोष दिखने वाले कार्यकलाप का गहरा संबंध है। यह जनगण की संघर्ष शक्ति को सही दिशा में न बढ़ने देने का एक मोहक किन्तु घातक तरीका है। जो वर्ग आज 'लोक-संस्कृति' के हिमायती होने का दम भर रहा है, उस वर्ग के सम्बन्ध में मार्क्स और एंगेल्स की निम्न टिप्पणी स्मरणीय है—

'जिन पेशों के सम्बन्ध में अब तक लोगों के मन में आदर और श्रद्धा की भावना थी, उन सब का प्रभा-मण्डल पूंजीपति वर्ग ने छीन लिया। डाक्टर, वकील, पुरोहित, कवि और वैज्ञानिक सभी को उसने उजरती मजदूर बना लिया है।'

और भी—

'पूंजीपति वर्ग ने, जहां भी उसका पलड़ा भारी हुआ, वहां सभी काव्यात्मक सम्बन्धों का अन्त कर दिया। उसने नग्न यथार्थ के, 'नक्द पैसे कौड़ी' के हृदय-शून्य व्यवहार के सिवा मनुष्यों के बीच और कोई दूसरा सम्बन्ध नहीं रहने दिया। धार्मिक श्रद्धा के स्वर्गोपम आनन्दातिरेक को वीरोचित उत्साह और कूप-मण्डूकता-युक्त भावुकता को आना पाई के स्वार्थी हिसाब किताब के बर्फीले पानी में डुबा दिया। मनुष्य के वैय-क्तिक मूल्य को उसने विनिमय मूल्य में बदल दिया, और पहले के अनगिनत अनपहरणीय अधिकार पत्र द्वारा प्रदत्त स्वातन्त्र्यों की जगह अब उसने अन्तःकरण शून्य स्वातन्त्र्य की स्थापना की है जिसे मुक्त व्यापार कहते हैं।'

'पूंजीपति वर्ग ने पारिवारिक सम्बन्धों के ऊपर से भावुकता का पर्दा उतार फेंका है और पारिवारिक सम्बन्ध को केवल द्रव्य के सम्बन्ध में बदल डाला है।'

('कम्युनिस्ट घोषणा पत्र' से)

सन् १८४७ में लिखी गई उपर्युक्त पंक्तियों में चित्रित पूंजीपति वर्ग के अमानवीय और इसीलिये कला विरोधी चरित्र की सच्चाई का अनुभव आज जन जन को कदम-कदम पर हो रहा है। मार्क्स ने अन्यत्र भी स्पष्ट लिखा है—

'पूंजीवादी उत्पादन आत्मिक उत्पादन के कुछ रूपों से, उदाहरण के लिये, कला तथा काव्य से शत्रुता रखता है।'

(—मार्क्स)

शोषण की पूंजीवादी प्रणाली का स्वरूप ही उन मानवतावादी आदर्शों के गहन अन्तर्विरोध में निहित है जो सच्चे कलाकारों को प्रेरणा दिया करते हैं। कला में प्रति बुर्जुआ समाज की शत्रुता बुर्जुआ साहित्य तक में इस या उस रूप में पूंजीवाद की आलोचना को जन्म देती है। इसी कारण बुर्जुआ समाज में उत्पन्न शेक्सपियर, गेटे, बाल्जाक तथा अन्य प्रतिभाशाली लेखक अपने युग और परिवेश से ऊपर उठकर शोषण की पूंजीवादी प्रणाली की बुराइयों की प्रचण्ड कलात्मक शक्तियों के साथ भर्त्सना करने में सक्षम रहे। इस ढंग के लोगों की कला साहित्य संस्कृति भक्ति खाल या खोल मात्र है शोषण-मूलक निजीकरण के घिनौने चेहरे को ढँकने के लिए। अस्तु।

फ० एंगेल्स ने लिखा था कि संपदा की जननी प्रकृति और जनक श्रम है। भौतिक संपदाओं के उत्पादन में तो श्रम की अहम, निर्णायक भूमिका आज निर्विवाद रूप से प्रतिष्ठित हो गई है किन्तु आत्मिक संस्कृति के उत्पादनों में श्रम की भूमिका के विषय में संदेह, भ्रांति और अस्पष्टता आज भी बहुतों के मन में—यहाँ तक कि प्रगतिशील बुद्धिजीवियों के मन में भी बनी हुई है। अतः इस प्रश्न पर जरा गम्भीरता से विचार करने की जरूरत है।

यह प्रश्न दर्शन के मूल प्रश्न से जुड़ा हुआ है। हमारे चारों ओर असंख्य पिण्ड दिखाई देते हैं। उनमें यांत्रिक, भौतिकीय रासायनिक तथा शरीर क्रियात्मक प्रक्रियाएं प्रति पल घटती रहती हैं। इन सब को भौतिक परिघटनाएं या 'पदार्थ' कहते हैं। हमें क्षुब्ध और उद्वेलित करने वाली भावनाएं—यथा क्रोध, हर्ष अभिमान लज्जा, घृणा आदि, ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त अनुभूतियाँ और हमारे मस्तिष्क को सदा अशान्त एवं व्यस्त रखने वाले विचार—इन सबको आध्यात्मिक परिघटनाएं, चेतना की परिघटनाएं या केवल 'चेतना' कहा जाता है।

प्रश्न है—चेतना पदार्थ की उपज है या पदार्थ चेतना की? मूल क्या है? चित् (चेतना, आत्मा) या पदार्थ (प्रकृति)। जो दार्शनिक यह मानते हैं कि प्रकृति (भौतिक जगत्) चेतना की उपज है, वे प्रत्ययवादी कहे जाते हैं और जो दार्शनिक चेतना को भौतिक जगत्—प्रकृति की उपज मानते हैं वे भौतिकवादी कहे जाते हैं। एंगेल्स ने चेतना तथा भौतिक विश्व के सम्बन्ध के प्रश्न को समस्त दर्शन शास्त्र का महान् आधारभूत प्रश्न बताया था।

लोक और संस्कृति की प्राथमिकता में क्रम निर्धारण में यही प्रश्न निहित है। चेतना को प्राथमिक मानने वाले विचार को श्रम के ऊपर रखते हैं। श्रम को गौण स्थान देने के कारण ही श्रमिक को गौण ही नहीं, उपेक्षापूर्ण अवस्था में डाल दिया गया, चेतना के कार्यकलापों (संस्कृति) में उसके योगदान को नगण्य बताकर नकार दिया गया और उसे 'असंस्कृत' 'असभ्य अशिष्ट' 'गंवार' आदि विशेषणों से विभूषित कर दिया गया। भव्य प्रासाद के कंगूरे ने नींव को नकारने की कोशिश की!

चेतना को मूल मानने वालों के पास विश्वास करो कहने के अतिरिक्त और कोई तर्क या आधार नहीं है। इसीलिये ईश्वर, परमात्मा, स्वर्ग नरक, धार्मिक अन्ध-

विश्वासों या ये सब नहीं तो ईश्वर-तुल्य हेगेलीय परम प्रत्यय और उसके द्वन्द्वात्मक विकास या अभिव्यक्ति के द्वारा जीवन-जगत् के भौतिक प्रश्नों का आध्यात्मिक उत्तर—जो घोर हास्यास्पद या अवैज्ञानिक स्वरूप के होते हैं, निकालते हैं।

पदार्थ को मूल मानने वालों का मार्ग विज्ञान का है जो कहता है—'जानो'। विज्ञान के द्वारा ज्ञात-विषयों के विभिन्न क्षेत्रों में अब तक की खोजों से प्राप्त तथ्यों से पदार्थ की प्राथमिकता ही सिद्ध होती है और पदार्थ की एक विशेष विकसित अवस्था ही चेतना है—यह बात प्रमाणित होती है।

प्रतिबिम्बन पदार्थ का सार्विक गुण है। यही पदार्थ और चेतना के बीच सामान्य चीज है। लेनिन ने लिखा है—' पदार्थ में सारतः अनुभूति से मिलता-जुलता गुण है—प्रतिबिम्बन का गुण । सारी प्रकृति में पाया जाने वाला प्रतिबिम्बन का गुण अपने विकास की कुछ अवस्थाओं को पार कर ऐसे चरण में पहुँच जाता है, जब यह सारतः एक नई परिघटना में परिवर्तित हो जाता है और यह है मानव चेतना जो पदार्थ से भिन्न ही नहीं, बल्कि प्रतिबिम्ब होने के नाते—चाहे काफी अलग प्रकार की ही सही—उससे जुड़ी हुई भी है।' लेनिन द्वारा सन् १६०८ में प्रतिपादित इस असाधारण विचार की पूर्ण पुष्टि २०वीं सदी में ऊर्जिका कायिकी की उपलब्धियों और सूचना-सिद्धान्त तथा साइबरनेटिकी जैसे नवोत्थान विज्ञान ने कर दी है।

प्रतिबिम्ब क्या है—इसे भी सुस्पष्ट समझने की जरूरत है। द्वंद्ववाद के अनुसार वस्तुओं में अन्योन्य क्रिया सतत होती रहती है। एक भौतिक वस्तु पर दूसरी भौतिक वस्तु के प्रभाव के कारण पहली वस्तु में परिवर्तन आते हैं, जो दूसरी वस्तु की कुछ विशेषताओं की पुनर्प्रस्तुति करते हैं। यह पुनर्प्रस्तुति ही दूसरी वस्तु का प्रतिबिम्ब है। दूसरे शब्दों में प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बित वस्तु की कतिपय विशेषताओं की पुनर्प्रस्तुति है।

वस्तुओं के इस सम्बन्ध की सबसे मुख्य विशेषता है—' प्रतिबिम्बित के बिना प्रतिबिम्ब का अस्तित्व नहीं हो सकता, किन्तु प्रतिबिम्बित प्रतिबिम्बक के बिना भी अस्तित्वमान रहता है। इसी विशेषता के कारण चेतना पर पदार्थ की प्रधानता सिद्ध होती है। पदार्थ हमारी चेतना से स्वतन्त्र अस्तित्वमान है, रहता है, रह सकता है पर पदार्थ के बिना चेतना नहीं रहती है, नहीं रह सकती है। इसीलिए यह प्रस्थापना विज्ञान द्वारा प्रमाणित एवं प्रतिष्ठित सत्य है कि हमारे भौतिक अस्तित्व का प्रतिबिम्ब ही हमारी सामाजिक चेतना है। भौतिक अस्तित्व के बिना चेतना का अस्तित्व असंभव है। इसीलिए सामाजिक चेतना के विविध रूपों के अस्तित्व में आने, विकसित होने और परिवर्तित या लुप्त होने में हमारे भौतिक अस्तित्व के विकास, उनके विविध रूपों और उसमें होनेवाले परिवर्तनों की निर्णायक भूमिका होती है। आर्थिक कारकों की सामाजिक चेतना पर निर्णयकारी प्रभाव की महत्ता का वैज्ञानिक कारण यही है।

'आदिम संस्कृति' के कार्यकलापों पर भौतिक अस्तित्व को बनाये रखनेवाले श्रमिक वर्ग की या जन-समुदाय की भूमिका का अनिवार्य एवं निर्णायक महत्त्व है—यह बात विज्ञान सिद्ध सत्य है।

पशु कार्यकलाप का श्रम में रूपान्तरण ही मनुष्य के पशु-जगत् से अलग होने का कारण था। 'मनुष्य को सोचने वाला जानवर' कहने के पहले उसे 'औजार बनानेवाला जानवर' कहना कहीं वैज्ञानिक सत्य के अधिक निकट है। *औजार बनाने की शुरुआत के* फलस्वरूप जैविक समूह—पशुओं के झुण्ड—सामाजिक समूहों में परिवर्तित हुए और चिंतन की वाहक भाषा का आविर्भाव हुआ। प्राणिजगत् में मनुष्य ही भाषा का व्यवहार करता है और भाषा श्रम की—सामूहिक श्रम की देन है। हमारा सारा वैचारिक जीवन बिना भाषा के असम्भव है। संस्कृति की कल्पना भी हम बिना भाषा के नहीं कर सकते। हमारे अमूर्त विचारों का भौतिक रूप है भाषा। और इस भाषा की जननी मेहनतकश की मेहनत है।

बौद्धिक श्रम को (सांस्कृतिक कर्मों को) कुछ बुद्धिजीवी शारीरिक श्रम के समकक्ष बताने की कोशिश करते हैं। एक लेखक का लेखन कार्य मजदूर की मजदूरी जैसा ही है, कहना एक भयानक भ्रांति है, यह छल है। लेखक की कलम चलना हमारे अस्तित्व—भौतिक अस्तित्व के लिये अनिवार्य नहीं है जबकि एक कृषक का हल चलाना अनिवार्य है, अपरिहार्य है। लेखक का कार्य प्रतिबिम्ब है प्रतिबिम्बित नहीं। भौतिक अस्तित्व न हो तो लेखक न हो, लेखन हो पर लेखक न हो, लेख न हो तो भी कृषक बना रहेगा कृषि बनी रहेगी भौतिक अस्तित्व बना रहेगा। संस्कृति के लिए 'लोक' अपरिहार्य है पर 'लोक' के लिए 'संस्कृति' (बुर्जुआ संस्कृति विशेषत) अपरिहार्य नहीं है न अनिवार्य ही है।

फिर भी सामाजिक प्रगति में कला के सामाजिक महत्त्व तथा उसकी भूमिका को यथोचित *स्थान कला की भौतिकवादी वैज्ञानिक समझ में दिया गया है।* मार्क्स तथा एंगेल्स की राय में कलात्मक सृजन यथार्थ को प्रतिबिम्बित करने साथ ही यथार्थ को अनुभव करने तथा यथार्थ को पहचानने का भी साधन है। वह मानव जाति के आत्मिक विकास पर प्रभाव डालने के सबसे शक्तिशाली उत्तोलकों में से एक है। कला के प्रति यह दृष्टिकोण कला की भौतिकवादी समझ का आधार है।

'लोक संस्कृति' के प्रचलित अर्थ को ही ग्रहण करें तो भी उसके अध्ययन और अन्वेषण की आज की प्रवृत्ति उनके प्रति वैज्ञानिक प्रवृत्ति नहीं है। लोक जीवन (जिसमें आदिवासियों या अन्य गिरिजनों का भी जीवन आ जाता है) सामाजिक चेतना के विविध रूपों के उद्‌भव, विकास और परिवर्तन की वैज्ञानिक समझ के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री दे सकते हैं। इस दृष्टि से उनका वैज्ञानिक अध्ययन धर्म नीति, विधि दर्शन, साहित्य-कला आदि के सच्चे वस्तुगत स्वरूप को उजागर करता है और सामाजिक चेतना के इन रूपों पर प्रत्ययवाद या चेतनावाद के द्वारा डाले गये आवरणों को अनावृत्त भी करता है। ऐसा करना वैज्ञानिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त करना है। वैज्ञानिक प्रगति की *गति को भी तेज करता है। लोक जीवन, लोक-संस्कृति, लोक* कलाओं के अध्ययन की ऐसी अभिरुचि शास्त्रीय है, करणीय है।

लोक-कलाओं के प्रति कैसी दृष्टि होनी चाहिए—यह मार्क्स ने यूनानी—प्राचीन

यूनानी कलाओं पर अपने विचार प्रकट करते हुए यों दी है—

'क्या प्रकृति का सामाजिक संबंधों के बारे म वह दृष्टिकोण यूनानी कल्पना तथा इस कारण यूनानी कला के आधार मे अन्तर्निहित है, ऐसे समय म सम्भव है जब स्वचालित तकुवे, रेलवे लाइनें, इजन तथा बिजली तार प्रणाली विद्यमान है।'

कला भिन्न भिन्न कालों म कभी अपनी पुनरावृति नहीं करती। लेकिन यदि कला कृतियाँ ऐतिहासिक रूप से विशेष सामाजिक रूपों से जुडी रहती हैं तो इसका मतलब यह नहीं है कि व उन सामाजिक रूपो के लुप्त हो जाने पर अपना महत्व खो बैठती हैं। इस विषय म मार्क्स कहते हैं प्राचीन यूनानियों की कला तथा उनके महाकाव्य 'अब भी हमे सौ दर्यात्मक आन द प्रदान करते हैं तथा जि ह कुछ मामलो म तो मानक तथा असम्य माॅडल माना जाता है।' इतना ही नहीं मार्क्स इस घटना की गम्भीर व्याख्या भी करते हैं। 'यूनानी कला यथार्थ के उस भोलेपन भरे और साथ ही स्वस्थ, स्वाभाविक बोध को प्रतिबिम्बित करती थी, जो मानव जाति के विकास की शुरुआती मंजिलों में, उसके शैशव के समय म उसका अभिलक्षण था, वह 'नैसर्गिक सत्य परकता' को उसकी अनुपम आकर्षणशीलता तथा सब क लिये विशेष सम्मोहकता समेत प्राप्त करने की कामना को प्रतिबिम्बित करती थी।' अ त मे हम, मार्क्स के श दों म ही लोक कलाओं को किस दृष्टि से देखा जाना चाहिए कहना चाहते हैं—

'कला कृतियो को विशेष सामाजिक अवस्थाओं तथा सबधो का मूलतया प्रतिबिम्ब मानते समय उन कारणों को देखना नितान्त आवश्यक है, जो इन कृतियों के शाश्वत मू य हैं।'



लोकसंस्कृति की रक्षा का सवाल

□

खगेन्द्र ठाकुर

हम आर्थिक, राजनीतिक ही नहीं, सांस्कृतिक संकट के भी दौर से गुजर रहे हैं। यह संकट कई रूपों में हमारे सामने उपस्थित है। एक रूप तो यही है कि देश में भारी मात्रा में निरक्षरता मौजूद है। अभी यहां ४५ करोड़ से भी अधिक निरक्षर हैं, और यदि यही सामाजिक-आर्थिक स्थिति रही तो बीसवीं सदी समाप्त होते होते दुनिया के निरक्षरों का ५४% हमारे ही देश में होगा। निरक्षरता अपने आप में तो संकट है ही, लेकिन इससे और भी कई प्रकार के संकट पैदा हो जाते हैं जैसे यह कि निरक्षर मनुष्य आज की वैज्ञानिक उपलब्धियों से प्रायः नहीं जुड़ पाता, कम-से-कम शिक्षितों की तरह निकटता से नहीं जुड़ पाता। निरक्षर मनुष्य अत्याधुनिक उत्पादन प्रणाली से भी अलग रह जाता है। जनतांत्रिक प्रक्रिया के लाभ से वंचित रह जाता है, फलतः जीवन और समाज की पिछड़ी हुई अवस्था में रह जाता है।

वैज्ञानिक एवं औद्योगिक विकास के साधनों और सुविधाओं से दूर सामाजिक तबकों की जीवन-पद्धति पर आधारित संस्कृति को ही आज लोकसंस्कृति कहा अथवा समझा जाता है। यों यह इसकी परिभाषा नहीं है। लोकसंस्कृति का अर्थ समझने के लिए क्या इसे परलोक लोकसंस्कृति का विपरीतार्थक समझा जाए? लेकिन परलोक कहां है? कोई कहीं उसका अस्तित्व माने लेकिन वह तो असल में है लोकमानस में ही। पर लोक अदृश्य है अगम्य है, बल्कि अनुभवातीत है। इसीलिए अभौतिक है लेकिन लोक तो इंद्रियगम्य है इसलिए भौतिक है, ऐहिक है। जब कोई लौकिक अनुभव या लौकिक सुख की बात करता है तो उसका अर्थ समझा जाता है भौतिक या ऐहिक सुख। इस तर्क प्रणाली से तो लोकसंस्कृति का अर्थ होता है भौतिक या ऐहिक संस्कृति। लेकिन इससे लोकसंस्कृति का अर्थ वास्तव में साफ नहीं होता। लोक शब्द शास्त्र के समानान्तर भी प्रयुक्त होता रहा है। शास्त्र तो विद्वानों और आचार्यों की रचना है और लोक है आम लोगों का जीवन। इस दृष्टि से लोकसंस्कृति आम लोगों के जीवन की चीज मालूम होती है।

आज के जमाने में लोकसंस्कृति के मुकाबले नगरीय संस्कृति का जिक्र होता है। लोकसंस्कृति का परिचय कराने के लिए गांव के लोगों का नाच गान आदि दिखाया जाता है। इस दृष्टि से लोकसंस्कृति को ग्राम्य और पिछड़ी हुई संस्कृति माना जाता है। तब तो लोकसंस्कृति की रक्षा करने का मतलब होता है पिछड़ी हुई ग्राम्य संस्कृति की रक्षा

रना। यह क्या अपेक्षित है? लेकिन बात इतनी आसानी से बनने वाली नहीं है। लोक-संस्कृति की रक्षा की बात परम्परा की सुरक्षा के नाम पर की जाती है। ऐसा कहने वाले परम्परा को जीवन्त, गतिशील और विकासमान वस्तु नहीं मानते। उनके लिए जैसे 'लोक' पिछड़ा हुआ होता है, वैसे ही परम्परा भी पिछड़ी हुई चीज होती है। लोक-नृत्य अक्सर पुरानी पोशाक पहनकर किया जाता है। लेकिन परम्परा का अर्थ है एक के बाद दूसरा यानी एक के बाद दूसरे का होते रहना, तभी कोई चीज परम्परा से चली आती हुई होती है। परम्परा का अभिन्न सम्बन्ध मनुष्य और उसके समाज से है, और समाज की गतिशीलता का बोध परम्परा के बदलते हुए स्वरूप में होता है। समाज की गतिशीलता परम्परा के बदलने का कारण भी है। इसलिए लोकसंस्कृति का बचाव परम्परा के स्थिर या अतीत कुछ रूप के आधार पर नहीं किया जा सकता।

लोकसंस्कृति को समझने के लिए पहले संस्कृति को समझना जरूरी है। मैं समझता हूँ कि प्रकृति और मनुष्य के श्रम के संयोग से उत्पन्न भौतिक साधनों और आगे चलकर सम्पत्ति पैदा करने के साधनों के आधार पर निर्मित मानव-सम्बन्धों की अभिव्यक्ति वास्तव में संस्कृति है। इस तरह इसका एक छोर मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था में है, तो दूसरा छोर आज की औद्योगिक एवं वैज्ञानिक-तकनीकी क्रांति की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टि से इन दो छोरों के बीच हजारों वर्षों का समय है। हमारी सभ्यता तो पाँच छः हजार वर्षों की मानी जाती है लेकिन मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था उससे भी कई हजार वर्ष पहले की है, कम-से-कम दस हजार वर्ष के लम्बे ऐतिहासिक काल में लोकसंस्कृति कहाँ है? मुझे नहीं मालूम कि 'लोकसंस्कृति' का उपयोग कब से हो रहा है। लेकिन मेरा अनुमान है कि पूँजीवादी सभ्यता के उदय के साथ ही संस्कृति को प्रकृति और मानव श्रम के भौतिक संदर्भ में देखने की दृष्टि समाप्त कर दी गयी। उसकी एक आदर्शवादी कुलीन धारणा विकसित हुई और केवल विचारों और भावनाओं के दायरे में या केवल मनोलोक में संस्कृति को बंद कर देने की कोशिश की गयी। समाज के सम्पन्न और विकसित लोगों के बौद्धिक विकास की रोशनी में संस्कृति का अस्तित्व मान लिया गया और समाज के पिछड़े हुए लोगों के पास रह गयी लोकसंस्कृति जिसकी उपयोगिता ऐसे लोगों के अपने रीति रिवाज के पालन के अलावा सम्भ्रान्त और कुलीन लोगों का मनोरंजन करने में ही रह गयी। लेकिन संस्कृति की वैज्ञानिक और ऐतिहासिक धारणा जीवन की भौतिक प्रक्रिया सामाजिक श्रम में व्यक्त होने वाली मनुष्य की गतिविधि से अभिन्न है। इसलिए संस्कृति की सही समझ सामाजिक-आर्थिक संरचना से अलग हट कर नहीं पायी जा सकती। इस दृष्टि से देखने पर संस्कृति आदिम सामुदायिक संस्कृति दास समाज की संस्कृति, सामन्ती संस्कृति, पूँजीवादी संस्कृति, समाजवादी संस्कृति आदि रूपों में सामने आती रही है। अपने को सुसंस्कृत समझने वाले पूँजीवादी कुलीनों ने बहुरंगीय भारतीय समाज के प्राक पूंजीवादी संरचना यानी आदिम समाज, दास-समाज और सामन्ती समाज के सांस्कृतिक अवशेषों को लोकसंस्कृति कहना शुरू किया। इसलिए इस लोकसंस्कृति का एक रूप आदिवासी जनता में मिलता है, तो दूसरा रूप कृषिसम्बन्धी

से बँधी जनता मे।

अब आप देखें कि अगर हम लोकसंस्कृति की रक्षा की बात करते हैं तो वास्तव में प्राक् पूँजीवादी सामाजिक संरचना पर आधारित जनता के सांस्कृतिक पिछड़ेपन की रक्षा की ही बात करते हैं और आर्थिक पिछड़ेपन के अस्तित्व के बिना, सांस्कृतिक पिछड़ेपन की रक्षा कैसे हो सकती है? पिछड़ेपन के अलावा एक बात और है, वह यह कि मनुष्य मे अपार सर्जनात्मक क्षमता है। आदिम प्राकृतिक अवस्था से उठ कर आज अंतरिक्ष के रहस्यों को भेदने की चमत्कारी उपलब्धियों तक मनुष्य अपनी ही सर्जनात्मक क्षमता के जरिये पहुँचा है। लेकिन "लोकसंस्कृति" की अवस्था म मनुष्य को रखे रहना उसकी सर्जनात्मक क्षमता को कुण्ठित करना है। उदाहरण के लिए जो आदिवासी लोकसंस्कृति की रक्षा की बात करते हैं, वे आदिवासियों को जीवन की आदिम अवस्था म ही रखना चाहते हैं उन्हें आधुनिक जीवन की विकासमान प्रक्रिया म शामिल नहीं होने देना चाहते। इसी तरह जो लोग समाज के दूसरे हिस्सों मे लोकसंस्कृति की रक्षा करना चाहते हैं वे उससे सम्बंधित सामाजिक तबके को कृषि सभ्यता से ऊपर नहीं उठने देना चाहते। लेकिन संकट तो यह है कि हमारे देश में भी पूँजीवादी व्यवस्था ने तथाकथित लोकसंस्कृति के 'लोक' को पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली मे शामिल किये बिना पूँजीवादी माल क प्रभाव से तोड़ना शुरू कर दिया है। इस व्यवस्था ने लोकसंस्कृति के विभिन्न कला-रूपों को अपने व्यवसाय और/मुनाफाखोरी का सामान बना लिया है, लेकिन उसके सामाजिक तबके को सृजनात्मक विकास का अवसर एवं सुविधा देने की चिंता उसे नहीं है। लोकसंस्कृति के सामने यही समस्या और संकट है।

तो क्या लोकसंस्कृति की रक्षा उचित नहीं है? यदि है तो यह कैसे संभव है? पहली बात तो यह है कि हमारे पूर्वजो के सामाजिक जीवन, रीति रिवाज, भावना, इच्छा-आकांक्षा, सृजनात्मक एवं कलात्मक उपलब्धियों और भाषा के स्वरूपों से परिचित होना और आने वाली पीढ़ियों भी उनसे परिचय कराना जरूरी है। इस तरह हम परम्परा से जुड़ते हैं। लेकिन पर्युक्त सारी चीजों को सामाजिक आर्थिक संरचना के आधार के साथ बचाये रखना संभव नहीं है, यह पहले कहा जा चुका है। इसलिए लोक-साहित्य, और लोक कला के विभिन्न रूपों म ही प्रयत्नपूर्वक उन्हें बचाकर रखा जा सकता है। लेकिन यह पूँजीवादी व्यवस्था अपनी व्यावसायिकता और उपभोक्तावाद के कारण हमारी स्वस्थ परम्पराओं या यह कहे कि परम्परा के प्रगतिशील तत्वों को, लोक साहित्य और लोक कला के आकर्षक रूपो को नष्ट कर रही है। आज विवाह के अवसरों पर ग्रामीण औरतें भी फिल्मी धुन मे गीत गाने लगती हैं। अन्य अनेक अवसरों पर गाये जाने वाले संस्कार गीतों के स्वर कहाँ सुनायी पड़ते हैं? खेतों म धान की रोपनी के समय गूँजने वाले गीत दुर्लभ होते जा रहे हैं और अब वहाँ भी मेड़ पर रखे ट्रांजिस्टर की आवाज गुंजरित होती रहती है। लोरिकाइन की वह लम्बी तान कहाँ डूबती जा रही है? सिनेमा, रेडियो, दूरदर्शन आदि लोक-संस्कृति को सुरक्षित रखने वाले माध्यमों को दबाते चले आ रहे हैं। इसके विपरीत ध्यान देने की बात है कि सोवियत संघ

और अन्य समाजवादी देशों मे लोक-संस्कृति की विभिन्न अभिव्यक्तियों को कलात्मक अभ्यास के जरिये मनोयोगपूर्वक जीवित रखा गया है। उस संस्कृति के भौतिक रूपो को प्रेमपूर्वक संग्रहालयो मे सुरक्षित रखा गया है। हमे यह समझना चाहिए कि विकास की प्रक्रिया मे शामिल किये बिना और व्यावसायिकता से मुक्त आधुनिक वैज्ञानिक साधनों का आधार दिये बिना लोक संस्कृति की रक्षा नहीं की जा सकती। आंख मूद कर उससे लिपटे रहने वाला उसकी रक्षा नहीं कर सकता।



लोक-सस्कृति का भविष्य



शभुनाथ

पिछले दिनो एक प्रसिद्ध राष्ट्रीयकृत बैंक ने नयी दिल्ली में अपने सास्कृतिक कार्यक्रम म कठपुतली का नाच दिखाया। एक सिगरेट कंपनी ने लोकनृत्य का कार्यक्रम आयोजित किया। एक बडे विज्ञापनदाता ने अखबारो म अपने उत्पादन के साथ पौराणिक चित्र छपाये। दूरदर्शन पर लोकगीत आये। एक लिमिटेड कपनी के चेयरमैन ने अपने वार्षिक भाषण का आरम कविता की पक्तिया से किया। आधुनिक नाटको और कला फिल्मो म लोकजीवन और लोकसगीत की धूम रही। भोपाल म लोक-कलाकारों को पुरस्कार मिला उनके काम की प्रदर्शनी लगी जिसे बडे बडे लोग देखने आये। विशिष्ट शासको ने पिछडे आदिवासी इलाको मे लगातार दौरा किया। लोक सस्कृति फ्रैंकफुर्त के विश्वमेला म भी पहुची और वहाँ उसे विश्व सराहना मिली। लोककला और संस्कृति के इतने व्यापक प्रचार और प्रोत्साहन के बाद कार्ल मार्क्स की इस धारणा के बारे म फिर से सोचना पडता है कि पूजीवादी उत्पादन कला, कविता और सस्कृति का शत्रु है।

गोकि विशिष्ट वर्ग के हितो की सेवा मे अपना जीवन खपा देने वाला लोक खुद अपनी सस्कृति से उदासीन एव अलग-थलग पडता जा रहा है, सस्कृति की निधियो को आत्मसात् करने की उसकी ताकत निरतर क्षीण होती जा रही है, वह सस्ते फिल्मी गाने, नाच, गजल और मालिक या बडे साहब के घर आये वीडियो पर जान न्योछावर कर रहा है—हाय के ऐसे ही वातावरण में लोक-सस्कृति आधुनिक मच पर आ रही है। जिस तरह शहरी ह्रासशील सस्कृति गाँव के अदर अदर तक पहुँच रही है, लोक सस्कृति शहर पहुँच रही है। ये दो अलग प्रक्रियाए हैं या एक ही प्रक्रिया के दो अलग चेहरे हैं? चूकि लोकसस्कृति किसी देश की सबसे महान् विरासत है उसके कला रूप महनतकश देशवासियों की बौद्धिक क्षमता के महान् प्रतीक हैं, उनकी आत्माओं की आवाज हैं यह परखना जरूरी हो जाता है कि लोकसस्कृति का सही रूप क्या है इसका वास्तविक वाहक कौन है और इससे हमारे सरोकार का सही अर्थ क्या है?

हम शहरवासी, जो चालीस पचास साल पहले लोकजीवन की धारा से अवि-च्छिन्न रूप से जुडे थे तथा अब एक पृथक् सभ्यता म जीते हैं, देश और विश्व के आधुनिक मच पर लोकसस्कृति की उपस्थिति देखकर प्रायश्चित्त भरे जातीय गर्व से भर उठते हैं

लेकिन दूसरे क्षण अपने को इस अनुभव से बचा नहीं पाते कि लोकसंस्कृति के कलात्मक रूप और चिन्ह प्रदर्शित मात्र बनकर अब हमें केवल मजा—एक अनैतिक तृप्ति देते हैं। साधारण लोक की भाँति शहरवासी बुद्धिजीवी भी अपनी संस्कृति से अलग-थलग हैं। फर्क यह है कि साधारण लोक रूढ़ियों और विकृतियों में फंसे होने के कारण अपनी संस्कृति के सार तक पहुँच नहीं पाता, जबकि शहरी बुद्धिजीवी अपनी सभ्यता की माँद से निकल कर वहाँ पहुँचता है, अपनी विच्छिन्नता पर अफसोस करता है और थोड़ा मजा लेकर थोड़ा आत्मविमुग्ध होकर फिर उसी माँद में लौट आता है। लोकसंस्कृति की जब आज इतनी धूम है तो लोक और विशिष्ट वर्ग का इसकी विरासत से रिश्ता कुछ ऐसा ही है।

आज विभिन्न औद्योगिक-राजनैतिक संस्थान लोकसंस्कृति को जिस सुसज्जित रूप में पेश करते हैं, उसका प्रधान लक्ष्य है लोकसंस्कृति के वर्ग प्रकृति, नैरंतर्य और परिवर्तन के सार को नष्ट करना उसकी संपूर्ण सौंदर्यात्मक गहनता को बरबाद करना।

बैंक कठपुतली के नाच के भीतर से यह दिखाता है कि लोग विकास के नये कार्यक्रम में कैसे हिस्सा लें। सिगरेट कंपनी के लिए प्रदर्शनी, क्रिकेट मैच, आधुनिक थिरक पैदा करनेवाले संगीत-कार्यक्रम और लोकनृत्य विभिन्न समूहों में घुसने के समान महत्व के प्रचार-माध्यम हैं। औद्योगिक प्रतिष्ठान कविता के प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित कर यह दिखाना चाहते हैं कि वे भी संवेदनशील हैं उन्हें भी सौंदर्य से प्रेम है। अपने पुराण कथा, इतिहास और लोकसंस्कृति पर गहरा विश्वास रखने वाली जनता को औद्योगिक उत्पादन की ओर आकर्षित करने के लिए विज्ञापनदाता मानो स्थापित करना चाहते हैं कि उनका नया माल पुराण कथा, इतिहास और लोकसंस्कृति की परंपरा में ही बना है। उनका माल खरीदने का अर्थ है इस परंपरा में विश्वास व्यक्त करना।

व्यापक राजनैतिक लोकजागरण के साथ लोकसंस्कृति ने भीतर ही भीतर एक नयी करवट ली है। इस परिप्रेक्ष्य में शासन को भी सोचना पड़ा है कि अब अधिक दिनों तक इसे दबाकर नहीं रखा जा सकता—जितना दबाया जाएगा, इसके क्रांतिकारी सार की प्रगति होगी, जितना उठाया जाएगा, इसके क्रांतिकारी सार का ह्रास होगा। लोकसंस्कृति 'विकास' की वर्तमान राजनैतिक संस्कृति का हिस्सा हो जाए, इसके कर्मियों और कलाकारों की जीभ पर 'विकास' का स्वाद चढ़ जाए, तो ये कर्मी और कलाकार मेहनतकश देशवासियों की बौद्धिक क्षमता के रूपों और चिन्हों का पुनरुद्धार करते हुए भी, इतने बेवफा नहीं होंगे कि उनकी आत्माओं की आवाज उभारें। वे खुद ही यांत्रिक ढंग से वहाँ प्रतिष्ठित करेंगे औद्योगिक और राजनैतिक सत्ताप्राप्त वर्गों का अभिप्राय। लोकसंस्कृति की वर्ग प्रकृति को भौतिक विकास का मजा ले रहे वर्गों की नव-औपनिवेशिक प्रकृति में स्थानांतरित करने और लोकसंस्कृति में निहित परिवर्तन के सार को विरूपित करने की ही यह चेष्टा नहीं है, उसकी नैरंतर्य की मूल धारा को प्रदूषित करने का षड्यंत्र भी है। इससे पता चलता है कि समाज को अत्याधुनिक भौतिक विकास के

पथ पर ले जाने वालों का सास्कृतिक उद्देश्य कितना ओछा है, उसका विवेक कितना पतित है।

भारतीय लोकसस्कृति के सम्बन्ध म केवल यही एक तथ्य नही है कि यह अत्यत प्राचीन, महान् और साधारण वर्गों के जीवन म बसी सस्कृति है। कुछ दूसरे तथ्य भी हैं, जैसे—इसकी मूल वगप्रकृति आत्मनिर्भर ग्राम समुदाय के कृपक और दस्तकार की एकता पर टिकी है जिसका नैरन्तर्य किसान मजदूर और साधारण मध्य वग की एकता म है। लोकसस्कृति ग्राम और पर सत्ता की संस्कृति से भिन्न है लेकिन दोनो मे ही कुछ तत्व ऐसे हैं जो वर्गेतर हैं। लोकसस्कृति के अनेक रूपों को सत्तापक्ष के सस्कृति कर्मियों ने चुन लिया तो शोषक सत्ताप र द्वारा रची सस्कृति के अनेक वैश्विक महत्व के तत्व उपयोगी होने के कारण लोकसस्कृति के अग बन गये। शोषक शासक वर्ग ने शोषण और दमन चलाते हुए भी समय समय पर अनेक मामलो म प्रगतिशील भूमिका निभायी है और सस्कृति को आगे बढ़ाया है। १९वीं शताब्दी तथा २०वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध म राष्ट्रीय पूजीपति वग ने ऐसा ही किया, अत लोकसस्कृति को शोषक-शासक वग की सस्कृति से अलग परिभाषित करते हुए भी यह तथ्य नही भूलना चाहिए कि सस्कृति के कुछ रूप वर्गेतर और वैश्विक होते हैं तथा महज उत्पादन के सबंध बदल जाने से मिट नहीं जाते। फिर भी इसम सदेह नही कि किसी देश की मूल संस्कृति उस देश की लोकसंस्कृति ही है।

भारतीय लोकसस्कृति के सबंध मे दूसरा तथ्य यह है कि इसमें नैरन्तर्य के साथ परिवर्तन भी घटित हुआ। ऐसी बात नही है कि सस्कृति किसी दिव्य ऐतिहासिक घड़ी म महापुरुषो द्वारा सुनिश्चित कर दी जाती है। बाद में लोग सिफ अनुसरण करते हैं परिवतन नहा। सस्कृति कोई स्थिर चीज नहीं है। इसमे समय के अनुसार लोक द्वारा सचेत परिवर्तन भी लाये जाते हैं और नवोन्मेष भी होते हैं। अत सास्कृतिक विरासत से जुड़ने का अर्थ है लोकसस्कृति के जीवत मूल्यों, परपराओं तथा नवोन्मेषों को पहचानना और उनका समय की चुनौतियों के अनुरूप रचनात्मक विकास करना।

समग्रता मे भारतीय लोकसस्कृति गतिशील है। इसकी गतिशीलता का अर्थ है पूर्ववर्ती युगों के सकारात्मक लोकसास्कृतिक रूपों का सरक्षण और विकास। खासकर नयी जातियों के आगमन, उनकी सस्कृति स अर्तक्रिया तथा विश्वसस्कृति की नयी उपलब्धियों के प्रति खुले रुख के कारण भारतीय लोकसंस्कृति का चरित्र सदा ही उदार, अर्तमिश्रणशील तथा विकासशील रहा है। उन विभिन्न जातियो के शस्त्र और शास्त्र भले टकराते रहे, पर वे जातियाँ आपस म मिलकर एक सामान्य लोकसस्कृति के निर्माण मे भी सदा तत्पर रहीं। भारत की दार्शनिक विचारधाराओं तथा धमशास्त्रों को अलग-अलग पहचानना हमेशा समव है, लेकिन उसकी लोकसंस्कृति को विखडित करके देखना कभी समव नहीं है।

भारतीय लोकसस्कृति की उदार अर्तमिश्रणशील तथा विकासशील प्रकृति का अर्थ उसके नैरन्तर्य का अभाव नहीं है, केवल पुराने नकारात्मक तत्वों का परित्याग है।

वेदांतियों और भौतिकवादियों ने अतीत में अनेक बार वाग्युद्ध किये, पर आत्मनिर्भर ग्राम समुदाय की जनता ने अध्यात्म और भौतिकता दोनों में से किसी के भी अतिवाद को स्वीकार नहीं किया। लोकायत धारा को प्रभुतासम्पन्न विचारधारा द्वारा हमेशा धिक्कार मिला, लेकिन साधारण कृषकों और दस्तकारों ने इंद्रियगोचर यथार्थ की कभी उपेक्षा नहीं की। ऋग्वेद में इंद्रियगोचर यथार्थ अग्नि, वायु, सूर्य आदि की महत्ता वर्णित है। सांख्य इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि सृष्टि की रचना ईश्वर ने नहीं की है। इसने भौतिक जगत् को प्रकृति कहा और मान्यता स्थिर की कि सृष्टि का नियमन इसके अपने गुण धर्म से होता है। प्रभुतासम्पन्न विचारधारा द्वारा पोषित वर्णाश्रम व्यवस्था का लोकायतिकों, बौद्धों तथा संतों ने व्यापक विरोध किया—यहाँ तक कि वेदांतियों और नव-वेदांतियों को भी इस लेकर एक उदात्त दृष्टिकोण अपनाना पड़ा।

कई मामलों में विचारधारा द्वारा निर्धारित होने के बावजूद, संस्कृति का अस्तित्व विचारधारा से बहुत व्यापक है। भारतीय लोकसंस्कृति में वेदांत, लोकायतिकों तथा भक्ति-आंदोलन के उच्चतर तत्वों का एक व्यापक रचनात्मक समुच्चय है—उसमें जनतांत्रिक संस्कृति के कई तत्व काफी विकसित अवस्था में हैं। ऐसी लोक-संस्कृति का ही परिणाम है कि यहाँ ईश्वर को विभिन्न तरह से मानने वाले आम लोगों में कभी बैर नहीं रहा है। वेदांत और माया मोक्ष के इतने प्रचार के बावजूद इस देश के साधारण लोग किसानी, दस्तकारी, पारिवारिक जीवन, कला तथा जीवन के अन्य भौतिक रूपों से सामान्यतः कभी विमुख नहीं हुए, भले बौद्धिक स्तर पर वे इन्हीं को सब कुछ न समझते हों। केवल वेदांत और सांख्य ही नहीं, सभी दार्शनिक विचारधाराओं तथा शास्त्रों से भारतीय लोकसंस्कृति व्यापक रही है क्योंकि सामूहिक जीवन की जरूरतों के बीच से इसका निर्माण और विकास हुआ है।

भारतीय लोकसंस्कृति के नैरंतर्य को उन विदेशी जातियों ने आहत नहीं किया, जिन्होंने इस देश को जीता और अपना घर बना लिया। इसे आहत किया उन जातियों ने, जिन्होंने इसे जीता, उपनिवेश बनाया और लगातार लूटा। वे जातियाँ यूरोपीय थीं, जिनमें खासकर अंग्रेज थे। जो समाज बहुत उदार, अंतर्मिश्रणशील और बौद्धिक सांस्कृतिक स्तर पर विकासशील था, आत्मनिर्भर था उसे अपनी कूट चाल से अंग्रेजों ने बुनियादवाद, विखण्डता और बौद्धिक-आर्थिक अवरोध के कगार पर खड़ा कर दिया, उसे परजीवी बनाना आरंभ कर दिया। अपने उदार अंतर्मिश्रणशील तथा विकासशील ढाँचे में भारतीय लोकसंस्कृति ने कृषक, दस्तकार एवं बुद्धिजीवी की एकता, समत्व, आत्मनिर्भरता, विविधता, सहृति, प्रेम, सादगी, ईमानदारी, आत्मबलिदान तथा मूल्यपरक जीवन-शैली के जिन अन्य अनेक आदर्शों का विकास किया था, उन्हें साम्राज्यवादी खूरेजी का सामना करना पड़ा।

भारतीय लोकसंस्कृति की आत्मपहचान और स्वतंत्रता के लिए उसी दौर में भारतेंदु, प्रेमचंद, प्रसाद, रामचन्द्र शुक्ल, निराला जैसे व्यक्ति हुए जिन्होंने पश्चिम से रचनात्मक संवाद रखने हुए भी मूलतः अपनी लोकसंस्कृति का पक्ष लिया और जितना संभव हुआ उसे परिष्कृत रूप देकर बुद्धिवादी, राष्ट्रवादी तथा **जनवादी अभिप्राय से**

चमकाया। सिर्फ हिंदी ही नहीं, अन्य सभी भारतीय भाषाओं में साहित्य और संस्कृति की तीसरी परंपरा के ऐसे कार्यकर्ता एक ओर उन संस्कृति कर्मियों से अलग थे, जिनकी आंखों के चारों तरफ बुनियादवाद, पिछड़ता तथा बौद्धिक आर्थिक अवरोध का पर्दा लटक रहा था—जो अब सिर्फ अपनी रूढ़ियों में कैदी थे, तो दूसरी तरफ, वे संस्कृति के उन नये ठेकेदारों से भी भिन्न थे जो बौद्धिक उपनिवेशवाद से आक्रांत होने की वजह से पश्चिमी संस्कृति से सृजनात्मक संवाद के स्थान पर नग्न आत्मसमर्पण करते जा रहे थे।

लोकसंस्कृति को क्षेत्रीय या आंचलिक संस्कृति, स्थिर या पिछड़ी संस्कृति समझना एक भारी भूल है। लोकसंस्कृति की अभिव्यंजना जीवन और कला के जिन रूपों में होती है वे, सम्भव है क्षेत्रीय खूबियां वाले हों, जैसे मणिपुरी नृत्य पंजाब के भांखड़ा से अलग दिखेगा। लेकिन दोनों कलारूपों के पीछे सक्रिय जीवन-दृष्टि क्या इतनी अलग है कि इनकी लोकसंस्कृति बदल जाती है? लोकसंस्कृति के स्वतंत्र विकास के अधिकार के नाम पर कभी कभी क्षेत्रीयतावाद सिर उठाता है और अलग राज्य की मांग उठती है। कहना न होगा कि निहित स्वार्थ ही इसके पीछे होता है। एक बात गांठ बांध लेनी चाहिए कि लोकसंस्कृति के रूपों की विविधता लोकसंस्कृति की भिन्नता नहीं है। लोकसंस्कृति के सभी क्षेत्रीय रूपों का संरक्षण ही नहीं, आधुनिक विकास होना चाहिए—उनका संस्कृति और विज्ञान की उच्चतर उपलब्धियों से सम्पर्क स्थापित कराना चाहिए, इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में यह भी नहीं भूलना चाहिए कि लोकसंस्कृति के सभी क्षेत्रीय रूपों की मूल-आत्मा—उनके पीछे सक्रिय जीवन-दृष्टि एक है। क्षेत्र बोली या धर्म की भिन्नता से संस्कृति नहीं बदल जाती, यह बहुत गहराई में बसी चीज है।

इसी तरह लोकसंस्कृति का अर्थ बहुतों की नजर में स्थिर, पिछड़ी या निम्नतर संस्कृति है, एक ऐसी संस्कृति, जिसमें रूढ़ियां भरी हों और गति नहीं बची हो जो आधुनिक बौद्धिक प्रौद्योगिक विकास के साथ चल सकने में असमर्थता के कारण पिछड़ चुकी हो। हीगेल की शैली में जो यह मानते हैं कि भौगोलिक कारणों से पूर्व (भारत) की आत्मा का सारतत्व स्थिर और पिछड़ा है, अतः उस पर एक उच्चतर और विकसित जगत् (पश्चिम) को अधिरोपित होना है वे भारतीय लोकसंस्कृति को पिछड़ी और ठहरी हुई संस्कृति कहने से कभी नहीं हिचकेंगे। वे आज भी स्वतंत्रता के वास्तविक अनुभव के लिए चाहे किसी वेश में पश्चिमीकरण का समर्थन करेंगे। उन्हें नहीं पता पश्चिम अपनी लोकसंस्कृति सदा सदा के लिए खोकर अपने भीतर आज कितनी बेचैनी और पागलपन का अनुभव कर रहा है और जब उसके पास तीसरी दुनिया के किसी देश, खासकर भारत की लोकसंस्कृति का कोई सच्चा या बनावटी रूप नुमाइश के तौर पर पहुँचता है तो पश्चिम उसके पीछे ऐसे दौड़ता है जैसे बांझ औरत दूसरे का बच्चा देखकर मचलती है।

हमारी लोकसंस्कृति में रूढ़ियां नहीं पनपीं परम्परा की तुलना में रीतिरिवाज प्रबल नहीं हुए, तथा उसके कई कलात्मक रूपों के विकास में अवरोध नहीं आया, ऐसा नहीं है। लोकसंस्कृति को बाहर से छिन्न-भिन्न किया ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने तो इसे अन्दर से आघात पहुँचाया निरंकुश भारतीय शासक तथा धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त

वर्ग ने। संस्कृति के प्रति अपने वास्तविक दायित्व से विमुख होकर इन्होंने उस पर अनेक बार अपना दूषित और ह्रासशील मनोभाव आरोपित कर दिया, परम्पराओं को संस्थान में बदल दिया, रीतिरिवाज में ढाल दिया। दूसरी सहस्राब्दी से यह प्रक्रिया शुरू हुई, जिसे और तीव्र कर दिया ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने, इस सहस्राब्दी के उत्तरार्द्ध में। लोक-चेतना से डर कर निरंकुश भारतीय शासक तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने समाज में अपनी-अपनी सत्ता की संस्कृति फैलायी। पश्चिमी साम्राज्यवाद ने अपनी जो संस्कृति फैलायी, उसके असर में अनेक आधुनिक कलाकार और साहित्यकार अभी हाल तक अपनी परंपरा को सड़ी हुई चीज समझते थे और व्यक्तिवादी झुकाव का परिचय देते थे। जो हो, निरंकुशतावादी तथा साम्राज्यवादी संस्कृति के हमले के बावजूद लोकसंस्कृति नहीं मरी। लोकसंस्कृति को पीछे ठेला जा सकता है—इसके पत्तों और डालियों को झुलसाना सम्भव है, लेकिन इसकी जड़ों का जीवन-रस सुखा पाना किसी भी निरंकुश और साम्राज्यवादी शासन के वश की बात नहीं है।

एक ही वजह है इसके मूल में भारत का मनुष्य बहुत गहरा है। उसकी जड़ें इतिहास के इतने भीतर जमी हैं कि वहाँ कोई तारपीडो नहीं पहुँच सकता। हमारे देश में जनतंत्र बार-बार कुचला जाकर इसीलिए फिर मजबूत हो जाता है। राष्ट्रीय सांस्कृतिक अखंडता धूसर होकर इसीलिए फिर खिल उठती है। साम्यवाद का स्वप्न भी 'विकास' की आंधी से बुझकर इसीलिए यहाँ-वहाँ फिर सुलगने लगता है।

अतीत में जन-उभारों तथा आंदोलनों के साथ साधारण जन की संस्कृति में भी उभार आया। रूढ़ियाँ टूटीं। खासकर *भक्ति-आंदोलन और नवजागरण* ने भारतीय लोक-संस्कृति के बुनियादी गुणों को उसके विभिन्न कला रूपों समेत एक बार फिर रोशनी में ला दिया। भक्ति-आंदोलन विश्वास और नवजागरण तक बुद्धि पर आधारित था। दोनों ने औजारों की भिन्नता के बावजूद अपनी सीमाओं में सत्ता की संस्कृति को जबदस्त चुनौती दी। जीवन और कला के लोकसांस्कृतिक रूपों में नयी जान आयी, उनका विकास हुआ। क्या तुलसी और कबीर ने अपने को उस समय से नहीं जोड़ा, जिसमें वे थे? भारतेंदु ने लोकसांस्कृतिक भावनाओं और नाट्यरूपों को आधुनिक विवेक से नहीं चमकाया, इन्हें गति नहीं दी? क्या आज भी अनेक कलाकार और कवि ऐसा नहीं कर रहे? लोकसंस्कृति की महत्ता उसके रूढ़ तथा प्रतिबाधित रूप के संरक्षण-प्रदर्शन में नहीं है, जैसा हम आधुनिक कला भवनों और मंचों पर देखते हैं। उसकी महत्ता नये विज्ञान और बौद्धिकता की रोशनी में विभिन्न कलाओं समेत उसके बुनियादी गुणों के परिष्करण और विकास में है। पुनर्रचना में ही लोकसंस्कृति की सार्थकता है। सत्ता की बलशाली संस्कृति को चुनौती केवल तभी सम्भव है। लोकसंस्कृति उभरेगी तो लोक की बौद्धिक-भौतिक ताकत में भी उभार आएगा। लोकसंस्कृति मजबूत होगी तो लोक मजबूत होगा। लोक मजबूत होगा तो लोक-संस्कृति मजबूत होगी। लोकसंस्कृति कोई अहल्या नहीं है कि पत्थर बनकर बैठी रहेगी, इस इंतजार में कि जे० एन० यू० से पढ़कर कोई राम आएगा। लोक ही करेगा लोक संस्कृति का पुनरुद्धार, परिष्कार और विकास—इसकी पुनर्रचना।

हमारा समय एक बार फिर भूखा है भक्ति-आंदोलन तथा नवजागरण जैसी किसी शक्तिशाली चीज के लिए। किंतु विडंबना है कि शासन जिस तरह जनतंत्र का इस्तेमाल जनतंत्र के विरुद्ध, राष्ट्रीय एकता का इस्तेमाल राष्ट्रीय एकता के विरुद्ध, विकास का इस्तेमाल क्रांति के विरुद्ध कर रहा है उसी तरह लोकसंस्कृति का इस्तेमाल भी लोक संस्कृति के विरुद्ध किये जा रहा है। हम पर ही उठे हैं हमारे हथियार! ऐसी विडम्बना पहले नहीं थी, पूँजीवादी उत्पादन सचमुच पहले कला, कविता और संस्कृति का शत्रु था। अभी वह शत्रु है भी तो बहुत छिपा, भीतर से। नयी परिस्थिति में भक्ति आंदोलन, नवजागरण या राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के स्तर का माहौल तैयार करना एक बहुत बड़ी चुनौती है। अब पहले से अधिक उच्चतर मूल्यबोध, वैज्ञानिक सोच तथा सच्चे आचरण की जरूरत है—पहले से अधिक आत्मबलिदान की जरूरत है।

O

सांस्कृतिक सम्बद्धता का निकष जनजातीय भाषा



दिनेश्वर प्रसाद

मानव वैज्ञानिकों का एक समुदाय भारत की जनजातीय और ग़ैर-जनजातीय संस्कृतियों के बिलगाव और असम्बद्धता पर इतना अधिक बल देता रहा है कि आज हम उनको एकदम भिन्न मानने लगे हैं। लेकिन ऐतिहासिक सन्दर्भ में विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये उतनी भिन्न और असम्बद्ध नहीं हैं, जितनी समझी या समझायी जाती है। बहुत सी जनजातियाँ हिन्दू समाज की जातियों में बदल गयी हैं और उनकी बहुत सारी सांस्कृतिक विशेषताएं उसकी सामान्य संस्कृति के अभिलक्षण बन गयी हैं। जहाँ उनका रूपान्तरण जातियों में नहीं हुआ है, वहाँ भी ग़ैर-जनजातीय समुदायों से उनका सम्पर्क बना रहा है। यह जरूरी नहीं कि जो जनजातियाँ आज ग़ैर-जनजातियों के साथ या समीप न रह कर उनसे दूर और अलग रह रही हैं, वे अतीत में उनके साथ और निकट नहीं रहती थीं। यदि उपलब्ध साक्ष्यों के अनुसार वे बहुत से भारतीय प्रदेशों में शताब्दियों से लगभग एक परिमित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करती रही हैं, तो भारत के एक सीमान्त से दूसरे सीमान्त तक उनका आव्रजन भी हुआ है। प्रत्येक स्थिति में, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक बाध्यताओं के कारण, वे ग़ैर जनजातीय समुदायों के सम्पर्क में आती रही हैं। यही नहीं, उनका एक उल्लेख्य भाग ग़ैर-जनजातीय लोगों के साथ गाँवों में एकत्र निवास करता रहा है। इतिहास के विभिन्न कालों में आपसी सम्पर्क से लेकर सन्निकटता और रक्तमिश्रण जैसी स्थितियों के कारण उन्होंने भारतीय संस्कृति के नाम से जानी जाने वाली संस्कृति का निर्माण और विकास किया है।

इसलिए भारतीय सन्दर्भ में जनजातीय और ग़ैर-जनजातीय संस्कृतियों के बिलगाव से कहीं अधिक बड़ा सत्य उनकी सन्निकटता और सम्बद्धता है। इस बात की चेतना जिन भारतीय या यूरोपीय मानव वैज्ञानिकों में रही है, वे एक-जैसे सामाजिक आचारों, प्रथाओं, संस्थाओं और विश्वासों को इस बात की समझ के विचार से मानवमितीय निकषों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण मानते रहे हैं। वस्तुतः इस दृष्टि से विचार करने पर उनकी सम्बद्धता विश्वास्य रूप से स्पष्ट होती है। इस प्रसंग में मेरा प्रस्ताव यह है कि इसकी जाँच के एक आधार के रूप में भाषा का भी उपयोग होना चाहिए। यह सच है कि आज ज्ञान की एक नयी शाखा के रूप में सांस्कृतिक भाषा विज्ञान का विकास हो चुका है और यह भी कि हमारे मानव वैज्ञानिकों ने किसी सीमा तक भारतीय

या समीपता रखने वाले अथ म उनके प्रयोग मुण्डारी-हो में प्राप्त हो जाते हैं। इसका एक उदाहरण मुण्डारी 'अओसर' है जिसका प्रयोग 'खाली स्थान' के अथ में होता है। यह श द सस्कृत 'अवसर' का परिवर्तित रूप है (सस्कृत व>मुण्डारी ओ, ओम)। 'अवसर' का एक अथ 'उपयुक्त या अनुकूल स्थान' है। (दे० मोनियर विलियम्स का संस्कृत-अगरेजी कोष, पृ० १०५, १८६६ ई०) उल्लेख है कि हिन्दी, बगला आदि आधुनिक आयभाषाओं मे इसका स्थानवाची अर्थ नही मिलता।

यही बात कुडुख के विषय मे भी सच है। इसम भी मुण्डारी-हो की तरह सस्कृत शब्दो की एक बडी सख्या प्राप्त होती है। इसमे अनेक संस्कृत शब्द अविकल रूप मे प्रयुक्त होते हैं, जैसे—आगम, छल, दया, भोज, भेद, मागी, मण्डप मोह आदि। स्वभावत इसमे भी सस्कृत के अधिकतम शब्दो के रूप इसकी ध्वनियो के अनुसार उसी तरह बदल गये हैं जिस तरह मुण्डारी और हो मे। इसमे भी सस्कृत मूल मे सरलता से पहचाने जाने योग्य ऐस कई शब्द मिलते हैं जिनका अस्तित्व निश्चय ही बहुत प्राचीन है और इसमे मध्य भारतीय आर्यभाषा काल मे, प्राकृत-अपभ्रश के माध्यम से, गृहीत हुए हैं। इनके कुछ उदाहरण हैं पजे (स० पच) पइल (स० प्रत्येक), पूप (स० पुष्प) पुडरो पूप (स० पुण्डरीक पुष्प), पटन (स० पठन), परधियस (स० पारधी), उज्जल (सं० उज्जीवित), एरंडो (स० एरण्ड), चिगालो (स० शृगाल), निपुर (स० नूपुर), चण्डेल (स० चण्ड)। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि इन शब्दों का प्रयोग आर्य परिवार की मगही, नागपुरी आदि भाषाओं म, जिन्हे बोलने वालो के बीच उराँव रहते हैं नही होता है। यह भी उल्लेख्य है कि कुडुख में इन शब्दों का प्रयोग उन्ही अर्थों म होता है, जिनमे सस्कृत या प्राकृत अपभ्रश मे।

इन भाषाओ से सस्कृत का सम्बन्ध इकतरफा नहीं है। सस्कृत ने सुदूर अतीत म ही नहीं, बल्कि बाद मे भी समय समय पर इनसे श द ग्रहण किये हैं। इसलिए संस्कृत के अनेक परवर्ती शब्दों का रहस्य इनके आधार पर ही स्पष्ट होता है। इस प्रसग में बाणभट्ट की कादम्बरी म प्रयुक्त 'शालूक का उल्लेख किया जा सकता है, जैसे—वराहदंष्ट्राउरालसग्नशालूकम्। यहाँ 'शालूक का अथ कमल है। मुण्डारी में भी कमल को 'सालूक' कहते हैं। इसमे इसके अ य रूप भी हैं सालुक, सालूकिङ, सालुकिन, सालुकबा सालुक बाहा आदि।

मुण्डारी, हो और कुडुख मे सबसे अधिक सख्या उन शब्दो की है, जिन्हें हम आधुनिक आयभाषाओं म तद्भव के नाम से जानते हैं। यदि इन भाषाओं के शब्दकोषों की परीक्षा की जाये, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि इनमे तद्भव शब्दों की सख्या कम से कम पचास प्रतिशत है। इसका सबसे प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि इन्हें बोलने वाले जनजातीय समुदाय कहीं तो नागपुरी (राँची और पलामू की सम्पर्क भाषा) मगही, भोजपुरी, कुरमाली पचपरगनिया, खोरठा, देहुबरी बगला, उड़िया और छत्तीसगढ़ी-जैसी आर्य भाषाएँ बोलने वाल समुदायों के साथ रहते हैं और कहीं इनके पास। छोटा नागपुर में स्वयं कुडुख और मुण्डारी भाषियों का एक भाग या तो केवल नागपुरी बोलता

है या केवल हिन्दी । शिक्षा के प्रसार और औद्योगीकरण से उत्पन्न आवासीय परिवर्तन के कारण इन भाषाओं मे हिन्दी आदि आय भाषाओं के शब्दों की सख्या बढ़ती जा रही है । यदि इनमे प्रविष्ट एकदम नये शब्दों की बात छोड़ भी दी जाये, तब भी इस सत्य मे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि इनमे तद्भव शब्दों का प्रतिशत बहुत ऊँचा है और यह प्रतिशत इन्हें सीधे-सीधे ग़ैर-जनजातीय समुदायों के सन्निकट लाता है । छोटा नागपुर में ऐसे शब्दों के प्रधान स्रोत नागपुरी, मगही और कुरमाली हैं, कि तु बहुत से निश्चय ही बगला और उडिया से गृहीत हुए हैं, जैसे—कोसटो (कष्ट), बुई (बही), गोहोम (गेहूँ), पुकुर (पोखर), सोबोदो (श˚˚) आदि । अन्य सभी तद्भव शब्दों के रूप, जो नागपुरी, मगही और कुरमाली स्रोतों से आये हैं हिन्दी के बहुत समीप हैं और बहुत से उदाहरणों म उससे एकदम अभिन्न हैं, जैसे—अववक, अकुसी, अटकर, अजस, आंच, कछुआ, मत्या, कल, कोठा चरखा, चौराहा, कउडी, कुलहू, चुनउटि, देहर, बदसाख, बलपोस । लकिन, मुण्डारी हो और कुडुख मे ऐसे तद्भव शब्दों की सख्या बहुत विस्तृत है, जो इनकी विशिष्ट ध्वनि-व्यवस्था की उपज हैं, जैसे—रगा (नागपुरी हिन्दी रग) सिकुअर (नागपुरी सिकहर) दुलड (नागपुरी हिन्दी दुलार), गाटि (नागपुरी-हिन्दी घाटी) आदि ।

मुण्डारी, हो और कुडुख मे जितनी सख्या सस्कृत शब्दों की है, प्राय उतनी ही अरबी-फ़ारसी शब्दों की ।

इन भाषाओं पर अरबी-फारसी का प्रत्यक्ष प्रभाव शेरशाह (१५४०-१५४५) के समय प्रारम्भ होता है, लकिन इससे पहले भी मगही, भोजपुरी, बँगला आदि के सम्पर्क से इनम कुछ अरबी-फारसी शब्दों का प्रवेश हुआ होगा । शेरशाह के समय से होने वाले मुस्लिम आव्रजन और इस्लाम के प्रचार-प्रसार से इनमे ऐसे शब्दो की सख्या बढने लगी । मुगल काल से लेकर हाल के वर्षों तक विधि और याय व्यवस्था की शब्दावली अरबी-फारसी प्रधान रही है । इसलिए पुलिस-कचहरी और सरकारी अमलों के सम्पर्क मे बार बार आते रहने के कारण यहाँ की जनजातियाँ इस शब्दावली से इस तरह परिचित होती गयीं कि आज यह उनके व्यवहार का अग बन गयी है । मुण्डारी, हो और कुडुख मे भी हकिम (हाकिम), मुदइ (मुद्दई), रजिनामा (राज़ीनामा,) कसुर (कुसूर), इजार (इज़हार) जिरा (जरह) जरिब (जरीब) आदि शब्द इनके अन्य शब्दो की तरह ही प्रयुक्त होते हैं । फ़ादर हॉफमैन ने अपने प्रसिद्ध मुण्डारी विश्वकोष (एनसाइक्लोपीडिया मुण्डारिका) के खण्ड १४ मे अरबी तहसील से विकसित मुण्डारी 'तसिल से बनने वाले शब्दों की जो विस्तृत सूची प्रस्तुत की है, उससे यह पता चलता है कि यहाँ की जनजातीय भाषाओं मे अरबी फ़ारसी शब्दों की भूमिका कितनी रचनात्मक और महत्त्वपूर्ण है ।

मुण्डारी, हो और कुडुख मे यूरोपीय मूल के शब्दो की सख्या अब भी बहुत परिमित है । इन भाषाओं मे ऐसे शब्दों के प्रवेश की प्रक्रिया १७६५ ई० में बक्सर की लड़ाई मे अगरेजो की विजय के बाद प्रारम्भ होती है, जब छोटा नागपुर पर कम्पनी-शासन की स्थापना हुई और यह क्षेत्र ईसाई मिशनरियों के आकर्षण का केन्द्र बन गया ।

ईसाई मिशनरियों से धर्मप्रचार, अंगरेजी शिक्षाप्राप्त ग़ैर-जनजातियों के सम्पर्क और बाद में स्वयं अपने बीच अंगरेजी शिक्षा के प्रसार के कारण मुण्डा, उराँव आदि जनजातियों की भाषाओं में यूरोपीय शब्दों का समावेश होने लगा। इन भाषाओं में गृहीत यूरोपीय शब्दों के रूप वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा यह निर्देश सम्भव है कि इनमें से कौन नागपुरी के माध्यम से आये हैं, कौन बंगला और उड़िया के माध्यम से और कौन इनकी ध्वनि-व्यवस्था से अनुशासित होकर स्वतंत्र रूप से विकसित हुए हैं। यह बात भी वृहत्तर भारतीय समाज से इनके सान्निध्य का साक्ष्य बन जाती है।

इस निबन्ध में मुण्डारी, हो और कुड़ुख को आधार बना कर जो कुछ कहा गया है, उसकी व्याप्ति केवल इन भाषाओं तक नहीं है। यदि भारत की अन्य जनजातीय भाषाओं के प्रसंग में इसी प्रकार का कार्य किया जाये तो ग़ैर-जनजातीय समुदायों के अनवरत सम्पर्क और दोनों की सम्बद्धता तथा एकता के अकाट्य प्रमाण मिलेंगे। मैं समझता हूँ कि आज जब कि बहुत सी विदेशी शक्तियाँ कई प्रकार के विज्ञानों के नाम पर नये-नये वैदुषिक अस्त्र गढ़ कर हमारी सांस्कृतिक एकता को तोड़ने के प्रयास में लगी हैं, हमें जनजातीय भाषाओं के इस पहलू पर गम्भीरता से ध्यान देना चाहिए। इससे हमें अपने इतिहास के समन्वयमूलक स्वभाव के उद्घाटन में भारी सहायता मिलेगी।

[उदय बाबू सेन,
राँची ८३४००१ (बिहार)]



लोकसस्कृति मानवीय मूल्यो के शिव का सदेश

□

त्रिभुवन सिंह

भौतिक जगत् किसी वैज्ञानिक सिद्धात का प्रतिफल हो या किसी ब्रह्मा, अल्लाह या गाड का आत्मविस्तार परन्तु इतना तो निश्चित ही है कि सृष्टि का आदि प्रस्फुटन सर्वत्र सत्यम्, शिवम् सुन्दरम् का ही प्रतिबिम्ब रहा होगा। देश, काल एव परिस्थितियो ने उसे कोई भी स्वरूप प्रदान किया हो परन्तु मूल कलेवर न केवल दोषमुक्त वरन मगलमय एव शाश्वत है। यही कारण है कि आपाधापी के इस युग म भी भौतिकता, द्वेष, कलह, स्पर्धा आदि के मोटे आवरण के बीच भी वह मधुर स्पदन महानतम सात्विक विचारको स लेकर क्रूर हत्यारो तक के अन्त करण मे स्पदित होता रहता है। मुक्त मन का सरल कम्पन, सुख दुख, प्रेम निर्वेद, ईर्ष्या द्वेष आदि मूल प्रवृत्तियो स तरगायित होकर स्वय को जिस विधा मे यक्त करता है उसे लोककला कहते हैं। यह प्रवृत्ति देश, जाति, धम काल के ब धनो से मुक्त होती है इसीलिए इसके साथ लोक जैसा सर्वशक्तिमान प्रत्यय जुड गया है। मूल प्रवृत्ति को विकास की वैज्ञानिक विचारधारा से जोडा जाय तो उसमे जैविक उत्पत्ति के प्रथम सोपान से मानव की समृद्ध सास्कृतिक विरासत तक की न केवल मूल वरन व्युत्पन्न प्रवृतियों का भी समावेश हुआ है। दशन के धरातल पर अद्वैत का द्वैतीकरण (एको अहम् बहु स्याम) हो या एकेश्वर की मिट्टी के बुतों मे श्वास फूँकना हो, सबम ऊर्जा के अनन्त स्रोत का ही एक अश या अश न सही तो उसकी इच्छा का प्रकाशन ही यह सृष्टि है। अत जीव के स्वाभाविक क्रिया-कलाप या लोककलाओ म उसी ऊर्जा का या कम से कम उसके ही एक स्वरूप का प्रतिबिंब होना आवश्यक है। मुझे लगता है कि मादा गीत के साथ झूमते बाल-वृद्ध उसी मूल आवृत्ति से जुड जाते हैं। उन पर किसी प्रकार की कृत्रिमता का आरोप नही किया जा सकता। डार्विन का विकासवाद आज प्रत्यग विम् प्रमाणम् बन चुका है। बुद्धिजीवी विज्ञान तथा दशन की कसौटी पर कसते हुए इसे भौतिक जगत् के ध्वनि विज्ञान की विशिष्ट घटना अनुनाद द्वारा व्यक्त कर सकते हैं, जो आध्यात्मिक जगत् का महानाद है। लोकनृत्य तथा लोकनाट्य के पात्र सर पर सींग बाधे, कमर पर मोरपख या अन्य जानवरों के मुखौटे मुँह पर लगाये, अपनी वश परम्परा का जाने-अनजाने परिचय देते हैं। यही हमारा मौलिक स्वरूप है।

प्रश्न यह उठता है कि जिस स्वाभाविक या अमूत कपन को मूर्त रूप देने के लिए कृत्रिम सामाजिक परिवश म लिपटी आत्मा व्याकुल रहती है, उसने इन सामाजिक

बधनों मे स्वयं को क्यों उलझाया ? यदि दवासी नृत्य गीतों से प्रारम्भ कर राक एड रोल, पाप-साग या डिस्को तक उसी माहू-माहू की विवृत आवृत्ति है, तो सामान्य जीवन मे हम उससे परहेज क्यों करते हैं ? लगभग २५ हजार वर्ष से लेकर ५ हजार वर्ष तक की इस मानवीय यात्रा के अनेक रूप क्यों हैं ? ऐसा लगता है कि प्राकृतिक स्वच्छन्दता के परिवर्तन की आवश्यकता इसलिए हुई कि मनुष्य अपनी विकास यात्रा का एक तारतम्य स्थापित करना चाहता था। उस स्नेहिल ही सही पर मुक्ति का मार्ग बंधन से जुड़ा मिला। यही कारण है कि नीति रीति परम्परायें सभी बदलीं और इनसे जुड़े सुख-दुःख के रेचन का स्वरूप भी परिवर्तित होता गया। भौगोलिक परिस्थितियो या प्राकृतिक साधनों की उपलब्धता के आधार पर विश्व के अलग अलग भागों में परिवर्तन की दर तथा उपक्रम दोनों अपनी गति से अग्रसर होते रहे। ये सारे बदलाव या परिवर्तन लोक-जीवन पर जो अलौकिक प्रभाव अंकित करते रहे उनकी एक अलिखित आचार-संहिता सामाजिक जीवन मे उतर गई, जो संस्कृति कहलाई। यह सार्वभौमिक सभ्यता का अंग बनकर भी सूर्य के श्वेत प्रकाश में छिपे सात रंगों की तरह किसी विशेष भू भाग को न केवल अमूल्य संपत्ति वरन सुखद अनुभूति भी होती है। इसका प्रभाव सर्वत्र होने के बाद भी सही प्रतिनिधित्व लोककलाओं के माध्यम से ही होता है। इसीलिए लोककलायें हमारी संस्कृति की सर्वोत्तम दर्पण कहलाती हैं। किसी अन्तर्राष्ट्रीय समारोह मे जब हमे विश्व के अधिकांश उन्नत भू भागों की लोककलाओं को देखने का अवसर मिलता है तो ध्यान से देखने पर यही स्पष्ट होता है कि सर्वत्र एक ही तत्व प्रधान है। स्वतंत्र नृत्य से या किसी कहानी से गुंथे संपूर्ण दृश्य विशुद्ध प्रेम, क्रोध करुणा, निर्वेद आदि भावों का प्रदर्शन करते हैं। सभी देशों के लोकनर्तक गायक या कलाकार प्रायः जानवरों के मुखौटों का उपयोग करते हैं। इससे दो बातें सामने आती हैं प्रथम तो अपने से निम्न श्रेणी के जंतुओं से हमारा सम्बन्ध। दूसरा संपूर्ण विश्व में एक आश्चर्यजनक साम्य।

अधिकांश देशों को परम्परायें प्रायः इतनी प्राचीन अवश्य हैं, कि आवागमन के साधनों की कमी के कारण वे एक दूसरे की नकल नहीं कही जा सकतीं। अतः मनोरंजन की विधा का विकास स्वतंत्र रूप से प्रत्येक देश में हुआ होगा। साम्य के कारणों के लिए भी तो तर्क दिये जा सकते हैं प्रथम तो एक ही जगह मानव के विकास का श्रीगणेश हुआ होगा, और वहीं से मनुष्य अपनी रोजी रोटी की तलाश में सारे विश्व में फैल गया। अतः वह उस सार्वजनिक आदि संस्कृति से भी चिपका रहा जिसे पैत्रिक परम्परा कह सकते हैं। यह तर्क इसलिए त्रुटिपूर्ण लगता है, कि घने जंगल दुर्लंघ्य पर्वत श्रृंखलाओं अगम महासागरों जैसी यात्रा साधन विहीन आदि मानव के लिए संभव नहीं लगती। अतः दूसरा तर्क यह है कि मानव उत्पत्ति अलग-अलग जगहों मे स्वतंत्र रूप से हुई होगी। लोककलाओं मे आश्चर्यजनक एकता का कारण हमारी उत्पत्ति के कारकों में ही समानता है। इसे विकासवाद के आधार पर मानें या किसी दर्शन का सहारा लें, पर यह तो स्वीकार करना ही होगा कि उद्गम का स्रोत समान है। जो कुछ बाहरी अन्तर दिखाई देता है, उसे भौगोलिक कारणों से उत्पन्न भिन्नता मान सकते हैं।

भारत एक देश ही नहीं प्रायद्वीप भी है, समय के साथ संकुचित विभाजन की प्रक्रिया से गुजरते हुए इस प्रायद्वीप का जैसा भी सीमांकन किया जाय, परंतु प्रारंभ में अफगानिस्तान से लेकर इंडोनेशिया तथा मलाया तक का संपूर्ण भू-भाग इसके अन्तर्गत रहा है। तिब्बत तथा दक्षिणी चीन का अधिकांश भाग भी इसी के प्रभाव में आता था। यह किसी देश के महत्व को कम करने या विस्तारवाद की किसी योजना के अंतर्गत नहीं कहा जा रहा है, वरन् सभ्यता एवं संस्कृति की एक इकाई का रेखांकन मात्र है। इस संपूर्ण भू-भाग के लोकगीतों या नृत्यों के सूक्ष्म अवलोकन से यही निष्कर्ष निकलता है, कि ये प्यार की कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति हैं। शौर्य का जहाँ अपना विशिष्ट स्थान है, वहीं वैराग्य की भी अविरल धारा प्रवाहित होती रहती है। जहाँ तक लोकनाट्यों का प्रश्न है, अधिकांश रामायण एवं महाभारत के ही चारों ओर घूमते हैं। स्थानीय विभूतियों का समागम अवश्य है, परन्तु वे सत्यवादी हरिश्चन्द्र, ध्रुव, प्रह्लाद, कर्ण, राम, कृष्ण, सीता, राधा, द्रौपदी शकुंतला, दुष्यंत, नल, दमयंती, बुद्ध, महावीर आदि नामों के साथ विभिन्न भूमिकाओं में चित्रित हैं। आधुनिक भारत को ही लें, तो विभिन्न राज्यों एवं केन्द्र शासित प्रदेशों में शायद ही कोई ऐसा हो जहाँ एक दर्जन विभिन्न प्रकार की स्थानीय बोलियाँ न हों, प्रत्येक बोली में उसका लोकगीत, नृत्य एवं नाट्य अनिवार्य रूप से पाया जाता है। इस प्रकार संपूर्ण देश की सैकड़ों बोलियों में लोककलाओं का विपुल भंडार संग्रहीत है। लोकगीत भाषा तथा भावों में सम्पन्न होने के साथ ही साथ बहुआयामी हैं। अकेले ब्याह गीतों में संध्यागीत, प्रातःकाल का गीत, हल्दी गीत, देवीपूजन गीत, बारात आगमन गीत, सिंदूरदान गीत, कलेवा गीत, बिदाई गीत, समधी मिलन गीत आदि सत्रह प्रकार के गीतों का सम्मिलन है। इनका क्रम इतना सहज एवं स्वाभाविक है कि सुनने वाले के समक्ष एक निरंतरता अंकित हो जाती है। अलग-अलग जातियों के गीत जैसे धोबिया, कहरवा, नइआ झाकर, बिरहा, आदि उन जातियों के कठिन कार्यों के बीच हास्यविनोद की धारा प्रवाहित करते हैं। ऋतु या माह के अनुसार गीतों का भी अपना विशिष्ट महत्व है। फाग, चैता, बैसाखी, कजली, सभी काल क्रम के अनूठे नग हैं। इसके अतिरिक्त आल्हा और महाभारत जहां ढोल की थाप पर अपने अपने ढंग से कन्याकुमारी से काश्मीर तक रोंगटे खड़े करते, नसों में गर्म लहू का संचार करते हैं, वहीं गेरुआ वस्त्र पहने वय किशोर के योगी सारंगी की शांति ध्वनि पर संसार की नश्वरता का अहसास कराते राजा भर्तृहरी (भरथरी) की कहानी सुनाते रहते हैं। श्रम के सुगंध पसीने से तर बतर रहते हुए भी लटका, झटका, उटा, या ददरिया तथा हुँकारी के चुभते, गुद-गुदाते स्वरों में जहां श्रम परिहार करते हैं, वहीं महाभारत पण्डवानी या भोलू बोमलाटा जैसे लोकगीत गूढ़ दर्शन का रहस्य जनसाधारण तक पहुँचाने का कार्य कर रहे हैं। फसल बोने, निराई करने, काटने आदि के अपने-अपने गीत हैं। मायके से ससुराल जाती हुई ग्रामीण बाला अपने परिवारजनों से लिपटकर रोती है। इस रोने में वह जिस करुण श्रृंगार की धारा प्रवाहित करती है, वह न केवल हृदय-विदारक होता है वरन् साहित्य का अनमोल रत्न भी है। पूर्वी उत्तर प्रदेश (भोजपुरी) की ऐसे ही लोके की एक पंक्ति

निम्न प्रकार है 'जोगिया की नाई फेरा दिहा हो बिरनवा' (ये भाई, मैं तो जा रही हूँ, लेकिन तुम मेरी ससुराल मे उसी प्रकार बार-बार आते रहना जिस प्रकार भिक्षा मांगने वाला योगी नियमित रूप से गलियों का चक्कर लगाता है।) यदि भिक्षा मागने वाले योगी को कोई बहुत सा धन देकर भिक्षावृत्ति से विमुख करना चाहे तो यह सभव नहीं है। क्योंकि भिक्षा के बहाने घर घर जाकर अलौकिक का सदेश पहुँचाना ही योगी का काम है। अत यह एक आजीवन चलने वाला व्रत है। अपने भाई से भी बहन आजीवन उसकी खोज खबर लेने के कर्त्तव्य का पालन कराना चाहती है। ऐसी दुलभ पंक्तियाँ किसी भी काव्य की धरोहर बन सकती हैं। इस धनी देश मे निर्धन रहते है, यह युक्ति विदेशी से ज्यादा स्वदेशी लगती है। क्योंकि अधिकाश लोकगीत वियोग श्रृगार के हैं। और इसका कारण जीविका की खोज मे पति का परदेश जाना है। 'बारा बरसा खटन गया सा' या सइया मोर गईलें पूर्वे बनिजियाँ जैसी पजाबी या बिहारी लोकगीत सभी जगह भरे पडे है। लोकनृत्य एव लोकनाट्यो की भी आत्मा ऐसी ही निमल तथा समृद्ध है। भाड नौटकी, नाच, तमाशा, बुर्रा कथा, भागडा, रासलीला आदि अलग-अलग भागो मे प्रचलित लोकनृत्य तथा लोकनाट्य हैं जिन्हे गीत या नृत्य नटिका कहना उचित होगा। ये प्राचीन मा यता तथा सस्कृति को प्रतिबिम्बित करते हैं।

देश विदेश के अनेक साहित्य सस्कृति-समज्ञो की यह धारणा है कि भारत में पूर्व ऐतिहासिक काल से ही राजाओ की शासन परम्परा के कारण यहाँ का सामा य जन-जीवन दलित परम्परावादी तथा चाटुकार रहा होगा। उसमे विकास या प्रगति के बीज अकुरित नही हो पाये होगे। परन्तु यहाँ की लोककलाओ के अवलोकन से यह धारणा भ्रामक प्रतीत होती है। यहा की राजशाही आदश प्रजातत्र का कितना सशोधित सस्करण थी इसका अनुमान प्रचलित लोककथाओ से लगाया जा सकता है। दादी-नानी की कहानियो से लेकर लोकगीतों या लोकनाट्यो तक की कहानियों म तीन चौथाई 'एक था राजा से प्रारभ होती है। अधिकाश मे राजा क उदार चरित्र का वणन होता है। वह छद्म वेश मे स्वय लोगो के सुख-दुख का पता लगाने के लिए तपती धूप, मूसलाधार वृष्टि तथा ठिठुरती काली अधेरी रातो म जन सामा य के बीच जाता है उनके दुखो को दूर करता है। स्वय कष्ट सहता है, त्याग के जीवन का निर्वाह करता है। कभी-कभी किसी आततायी राज्य की कहानियाँ आती भी हैं तो अन्ततः उनका पतन ही मिलता है। 'सत्यमेव जयते' ही इस लोकसस्कृति की आत्मा है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम जैसा लोकनायक जिसे हम सर्वथा दोषमुक्त मानकर ईश्वर का अवतार कहते हैं जो अपराजेय माने जाने वाले बुराई के प्रतीक रावण स लोगो को मुक्ति दिला सकने म समर्थ थे वे एक धोबी क कहने पर महारानी सीता का निष्कासन कर देते हैं। परन्तु सीता अग्निपरीक्षा म अपने को निर्दोष सिद्ध करती हैं यह सब लोककथाओं के माध्यम से घर घर म पलती, पनपती हमारी लोकसस्कृति है। लैला मजनू हीररांझा सोहनी महिवाल, फूलवा मनवा, ढोलामारू हाडारानी, जैसी सैकडों लोककथायें इस देश के प्रत्येक अंचल म चल रही हैं। सबका चरित्र जाति, धर्म, धनी, निर्धन आदि घरौंदों से बहुत ऊपर है। इसे वर्ग विहं

समाज को उस आदर्श कोटि में रखा जा सकता है, जहाँ संघर्ष, स्वतः समाप्त हो जाता है। इनके पात्र भिन्न भिन्न वर्गों के हैं, पर उन्हें समाज का मुक्त समर्थन प्राप्त है और विजय भी उन्हीं की होती है।

लोकजीवन का यह शिवत्व स्वरूप ही युगों से विश्व के लिए अपरिहार्य रहा है। इसीलिए बीते हुए कल की अपेक्षा आने वाले कल में इसकी आवश्यकता अधिक हो गई है। इससे भौतिकता, आतंकवाद, साम्प्रदायिकता तथा विभिन्न सामाजिक विकृतियों और विषमताओं की धार अवश्य कम होती है। मानवीय मूल्यों के शिवं का संदेश सर्वत्र बिखरे यही भौतिकवादी युग की आवश्यकता है।



लोकसस्कृति   शुद्धता और मिलावट

□

माधुरी सिंह

लोकसंस्कृति के प्रति कई बार तथाकथित एलीट और बुद्धिजीवियों का दृष्टिकोण असंतुलित और अवैज्ञानिक होता है। अक्सर इसमें भावुकता भी शामिल होती है जिसके कारण लोकसंस्कृति की उसी तरह रूढ़िवादी और रूपवादी व्याख्या होने लगती है जैसी तथाकथित कुलीन संस्कृति और शास्त्रीय दृष्टि की होती है। ऐसी व्याख्या में मनुष्य-समाज के वैज्ञानिक और आर्थिक विकास की भिन्न दशाओं की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व की सामाजिक स्थितियों और आज की स्थितियों के बीच के विकास क्रम और उस विकास के जीवन के विभिन्न पहलुओं पर पड़ने वाले प्रभावों को दृष्टिपथ से ओझल रखकर यदि लोककला, लोकसंगीत, लोकसाहित्य पर बात की जाय तो यह रूपवाद की ओर कदम होगा, जहाँ शिल्पगत विशिष्टताओं को ही हम चर्चा के केन्द्र में रख देते हैं। शास्त्रीय कलाओं की तरह ही उसकी शुद्धता, अशुद्धता के पैमाने और मानक तैयार करने की कोशिश करते हैं और ऐसा करते समय उन्हें अपने आप में पूर्ण और अपने में ही सम्पूर्ण भी मान लेते हैं।

लोकसंस्कृति के प्रति रूमानी दृष्टिकोण या व्यावसायिक दृष्टिकोण ही सामान्यत दिखलाई देता है। रूमानी दृष्टिकोण का सर्वाधिक प्रचलित रूप यह है कि आह भरकर यह कहा जाय कि हमारे समाज के वैज्ञानिक और औद्योगिक विकास के कारण हमारे समाज की लोकसंस्कृति पर संकट आ गया। जगह जगह नल कूप लग गये तो पनघट सूने हो गये। सामंती मूल्यों में रचा-बसा रसिया मन कल्पना करता है कि चूड़ियों की खनक, चुनरियों की बहार और [illegible] हँसी के बीच उभरने वाला हास परिहास

संस्कृति की रक्षा हर कीमत पर होनी चाहिए। यानी जिस तरह आरक्षित वनों में पशुओं की नस्लों को सुरक्षित रखा जाता है, वैसे ही इन लोगों को उनके प्राकृतिक परिवेश मे सम्हाल कर रखा जाय। अर्थात् एक ओर शहरीकरण हो, तमाम सुविधाएँ हों और शहरों से दूर कहीं छोटे-छोटे जंगल हों जहाँ आदमी उस अवस्था मे रहे, जिसमें वह सैकड़ों साल पहले था। उन्हें बीच-बीच में देखना मजेदार होगा और शोधकर्त्ताओं के लिये वे और उनका नाच-गाना अच्छे विषय होंगे। उनकी संस्कृति हमारे राष्ट्रीय त्यौहारों और गोष्ठियों मे भी नारों की सजावट के लिये हमें जरूरी लगती है।

लोकसंस्कृति के सम्बन्ध मे भावुकता भरे इस दृष्टिकोण के शिकार अक्सर हो हमारे समाज के वे बुद्धिजीवी होते हैं, जो कला और संस्कृति मे रुचि तो रखते हैं किन्तु जो समाज के विकास के सहज नियमों को दृष्टिपथ से ओझल रखकर संस्कृति के संबंध में विचार करते हैं। यह नजरिया उन आदर्शवादी विचारकों की तरह है जो 'बैक टू नेचर' का नारा लगाते हैं और इस वायवीय स्वप्न में जीते हैं कि आधुनिकीकरण मनुष्य की सहजता, मानवीयता को निगल रहा है। अक्सर ही वे शहर और शहरीकरण को खतरनाक दुर्गुणों की खान कहते हैं और गाँव और ग्रामीण-जीवन को मानवता का केन्द्र मानते हैं। इनमे ऐसे भी बुद्धिजीवी हैं जो लोड शेडिंग से परेशान होकर उसकी आलोचना करते हैं और उन शहरों मे जाने को समय की बर्बादी समझते हैं जहाँ हवाई अड्डा नहीं है। अपने लिये वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति से युक्त समाज की इच्छा मे जीने वाले बुद्धिजीवी, शोधार्थी जब लोकसंस्कृति की चिन्ता इस मुद्रा में करते हैं तो इसका कारण यह होता है कि मनुष्य के सांस्कृतिक कर्म को वे आसपास की सामाजिक-आर्थिक स्थितियों से काट कर देखते हैं और उसे अपने आप मे साध्य मान कर उसकी रक्षा और शुद्धता के लिये चिन्तित होते हैं। एक ही देश में जीने और सोचने के भिन्न स्तरों को बनाये रहने की इच्छा को कला और संस्कृति प्रेम कहना केवल अपने आपको वरन् सम्पूर्ण समाज को धोखा देना है।

आदिम अवस्था के निकट रहने वाले आदिवासी समाजों और दूरस्थ ग्रामीण अंचलों के समाजों की जीवन-पद्धतियों का अपना पैटर्न बन जाता है। उसमे अपनी तरह के कामकाज, नृत्य, संगीत विकसित होते हैं। इन सीमाओं के बीच अपने आप में पूर्ण जैसे लगने वाले समाजों की जीवन स्थितियों को ही उनकी संस्कृति मान लेना गलत है। जब भी वे जीवन की दिशाओं का विकास करते हैं, दूसरे के सम्पर्क मे आते हैं, उनकी न केवल दिनचर्या बदलती है बल्कि जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण भी बदलता है। अपने नृत्य-संगीत के लय-ताल के अतिरिक्त कुछ अन्य की भी जानकारी उन्हें होती है। जिस तरह उनका नृत्य-संगीत, वेशभूषा, शिल्प औरों को लुभाते हैं, उसी तरह वे भी दूसरों के प्रति आकृष्ट होते हैं और सौन्दर्य एवं जीवन के नये आयामों के प्रति उनमे समझ पैदा होती है और उसे वे अपनाते हैं। बस्तर में बैलाडीला प्रोजेक्ट काम करेगा तो उसका प्रभाव अंचल के पूरे जीवन पर पड़ेगा। आधुनिकतम उपकरणों से युक्त कारखाना आसपास के सम्पूर्ण जीवन की बाह्य स्थितियों और मनुष्य के अन्तर्मन को भी बदलता है। एक प्रशिक्ष

लोकसस्कृति   शुद्धता और मिलावट

□

माधुरी सिंह

लोकसस्कृति के प्रति कई बार तथाकथित एलीट और बुद्धिजीवियों का दृष्टिकोण असतुलित और अवैज्ञानिक होता है । अक्सर इसमे भावुकता भी शामिल होती है जिसके कारण लोकसस्कृति की उसी तरह रूढ़िवादी और रूपवादी व्याख्या होने लगती है जैसी तथाकथित कुलीन सस्कृति और शास्त्रीय दृष्टि की होती है । ऐसी व्याख्या में मनुष्य-समाज के वैज्ञानिक और आर्थिक विकास की भिन्न दशाओं की ओर ध्यान नहीं दिया जाता । आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व की सामाजिक स्थितियों और आज की स्थितियों के बीच के विकास क्रम और उस विकास के जीवन के विभिन्न पहलुओं पर पड़ने वाले प्रभावों को दृष्टिपथ से ओझल रखकर यदि लोककला, लोकसंगीत, लोकसाहित्य पर बात की जाय तो यह रूपवाद की ओर कदम होगा, जहां शिल्पगत विशिष्टताओ को ही हम चर्चा के केन्द्र मे रख देते हैं । शास्त्रीय कलाओ की तरह ही उसकी शुद्धता, अशुद्धता के पैमाने और मानक तैयार करने की कोशिश करते हैं और ऐसा करते समय उन्हें अपने आप म पूर्ण और अपने में ही सम्य भी मान लेते हैं ।

लोकसस्कृति के प्रति रूमानी दृष्टिकोण या व्यावसायिक दृष्टिकोण ही सामान्यत दिखलाई देता है । रूमानी दृष्टिकोण का सर्वाधिक प्रचलित रूप यह है कि आह भरकर यह कहा जाय कि हमारे समाज के वैज्ञानिक और औद्योगिक विकास के कारण हमारे समाज की लोकसस्कृति पर सकट आ गया । जगह जगह नल कूप लग गये तो पनघट सूने हो गये । सामंती मूल्यो में रचा बसा रसिया मन कल्पना करता है कि चूड़ियों की खनक, चुनरियों की बहार और खिलखिलाती हंसी के बीच उभरने वाला हास-परिहास समाप्त हो गया । चक्की चलाती वधुओं के गीत खत्म हो गये । और तो और, गांव-गांव मे बिजली लग जाने से शुक्लाभिसारिकाओं और कृष्णाभिसारिकाओ का भी अकाल पड गया है । कितने ही आधुनिक वेशवयस ग्रामीण विकास को लोकसस्कृति के रास्ते में बाधा मानकर दुखी होते हैं । मैंने लोगो को यह कहते सुना है कि शहरीकरण और औद्योगीकरण आदिवासियों और जनजातियो की सस्कृति को नष्ट कर रहे हैं । उनकी सहजता और भोलापन नष्ट हो रहा है । अब आदिवासी युवक पखा पहनकर पगडी म पक्षियों के पंख नही खोंसता बल्कि पतलून पहनता है । औरतों की नंगी छातियों पर पोलखा आ गये हैं । ऐसे लोग बात को यहां तक खींचते हैं कि समाज का यह परम कर्त्तव्य है कि इस लोक

जनक नही है। इसमे एक कलाकार के स्थान पर अन्य कलाकारो का समावेश अधिक नाटकीयता के लिये है। नाचने-गाने की शैली वही है। कुछ नये वाद्य-यन्त्र शामिल किये जा रहे हैं।

ये परिवर्तन के विभिन्न रूप हैं। और भी हो सकते हैं। ये परिवर्तन बदलती हुई जीवन स्थितियों से जुड़े हैं। एक दूसरे किस्म का परिवर्तन भी जारी है, जो चिन्ता का विषय है। लोकसंस्कृति को सामाजिक सदर्भों से काटकर उसे सजावट की वस्तु बनाने के लिये जो परिवर्तन होते हैं, उनसे बचने की आवश्यकता है। पूजीवादी सामाजिक-सरचना लोकसंस्कृति को भी उपभोक्ता वस्तु बना देती है। राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक क्षितिज पर लोक-कलाए कौतूहल और सम्मान पैदा करनेवाली वस्तुए हैं। लोक-कला की विभिन्न शैलिया नामवरी और तरक्की के साधन के रूप मे इस्तेमाल की जाती हैं। कला की लोक-शैलियो की ताकत को पहचानते हुए उनकी सहायता से अपनी कला को ऊर्जा देनेवाले गभीर कलाकार जहाँ हैं—वही इन शैलियों का प्रयोग चौंकाने के लिये और प्रयोग-धर्मिता के लिये करनेवाले कलाकार भी हैं। इनके अन्तर को पहचानने की जरूरत है।

सहज परिवर्तन और कृत्रिम मिलावट मे अतर होता है। ऐसे सयोजक हमारे समाज मे है, जो लोकसंस्कृति के क्षेत्र में काम करते हुए केवल लोक-कलाओ के फार्म का उपयोग करते हैं किन्तु उनके माध्यम से लोक की समस्याओं और सघर्षों को व्यक्त नहीं करते। वे या तो कर्मकाण्डो से जुड़े लोक-कला रूपो को प्रस्तुत कर लोगो को चमत्कृत करते हैं या उन्हें गुदगुदानेवाली मधुर और उत्तेजक रचना में ढाल देते है। लोकधुनो पर मीठी-मीठी रचनाएँ रचकर नाम कमाने की इच्छा रखनेवाले कवियो की पूरी कतार दिखलाई पड़ती है पर उनकी कविताओ म इन कला रूपों का आधार जीवन के सघर्षों, सच्चाइयो और सुख-दुख के साथ नही झलकता। कही का इट, कही का रोडा जोड़कर नृत्य गात युक्त रचना का निर्माण भी खूब प्रचलित है। इन रचनाओं में उसी तरह बाकायदा फार्मूले जोडे जाते हैं जिस तरह व्यावसायिक फिल्मों म जोडे जाते हैं। नाट्य रचना म गीत लोकधुन पर आधारित चल रहा है और मच पर अभिनेता अभिनेत्री फिल्मी स्टाइल मे नाच रहे हैं। उनका पद-सचार और मुद्राएँ कही भी लोकधुन से नही जुडी हैं। वे इसी तरह बैठे बातें कर रहे हैं, उछल-कूद रहे हैं, बाह पकड रहे हैं, जिसे प्रचलित फिल्मों मे हम देखते हैं। अभिनेताओ अभिनेत्रियो के चेहरे पर ऐसे नागर-भाव मौजूद रहते हैं जो उनकी ग्रामीण वेश-भूषा से मेल नही खा रहे हैं। एक ओर लोक-कला के संरक्षक की हैसियत से यह दावा है कि हम अपनी रचनाओ म ठेठ लोक-वाद्यो का प्रयोग करते हैं पर दूसरी ओर भीड को खीचने के लिये फिल्मी अदाज भी शामिल हैं। यह व्यावसायिक दृष्टिकोण बडी महीन और खतरनाक मिलावट करता है। बची-खुची कसर दृष्टिविहीन रचना पूरी कर देती है। अर्थात् रचना का निष्कर्ष जाने-अनजाने म जन विरोधी निकल जाता है। वर्गीय समाज मे रचना अपने समग्र रूप म किसके पक्ष मे जा रही है? इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर या तो सोचा नही या चालाकी से टाल दिया। स्थिति कुछ यूँ बनी कि लोक मे उपजी लोकशैली का प्रयोग लोक के विरुद्ध—उस वर्ग के

और स्क्रीनिंग प्लांट को अच्छी तरह देखने के बाद किसी भी आदमी की चेतना और विचारधारा पर उसका गहरा असर होता है। अतएव यह स्वाभाविक है कि योजनाबद्ध, समूहबद्ध मानवीय शक्ति और उसकी बुद्धि से प्रेरित और चालित मशीनें आदिवासियों को भी वही नहीं रहने देंगी, जैसे वे पहले थे। उनके सोचने का ढंग और जीवन के प्रति उनकी परम्परागत दृष्टि बदल जायेगी। किसी प्रोजेक्ट मे कामगार की हैसियत से काम करने वाले आदिवासियों मे और महुआ बीनकर और शिकार करके रात को घटों नाचने वाले आदिवासियो मे बुनियादी अतर होगा। नई चेतना से बदलते हुए परिवेश म आदिवासी के नृत्य-गीत भी बदलेंगे। अज्ञान से जुडी हुई मासूमियत के स्थान पर जीवन के विविध पहलुओं से युक्त सश्लिष्ट विचारो से युक्त चेहरा उभरेगा। सवाल यह है कि आदिवासी सस्कृति की रक्षा के लिये क्या उसे वैसा ही आदिवासी बने रहने दिया जाय? कुछ विशेष प्रकार के नृत्य सगीत की शुद्धता क लिये विशाल राष्ट्रीय जीवन को बलाडीला या मसाजखण्ड से वचित कर दिया जाय?

जीवन की स्थितियों के अनुसार लोकसस्कृति मे परिवतन तो होंगे ही, शिक्षा और नई चेतना उनके जीवन से कई कमकाडो को लुप्त कर देंगी। उन कमकाडो से जुडे नृत्य, गीत, रेखाकन आदि का प्रचलन कम हो जायेगा। अब सवाल यह है कि क्या इस स्थिति पर अफ्सोस किया जाय? कुछ तथाकथित बुद्धिजीवियों के द्वारा अफ्सोस तो किया ही जा रहा है किन्तु इस प्रश्न का बहुत सरल उत्तर है—नहीं। दूसरा सवाल महत्वपूर्ण है, वह यह कि इस स्थिति म सस्कृति के सक्रमण काल के प्रति कलाप्रेमी और शोधार्थी का कत्तव्य क्या है? निश्चित रूप स सस्कृति के इस दौर म मिटती बातों को सकलित करना उसका काम है ताकि विकास की कडियों के रूप मे वह हमारे पास सुरक्षित रहे। कहीं-कहीं केवल बदलाव होंगे। प्रक्रिया और प्रस्तुतिकरण म समयानुसार परिवतन होंगे। उदाहरण के लिये—छत्तीसगढी नाचा का रूप बदल रहा है। चदैनी की प्रस्तुतिकरण सोलो न रहकर ग्रुप क रूप मे होता जा रहा है। लोककलाकारो की मंडलियां नाचा मे फिल्मी प्रभाव पैदा करने की कोशिश करने लगे हैं। पारपरिक हास्य प्रणाली या मुद्राएँ बदलती जा रही हैं। इस तरह का परिवर्तन चिन्ता का विषय हो सकता है। अपने अत्यन्त यशवन्त कलारूप को खोना सस्कृति के लिये बडा हानिप्रद है। नाचा अपने मूल रूप मे हास्य व्यंग्य के माध्यम से गभीर सामाजिक समस्याओ को भी सामने रखता था। कलाकारों की सामाजिक चेतना कलारूप मे बास ग्राम के जीवन के यथार्थ को व्यक्त कर देती थी। अब कोई व्यक्ति उसे कलारूप म देखता है तो अपने लोकनाट्य के प्रति उसका चिंतित होना स्वाभाविक है पर लोकमंडलियाँ अपनी जरूरतों के अनुसार परिवतन कर रही हैं और उसके दर्शक समूह भी अब बदलती हुई रुचि के हैं, जो उन्हें देख रहे हैं। इस प्रकार एक रूप तो वह है जो लुप्त हो रहा है जिसे रिकार्ड करके रखना जरूरी है ताकि उसकी जानकारी हमारे पास रहे और दूसरा रूप वह है जो प्रचार में है और रहेगा। इस नाट्य-शैली की ताजगी, उसमें मौजूद रचनात्मक शक्ति का भी हमे उपयोग करना चाहिए—अपने थियेटर मे। चंदैनी का परिवतन अभी चिन्ता-

जनक नहीं है। इसमे एक कलाकार के स्थान पर अन्य कलाकारो का समावेश अधिक नाटकीयता के लिये है। नाचन गाने की शैली वही है। कुछ नये वाद्य-यन्त्र शामिल किये जा रहे हैं।

ये परिवर्तन के विभिन्न रूप हैं। और भी हो सकते हैं। ये परिवर्तन बदलती हुई जीवन स्थितियों से जुड़े हैं। एक दूसरे किस्म का परिवर्तन भी जारी है, जो चिन्ता का विषय है। लोकसंस्कृति को सामाजिक सदर्भों से काटकर उस सजावट की वस्तु बनाने के लिये जो परिवर्तन होते हैं, उनसे बचने की आवश्यकता है। पूंजीवादी सामाजिक सरचना लोकसंस्कृति को भी उपभोक्ता वस्तु बना देती है। राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय सास्कृतिक क्षितिज पर लोक-कलाए कौतूहल और सम्मान पैदा करनेवाली वस्तुए हैं। लोक-कला की विभिन्न शैलियां नामवरी और तरक्की के साधन के रूप मे इस्तेमाल की जाती हैं। कला की लोक-शैलियो की ताकत को पहचानते हुए उनकी सहायता से अपनी कला को ऊर्जा देनेवाले गभीर कलाकार जहां हैं—वहीं इन शैलियो का प्रयोग चौंकाने के लिये और प्रयोग-धर्मिता के लिये करनेवाले कलाकार भी हैं। इनके अन्तर को पहचानने की जरूरत है।

सहज परिवर्तन और कृत्रिम मिलावट मे अतर होता है। ऐसे सयोजक हमारे समाज म हैं, जो लोकसंस्कृति के क्षेत्र म काम करते हुए केवल लोक-कलाओ के फार्म का उपयोग करते हैं किन्तु उनके माध्यम से लोक की समस्याओ और सघर्षों को व्यक्त नही करते। वे या तो कर्मकाण्डो स जुडे लोक-कला रूपो को प्रस्तुत कर लोगो को चमत्कृत करते हैं या उन्ह गुदगुदानेवाला मधुर और उत्तेजक रचना म ढाल देते है। लोकधुनो पर मीठी-मीठी रचनाए रचकर नाम कमाने की इच्छा रखनेवाले कवियो की पूरी कतार दिखलाई पडती है पर उनकी कविताओ म इन कला रूपों का आधार जीवन के सघर्षों, सच्चाइयो और सुख दुख के साथ नही झलकता। कही का इट, कही का रोडा जोडकर नृत्य गीत युक्त रचना का निर्माण भी खूब प्रचलित है। इन रचनाओं मे उसी तरह बाकायदा फार्मूले जोडे जाते हैं जिस तरह व्यावसायिक फिल्मो म जोडे जाते हैं। नाट्य रचना मे गीत लोकधुन पर आधारित चल रहा है और मच पर अभिनेता अभिनेत्री फिल्मी स्टाइल मे नाच रहे हैं। उनका पद-सचार और मुद्राएँ कहीं भी लोकधुन से नही जुडी हैं। वे इसी तरह बैठे बातें कर रह हैं उछल-कूद रहे हैं, बाँह पकड रहे हैं, जिसे प्रच-लित फिल्मों मे हम देखते हैं। अभिनेताओ-अभिनेत्रियो के चेहरे पर ऐसे नागर-भाव मौजूद रहते हैं जो उनकी ग्रामीण वेश भूषा से मेल नही खा रहे हैं। एक ओर लोक-कला के संरक्षक की हैसियत से यह दावा है कि हम अपनी रचनाओ म ठेठ लोक-वाद्यो का प्रयोग करते हैं पर दूसरी ओर भीड को खाचने के लिये फिल्मी अदाज भी शामिल हैं। यह व्यावसायिक दृष्टिकोण बडी महीन और खतरनाक मिलावट करता है। बची-खुची कसर दृष्टिविहीन रचना पूरी कर देती है। अर्थात् रचना का निष्कर्ष जाने-अनजाने म जन विरोधी निकल जाता है। वर्गीय समाज म रचना अपने समग्र रूप मे किसके पक्ष म जा रही है? इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर या तो सोचा नही या चालाकी से टाल दिया। स्थिति कुछ यूँ बनी कि लोक म उपजी लोकशैली का प्रयोग लोक के विरुद्ध—उस वर्ग के

हित में कर दिया जो मूलतः जनता का विरोधी है। लोक-संस्कृति की शक्ति और सम्पन्न में विश्वास रखने वालों को आज अधिक सजग होने की जरूरत है। लोककलाओं वर्तमान रूप को भी (भारतीय-संस्कृति के अध्ययन मनन के लिये) सुरक्षित रखना हो और उसके विकसित होते हुए स्वरूप के संदर्भ में तर्कपूर्ण वैज्ञानिक दृष्टि भी अख्तिय करनी होगी।

*

लोकसंस्कृति की अवधारणा और प्रतिगामी हस्तक्षेप



कर्मेन्दु शिशिर

मानव सभ्यता की ऐतिहासिक विकास प्रक्रिया में प्रारम्भिक मंजिल को छोड़कर समाज में शोषक और शोषित वर्गों की स्थिति प्राय स्वीकार कर ली गई है। ज्ञात-अज्ञात स्रोतों के आधार पर उनकी सामाजिक स्थितियों के बारे में भी लगभग तर्कसंगत धारणा निश्चित की जा चुकी है। अगर सामाजिक जीवन से संस्कृति को अविच्छिन्न मान लें तो यह स्वीकार करने में कोई खास हिचक नहीं होनी चाहिए कि प्रारंभिक अवस्था स ही भि न संस्कृतियों के समाज मौजूद रहे हैं। भिन्न गोत्रों, गोत्र-समुदायों, कबीलों के समाज अपनी भौगोलिक और भौतिक परिस्थितियों के अनुरूप सामाजिक जीवन को अभिशप्त रहे। धीरे-धीरे सभ्यता का विकास हुआ, वर्गों का उदय हुआ, सामाजिक अवस्थाओं मे बदलाव आये तो जीवन स्थितियों में भी व्यापक परिवर्तन हुए। ये परिवर्तन बुनियादी रूप से लगभग पूरे विश्व मे निश्चित सारणियों के क्रम मे ही हुए—इसको लेकर मतवाद है। लेकिन, परिवर्तन की यह प्रक्रिया ऐतिहासिक भौतिकवाद की मूलभूत परिकल्पनाओं के अनुरूप ही घटित हुई—इसे थोड़े-बहुत अंतर से वैज्ञानिक इतिहासकार मानने लगे हैं। ये थोड़े-बहुत अंतर भी देशीय परिस्थितियों के अनुरूप भिन्न काल की भिन्न परिस्थितियों के ही कारण आये। इस तरह इतिहास के वैज्ञानिक दृष्टि-सपन्न विचारकों ने सिद्ध कर दिया कि देश, काल की भिन्न परिस्थितियों की भिन्नता से इन बदलावों के कारण पूरी दुनिया मे अनेक संस्कृतियों वाले समाज विकसित हुए। संस्कृति की भिन्नता और विकास उस समाज के संघर्ष और श्रम की ही उपलब्धि है, जो एक लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया में पूरी हुई। भिन्नता वाले इन समाजों को शोषक और शोषित इन दो वर्गों मे विभाजित करने की सुविधा लें, तो मोटे तौर पर इन्हीं दो वर्गों की अपनी भिन्न संस्कृतियाँ विकसित हुई हैं। हम शोषक वर्ग की संस्कृति को 'अभिजात्य' और शोषित वर्ग की संस्कृति को 'लोकसंस्कृति' कहना चाहेंगे। नि संदेह इनकी दोनों कोटियों मे अनेक भिन्नताएं और स्तर मिलेंगे। इन दोनों के बीच के संबंधों का अध्ययन, दोनों वर्गों की ऐतिहासिकता के प्रसग में ही संभव है। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं—इन दोनों वर्गों मे भिन्न स्तरों की कई स्थितियों वाले समाज हैं—जिनकी संस्कृति मे एक-दूसरे से काफी भिन्नता सभव है। मगर जो बुनियादी फर्क हम शोषक और शोषित वर्गों की संस्कृतियों के बीच पायेंगे वह इनके भीतर पायी जाने वाली भिन्न संस्कृतियों में नहीं होगा।

शोषक व की संस्कृति के अनेक महत्वपूर्ण तत्वों के निर्माण में शोषित वर्गों की भूमिका भी उतनी ही सच है, जितना शोषक वर्ग की समृद्धि में उनके श्रम का योगदान। डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है—

'गणसमाजों की सभ्यता और संस्कृति के अनेक उपकरण ऐसे हैं जो पूँजीवादी जातियों की ही नहीं, समाजवादी जातियों की संस्कृति का भी अंग बनी हुई हैं। संसार में जो भाषाएँ बोली जाती हैं, उनके मूल उपकरण गणसमाजों वाले युग की देन है। शोषित वर्ग सहज ही जनतंत्र के जो रूप अपनाते हैं, वे गणसमाजों की देन है। शोषक वर्गों ने इन रूपों का नाश करने का प्रयत्न बार-बार किया है, उन्हें अपने हित में इस्तेमाल करके वे उन्हें विकृत बनाते रहे हैं शोषित वर्गों ने उनके सहारे अपना संघर्ष चलाया है और उसमें नये प्राण प्रतिष्ठित किये हैं। मनुष्यों का भाईचारा सच्चाई, ईमानदारी, नारी जाति की स्वाधीनता, ये गुण पुराने गणसमाजों की देन हैं।'

[मार्क्स और पिछड़े हुए समाज पृ० ४१]

पिछड़े हुए समाजों की संस्कृति का वैज्ञानिक आकलन करते हुए डा० शर्मा आगे लिखते हैं—'संस्कृति के सबसे मूल्यवान तत्त्व वे हैं जो शोषक वर्ग के हितों का विरोध करते हैं और शोषित वर्ग के हितों की रक्षा में सहायक होते हैं। ये तत्त्व शोषित वर्ग को धरोहर के रूप में बहुधा वर्गहीन आदिम समाजों से प्राप्त होते हैं।' [उप०, पृ० ४३]

इससे हम इस निष्कर्ष तक आसानी से पहुँच सकते हैं कि सबसे पहले संस्कृति का विकास वर्गहीन आदिम समाज में 'लोकसंस्कृति' के रूप में हुआ। आगे चलकर शोषक वर्ग ने अपनी समृद्धि शोषित वर्गों के निरंतर क्रूरतम दमन से किया और स्वतन्त्र 'अभिजात्य संस्कृति' का निर्माण किया। इस क्रम में उसने 'लोकसंस्कृति के तत्त्वों का भी अपने अनुरूप दोहन किया और उनकी संस्कृति के जनतान्त्रिक रूपों तथा प्रगतिशील तत्त्वों का विनाश भी जारी रखा। आगे हम उसकी दूसरी भूमिका पर और विचार करेंगे।

आज भी शोषक वर्गों की तुलना में शोषित वर्गों के बीच जो मानवीय गुण या उच्चतर मनुष्यता देखने को मिलती है—वह शोषक वर्गों के समाज में दुर्लभ है। जबकि सामंती और पूँजीवादी हस्तक्षेप ने उनकी संस्कृति को विकृत करने में कोई कसर बाकी नहीं रख छोड़ी है। शोषक वर्गों द्वारा अमानवीयता की हदों तक पहुँचाने के बावजूद 'कफन' में प्रेमचंद घीसू को अकारण ही उदार नहीं दिखाते। सोचने पर यह बात अपने आप में ही अत्यन्त मार्मिक है कि जिस शोषित वर्ग के निरंतर कठोर श्रम से शोषकों ने अपनी सभ्यता, समृद्धि और संस्कृति को अर्जित किया—उसी शोषित वर्ग का वह आज तक क्रूरतम दमन भी करता रहा और हर पल उन्हें अत्यन्त निष्ठुरतापूर्वक विनाश की ओर ठेलता रहा। इस हृदयहीनता की मिसाल नहीं। आज की प्रौद्योगिकी और तकनीकी समृद्धि ने पूँजीवादी और साम्राज्यवादी शोषकों को ऐसी पाशविक शक्ति सौंप दी है—जिसके कसे शिकंजे से मुक्ति पाने की शक्ति जुटा पाना आज शोषितों के लिए बेहद कठिन हो रहा है।

शोषक वर्गों के महत्वाकांक्षी शासकों ने अपनी 'अभिजात्य संस्कृति' की सुरक्षा काफी पहले से शुरू कर दी थी—जो पुरातात्त्विक शोधों के जरिये इतिहास की अत्यन्त महत्वपूर्ण सामग्री सिद्ध हुई। उनकी चमकती 'अभिजात्य संस्कृति' के दर्पण में दूसरी संस्कृति का मुलसा चेहरा देख पाते हैं—तो इसका श्रेय हमारे वैज्ञानिक इतिहासकारों को ही जाता है। लेकिन उनकी तुलना में शोषित वर्गों की संस्कृति बिना किसी संरक्षण और विनाश के विरुद्ध निरंतर संघर्ष करते हुए—आज भी अपने आदिम आवेगों के साथ जीवित है, तो इसका एकमात्र कारण शोषित वर्ग की अदम्य जिजीविषा और संघर्ष की अवहीन ताकत ही है। इतिहास में घटित क्रांतियों ने सिद्ध कर दिया है कि अपनी पूर्ण पाशविकता और अपार सैन्य शक्ति के बावजूद शोषक वर्ग शोषित वर्ग की संगठित शक्ति से किस कदर थर्राता है।

शोषित वर्ग की संस्कृति के संदर्भ में वैज्ञानिक इतिहासकारों ने अपने गहन अनुसंधानों में अनेक ऐसे प्राचीन गीतों को खोज निकाला है—जिनसे उनकी मशक्कत का अंदाज मिलता है। संभवतः ये गीत शोषित वर्गों की लोकसंस्कृति के प्राचीनतम प्रमाण हैं। इसका उपयोग प्रसिद्ध सोवियत इतिहासकार फ्योदोर कोरोविन ने हमी शिक्षा-केन्द्रों के लिए इतिहास पुस्तक तैयार करने में किया है। एक प्राचीन मिस्री गीत—

"सारे दिन हम पीठ झुकाये
गेहूँ ढोयें, अंबार लगायें,
लेकिन अब तो जगह नहीं है
ढेरों अन्न बिखरता जाये।

जहाज भरे हैं जगह नहीं है,
अन्न नदी में गिरता जाये
हुक्म मिला है—बोरे ढोओ!
जैसे हमें तांबे का समझा जाये?"

यह गीत कृषि तंत्र के पूर्ण विकास और विनिमय-व्यापारिक काल का प्रतीत होता है। यानी सामंती विकास और व्यापारिक विकास के संधिकाल के। ईसा के कुछ हजार वर्ष पूर्व! अब दो अन्य प्राचीन चीनी गीत लें—ये गीत भी सामंती युग के ही हैं—

मालिक, तुमने काम किया न,
कभी खेत में पाँव धरा न,
अंबार धान के फिर क्यों छीने?
बस तुम्हारे घर क्यों पहुँचे
सच्चा आदमी कभी न खाये
हराम की रोटी तुम लोगों जैसे।

अपनी संस्कृति की माँ कहेंगे और पूरी दुनिया के बाजार में नचा आयेंगे। किसने हिसाब रखा कि महोत्सवों में संस्कृति की कितनी चीजें नष्ट हुईं ? संस्कृतिकर्मियों का एक बड़ा वर्ग इससे अच्छी आमद और यश का उपार्जन कर रहा है। आज सांस्कृतिक विकास के नाम पर फोर्ड फाउण्डेशन या अन्य साम्राज्यवादी संगठन मेहरबान हो रहे, तो इनके इरादों के खतरनाक दाँत छिपे नहीं हैं। अपनी बदनामी के बावजूद कारन्त जैसे समर्थवान नाट्यकर्मी यह खुले आम कहते हैं कि संस्कृति के लिए किसी से पैसा ले लेना चाहिए। कारन्तजी इस बात को ओट में कर लेते हैं कि कोई बेमतलब पैसे दे क्यों रहा है ? वह भी अमेरिका जैसा पूंजीवादी और साम्राज्यवादी देश ? यह विचित्र बात है कि दुनिया को ही नष्ट करनेवाली विस्फोटक सामग्रियों का सबसे बड़ा उत्पादक देश—संस्कृति की सुरक्षा और समृद्धि के लिए खैरात बाँट रहा है ! भूखों मारने की साजिश का सबसे बड़ा देश संस्कृति के विकास की उदारता में कितना निष्कलुष है ! उसकी पक्षधरता लोक-संस्कृति के क्षेत्र में उगे उस संभ्रांत वर्ग की है—जो किराये की कोख से निकलकर लोक संस्कृति का नियामक विशेषज्ञ बना हुआ है। लोकसंस्कृति का यह विशेष सम्भ्रान्त वर्ग, शोषक वर्ग की इच्छाओं के अनुरूप इसे संचित और परिवर्तित करने में जी जान से लगा हुआ है। ऐसा करके वह दोहरा लाभ उठा रहा है। एक तो विशेषज्ञता के तगमों से पुरस्कृत तथा अंतर्राष्ट्रीय मंचों का स्थापित यश उसे लोकसंस्कृति का नियामक ठीकेदार बना देता है। दूसरी ओर, अपार धनराशि और विलास की अतिरिक्त आमद भी हो जाती है। इस तरह हम देख सकते हैं कि चालित करनेवाली शक्ति ने परजीवी सम्भ्रांत लोक-संस्कृतिकर्मियों की एक पैदावार उगा रखी है। हम यह भी देख सकते हैं कि किस तरह भिन्न शक्तियाँ लोकसंस्कृति के व्यापक विकास का श्रेय हासिल करती हैं। लोकसंस्कृति के क्षेत्र में उसके दत्तक वर्ग, अत्यन्त महत्त्व की सेवा में लगे हुए हैं—इसे वह अच्छी तरह समझती है कि 'प्रभेपास्त्र लगाकर निश्चित हुआ जा सकता है। वह खूब समझती है कि लोकसंस्कृति की सही और वास्तविक समृद्धि का एकमात्र रास्ता उस संस्कृति के लोगों के जीवन स्तर में समृद्धि लाकर ही संभव है। मगर वह हमको यह समझने देना नहीं चाहती। वह संस्कृति को धार्मिक रूढ़ियों और अंधविश्वासों तथा मनोरंजन से आगे समझने पर रोक लगाती है। लोकसंस्कृति के विकास वाली इस सरकार से पूछना चाहिए कि उसने कितने लोकगीतों लोककथाओं का चयन कराया उनके कैसेट बनाये, उन्हें रेडियो, विडियो दूर-दर्शन से जोड़ा—उनकी भाषा पर काम कराये और उन्हें विश्वविद्यालयों और अनुसंधान केन्द्रों से जोड़ा ? उनकी सांस्कृतिक विरासत की सुरक्षा के लिए संरक्षण और संवर्द्धन की व्यापक योजनाएं बनाइ और अमल किया ? हाँ, उपलब्धियों के आंकड़े उगलने में कभी कोताही नहीं बरती। हमारी सरकार तो लोकसंस्कृति को मनोरंजन और विलास से इतर समझ ही नहीं सकती। लेकिन विदेशी साम्राज्यवादी शक्तियाँ इसे बखूबी समझती हैं। उनकी योजनाएँ बाह्य-रूप से देखने पर अत्यन्त उदार और उपयोगी लगती हैं—मगर वास्तविकता में हैं—एकदम विपरीत ! इन शक्तियों की लोकसंस्कृति में जो दिलचस्पी है—वह उनकी बहुत बड़ी दिलचस्पी का एक हिस्सा भर ही है। उसका सरो-

ार लोकसस्कृति वाले उन लोगों तक है—जो सामाजिक परिवर्तन की निर्णायक शक्ति ।

अब हमें थोड़ा सा विचार लोकभाषा के प्रसंग में भी कर लेना चाहिए। एक ोर भारत जैसे देश में जहाँ भाषा का सबसे बड़ा राजनैतिक इस्तेमाल अलगाववाद में या जाता है। शासक वर्ग की अंग्रेजी, हिंदी का ही गला टीप कर बैठी है, तो अन्य ुख्य भाषाओं और लोकभाषाओं की बात ही दीगर है। अन्य भाषाओं और लोकभाषाओं ा विकास हिन्दी के विकास पर ही निर्भर करता है। हिंदी के अवरुद्ध होने पर स्वयं े भी बुरी तरह अवरुद्ध होंगी—इस बात को, इस समझ को पसरने और स्वीकृत होने से ये अलगाववादी शक्तियाँ रोकती हैं। सरकार में उन शक्तियों की हिस्सेदारी जगजाहिर है। आखिर रूस जैसे देश ने अपने यहाँ इस समस्या का हल कैसे निकाला? रूस की अन्य भाषाओं का विकास रूसी भाषा के विकास पर कैसे निर्भर हुआ? उनका कैसे समानान्तर विकास संभव हुआ? इसे स्वीकार करने में क्यों परहेज है? अमेरिका से 'फंडस' अपना सकते हैं मगर रूस से इलाज भी नहीं लेंगे। सोवियत रूस में लोक-भाषाओं के साहित्य का अभूतपूर्व विकास अन्तत सोवियत साहित्य की समृद्धि का ही प्रमाण और उसकी प्रतिष्ठा है। उसने एक राष्ट्रीय संस्कृति का शानदार स्वरूप खड़ा किया। हम अपनी अनेकता में एकता की भाल बजाते रहे। आज ताजिक या उजबेक साहित्यकार सद्रुद्दीन ऐनी विश्व मंच पर प्रतिष्ठित हुआ क्योंकि सोवियत साहित्य की विश्वमंच पर निर्विवाद प्रतिष्ठा कायम है। ध्यान रहे कि यहाँ प्रसंग रूस के साथ अन्य विवादास्पद पक्षों पर नहीं है।

नि सदेह हम शोषित वर्गों के समाज की विभिन्न संस्कृतियों के सहारे, उन समाजों को एकताबद्ध करना होगा और प्रतिगामी हस्तक्षेपों के विरुद्ध संगठित संघर्ष को विकसित करना होगा। यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण और संघर्ष से ही संभव है।

२०-२१ सितंबर १९८६
हनुमाननगर, शास्त्रीनगर
पटना ८०००२३, [बिहार]



लोकसंस्कृति और परिवर्तन-प्रक्रिया

□

राजाराम भादू

इधर लोकसंस्कृति के आकलन और विश्लेषण को लेकर गंभीर चिन्ता व्यक्त की जाने लगी है। लेकिन गहराई से देखने पर पता चलता है कि इस संदर्भ में वास्तविक चिन्ता कुछ लोगों को ही है। शेष एक ऐसा वर्ग-समुदाय है जो लोक संस्कृति को लेकर शोरगुल तो बहुत अधिक करता है किन्तु उसके सामने लोकसंस्कृति का सही अर्थ तक स्पष्ट नहीं है। इस वर्ग समुदाय में कुछ आभिजात्य किस्म के लोग हैं जो लोकसंस्कृति को एक अजूबे की तरह मानते हैं। इनके लिये लोकसंस्कृति वैसे ही सजावट की वस्तु है जिस तरह ये लोग मधुबनी पेंटिंगों और घोसलों को अपने ड्राइंगरूमों में सजा लेते हैं। ऐसे लोगों को कुछ साम्राज्यवादी संस्थायें भी इन्हें प्रोजेक्ट वगैरह के रूप में आर्थिक सहायता प्रदान कर रही हैं। इसके पीछे उनका उद्देश्य यह है कि लोकसंस्कृति के जड़ीभूत रूप को ही सामने लाया जाये और उसकी गतिमयता को समाप्त कर दिया जाये।

इन सब कार्यवाहियों के चलते लोकसंस्कृति की ऊर्जस्वता को समझने वाले और उसकी गतिशील भूमिका के अध्येता लोगों की चिन्ता स्वाभाविक है। वे ऐसी कार्यवाही को सफल नहीं होने देना चाहते—जो लोकसंस्कृति की गलत तसवीर प्रस्तुत करती है। आज जब विदेशों में आयोजित 'भारत महोत्सव' जैसे कार्यक्रमों में इस महादेश की लोक संस्कृति के नाम पर बन्दर-भालुओं के नाच दिखा दिये जाते हैं तो यह जरूरत सामने आती है कि वास्तविक लोक संस्कृति से जनसाधारण को परिचित कराया जाये। लोक-संस्कृति को लेकर मौजूदा सत्तापक्ष और साम्राज्यवाद के मोहरे जनता में जो भ्रम फैला रहे हैं उन्हें दूर किया जाये।

इसके लिये सबसे पहले हमारे सामने लोक संस्कृति का अर्थ स्पष्ट होना आवश्यक है। लोकसंस्कृति की जो तसवीर शासन का प्रचारतंत्र प्रस्तुत करता है, उससे वह दूर-दराज के किसी अजनबी समाज की अद्भुत गतिविधियों की श्रृंखला प्रतीत होती है। प्रचार-माध्यमों के इस प्रस्तुतीकरण के पीछे कायरत लोगों का यही उद्देश्य प्रतीत होता है कि वे इन विचित्रताओं को मात्र मनोरंजन के लिए ही सामने लाते हैं। वस्तुतः क्या ऐसा ही है—यह देखना होगा। लोकसंस्कृति आज भी इस महादेश के बहुसंख्यक समाज की किसी न किसी रूप में जीवन्त संस्कृति है। इसके अर्थ को लेकर प्रबुद्ध समाज में भी कुछ भ्रम हैं जिनका निवारण किया जाना चाहिये।

आज भी सामान्यतः लोकसंस्कृति शब्द से एक धुंधली-सी तसवीर बनती है जो पूरी तरह साफ नहीं होती। प्रश्न यह है कि 'लोकसंस्कृति' किसे कहा जाये?

पर जिसे हम 'संस्कृति' कहते रहे हैं—उससे यह कितनी भिन्न है? लोकसंस्कृति को लेकर एक अवधारणा इसे 'गाँवों की संस्कृति' मानने वालों की है। जिसे हम सामान्यतः 'संस्कृति' कहते हैं—उसे वे 'नागरी-संस्कृति' मानते हैं।

यह सही है कि इस महादेश की सभ्यता को ग्रामीण आबादी की बहुलता के कारण 'ग्राम्य सभ्यता' भी कहा जाता रहा है। भारत में प्राचीन काल से ही बड़े-बड़े नगरों का भी अस्तित्व रहा है और आज हमें संस्कृति की जो ऐतिहासिक विरासत प्राप्त है—वह नगरीय प्रतीत भी होती है। किन्तु यह संस्कृति ग्राम्य संस्कृति से पूरी तरह पृथक् है, ऐसा मानने वाले लोग संस्कृति की ग्रहणशील-प्रवृत्ति को नजर-अन्दाज कर देते हैं। प्राचीन काल से ही यह प्रमाण मिलते हैं कि शहरों में भी ऐसे लोगों की काफी बड़ी संख्या थी जो बिल्कुल ग्रामीण-पद्धति से जीवन-यापन करते थे। दूसरे नगरीय-संस्कृति ग्राम्य-संस्कृति से निरन्तर ग्रहण करती रही है और बहुत अधिक साम्य रखती है।

संस्कृति विभाजन को लेकर एक अवधारणा 'शास्त्रीय' व 'लोक-संस्कृति' का भेद मानने वाली है। किन्तु यह विभाजन भी उचित नहीं कहा जा सकता। हर समय संस्कृति व साहित्य में ऐसा बहुत कुछ रहा है, जो लोक-संस्कृति का हिस्सा नहीं था और शास्त्रीय कही जाने वाली संस्कृति ने जिसे स्वीकार नहीं किया। यह विभाजन मुख्यतः सामन्ती-काल को ध्यान में रखकर किया जाता है किन्तु उचित नहीं ठहरता। यह सही है कि सामन्तों की एक समान वर्ग-संस्कृति थी—किन्तु समूची शास्त्रीय संस्कृति उसकी पोषक नहीं है। इसी के साथ अनेक सामन्त व छोटे शासक ऐसे भी रहे हैं जो अपनी पृथक संस्कृति नहीं रखते और जनता की संस्कृति से अलग नहीं हुए।

'शिष्ट' और 'लोक संस्कृति विभाजन का एक अन्य रूप है। शिष्ट संस्कृति से यह ध्वनित होता है कि दूसरी संस्कृति (लोक-संस्कृति) शिष्ट नहीं है। जबकि लोक-संस्कृति में भी संस्कृति की वही उत्कृष्टता पायी जाती है जो तथाकथित शिष्ट (समुदायों की) संस्कृति में पायी जाती है। अतः विभाजन के ये आधार वस्तुगत अथवा वैज्ञानिक और स्पष्ट नहीं हैं। लोक संस्कृति को अलग करके देखने का आधार 'वर्गीय' ही हो सकता है। यह लगभग वैसा ही होगा, जिस तरह इसे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने विस्तृत अध्ययन में लिया है, यानी बहुसंख्यक निम्नवर्गीय दलित शोषित समुदाय की ऐतिहासिक संस्कृति।

किन्तु यह वर्गीय विभाजन कठोरतापूर्वक नहीं किया जा सकता। संस्कृति विविध स्तरीय और बहुत व्यापक होती है। दूसरी तरफ संस्कृति के वर्गीय विभाजन को गलत समझ लेने की संभावनायें तब भी हो सकती हैं, यदि सांस्कृतिक-प्रक्रिया को नहीं समझा जाये। लोक संस्कृति उस सामान्य और व्यापक संस्कृति का ही एक भाग है, विशिष्ट रूप है, जो पृथक् भी बना रहता है और निरन्तर व्यापक संस्कृति में समाहित भी होता रहता है। इस संदर्भ में भारतीय लोक-संस्कृति पाश्चात्य आदिवासी संस्कृति से भिन्न है। भारत का कोई ऐसा आदिवासी क्षेत्र नहीं जो यहाँ की व्यापक मूल संस्कृति से बिल्कुल कटा रहा हो। यहाँ क्षेत्रीय आधार पर विभिन्न समुदायों की पृथक् लोक-संस्कृति रही है किन्तु इन

समुदायों में निरन्तर आदान प्रदान भी होता रहा है। इसी प्रक्रिया से एक व्यापक व सामान्य संस्कृति का जन्म हुआ है जिसे आज हम विकसित रूप में पाते हैं।

भारतीय सभ्यता और संस्कृति में लोक-परम्परा की जड़ें बहुत गहरी हैं। लो संस्कृति रूपों की विविधता के कारण यहाँ की संस्कृति विविधरूपा है। व्यापक संस लोक संस्कृति से ग्रहण करती रही है—उसका स्वीकरण करती रही है। यह ऐतिहासि प्रक्रिया लोक-संस्कृति के व्यापक-संस्कृति से विभाजन को अन्तराल वाला विभाजन न बनाती, बल्कि समझने में पहचान को दर्शाती है। अक्सर जो अर्जित कर लिया जात —लिपिबद्ध या क्रमबद्ध और तर्कसंगत कर लिया जाता है, उस सांस्कृतिक कला वि और ज्ञान-सामग्री को व्यापक संस्कृति का हिस्सा मान लिया जाता है। इसके अति जो लिखा नहीं गया, श्रुति स्मरण परम्परा में है, विशृंखलित है—एक पीढ़ी से दूसरी पी तक चल रहा है—विकसित, परिवर्तित या समाप्त हो रहा है—लोक-संस्कृति रूप है

सामान्यतः बहुसंख्यक निम्नवर्ग से सम्बद्ध होने के कारण लोक-संस्कृति को ए समय तक नकारा जाता रहा है। श्रेष्ठ जनो पुरुष कलाकार और साहित्यकार लोक-जी तथा लोक-संस्कृति के अनेक तत्वों को अपनाकर जब उसे अपनी कला रचनाओं का हि बनाते रह हैं तो उच्चवर्ग-समुदाय उसे मान्यता प्रदान करते रहे हैं। व्यापक-संस्कृति तथाकथित शिष्ट-समुदाय (उच्चवर्ग) अपनी संस्कृति मानता रहा है—यद्यपि ह वह सामान्य जनता की ही संस्कृति है। इसका निर्माता भी बहुसंख्यक मेहनत समुदाय ही होता है। उच्चवर्गीय शोषक-समुदाय की संस्कृति के ऐतिहासिक विक क्रम में कोई बहुत महत्वपूर्ण भूमिका नहीं रही। बल्कि धर्म की भाँति संस्कृति भी शोषक समुदाय ने अपने वर्ग-हितों की पूर्ति का आधार बनाया है। इसलिए संस्कृति में किसी भी परिवर्तन का विरोधी रहा, व्यवस्था की तरह वह संस्कृति को यथास्थितिवादी दृष्टिकोण से देखता रहा अथवा इसमें अपने पतनशील मूल्यों को समाहित कर दिया। आज भी संस्कृति में प्राचीन सामंती-मूल्यों के अवशेष देखे जा स हैं। वर्तमान में, मौजूदा पूँजीवादी पतनशील मूल्यों और प्रतिक्रियावादी कोशिशों द्व संस्कृति के अवमूल्यन का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है।

हम संस्कृति के विविध स्तरों को समझने की भी आवश्यकता है। व्यापक संस्कृ एक सतत-प्रक्रिया का परिणाम है—लोकसंस्कृति का बहुत बड़ा हिस्सा कालान्तर व्यापक संस्कृति का अंग बन जाता है। तुलसीदास की 'रामचरित मानस' तुरं त व्यापक संस्कृति का हिस्सा बन गयी। इसका एक कारण यह भी था कि उसमें लोक-त की बहुलता थी। दूसरी ओर कबीर की रचनायें वर्षों तक श्रुति-स्मरण-परम्परा अन्तर्गत चलती रहीं और एक लम्बे समय के उपरान्त ही व वर्तमान स्थान पा सके कबीर के संदर्भ में तात्कालिक उच्चवर्ग के नकार और सामान्य जनता की स्वीकार प्रवृ की भूमिका को भी देखा जा सकता है—जो बराबर रही है।

शासक वर्ग से सम्बन्ध रखनेवाले विशिष्ट (पंडित) समुदाय ने जब भी काव्य निश्चेष्ट और संकुचित करने की चेष्टा की, तब-तब उसे सजीव और चेतन प्रसार देश

सामान्य जनता के बीच स्वच्छन्द बहती हुई प्राकृतिक भावधारा से जीवन-तत्व ग्रहण करने से ही प्राप्त हुआ। लोक-संस्कृति की इस भावधारा को रेखांकित करने के लिए ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूर और विद्यापति की लोकगीति परम्परा की सराहना की है। वह स्त्रियों के घरेलू गीतों, आल्हा, कहखा, लावणी आदि की प्रशंसा करते हैं। जायसी और तुलसी के प्रबन्ध काव्यों में वे लोक-तत्वों को चिह्नित करते हैं। जायसी द्वारा 'बारहमासा' जैसे लोक काव्यरूप के व्यवहार को उन्होंने बहुत महत्व दिया है।

भाषा के सन्दर्भ में लोकसंस्कृति की भूमिका को और अधिक समझा जा सकता है। संस्कृति समाज-सापेक्ष होती है और सामाजार्थिक परिस्थितियाँ उसे प्रभावित करती हैं। ब्रिटिशकाल में उत्तर भारत और केन्द्र के अनेक प्रदेशों में विभिन्न बोलियों का प्रयोग किया जाता था। ये इस क्षेत्र की लोक भाषायें थीं। ब्रिटिशकाल में राष्ट्रीय चेतना के साथ-साथ इन क्षेत्रों की भाषा और संस्कृति भी करीब आती गयी। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उर्दू भी इन बोलियों में कमोबेश घुली मिली थी। हिन्दी भाषा का उद्भव और व्यापक संस्कृति का विकास भी इसी सांस्कृतिक प्रक्रिया के तहत हुआ है। डा० रामविलास शर्मा ने अपने भाषा-विकास सम्बन्धी कार्य में इस प्रक्रिया पर वृहद् प्रकाश डाला है।

व्यापक संस्कृति की तरह लोकसंस्कृति भी गत्यात्मक और सृजनशील रही है। व्यापक-संस्कृति पर ऐतिहासिक क्रम में जो प्रभाव पड़ते रहे हैं और उसमें इसमें जो रूप परिवर्तन आता रहा है—वह उसे स्पष्टतः दो धाराओं में विभाजित कर देता है। एक धारा सामन्ती-पूँजीवादी पतनशील मूल्यों की है तो दूसरी जनोन्मुख प्रगतिशील मूल्यों को लेकर चलने वाली धारा है। संस्कृति के ऐतिहासिक विकास क्रम में सामन्ती पूँजीवादी हस्तक्षेप की भूमिका संस्कृति को रुद्ध करके उसे वर्गहितों को साधने और शोषण का आधार बनाने की रही है। किन्तु संस्कृति का प्रवाह कभी अवरुद्ध नहीं हुआ। जनपक्षधर प्रगतिशील मूल्यों ने उसे गति प्रदान की है और उसका अनवरत विकास किया है। सामन्ती-पूँजीवादी प्रयास संस्कृति की सृजनशीलता को भी समाप्त नहीं कर सके हैं।

लोकसंस्कृति की ऐतिहासिक परम्परा को समझने के लिये यह जान लेना आवश्यक है कि वह व्यापक संस्कृति के समानान्तर चलती रही है—उसमें भी द्वन्द्वात्मक गतिशीलता और सृजनशीलता विद्यमान रही है। किन्तु लोकसंस्कृति में ऐसा नहीं कि सभी कुछ श्रेष्ठ रहा हो। वह शोषित बहुसंख्यक निम्न-समुदाय की सहज अभिव्यक्ति रही है—इसलिये वर्गीय अविकसित चेतना की सीमायें भी लोकसंस्कृति में प्रतिबिम्बित होती हैं। कहीं वह बहुत स्पष्ट है तो कहीं रहस्यवादी उलझावों और तन्त्रों में फंसी हुई है, कहीं उसमें स्वच्छंदता और माधुर्य है तो कहीं वह अश्लील लग सकती है। उसमें स्थानीयता का गहरा रंग है तो जटिलता और अनगढ़पन भी है। किन्तु विरोध का स्वर लोकसंस्कृति की प्रमुख ऐतिहासिक विशेषता है। शोषक-वर्ग के विरुद्ध प्रतिरोध और संघर्ष, कहीं धीमा तो कहीं प्रखर, लोकसंस्कृति का जीवन्त पक्ष है।

लोकसंस्कृति श्रम और संघर्ष की उपज है। अनेक विद्वानों की यह मान्यता है

समुदायों मे निरन्तर आदान प्रदान भी होता रहा है। इसी प्रक्रिया से एक व्यापक और सामान्य संस्कृति का जन्म हुआ है जिसे आज हम विकसित रूप में पाते हैं।

भारतीय सभ्यता और संस्कृति में लोक-परम्परा की जड़ें बहुत गहरी हैं। लोक-संस्कृति रूपों की विविधता के कारण यहाँ की संस्कृति विविधरूपा है। व्यापक संस्कृति लोक-संस्कृति से ग्रहण करती रही है—उसका स्तरीकरण करती रही है। यह ऐतिहासिक प्रक्रिया लोक-संस्कृति के व्यापक-संस्कृति से विभाजन को अन्तराल वाला विभाजन नहीं बनाती बल्कि समझने में पहचान को दर्शाती है। अक्सर जो अर्जित कर लिया जाता है—लिपिबद्ध या क्रमबद्ध और तर्कसंगत कर लिया जाता है, उस सांस्कृतिक कला विधा और ज्ञान-सामग्री को व्यापक-संस्कृति का हिस्सा मान लिया जाता है। इसके अतिरिक्त जो लिखा नहीं गया, श्रुति स्मरण परम्परा में है, विश्रृंखलित है—एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक चल रहा है—विकसित, परिवर्तित या समाप्त हो रहा है—लोक-संस्कृति रूप है।

सामान्यतः बहुसंख्यक निम्नवर्ग से सम्बद्ध होने के कारण लोक-संस्कृति को लम्बे समय तक नकारा जाता रहा है। श्रेष्ठ जनोन्मुख कलाकार और साहित्यकार लोक जीवन तथा लोक-संस्कृति के अनेक तत्वों को अपनाकर जब उसे अपनी कला-रचनाओं का हिस्सा बनाते रहे हैं तो उच्चवर्ग-समुदाय उसे मान्यता प्रदान करते रहे हैं। व्यापक-संस्कृति को तथाकथित शिष्ट-समुदाय (उच्चवर्ग) अपनी संस्कृति मानता रहा है—यद्यपि होती वह सामान्य जनता की ही संस्कृति है। इसका निर्माता भी बहुसंख्यक-मेहनतकश समुदाय ही होता है। उच्चवर्गीय शोषक-समुदाय की संस्कृति के ऐतिहासिक विकास-क्रम में कोई बहुत महत्वपूर्ण भूमिका नहीं रही। बल्कि धर्म की भांति संस्कृति को भी शोषक समुदाय ने अपने वर्ग हितों की पूर्ति का आधार बनाया है। इसलिए वह संस्कृति मे किसी भी परिवर्तन का विरोधी रहा, व्यवस्था की तरह वह संस्कृति को भी यथास्थितिवादी दृष्टिकोण से देखता रहा अथवा इसमे अपने पतनशील मूल्यों को भी समाहित कर दिया। आज भी संस्कृति मे प्राचीन सामंती मूल्यों के अवशेष देखे जा सकते हैं। वर्तमान मे मौजूदा पूंजीवादी पतनशील मूल्यों और प्रतिक्रियावादी कोशिशों द्वारा संस्कृति के अवमूल्यन का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है।

हमें संस्कृति के विविध-स्तरों को समझने की भी आवश्यकता है। व्यापक संस्कृति एक सतत-प्रक्रिया का परिणाम है—लोकसंस्कृति का बहुत बड़ा हिस्सा कालान्तर मे व्यापक संस्कृति का अंग बन जाता है। तुलसीदास की 'रामचरित-मानस' तुरन्त ही व्यापक संस्कृति का हिस्सा बन गयी। इसका एक कारण यह भी था कि उसमे लोक-तत्वों की बहुलता थी। दूसरी ओर कबीर की रचनायें वर्षों तक श्रुति स्मरण-परम्परा में अन्तर्गत चलती रहीं और एक लम्बे समय के उपरान्त ही वे वर्तमान स्थान पा सकीं। कबीर के संदर्भ मे तात्कालिक उच्चवर्ग के नकार और सामान्य जनता की स्वीकार-प्रवृत्ति की भूमिका को भी देखा जा सकता है—जो बराबर रही है।

शोषक वर्ग से सम्बन्ध रखनेवाले विशिष्ट (पंडित) समुदाय ने जब भी काव्य को निश्चेष्ट और संकुचित करने की चेष्टा की तब-तब उसे सजीव और चेतन प्रसार देश की

सामान्य जनता के बीच स्वच्छन्द बहती हुई प्राकृतिक भावधारा से जीवन-तत्व ग्रहण करने से ही प्राप्त हुआ। लोक-संस्कृति की इस भावधारा को रेखांकित करने के लिए ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूर और विद्यापति की लोकगीति परम्परा की सराहना की है। वह स्त्रियों के घरेलू गीतों, आल्हा, कड़खा, लावणी आदि को प्रशंसा करते हैं। जायसी और तुलसी के प्रबन्ध काव्यों में वे लोक-तत्वों को चिह्नित करते हैं। जायसी द्वारा बारहमासा जैसे लोक काव्यरूप के व्यवहार को उन्होंने बहुत महत्व दिया है।

भाषा के सन्दर्भ में लोकसंस्कृति की भूमिका को और अधिक समझा जा सकता है। संस्कृति समाज-सापेक्ष होती है और सामाजायिक परिस्थितियाँ उसे प्रभावित करती हैं। ब्रिटिशकाल में उत्तर भारत और मध्य के अनेक प्रदेशों में विभिन्न बोलियों का प्रयोग किया जाता था। ये इस क्षेत्र की लोक भाषायें थीं। ब्रिटिशकाल में राष्ट्रीय चेतना के साथ-साथ इन क्षेत्रों की भाषा और संस्कृति भी करीब आती गयी। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उर्दू भी इन बोलियों में कमोबेश घुली मिली थी। हिन्दी भाषा का उद्भव और व्यापक संस्कृति का विकास भी इसी सांस्कृतिक प्रक्रिया के तहत हुआ है। डा० रामविलास शर्मा ने अपने भाषा-विकास सम्बन्धी कार्य में इस प्रक्रिया पर वृहद् प्रकाश डाला है।

व्यापक संस्कृति की तरह लोकसंस्कृति भी गत्यात्मक और सृजनशील रही है। व्यापक-संस्कृति पर ऐतिहासिक क्रम में जो प्रभाव पड़ते रहे हैं और उससे इसमें जो रूप परिवर्तन आता रहा है—वह उसे स्पष्टतः दो धाराओं में विभाजित कर देता है। एक धारा सामन्ती-पूँजीवादी पतनशील मूल्यों की है तो दूसरी जनोन्मुख प्रगतिशील मूल्यों को लेकर चलने वाली धारा है। संस्कृति के ऐतिहासिक विकास क्रम में सामन्ती-पूँजीवादी हस्तक्षेप की भूमिका संस्कृति को रूढ़ करके उसे वर्गहितों को साधने और शोषण का आधार बनाने की रही है। किन्तु संस्कृति का प्रवाह कभी अवरुद्ध नहीं हुआ। जनपक्षधर प्रगतिशील मूल्यों ने उसे गति प्रदान की है और उसका अनवरत विकास किया है। सामन्ती-पूँजीवादी प्रयास संस्कृति की सृजनशीलता को भी समाप्त नहीं कर सके हैं।

लोकसंस्कृति की ऐतिहासिक परम्परा को समझने के लिये यह जान लेना आवश्यक है कि वह व्यापक संस्कृति के समानान्तर चलती रही है—उसमें भी द्वन्द्वात्मक गतिशीलता और सृजनशीलता विद्यमान रही है। किन्तु लोकसंस्कृति में ऐसा नहीं कि सभी कुछ श्रेष्ठ रहा हो। वह शोषित बहुसंख्यक निम्न-समुदाय की सहज अभिव्यक्ति रही है—इसलिये वर्गीय अविकसित चेतना की सीमायें भी लोकसंस्कृति में प्रतिबिम्बित होती हैं। कहीं वह बहुत स्पष्ट है तो कहीं रहस्यवादी उलझावों और तन्त्रों में फँसी हुई है, कहीं उसमें स्वच्छन्दता और माधुर्य है तो कहीं वह अश्लील लग सकती है। उसमें स्थानीयता का गहरा रंग है तो जटिलता और अनगढ़पन भी है। किन्तु विरोध का स्वर लोकसंस्कृति की प्रमुख ऐतिहासिक विशेषता है। शोषक वर्ग के विरुद्ध प्रतिरोध और संघर्ष कहीं धीमा तो कहीं प्रखर, लोकसंस्कृति का जीवन्त पक्ष है।

लोकसंस्कृति श्रम और संघर्ष की उपज है। अनेक विद्वानों की यह मान्यता है

कि वेद जैसे अनेक ग्रंथ लोकसंस्कृति की ही देन हैं। कालान्तर में वर्ग विभाजन होने पर बहुसंख्यक समुदाय (शूद्रों और स्त्रियों) को उनके अध्ययन अनुशीलन तक से वंचित कर दिया गया। किन्तु भारतीय ग्राम्य समाज की सामूहिक-सृजनशीलता का उज्ज्वल सांस्कृतिक रूप यहाँ की लोकसंस्कृति में ही दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि शोषक-वर्ग द्वारा इस संस्कृति पर किये गये आघातों को भी नजर अंदाज नहीं किया जा सकता।

समसामयिक लोकसंस्कृति को भी इसी ऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेषित किया जा सकता है। आज देश में पूंजीवाद का विकास हो रहा है—पूंजीवादी शासन-व्यवस्था यहाँ कायम है और देश की अधिकतर जनसंख्या कष्टकर स्थितियों में जीवन-यापन कर रही है। ऐसी स्थिति में पूंजीवाद का पक्षधर मौजूदा शासक वर्ग किसी भी तरह की जन-चेतना को विकसित नहीं होने देना चाहता और हर तरह के प्रतिरोध को दबा देता है। दूसरी ओर साम्राज्यवादी देशों से इस शासनतंत्र की सांठ-गाँठ है और अन्य विकासशील देशों की तरह यहाँ भी साम्राज्यवादी देशों के एजेण्ट संस्कृति के अध्येता बनकर अपना घातक कार्य कर रहे हैं। संस्कृति जनचेतना का वाहक होती है—इसलिये साम्राज्यवाद का पहला आक्रमण भी उसी पर होता है। शासन के प्रचारतंत्र ने जहाँ एक ओर संस्कृति के प्रति निरर्थकताबोध उत्पन्न किया है—वहीं पाश्चात्य संस्कृति के पतनशील मूल्यों को ग्रहण करके 'अपसंस्कृति' को जन्म दिया है। संस्कृति में उपस्थित प्रगतिशील जनवादी चेतना से सम्पन्न धारा अपसंस्कृति का प्रतिरोध कर रही है।

जैसा कि कहा जा चुका है लोकसंस्कृति व्यापक-संस्कृति के समानान्तर चलती है और समाज-सापेक्ष है। ब्रिटिशकाल से ही लोक-समुदायों पर भारत में हो रहे व्यापक परिवर्तन का प्रभाव पड़ना आरम्भ हो गया था। जैसे ही ब्रिटिश-शासन के विरोध और संघर्ष की चेतना फैली, लोक संस्कृति में भी परिवर्तन आया। इसके अनेकानेक प्रमाण दिये जा सकते हैं संथालों का विद्रोह और मुंडा विद्रोह जैसे आदिवासी जनसंघर्षों के दौरान यहाँ की लोकसंस्कृति के परिवर्तित संघर्षशील तेवर को देखा जा सकता है। जबकि ईसाई-मिशनरी यहाँ की मूलसंस्कृति को नष्ट करने और आदिवासियों में ब्रिटिश-शासन के अनुकूल गुलाम मानसिकता बनाये रखने में लगे हुए थे। आज भी देश के विभिन्न आदिवासी और पिछड़े क्षेत्रों में मिशनरी और कल्याण के नाम पर जनता को गुमराह करने वाली और जनअसंतोष को गलत दिशा में प्रवृत्त करने वाली विदेशी संस्थायें काम कर रही हैं।

स्वतंत्रता के उपरान्त भारत में पूंजीवाद के विकास का प्रभाव समस्त लोक-समुदायों पर पड़ा। समूचे देश का अर्थतंत्र बदला और औद्योगीकरण व शहरीकरण बड़े पैमाने पर हुआ। पुराने सामाजिक ढांचे में परिवर्तन आया। छोटे-बड़े पूंजीपति पनपे और पुराने सामंती जमींदार-वर्ग ने नये राजनीतिक शोषक-वर्ग का रूप धारण कर लिया। इन जमींदारों की भूमि बढ़ती गयी है तो मध्यम श्रेणी का कृषक क्रमश: लघु व सीमान्त कृषक में और अन्तत: भूमिहीन खेतिहर मजदूर में बदलता जा रहा है। कृषि के यान्त्रिकीकरण से यह भूमिहीन खेतिहर बेरोजगार हो गया है और रोजगार की तलाश में

शहरों की ओर भाग रहा है। परम्परागत और पैतृक धन्धे व कुटीर-उद्योग जो ग्रामीण अर्थव्यवस्था की नींव थे—बराबर तबाह हो रहे हैं।

शहरों में भी गरीब और गरीब होता जा रहा है और अमीरों की पूंजी बढ़ती जा रही है। मध्यमवर्ग महँगाई की मार से अपने को शोचनीय स्थिति में पा रहा है। हर शहर की कोख में झुग्गी-बस्तियों का जाल फैला है जिसमें हजारों सर्वहारा अमानवीय स्थितियों में जी रहे हैं। एसी स्थिति में वर्ग विभाजन बढ़ रहा है और वर्गीय चेतना भी फैल रही है। जैसे-जैसे निम्नवर्ग में यह चेतना विकसित हो रही है वैसे-वैसे शोषक-व्यवस्था का प्रतिरोध भी बढ़ रहा है। शोषक-व्यवस्था के दमन के परिणामस्वरूप निम्न-वर्ग में एकता उत्पन्न हुई है। इस समूची प्रक्रिया ने संस्कृति की प्रगतिशील-जनवादी धारा को बल प्रदान किया है—उसे संघर्षधर्मा चेतना से युक्त बनाया है। यह जनसंस्कृति शोषक व्यवस्था की अपसंस्कृति के विरोध में खड़ी है।

समग्रामयिक लोकसंस्कृति पर परिवर्तित वस्तु-स्थितियों का तीव्र प्रभाव पड़ रहा है। पुराने लोक-समुदायों में जैसे-जैसे बुनियादी परिवर्तन आता जा रहा है, सामाजिक सम्बन्ध बदल रहे हैं—वैसे वैसे ही लोकसंस्कृति में भी परिवर्तन हो रहा है। यह परिवर्तन-प्रक्रिया सामान्य तौर पर लोकसंस्कृति की पूर्वोल्लिखित 'जनसंस्कृति' में संक्रमण की है। लोकसंस्कृति में जनचेतना आ रही है और वह जनसंस्कृति में संक्रमित हो रही है। शहरों-गाँवों व सभी क्षेत्रों में व्यापक संस्कृति की जनोन्मुख धारा—जनसंस्कृति निरन्तर अपना प्रसार कर रही है, यह स्वाभाविक ही है कि यह बहुसंख्यक सामान्य जनों के हितों की अभिव्यक्ति को रूपायित करती है। इसे जनसंस्कृति कहने का अर्थ यही है कि इसमें व्यापक संस्कृति की प्रगतिवादी-जनवादी धारा और परम्परागत लोकसंस्कृति की जनचेतना सम्पन्न धारा मिलकर एक हो गयी है। लोकसंस्कृति की गत्यात्मकता और जीवन्तता को, उसके विविध रूप तत्वों को इसने समाहित कर लिया है। लोकसंस्कृति के जनसंस्कृति में संक्रमण के विभिन्न स्तर और सोपान-क्रम हैं। कई ऐसे क्षेत्र अब भी हैं जहाँ लोकसंस्कृति का परम्परागत रूप ही किंचित परिवर्तन के साथ दृष्टिगोचर हो जाता है। स्पष्ट है कि वहाँ लोकसंस्कृति ने नयी जनचेतना को अभी आत्मसात् नहीं किया है। कहीं इसका परम्परागत लोकरूप आधुनिक प्रभावों से विघटित हो रहा है। यह समझना चाहिये कि वर्तमान स्थिति में यह परिवर्तन अनिवार्य है और वस्तुतः लोकसंस्कृति का केवल बाह्यरूप ही विघटित हो रहा है। ऐसा पूंजीवादी पतनशील मूल्यों के प्रभाव से भी हो सकता है, किन्तु यह परिवर्तन स्थायी नहीं है और अन्ततः इसके गतिशील तत्व जनसंस्कृति में रूपान्तरित हो जायेंगे।

कोई भी संस्कृति न तो खत्म की जा सकती है, न ही उसे जड़ अथवा प्रगतिविरोधी बनाया जा सकता है, क्योंकि यह उसकी प्रकृति के विरुद्ध है। आज शोषक-व्यवस्था के पक्षधर और शासन तंत्र तथा कुछ अनसमझ लोग इस रूपान्तरण-प्रक्रिया से विचलित होकर लोक-संस्कृति को उसके पुराने और जड़ रूप में यथावत् रखने की दुहाई देते हैं। इसके पीछे उनकी मंशा उसके नये रूपान्तर की दिशा में गतिरोध उत्पन्न करने की ही है।

लोक संस्कृति के संक्रमण का अगला चरण इसका जनसंस्कृति में रूपान्तरण है। इस रूपान्तरण में वह लोक संस्कृति के ऊर्जस्व तत्वों और रूपों को समाहित कर लेती है, गतिशील परम्परा से जुडी रहती है और जनसंस्कृति की व्यापक परिधि का हिस्सा बन जाती है। यह अपसंस्कृति के विरोध में ही नहीं खडी होती—बल्कि पूंजीवादी शोषण और दमन के विरुद्ध संघर्ष को बल प्रदान करती है। पूँजीवाद पर आधारित शासनतंत्र को इससे खतरा उत्पन्न होना स्वाभाविक है, अत वह जनसामान्य के समक्ष अपने प्रचार माध्यमों से उसके रूढ़ रूप को ही दर्शाता है। प्रचारतंत्र द्वारा उसके संरक्षण की घोषणा की जाती है और उसकी विकृत एवं झूठी तसवीर प्रस्तुत की जाती है।

भारत जैसे विकासशील देशों से साम्राज्यवादी देशों के हित भी जुड़े हुए हैं। विकासशील देशों को ये देश अब भी अपना अर्द्धउपनिवेश मानते हैं क्योंकि यहां उनका घटिया उत्पादन खपता है। साम्राज्यवादी देशों द्वारा संगठित बहुराष्ट्रीय कम्पनियां यहां अपने उत्पादन केन्द्र स्थापित करती हैं—संक्षेप में, साम्राज्यवादी शोषणतंत्र का आज भी यहाँ जाल बिछा हुआ है। स्वाभाविक ही है कि साम्राज्यवाद नहीं चाहता कि भारत आत्मनिर्भर हो और इसके लिये वह भारत में नयी चेतना फलने पर रोक लगाता है। अनेक संस्थाएं आर्थिक अनुदान प्रदान करके भारत की विभिन्न संस्थाओं व व्यक्तियों को अपने इस काम में प्रयुक्त कर रही हैं। फोर्ड-फाउण्डेशन ऐसी संस्थाओं में से एक है—जो लोक संस्कृति के संरक्षण और परिवर्द्धन के नाम पर जनचेतना और वैज्ञानिक-दृष्टिकोण के विकास मार्ग को अवरुद्ध कर रही हैं। ऐसी स्थिति में जनसंघर्षों से प्रतिबद्ध संस्कृति-कर्मियों को लोक संस्कृति की इस परिवर्तन प्रक्रिया का अध्ययन करना चाहिये *और प्रगतिशील जनवादी चेतना से सम्बद्ध जन संस्कृति के निर्माण में अपना महत्वपूर्ण* योगदान देना चाहिये।

६, आदर्श कॉलोनी भरतपुर ३२१००१

★

भीष्म साहनी गोरेलाल चंदेल



गोरेलाल चंदेल

प्रश्न

(१) आजकल बहुत से कहानीकार लोक-कथाओं एवं लोक मिथकों पर कहानियाँ लिख रहे हैं। लोक-कथाओं एवं लोक मिथकों की रचना में रूपान्तरित करते समय रचनाकार क्या अधिक दबाव महसूस करता है? रचनाकार लोक संस्कृति से कितना प्रभावित होता है तथा कच्चे माल के रूप में लोक-संस्कृति से वह कितना कुछ ग्रहण कर सकता है?

(२) आपने कुछ कहानियों में लोक कथा को आधार मानकर श्रम की महत्ता प्रतिपादित करने की कोशिश की है (रानी महतो एवं भटकती राख)। क्या आप ऐसा महसूस करते हैं कि इन कहानियों के चरित्रों को आप सामाजिक चरित्र बना पाये हैं? क्या वे वैयक्तिक चरित्र मात्र बनकर नहीं रह गये हैं? और यदि आप उसे वर्ग-चरित्र मानते हैं तो क्या वह वर्ग-चरित्र बन पाया है?

(३) भीष्म जी! इसी से जुड़ा हुआ अगला प्रश्न एक प्रगतिशील रचनाकार के नाते आपसे पूछ रहा हूँ। रचना में रचनाकार के वैयक्तिक अनुभव और सामाजिक अनुभवों का क्या स्थान होता है? साथ ही यह भी बतायें कि लोक संस्कृति इन अनुभवों को किस सीमा तक प्रभावित करती है?

(४) आपने अपने नाटक 'हानूस' में पुरानी लोक-कथाओं का मिथकीय आधार लिया है। मिथकों का यथार्थ में रूपान्तरण की क्या प्रक्रिया होती है? मिथक और यथार्थ का द्वन्द्व किस प्रकार होता है?

(५) 'कबिरा खड़ा बाजार' में आपका काफी चर्चित नाटक है, जिसमें आपने कबीर को आधुनिक संदर्भ में खड़ा किया है। क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि ऐतिहासिक पात्रों को आधुनिक सामाजिक सन्दर्भों में लाते समय रचना यथार्थ की जमीन छोड़ देगी या अति काल्पनिक होकर विचारधारात्मक स्वर अख्तियार कर लेगी?

(६) भीष्म जी! आप अपनी रचना-प्रक्रिया पर प्रकाश डालिये। आपका अनुभव किस प्रकार रचना में परिवर्तित होता है?

(७) आपने फिल्म में भी अभिनय किया है। मोहन जोशी हाजिर हैं। किस उद्देश्य से आपने फिल्म में जाने का निर्णय लिया? आप जनता तक पहुँचने के लिए किस मिडिया को अधिक सशक्त मानते हैं?

(८) आपने अपने एक साक्षात्कार में यह कहा है कि लेखक किसी को रास्ता दिखाने के लिए नहीं लिखता। ऐसी स्थिति में क्या आप सोद्देश्य लेखन को अस्वीकार करते

हैं ? रचना और समाज के अन्तर्द्वन्द्व तथा अन्त सम्बन्ध को आप रचनात्मक दृष्टि से जरूरी नहीं मानते ?

(९) आप रचना मे कल्पना और यथार्थ का क्या स्थान निर्धारित करते हैं ? क्या कल्पना को रचना के लिए जरूरी मानते हैं ?

(१०) वैसे आप नाटक, कहानी और उपन्यास पूरे अधिकार के साथ लिखते हैं। आप किस विधा मे रचनात्मक दबाव अधिक महसूस करते हैं ? और क्यो ?

(११) कई कहानी आन्दोलनों के दौर से आप गुजरे हैं। मसलन नई कहानी, समानान्तर कहानी, अकहानी, प्रयोगवादी कहानी आदि। युग के साहित्यिक आन्दोलन का प्रभाव रचनाकार पर पड़ता है। क्या वजह है कि आपकी कहानियों का स्वर इन आन्दोलनों से अलग हट कर है ? क्या आप इन आन्दोलनों को समाज के ऐतिहासिक दबाव का परिणाम नही मानते ?

(१२) कुछ आलोचक प्रगतिशील कहानियों को सपाटबयानी, शिल्प की दृष्टि से बेहद कमजोर, उबाऊ, नारेबाजी से ग्रस्त एव एकरसता की कहानियाँ मानते हैं। इस सम्बन्ध में मैं आपका, एक रचनाकार के नाते विचार जानना चाहूँगा।

(१३) काशीनाथ सिंह ने एक बार कहा था कि 'कहानीकार को (रचनाकार को) अपने कैरेक्टर के प्रति निमम होना चाहिये।' इस बात से आप कहाँ तक सहमत हैं ?

(१४) आपने अपने साक्षात्कार में कहा है—'कहानी को खुद बोलना चाहिए' तो क्या आप रचना मे रचनाकार की 'मैं' का प्रवेश रचनात्मक कमजोरी मानत हैं ? रचनाकार का रचना म प्रत्यक्षत 'इन्वाल्व' होना आप कहाँ तक जरूरी या गैर जरूरी मानते हैं ?

(१५) ऐसा लगता है कि आपने अपनी कहानियों का विस्तार उपन्यास के रूप मे किया है जैसे 'राधा अनुराधा' कहानी का विस्तृत रूप बसती उपन्यास लगता है। वे कौन सी परिस्थितियाँ थीं जिन्होंने एक कहानी को उपन्यास में बदलने के लिये बाध्य किया ?

(१६) आपके कई कहानी के पात्र उपन्यास म भी दिखाई देते हैं। यह मात्र सयोग भी नहीं लगता। जैसे 'पहला पाठ' का देवव्रत 'तमस' मे भी मौजूद है। फर्क इतना है कि कहानी म वह बालक है और उपन्यास में 'सर संचालक'। क्या इसे आप चरित्र का विकास मानते हैं ? कहानी जहाँ समाप्त होती है वहाँ से बालक देवव्रत की विकास की दिशा बदलनी चाहिए थी। पर उपन्यास में दिशा वही होती है।

(१७) रचनात्मक दृष्टि से आप रचनाकार द्वारा किसी घटना म स्वय इन्वाल्व होकर प्राप्त अनुभव और अन्य व्यक्ति को घटना में इन्वाल्व होते हुए देखने के अनुभव में क्या अन्तर समझते हैं ?

(१८) क्या आप किसी रचनाकार के लिए किसी एक विचारधारा के प्रति प्रतिबद्धता जरूरी मानते हैं ? कुछ लोगों ने ऐसी प्रतिबद्धता को वैचारिक परतंत्रता कहा है, इससे आप कहाँ तक सहमत हैं ?

(१६) आपको रचना का लम्बा अनुभव है और साहित्य की सही समझ भी। सातवें-आठवें और नवें दशक के कहानीकारों में आप किसे महत्वपूर्ण मानते हैं? क्या नवें दशक की कहानी में आप कुछ बदलाव महसूस करते हैं?

(२०) आज रचनात्मक खतरे की बात बड़े जोर-शोर से उठाई जा रही है। आप किस तरह के रचनात्मक खतरे महसूस करते हैं?

(२१) बदलती हुई राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ रचना पर दबाव डालती हैं। १६८६ में तथा आगे आनेवाले वर्षों में कौन सी परिस्थितियों का दबाव आप अधिक महसूस करते हैं? तथा अन्य रचनाकारों से आप इन स्थितियों में किन बातों की अपेक्षा करते हैं?

(२२) आप प्रगतिशील लेखक संघ के महासचिव के पद पर लम्बे समय तक रहे हैं। आज सगठनात्मक लड़ाई खुलकर सामने आ गई है। एक वर्ग सगठन को स्वतंत्र लेखन के लिए घातक मानता है। आप रचनाकार के लिए किसी संगठन से जोड़ना कहाँ तक जरूरी मानते हैं? क्या प्रतिबद्ध रचनाकार सगठन से अलग रहकर प्रतिबद्धता का निर्वाह करने में सफल नहीं हो पायेगा?

भीष्म साहनी के उत्तर

(१) लोककथा अथवा मिथक का प्रयोग लेखक तभी करेगा जब वह उसके माध्यम से अपनी बात अधिक सक्षम तथा कलात्मक ढंग से कह सकता हो। दबाव महसूस करने का सवाल नहीं उठता, बल्कि लेखक को एक नई विधा द्वारा अपने को व्यक्त कर पाने का अवसर मिलता है और उसे कला का रूप देने का संतोष भी।

लोकसस्कृति से हमारा सम्पर्क बड़ा सीमित है। सचेष्ट रूप से बहुत कम लेखक, अध्ययन द्वारा अथवा ग्रामीण जनता से सम्पर्क द्वारा, अपनी जानकारी बढ़ा पाते हैं। अधिकांश, मौखिक रूप से ही जो सुनें, उसे ग्रहण करते अथवा उसका उपयोग करते हैं। लेखकों में शहरी प्रवृत्ति तथा संस्कार अधिक पाये जाने लगे हैं। बहुत कम हैं, जिन्हें संस्कार-रूप में लोक-साहित्य आदि प्राप्त होते हों।

लोककथा को लेखक तभी चुनेगा जब वह उसे आज के जीवन के लिये प्रासंगिक तथा सार्थक नजर आये। मात्र कहानी के रूप में भी वह उसे चुन सकता है, पर कहीं पर उसका महत्वपूर्ण होना—कल्पना की उड़ान के नाते, रूप-सौष्ठव के नाते, कलात्मक के नाते, नैतिक मूल्य के नाते, आदि—जरूरी समझता हूँ।

(२) कहानी के मूल सदर्भ के अनुसार ही कोई चरित्र अपना व्यक्तित्व ग्रहण करेगा—एक वर्ग-चरित्र के नाते अथवा एक व्यक्ति के नाते, आदि। अक्सर मूल कथानक के भीतर पायी जाने वाली विसंगति, चरित्रों का व्यक्तित्व निर्धारित करती है। सामाजिक परिप्रेक्ष्य से सम्बन्धित कथानक में पात्र किसी न किसी रूप में वर्ग-चरित्र ग्रहण करते हैं।

(३) रचना में रचनाकार के वैयक्तिक अनुभव और सामाजिक अनुभव का बहुत

बडा स्थान होता है । कोई भी लेखक मात्र कल्पना अथवा भावनात्मकता के आधार पर नही लिखता । कच्ची सामग्री जरूर उसे जीवन से मिलती है पर सबसे गहरे प्रभाव उसे अपने अनुभवो से ही प्राप्त होते हैं । भावनात्मक स्तर पर भी वह उनसे गहरे में जुडता है । उनके साथ उसका रागात्मक सम्बन्ध होता है । बल्कि उसकी जीवन-दृष्टि निर्धारित करने में भी निजी अनुभवों का बहुत बडा हाथ होता है, भले ही उनकी निर्णायक भूमिका न रही हो ।

लोकसंस्कृति इन अनुभवो को उसी सीमा तक प्रभावित करेगी जिस सीमा तक लेखक का लोकसंस्कृति के साथ सम्पर्क रहा हो । अक्सर हम अपनी मा अथवा दादी-माँ के मुह से लोककथाएँ, लोकोक्तियाँ, लोकसंस्कृति में निहित नैतिक मूल्य, व्यावहारिक जीवन के निष्कर्ष आदि प्राप्त करते हैं । वह लेखक अभागा ही होगा जिसे ये न मिले हों । बचपन म प्राप्त किये हुए ये सस्कार तो लेखक के रचनात्मक व्यक्तित्व का अभिन्न अग बन जाते हैं । पर यह प्रक्रिया बचपन के बाद समाप्त नही हो जाती, बाद म भी सामाजिक जीवन म हमे यह मिलती रहती है, पर पहले से कम ।

(४) इसमे कोई नपा-तुला नियम तो नहीं हो सकता । मिथक अपने मूल रूप मे रहते हुए भी यथार्थ का बोध दे सकता है । जरूरी यह है कि मिथक रहते हुए भी उसमें से यथार्थ की ध्वनि आये, मिथकीय नाटक दखते हुए भी दशक को उस समय ऐसा ज्ञात पडे कि मिथकीय ढाचे मे उसे यथार्थ का भास हो रहा है । एक बार दर्शक इस बात को स्वीकार कर ले कि ढाचा मिथकीय है, तो वह ऐसे सवाल नही पूछेगा कि यह कैसे हो सकता है, वह कैसे सभव है, वह नाटक के कथानक को आलोचनात्मक दृष्टि से न देख कर उसमे रस लेने लगेगा ।

मिथक और यथार्थ के द्वन्द्व को मिटाने के लिये मिथक के आधार पर ही, मिथक को यथार्थ मानते हुए, उसी के सदर्भ मे उठने वाले तत्त्वों के अनुसार उसका विकास होना मुझे सही लगता है ।

साधारण ताले बनाने वाला हानूस मीनारी घडी बना लेता है । प्रगटत लगेगा कि यह कैसे सभव हो सकता है । पर यदि घडी बनाने की उसकी प्रक्रिया को इस रूप में दिखाया जाये कि वह विश्वसनीय जान पडे, उसकी परिस्थितियाँ भी विश्वसनीय जान पड़ें तो एक ऐसा माहौल बनता जायेगा जिसमें बाद मे घटने वाली घटनाएँ भी सभव और विश्वसनीय जान पडने लगेंगी । इस तरह एक मिथकीय ढाचे मे भी नाटक मे निहित मानवीय मूल्य प्रभावित करने लगेंगे । मिथकीय कथानक के आधार पर लिखे गये नाटक को हम यथार्थ की कसौटी पर—घटनाक्रम की दृष्टि से—नही परखते । हम उसमे से उठने वाले मानवीय सम्बन्धों, मानवीय भावनाओं मानव-मूल्यों आदि की प्रामाणिकता से प्रभावित होते हैं । इस तरह मिथक और यथार्थ के बीच कोई द्वन्द्व नहीं रहता ।

'माधवी नामक मेरे एक नाटक मे कथानक महाभारत से लिया गया है जिसमें राजा ययाति, अपनी एकमात्र पुत्री माधवी को गालव नाम के एक ब्राह्मण को सौंप देते हैं (जिसे गुरुदक्षिणा के रूप में ८०० अश्वमेधी घोडे अपने गुरु विश्वामित्र को जुटाने

है), यह कह कर कि जिस किसी राजा के पास अश्वमेधी घोडे होंगे, उसे इस कन्या को देकर, वह अपनी गुरुदक्षिणा जुटा सकता है। सारी कहानी ही मिथक के स्तर पर चलती है, किन्तु फिर भी, उसमें से उभरने वाले अनेक तत्व—नारी के प्रति दृष्टिकोण, पुरुष और स्त्री के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों के भेद सामाजिक समस्या के रूप में उसकी प्रासंगिकता आदि, उभरते हैं। घटनाचक्र में सच्चाई है या नहीं, वह सम्भाव्य है या नहीं, सब गौण हो जाते हैं, किन्तु ऐसे मिथकीय कथानक का अपना कलात्मक स्वरूप निश्चय ही नाटक को एक आयाम देता है।

(५) 'कबिरा खड़ा बाजार में' नाटक में मैंने कबीर को आधुनिक संदर्भ में खड़ा करने का प्रयास नहीं किया है, बल्कि यह कोशिश की है कि उसे उसके अपने काल और परिवेश के संदर्भ में दिखाया जाये। कबीर के व्यक्तित्व के बहुत से पहलू हैं जिन्हें उभारा जा सकता था। उनका व्यक्तिगत संघर्ष, निर्गुण की अवधारणा तक पहुँचने की उनकी खोज और प्रक्रिया, धर्माचार का विरोध, उनकी आध्यात्मिकता आदि। मैंने कबीर को इन सभी पहलुओं के संदर्भ में, प्रत्येक पहलू को समान रूप से महत्व देते हुए, नहीं दिखाया है। उनके व्यक्तित्व के विकास में इन सभी तत्वों की देन की चर्चा करते हुए भी, मैंने उनके धर्माचार विरोधी पक्ष को, उनकी निर्गुण सम्बन्धी मूल मान्यता के प्रकाश में, उभारने की कोशिश की है। इसे भले ही आप कबीर का आधुनिकीकरण कह लें परन्तु वास्तव में यह कबीर के तत्कालीन जीवन तथा संघर्ष को ही दिखाता है। हाँ, इसमें से जो स्वर फूटते हैं, वे आज के हमारे सामाजिक जीवन के लिये बड़े प्रासंगिक हैं। यदि मैंने कबीर को आधुनिक सामाजिक संदर्भ में खड़ा करने की कोशिश की होती—जो कि बड़ा अटपटा सा प्रयास होता—तो वह अपनी जमीन छोड़ कर 'अतिकाल्पनिक' रचना बन जाती।

(६) सबसे पहले तो कहीं कोई बात मस्तिष्क को छू सी जाती है। किसी स्थिति के भीतर पायी जानेवाली विडम्बना, कोई अन्तर्विरोध, कोई मर्मस्पर्शी घटना, कोई पुरानी याद जिसने मेरे लिए कोई महत्व ग्रहण कर लिया हो, कोई विचलित करनेवाला अनुभव, आदि कुछ भी हो सकता है। प्रत्येक लिखनेवाले की अपनी दृष्टि होती है, और लेखकों में यह दृष्टि समान रूप से एक जैसी नहीं पायी जाती। किसी घटना में, एक लेखक को कहानी का 'बीज' नजर आयेगा, परन्तु जरूरी नहीं कि दूसरे लेखक को भी नजर आये। यह अपनी-अपनी दृष्टि की बात है, और इस दृष्टि को लेखक के संस्कार, उसके जीवन-अनुभव, उसका पठन पाठन, जो कुछ उसने देखा सुना-जाना, यह सब बनाते हैं। फिर अपने अपने संवेदन की भी बात होती है किसी लेखक के संवेदन की विशिष्टता उसकी व्यंग्यात्मकता में हो सकती है, किसी अन्य की उसकी भावुकता में, अथवा गीतात्मकता में, आदि आदि।

बीज रूप में कहानी सूझ जाने पर उस पर काम करने लगता हूँ। या तो उस स्थिति अथवा घटना को उसके मूलरूप में ही कहानी में ढालते हुए या उसके लिए कोई अलग परिवेश तैयार करते हुए। धीरे धीरे, यदि कलम चल निकले, तो कहानी उस मूल

स्थिति का दामन छोड़ते हुए, अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व और रूप ग्रहण करने लगती है, इसमें मेरी सभी क्षमताएँ—कल्पना, संवेदन, रूपबोध आदि—सक्रिय होने लगती हैं।

अक्सर जब 'बीज' रूप में कहानी सूझती है तो उसी समय उसका व्यापक महत्व भी नज़र आ जाता है और किसी हद तक उसमें निहित द्वन्द्व भी। यह भी कहा जा सकता है कि वह सूझती ही तभी है जब उसमें कोई महत्व पाया जाये, जिसका सम्बन्ध मेरी निजी मानसिकता से हटकर, अधिक व्यापक स्तर पर जीवन से हो।

यह भी हो सकता है कि लिखते-लिखते कहानी अपने मूलरूप से दूर होती चली जाये, उससे बिलकुल ही नाता तोड़ ले, और किसी दूसरे रास्ते ही चल पड़े। कथा-तत्व एक बार ही नहीं सूझता, लिखते समय बार-बार भी सूझता रहता है, यहाँ तक कि कई बार उसका पहला 'बीज' अवलम्ब मात्र रह जाता है। जितना गहरा हम डूबते चले जायें जितना अधिक हमारी भावनात्मकता, संवेदन तथा कल्पना सक्रिय होंगे, उतना ही अधिक हम अपने को व्यक्त कर पाने में समर्थ होंगे। इस दौरान तर्क भी सक्रिय होता है, वह हमारी भाषा को परखता रहता है, अतिशयोक्ति से हमें बचाता रहता है, यथार्थ के धरा-तल पर बने रहने में हमारी मदद करता है पर, लिखते समय तर्क इतना सक्रिय नहीं होता जितना कहानी लिख चुकने पर, उस पर दूसरी बार काम करते समय।

(७) फ़िल्म में मेरा अभिनय अनायास ही हुआ। फ़िल्म के निर्देशक, सईद मिर्ज़ा किसी ऐसे आदमी की तलाश में थे जो पेशेवर अभिनेता न हो, एक सीधा सादा नागरिक हो जो उस भूमिका में सही बैठ सके। कुछ दिनों के लिए वह दिल्ली आये हुए थ। यहीं पर हमारी मुलाक़ात हुई और उन्होंने 'मोहन जोशी' फ़िल्म में अभिनय करने का प्रस्ताव रखा। ज़ाहिर है, उन्हें लगा होगा कि मैं इस भूमिका में फिट बैठ सकता हूं। फिर, नेकी और पूछ-पूछ, मैंने हाँ कर दी, और काम शुरू हो गया। फ़िल्म का कथानक भी मुझे खूब पसन्द था।

फ़िल्मी काम मैंने देखा तो बहुत था—मेरे भाई बड़ी उच्चकोटि के सिने अभिनेता थे—पर मैंने फ़िल्मों में काम पहले नहीं किया था। हाँ, रंगमंच का मुझे खासा अनुभव था 'इप्टा के स्टेज पर भी और कालिज विश्वविद्यालय के स्टेज पर भी। इसलिए विशेष कठिनाई नहीं हुई।

कला की अलग-अलग विधाएँ भले ही किन्हीं बातों में मिलती-जुलती हों, पर प्रत्येक का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होता है, उसके अपने गुण, विशिष्टताएँ, अनुशासन आदि होते हैं। एक का स्थान दूसरी विधा नहीं ले सकती। हम यह नहीं कह सकते कि यदि किताबें छपना बन्द हो जायें तो सिनेमा इसकी क्षतिपूर्ति कर देगा। पर जहाँ तक जनता तक पहुँचने का सवाल है—और विशेषकर हमारे देश में जहाँ आधे से ज्यादा लोग लिख-पढ़ नहीं सकते—सिनेमा की (और अब टी० वी० की) विधा अधिक सक्षम और सशक्त है।

(८) मैं सोद्देश्य लेखन का तो समर्थक हूँ परन्तु लेखक की उस मन स्थिति का समर्थक नहीं हूँ, जिसके अनुसार लिखना, दूसरों को उपदेश देना हो। यदि कोई लेख

इस मन स्थिति म लिखने बैठता है तो वह भूल करता है। साहित्य मे सोद्देश्यता, साथकता ब_त बडे गुण हैं, परन्तु उन्ह साहित्य मे सायास नही उतारा जा सकता। लेखक का सवेदन, उसकी दृष्टि, जीवन मे क्या देखती है, क्या सोचती है, वह कहाँ तक जिदगी से स्वय जुडा है, जिदगी के बारे म क्या सोचता है, इस सब के अनुरूप ही उसके साहित्य म सोद्देश्यता आयेगी। बाहर से ओढ़ी हुई सोद्देश्यता का मैं समथक नहीं हूँ। साहित्य, लेखक के सवेदन की गहराइयो मे स निकलता है, वह एक नपी-तुली, सायास प्रक्रिया के फलस्वरूप नही निकलता। लखक वही कुछ लिखेगा जिसे वह गहरे मे महसूस करता है, इस दृष्टि से लिखे गय साहित्य म निश्चय ही सोद्देश्यता आयेगी। क्योकि जिस हद तक वह अपने अदर जिदगी से जुडता है, उसी हद तक वह जिदगी की विसगतियो के प्रति भी सचेत होगा, उन्ह महसूस करेगा। पर यदि जीवन के साथ उसका रागात्मक सम्बन्ध नही है, तो मात्र बौद्धिक मान्यता के आधार पर वह केवल सतही किस्म का सोद्देश्य साहित्य ही लिख पायेगा। बौद्धिक मान्यता का मैं ऊँचा मूल्य आँकता हूँ, क्योकि कोई भी रचना विचार से शून्य नहीं होती, किन्तु बौद्धिक मान्यता, अलग-थलग कुछ नहीं कर सकती। तर्क क आधार पर रचना नही रची जाती। विचार भी जब रचना मे खप कर आता है तभी प्रभावशाली होता है। और अपनी छाप छोडता है। लेखन म सोद्देश्यता लाने से पहले, लेखक की दृष्टि मे सोद्देश्यता का पाया जाना, मैं समझता हूँ, बहुत जरूरी है।

'रचना और समाज के अन्तर्द्वन्द्व तथा अन्तर्सम्बन्ध को' मैं रचनात्मक दृष्टि से जरूरी मानता हूँ, बेशक, लेकिन उस अन्तर्द्वन्द्व को पहचानते हुए, अपनी रचनात्मक नजर से पहचानते हुए, उससे गहरे म उद्वेलित होने पर ही मैं कलम उठा पाऊँगा। जब मुझे उस अन्तर्विरोध में कहानी नजर आयेगी तभी मैं कहानी लिख पाऊगा। सामाजिक अन्तर्विरोधों से सम्बन्धित किसी विचारक का विद्वत्तापूर्ण लेख पढ़ जाने पर मुझे उस अन्तर्विरोध को देखने-पहचानने की दृष्टि मिलती है, इसमे सदेह नही मेरी जानकारी बढ़ती है, मेरी सूझ भी बढ़ती है। पर उस लेख के पढ़ जाने पर, यदि मैं मेज पर जा बैठूँ और उस जानकारी के अनुरूप कहानी लिखने की चेष्टा करूँ तो मुझे सफलता नही मिलेगी। मात्र बौद्धिक समथन तथा उत्साह काफी नही है।

(६) लेखक की कल्पना ही, उसकी रचना को रूप देती है, यथाथ जीवन तो कच्ची सामग्री जुटाता है। कल्पना, उस कच्ची सामग्री को न केवल रूप देती है, बल्कि उसे कला की ऊचाइयो तक भी पहुँचा सकती है। शरत्चन्द्र की रचना, 'अभागिनी का स्वग' मे, जब छोटा सा बालक, अपनी माँ के शव के गाड दिये जाने पर आकाश मे आँखें फाडे यह देखता रहता है कि कब उसकी माँ की झाँकी, स्वर्ग की ओर जाने लगेगी, तो कहानी का कलात्मक स्तर बहुत ऊँचा उठ जाता है। इसी प्रकार 'माँ का दिल' शीर्षक किसी फ्रासीसी लेखक की कहानी म, एक युवक अपनी प्रेमिका के बहकावे मे आकर अपनी माँ को मार डालता है और उसका दिल तश्तरी पर रख अपनी प्रेयसी क पास ले जाता है। प्रेमिका ने उससे विवाह करने क लिये यही एक शत रखी थी। पर दहलीज

सांघते हुए वह फिसल कर गिर जाता है, और माँ का दिल फर्श पर जा गिरता है। उस वक्त वह वेश्या-प्रेमिका तो ठहाका मार कर हसने लगती है, पर फर्श पर पड़े उस मास लोथड़े—माँ के दिल—मे से आवाज़ आती है, बेटा, तुम्हें चोट तो नही लगी ?"

लेखक की कल्पना ने निश्चय ही यथार्थ जीवन से उठायी गयी एक छोटी-सी घटना अथवा स्थिति को बड़े मार्मिक बल्कि ऊंचे कलात्मक स्तर पर अभिव्यक्त किया है।

कल्पना से मेरा अभिप्राय रचनात्मक कल्पना से है, मन की हवाई उड़ानों से नही है।

(१०) प्रत्येक विधा कड़े अनुशासन की माँग करती है, सहज सरल कुछ भी नहीं होता। जब बीज रूप मे कोई चीज़ सूझती है, तो उसी के साथ कुछ कुछ उसके अनुरूप विधा का भी भास होता है कि वह कहानी के रूप म मुझे सूझी या नाटक के रूप मे या उपन्यास के रूप मे किसी हद तक विधा का निर्णय उसी समय हो जाता है, पर लिखने बैठो तो कलम चले या नहीं चले, वह चीज नाटक अथवा कहानी बन पाये या नहीं बन पाये, इसका कोई भरोसा नही होता। यों मूलरूप म कथानक मे यदि नाटकीय तत्त्व अधिक होगे तो उस पर नाटक लिखना ही उचित होता है। हानूस ग़रीब कुफ्लसाज़ है, वह घड़ी बनाता है उसे राजा अधा कर देता है, वह घड़ी तोड़ने की कोशिश करता है आदि आदि मुझे कथानक मे नाटकीय तत्त्व अधिक लगे थे। उपन्यास, अपने गठन की दृष्टि से अधिक स्वतन्त्र विधा है इसमे उसकी बुनावट के कोई नपे तुले नियम नही है लेखक अपनी ओर से जो टिप्पणी करना चाहे करे, जो थोरा देना चाहे दे, पर ऐसा नाटक म सभव नहीं नाटक मे केवल पात्र बोलता है वहाँ सब कुछ सवाद के माध्यम से कहना होता है, कहानी का अनुशासन इन दोनों से अलग है। भले ही कलेवर म वह कितनी ही बड़ी क्यों न हो वह एक ही नुक्ते के इर्द गिर्द बुनी जाती है।

यो, नाटक की विधा मुझे बड़ा आकृष्ट करती है वह अधिक मुखर दो टूक और जीवन से सीधा साक्षात् करानेवाली विधा है।

(११) युग के साहित्यिक आन्दोलन का प्रभाव रचनाकार पर ज़रूर पड़ता है, परन्तु मुख्यत रचनाओं द्वारा। रचना मे किसी नई दृष्टि का भास मिले नये मूल्यो का, अलग तरह के संवेदन का, और साथ म वह रचना, रचना के स्तर पर उत्कृष्ट हो तो ज़रूर गहरे मे छू जाती है और आपके चिंतन को भी उद्वेलित करती है। ऐसी रचनाओ म युग की सच्चाई झलकती है उसके पीछे बदलती हुई दृष्टि का भी निर्देश मिलता है। आन्दोलन दूसरे स्तर पर— बौद्धिक स्तर पर—आपको सचेत करते हैं वे युगबोध को परिभाषित करते हैं, दृष्टि और मान्यताओं की व्याख्या करते हैं। पर जिस तरह किताब पढ़कर आदमी तैराकी नहीं सीख सकता, उसके लिये उसे पानी म कूदना ही होगा वैसे ही मात्र बौद्धिक समर्थन से हम बहुत दूर नहीं जा पाते।

हमारे साहित्यिक आन्दोलनों ने विशेषरूप से कहानी आन्दोलनों ने कहानी को केन्द्र मे रख कर खूब बहस मुबाहिसा किया है पर प्रत्येक आन्दोलन के पीछे सकारात्मक मन्तव्य ही रहे हों, ऐसा नहीं है। हमारे काल अथवा युग का स्वरूप आये दिन नहीं

बदलता, जबकि हिन्दी कहानी मे हर दस साल बाद, युगबोध को ही लेकर किसी नये आन्दोलन का सूत्रपात होता रहा है। प्रत्येक आन्दोलन के पीछे कोई न कोई पत्रिका भी रही है, उसमे छपने वाली कहानियाँ किसी विशिष्ट दृष्टि की परिचायक रही हों, ऐसा भी नहीं हुआ। मेरे लिये तो कहानी पढ़कर यह कहना भी मुश्किल होता रहा है कि कहानी, समानान्तर कहानी है, प्रयोगवादी कहानी है अथवा कोई और कहानी है। जमने-जमाने, उठा पटक से भी आन्दोलन मुक्त रहे हों, ऐसा भी नहीं है।

पर इस सबके बावजूद साहित्य के क्षेत्र में बहसों का उठना, नये रुझानों की पहचान, गर्मा गर्मी को मैं स्वाभाविक प्रक्रिया मानता हूँ। हाँ, हिन्दी कहानी में यह कुछ जरूरत से ज्यादा हुआ है। वह इसलिये कि उसके पीछे मन्तव्य, एक नहीं, अनेक रहे हैं।

हिन्दी कहानी निश्चय ही आज, साहित्य की प्रमुख विधाओं में से है, उसके विकास और लोकप्रियता मे इन आन्दोलनों की क्या भूमिका रही है, यह आँक पाना मेरे लिये कठिन है पर कुछ बाधक भूमिका तो जरूर रही है।

पर मूलत, कहानी में से जिन्दगी बोलती है, उसी के स्वर प्रामाणिक रूप से मुखरित हों, हमारा जीवन से साक्षात् करायें, हमारे लिये प्रेरणाप्रद हो, कलात्मक स्तर पर हम आश्वस्त करें तो हमें उस पर कोई चिप्पी अथवा लेबल लगाने की जरूरत नहीं रहती।

(१२) प्रगतिशील कहानियाँ भी जीवन की ही कोख से निकली कहानियाँ हैं। यदि वे जीवन का प्रामाणिक चित्र प्रस्तुत करती हैं, उनमें सच्चाई है, मार्मिकता है, तो सपाट बयानी के बावजूद भी वे सार्थक और सुन्दर हो सकती हैं। प्रगतिशील कहानीकारों ने उत्कृष्ट कहानियाँ न लिखी हों, ऐसा नहीं है।

व्यक्तिगत जीवन पर केंद्रित कहानियों और सामाजिक संदर्भ में व्यक्ति को दिखाने की चेष्टा करने वाली में एक बात में अंतर जरूर पाया जाता है। सामाजिक संदर्भ एक बहुत बड़ी चुनौती बन कर लेखक के सामने आता है। वह लेखक से, जीवन को अधिक व्यापक स्तर पर जानने समझने और उस व्यापक परिवेश में व्यक्ति के स्वरूप और उसकी भूमिका को दिखाने की अपेक्षा करता है। नपा-तुला यहाँ भी कुछ नहीं है, हाँ, साहित्यिक अभिव्यक्ति में एक महत्वपूर्ण आयाम जुड़ता है, जिसे नजरन्दाज नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से प्रगतिशील साहित्य हमारी मानवतावादी परम्परा के विकास का अगला चरण है।

प्रगतिशील लेखक के लिये मान्यताओं-मूल्यों का महत्व है, सामाजिक परिवेश और उसके भीतर काम कर रहे तत्वों की जानकारी का भी गहरा महत्व है, पर अन्तत प्रगतिशील लेखक भी जीवन से ही साक्षात् करता है, और जीवन को ही आँकता चित्रित करता है। यान्त्रिक रूप से, मान्यताओं की बैसाखियों के बल पर कहानियाँ नहीं लिखी जातीं भले ही वे प्रगतिशील कहानियाँ हों अथवा अत्याधुनिक 'मृत्युबोध' की कहानियाँ हों।

एक बात जरूर है कि जब आप मनुष्य को सामाजिक परिवेश में दिखाते हैं, तो जहाँ एक ओर उसे आप उसके निजी खोल से निकाल कर बड़े क्षेत्र म ले आते हैं, वहाँ दूसरी ओर उसके जीवन की बागडोर दैवी शक्तियों आकस्मिकता, आदि से हट कर बहुत कुछ आर्थिक सामाजिक तत्वों के हाथ मे आ जाती है, जिनसे बहुधा हम परिचित होते हैं शायद इस कारण कहानी म सपाट बयानो या दोहराव का भास होने लगता हो। पर यह भी कहानी के क्षेत्र को सीमित नही करती बल्कि उसके सामने विकास की नई-नई समावनाए प्रस्तुत करती है। होरी को प्रेमचन्द ने सामाजिक परिवेश मे दिखाया और हमारे साहित्य के लिये एक अमर कृति छोड गये।

(१३) जहाँ तक मैं समझा हूँ 'अपने कैरेक्टर के प्रति निमम होने' का अथ है, ईमानदार होना। मैं सहमत हूँ। जि दगी से साक्षात् हम तभी कर पाते हैं जब हमारी आँखों पर से पूर्वाग्रहो, अ धविश्वासो, मतवादो आदि का चश्मा उतरा हुआ हो, और हम जीवन को स्पष्टत देख पाने मे समथ हों, इसी दृष्टि से तब हम अपने पात्रों को भी देख और समझ पाने मे समथ होंगे। साहित्य म लाग-लपेट के लिये कोई स्थान नही होता। अपने पात्रों के प्रति निर्मम होना और स्वय अपने (लखक के) प्रति लेखक का निमम होना, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

लेकिन वस्तुपरक दृष्टि से जीवन को देखना, उस तटस्थ दृष्टि से देखना नही है। लेखक तटस्थ नही होता, वह जुडता है और गहरे मे जुडता है।

(१४) रचनाकार अपनी रचना के साथ, पहले वाक्य से ही जुडा होता है। प्रत्येक रचना लेखक की ही कलम मे से निकलती है उसके अन्दर से ही बन कर आती है जिसका मतलब है कि उसकी भावनाओं विचारो, मान्यताओं, संस्कारो उसकी कल्पना आदि मे से ही रूप लेती हुई बाहर आती है। कहानी को खुद बोलना चाहिये से मतलब इतना ही है कि वह प्रामाणिकता की कसौटी पर खरी उतरे यह नही लगे कि इसम बहुत कुछ है जो आरोपित है अथवा इसमे लेखक ने, अपनी बात कह पाने के लिये बडी जोड-तोड की है। उसमें स्वाभाविकता और विश्वसनीयता हो। इस तरह कहानी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व ग्रहण कर लती है।

(१५) 'बसन्ती' उपन्यास, यदि 'राधा-अनुराधा' का विस्तृत रूप है तो केवल इस अर्थ मे कि दोना की मुख्य पात्र घरो में चौका-बतन करनेवाली निम्न वर्ग की युवतियाँ हैं किसी हद तक, दोनो के अनुभवों मे समानता का पाया जाना अनिवाय है। यह मुमकिन है कि 'राधा अनुराधा' लिखने के बाद उन परिस्थितियों तथा पात्रो का प्रभाव मेरे मन म बना रह गया हो और जब बसन्ती सामने आयी तो वह फिर से जाग उठा हो। पर यों, सचेत रूप से ऐसा नहीं हुआ। दोनों रचनाओं के मुख्य पात्र जीवन स ही लिये गये हैं, लेकिन जब मैंने 'बसन्ती' को लिया तो मुझे राधा अनुराधा भूल चुकी थी, या कम से कम सचेत रूप से मेरे मन मे नहीं थी। दोनों कृतियो म अन्तर भी है। राधा-अनुराधा की युवती की तुलना म बसन्ती मे अधिक आत्मविश्वास और दृढ़ता पाया जाती है, और स्वभाव का खिलन्दरीपन भी। दोनों की परिस्थितियों मे भी अन्तर है।

(१६) हर कहानी उपन्यास में नये नये नाम रखने पड़ते हैं, ताकि उनकी स्पष्ट पहचान बन सके। पर कभी कभी पिछले पात्रों के नाम भूल भी जाते हैं और अनायास ही कोई नाम दोहराया जाता है।

पर शायद यह इतनी सीधी सादी बात भी नहीं है। जो नाम उठाये जाते हैं, उनका कुछ न कुछ सम्बन्ध अपने विशिष्ट परिवेश से होता है। यदि मैं वेश्याओं के बारे में कहानी लिखूं तो एक वेश्या का 'चम्पकली' अथवा 'मोतिया' नाम तो चल जायेगा पर 'वेदवती' नहीं चलेगा। देवव्रत, वेदव्रत आदि भी ऐसे नाम हैं जो गुरुकुल से, आर्यसमाजी माहौल से ज्यादा जुड़ते हैं, और चूंकि 'पहला पाठ' और 'तमस' दोनों में देवव्रत नाम के व्यक्ति लगभग एक जैसे माहौल से ही आये हैं, इसलिये भ्रम हो सकता है कि एक ही व्यक्ति को पहले 'पहला पाठ' में और बाद में 'तमस' में रखा गया है पर इस समानता के बावजूद, ऐसा जानबूझ कर नहीं किया गया, हां, दोनों पात्रों का मानसिक गठन एक जैसा हो सकता है, इस सम्भावना से इंकार नहीं है।

(१७) यदि कोई मित्र किसी घटना का उल्लेख करे, जो उस पर बीती हो तो उससे पैदा होने वाली प्रतिक्रिया और भावनाएं बिल्कुल वैसी तो नहीं होंगी, जैसी उस समय जब वही घटना मुझ पर बीती हो। बड़ा फ़र्क है, आत्मानुभव इस दृष्टि से अधिक गहरा और मार्मिक होता है। परन्तु अपने पर बीते, या किसी दूसरे पर, कहानी लिखते समय वह 'निजी अनुभव' या 'सुनी-सुनायी' बात नहीं रह जाता। कहीं-कहीं पर ऐसे अंश जरूर रह जाते हैं जिनसे पढ़ने वाले को लग सकता है कि कहानी निजी अनुभव पर आधारित है, पर आम तौर पर ऐसा नहीं होता। निजी अनुभव को भी परोक्ष दृष्टि से देखा और आंका जाने लगता है। पर मैंने देखा है कि निजी अनुभव जब कहानी में उतरता है तो उसमें एक प्रकार का ताज़ापन आ जाता है, वह थोड़ा लीक से हट कर होता है। बाहर से उठाये गये कथानक में सामान्यीकरण अधिक होता है। साहित्य सृजन में निजी अनुभव की बहुत बड़ी देन होती है। जहां कथानक बाहर से भी उठाया गया हो, वहां भी लेखक की यही कोशिश रहती है कि उसमें आत्मानुभूत जैसी आत्मीयता पायी जाये।

(१८) यदि विचारधारा में आपका गहरा विश्वास है, तो वह आपका पथप्रदर्शन करेगी, भले ही आप सामाजिक क्षेत्र में सक्रिय हों, अथवा साहित्यिक क्षेत्र में। विचार, मान्यता, आस्था यदि लेखक के रचनात्मक व्यक्तित्व में रच बस जायें, तो उसके सृजन के लिये हितकर ही होंगे बाधक नहीं बनेंगे। निर्गुणिया कबीर ने कितना ओजस्वी काव्य रचा है। तुलसी की आस्था ने रामचरितमानस को अनुप्राणित किया है, पर यह तभी है जब विचारधारा आपके व्यक्तित्व का, आपकी दृष्टि का अंग बन गयी हो। हमारे इस काल में भी विचारधारा से प्रतिबद्ध अनेक ऐसे लेखक हुए हैं जिन्होंने साहित्य को चार चांद लगाये हैं। प्रेमचन्द, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, नाज़िम हिक्मत, आगस्टीनो नेटो, पाब्लो नेरुदा लुई अरागान, मक्सीम गोर्की, ब्रेख्त आदि आदि, सभी विश्व स्तर के लेखक रहे हैं और सभी अपनी विचारधारा से प्रतिबद्ध रहे हैं।

प्रतिबद्धता—यदि लेखक ने उसे अंगीकार किया हो—तो लेखक को ताकत देती

है, दृष्टि देती है। पर यदि वह 'रस्मी' प्रतिबद्धता हो या मात्र अनुशासन की प्रतिबद्धता हो और उसमें आप बधा-बँधा महसूस करते हों तो वह निश्चय ही 'वैचारिक परतन्त्रता' को जन्म देगी। दूसरे, साहित्य म विचार का स्थान तो बहुत ऊंचा है पर साहित्य तक अनिवार्य नहीं होता, इस कारण विचारधारा, मात्र विचारों के स्तर पर ही बनी रहे लेखक के रचनात्मक व्यक्तित्व का अंग नहीं बने, तो भी उससे विशेष लाभ नहीं होगा।

(१९) सातवें आठवें नवें दशक के रचनाकारों की फुटकर कहानियां पढ़ी तो हैं, पर जमकर नहीं पढ़ी हैं, गहरा पैठ कर पढ़ने का अवसर नहीं मिला इसलिये उनके नाम तो भली भांति जानता हूँ पर उनकी विशिष्टताओं के बारे में अधिकार के साथ कुछ नहीं कह सकता। यों, समूचे तौर पर हिन्दी कहानी को बहुत से हस्ताक्षर समृद्ध बना रहे हैं।

(२०) मैं 'रचनात्मक खतरे' का अर्थ नहीं समझा। क्या इसका अर्थ यह है कि साहित्यिक रचनात्मकता खतरे में है ? उसे खतरा किससे है ? क्या यन्त्रीकरण से, मशीनी युग से, कि टेलिविजन, रेडियो विडियो आदि से, जिनके प्रभाव से रचनात्मक साहित्य गौण होता जा रहा है ? या उस उपभोक्ता संस्कृति से जिसके प्रभावाधीन साहित्य भी एक बिकाऊ चीज बन गयी है ? या उस दर्शन से, जो मानवजाति को किसी अंधी गली में बन्द पाता है, जिसके सामने निस्तार का कोई रास्ता नहीं ? किस अर्थ में रचनात्मकता खतरे में है ? इसमें शक नहीं कि उपभोक्ता संस्कृति का दबाव बहुत अधिक है और यह उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। सस्ते मनोरंजन जुटानेवाले साहित्य की मांग बढ़ रही है।

पर इसके लिये अपने देश की वर्तमान स्थिति को सामने रख कर विचारना हमारे लिये नितांत आवश्यक है, बाहर से उठायी गयी अवधारणाएँ हमें दिग्भ्रमित ही करेंगी। इन खतरों के बावजूद हमारी स्थिति एक विकासोन्मुख देश की स्थिति है, जो विषमताओं, अन्तर्विरोधों, पिछड़ेपन, विसंगतियों आदि से जूझ रहा है। और ये सब रचनात्मक प्रतिभा के लिये चुनौती बन कर आ रहे हैं, मात्र 'खतरा बन कर नहीं आ रहे हैं पिछले तीन-चार दशकों में प्रतिभा का ह्रास इतना नहीं हुआ है जितना विकास हुआ है। और यह, उन सब बाधाओं के बावजूद जो हमारा रास्ता रोके खड़ी हैं।

(२१) अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आणविक युद्ध का खतरा निश्चय ही बहुत बड़ा खतरा है। एक तो आणविक हथियारों के उत्पादन की होड़, नित नये नये भयावह आविष्कार मनुष्य मात्र के लिये जीवन-मरण का सवाल बन गये हैं। न केवल उत्पादन ही बल्कि संसार के कोने-कोने में उन हथियारों से लैस अड्डे बनाना—जैसा कि संयुक्त राज्य अमरीका की नीति रही है—युद्ध के खतरे को लोगों के घरों तक ले आयी है। हमारे उत्तर-पश्चिम में पाकिस्तान, दक्षिण में हिन्द महासागर में स्थित डीगो गार्सिया का आणविक अड्डा, मध्य सागर में अड्डे, दक्षिण कोरिया में भयंकर अड्डा जिसमें सुना है एक हजार आणविक हथियार स्थापित हैं समूचे यूरोप में जगह-जगह प्रक्षेपणास्त्रों का रखा जाना आदि-आदि, इसने समूची मानवजाति को अपनी जकड़न में ले लिया है। इसके

प्रति सचेत होना निश्चय ही लेखक का दायित्व है। विश्वशान्ति के लिये आवाज उठाना मात्र रस्मी बात नहीं रह गयी है, यह भी लेखकीय दायित्व में आता है।

देश के अन्दर, प्रतिक्रियावादी ताकतें ज़ोर पकड़ रही हैं—विसजनवाद, धर्मांधता, जातिवाद, साम्प्रदायिक तत्वों का बढ़ता प्रभाव, बहुत बड़े खतरे हैं, विशेषरूप से इस अर्थ में कि हमारे बहुजातीय, बहुभाषी देश में हम केवल मिलजुल कर ही रह सकते हैं, इसका कोई विकल्प नहीं है। कोई इलाका ऐसा नहीं जहां सभी तरह के लोग न बसते हों, इस स्थिति में विसजनवादी दृष्टि देश के लिए बहुत बड़ा संकट पैदा कर सकती है। हमारे यहाँ धर्म निरपेक्षता अथवा सेक्युलरिज्म की जड़ें अभी मजबूत नहीं हो पायी थीं, बल्कि उत्तरोत्तर कमजोर पड़ रही थीं, कि यह नया खतरा पैदा हो गया। इसका मुकाबला भी लेखक अपने ढंग से करेगा।

फिर आर्थिक और सामाजिक विषमताएँ हैं जो अन्तर्विरोध का मूल कारण बनती हैं, एक विशेष प्रकार की आर्थिक पद्धति जड़ जमा रही है जो जनसाधारण के हित में नहीं है।

सांस्कृतिक स्तर पर, हम अभी भी— ६५ प्रतिशत निरक्षरता के कारण, तथा अनेक अन्य कारणों से, बहुत पिछड़े हुए हैं और नई-नई चुनौतियां और खतरे हमारे सामने आ खड़े हुए हैं। फिर, हमें अपनी अस्मिता को पहचानने, उसे विकसित करने का भी मौका नहीं मिल रहा है। पाश्चात्य सांस्कृतिक मूल्यों का प्रभाव हमें, अपने आपको पहचानने में बाधक बन रहा है। आदि-आदि।

हम इन चुनौतियों से भाग नहीं सकते।

(२२) किसी संगठन से जुड़े बिना कोई लेखक, अपना लेखन कार्य नहीं कर सकता, ऐसा तो कभी किसी ने नहीं कहा। लेकिन अक्सर, हम ख्याल लेखक एक मंच पर इकट्ठा होते हैं, मिलकर, अपनी लेखकीय समस्याओं को लेकर, देश और समाज की समस्याओं को लेकर, सांझी आवाज उठाने के लिए, एकबद्ध होकर अपने विचार लोगों तक पहुँचाने के लिये ऐसा सदा होता आया है। देश की आजादी के पहले भी ऐसे संगठन बनते रहे हैं और बाद में भी। कुछ मंच अस्थायी होते हैं, जैसे कुछेक वक्ती मांगों को लेकर, कुछ मंच अधिक व्यापक और गम्भीर प्रश्नों को लेकर, आदि। लेखकों के संगठन का बनना स्वाभाविक होता है। आज प्रगतिशील लेखक महासंघ लेखकों का एकमात्र संगठन हो, ऐसा नहीं है।

आज का सामाजिक जीवन, पहले से कहीं अधिक जटिल हो गया है। दुनिया भी उत्तरोत्तर छोटी होती जा रही है। साहित्य में यथार्थ के प्रति लेखकों का उन्मुख होना, अकारण नहीं हुआ है। आज की जिन्दगी के दबाव उसे सामाजिक प्रश्नों के प्रति सचेत होने के लिये बाध्य भी कर रहे हैं एक नागरिक के नाते ही नहीं, एक लेखक के नाते भी। यदि धर्मांधता की चुनौती का मुकाबिला करने के लिये धर्म निरपेक्षता में विश्वास करने वाले लेखक मिलकर अपनी आवाज उठाते हैं तो मैं समझता हूँ वे अपना दायित्व निभा रहे हैं। इसी भाँति भाषा के सवाल को लेकर, अथवा विश्वशान्ति के सवाल को

लेकर अथवा संस्कृति और साहित्य से जुड़े प्रश्नों को लेकर। मैं इसे संगठन की सकारात्मक भूमिका मानता हूँ।

कलम के प्रभाव से इन्कार नहीं है। और जब प्रेमचन्द ने कहा था कि लेखक अपने समाज के सामने चलने वाली मशाल है तो उसमें बहुत बड़ी सच्चाई निहित है। और यदि एक पिछड़े हुए देश में, लेखक संगठित रूप से सामने आता है, और अपने समाज में, अपनी कलम के द्वारा भी और मिलकर भी आवाज़ उठाते हुए, कोई सकारात्मक भूमिका निभाता है, तो मैं उसका स्वागत ही करूँगा।

पर संगठन का एक और पहलू भी है। यदि मैं अपना उल्लू साधने के लिये किसी संगठन से जुड़ता हूँ, पदलोलुपता अथवा कोई निजी स्वार्थ, और इस कारण संगठन, धापाधापी का अड्डा बन जाये, तो ऐसे संगठन की भूमिका नकारात्मक ही होगी। या संगठन संग नज़री का शिकार हो जाये, अपने ध्येय से भटक कर छोटी, तुच्छ बातों में उलझ जाये तो उसकी भूमिका नकारात्मक ही होगी।

आपने 'वर्ग संगठन' शब्द का प्रयोग किया है। लेखकों का अपने में कोई वर्ग नहीं होता, वे किसी वर्ग के हितों के लिये संघर्ष कर सकते हैं यह अलग बात है, पर वे स्वयं किसी वर्ग विशेष में से निकल कर आये हों ऐसा नहीं है। हाँ, वर्तमान स्थिति में, अधिकांश लेखक मध्यवर्ग अथवा निम्न मध्यवर्ग से आते हैं। पर इससे भी वे वर्ग-संगठन नहीं बनते।

★

परिचर्चा



संयोजक रमाकांत श्रीवास्तव

लोकसंस्कृति पर परिचर्चा आयोजित करते समय यह आवश्यक लगा कि विभिन्न क्षेत्रों में क्रियाशील सृजनधर्मियों के विचार आमंत्रित किये जाएँ। हमें जिन विद्वानों से विचार प्राप्त हुए वे अपने क्षेत्र के ज्ञाता तो हैं ही, वे लोकसंस्कृति से गहराई से जुड़े हुए हैं तथा उसमें जुड़े प्रश्नों पर संवेदनशील हैं।

के० ले० हुब्बार और भाऊ समय प्रख्यात चित्रकार और कलाचिंतक हैं। डा० प्रेमलता शर्मा संगीतशास्त्र की प्रख्यात विदुषी हैं और रंगमंच से भी जुड़ी हैं। डा० सुनील कोठारी प्रसिद्ध कला समीक्षक हैं और नृत्य विधा से जुड़े हैं। धनंजय वर्मा प्रसिद्ध आलोचक हैं और लोककला के क्षेत्र से जुड़े रहे हैं। अरुण कमल, नारायणलाल परमार और जीवन यदु ख्यात कवि हैं और उनकी रचनाशीलता की गहराई में लोकतत्व विद्यमान हैं। डा० नंदूलाल चोटिया प्रसिद्ध जनकवि हैं जो मजदूर आंदोलनों से भी जुड़े हुए हैं।

इन विद्वानों के विचार समग्रता में लोकसंस्कृति के ज्वलंत प्रश्नों के कई पहलुओं को उजागर करते हैं। निम्नलिखित सात प्रश्नों पर इनके विचार आमंत्रित किये गये थे—

प्रश्नावली

(१) लोकसंस्कृति और लोककलाओं की शुद्धता आपकी दृष्टि में क्या अर्थ रखती है?

(२) हमारे ग्रामीण और आदिवासी क्षेत्र आर्थिक-सामाजिक दृष्टि से विकसित होने जा रहे हैं। यह स्वाभाविक है कि उनकी जीवन-पद्धति में होने वाले परिवर्तनों और उनकी विकसित होती हुई चेतना के कारण उनके कलारूपों और माध्यमों में नयापन आयेगा। कुछ लोग मानते हैं कि ऐसे परिवर्तनों के कारण उनकी संस्कृति नष्ट होगी। इस संबंध में अपनी धारणा से अवगत कराइये।

(३) समय के बदलाव के साथ लोककलाओं में सहज परिवर्तन होते हैं। किन्तु कई बार उनका उपयोग व्यावसायिक दृष्टि से किया जाता है। कभी कभी आसानी से नाम कमाने की प्रवृत्ति से भी इनमें मिलावट कर दी जाती है। आप विकास और मिलावट की सीमारेखा क्या मानेंगे? और उसे किस तरह परिभाषित करेंगे?

(४) क्या लोकसंस्कृति की सुरक्षा की जानी चाहिये? यदि हाँ तो वह किस तरह संभव है? सुरक्षा करने में उसको रूढ़िबद्धता के खतरे से कैसे बचा जा सकता है?

(५) आपकी दृष्टि में आकाशवाणी, टी॰ वी॰ तथा अन्य सरकारी गैर-सरकारी माध्यम लोकसंस्कृति के प्रति कितने संवेदनशील और जिम्मेदार हैं ?

(६) लोककला माध्यम हमारी आधुनिकतम चिन्ताओं और समस्याओं को सप्रेषित करने में किस हद तक समर्थ है ?

(७) शास्त्रीय और लोककलाओं के बीच आप रिश्ता मानते हैं या दूरी ? आज के दौर में उनके कितने पास आने की संभावनाएँ हैं ? ऐसा होने पर कौन सी सावधानियाँ आप बरतना चाहेंगे ?

॥ के॰ के॰ हेबबार ॥

(१) लोककला ऐसे लोगों की सहज अभिव्यक्ति है जिन्हें कोई प्रशिक्षण नहीं मिला है। यह भावना-प्रधान होती है और उसमें आत्म-अभिव्यक्ति होती है। ये सीधे-सादे लोग 'कला, कला के लिये' सिद्धांत की तृप्ति के लिये नहीं बल्कि अपने जीवन और परिवेश को कलात्मक रूप से सम्पन्न बनाने के लिये रगते और गढ़ते हैं। आदिम गुहा मानव के परंपरागत सौन्दर्य-ज्ञान ने उसे मिट्टी के कटोरे के ऊपरी हिस्से को कुछ खरोचों से सजाने के लिये प्रेरित किया होगा। सम्भवतः ऐसी ही घटना ने, बाद में उसे अपनी प्रेमिका के लिये हार बनाने की ओर बढ़ाया होगा।

सहजता और सृजनात्मकता का गुण लोककला में निरंतर विद्यमान रहे—यही उसकी शुद्धता है।

करना चाहिए ताकि शहर की जनता उससे सामान्वित हो सके। यदि कलाकारों की मौलिकता पर प्रहार न हो तो रूढ़िबद्धता नहीं आयेगी।

(६) लोककला माध्यम हमें अपनी जमीन से जोड़कर रखते हैं, जिसके माध्यम से काफी सीमा तक आधुनिक विचारों और समस्याओं को हम सम्प्रेषित कर सकते हैं।

(७) लोककला सहजता और आध्यात्मिकता से युक्त है। उसकी तुलना में शिष्ट-शास्त्रीय कला अत्यधिक अलंकृत और चित्रात्मक है। मेरे मतानुसार, लोककला ही शास्त्रीय कला की जननी है।

॥ डा० प्रेमलता शर्मा ॥

(१) शुद्ध को समझने के लिए उसके विपरीतार्थक शब्द 'मिश्र' और 'विकृत' सहायक हो सकते हैं। अर्थात् निषेधात्मक रूप से कहा जा सकता है कि 'मिश्रण' और 'विकृति' का अभाव शुद्धता है। लोकसंस्कृति और लोककलाओं में 'मिश्रण' का प्रमुख स्रोत है 'नागर' संस्कृति। उदाहरण के लिए हारमोनियम नगर से ही ग्राम में पहुँचा है, किन्तु अब भी अनेक लोक-संगीत विधाएँ ऐसी बची हैं जिनमें हारमोनियम का प्रवेश नहीं हुआ है। यह शुद्धता का एक पक्ष है। 'विकृति' का स्वरूप अपेक्षाकृत कुछ सूक्ष्म है, 'मिश्रण' भी उसका एक कारण हो सकता है। उसकी जड़ें गहरी हैं और वह जीवन के किसी पक्ष के प्रति भीतरी रुख में अनपेक्षित परिवर्तन की द्योतक है। उदाहरण के लिए, विवाह के अवसर पर स्त्रियाँ पारंपरिक गीत गाएँ यह तो 'शुद्धता' या प्रकृति है, किन्तु उसके स्थान पर सर्वथा अप्रासंगिक फिल्मी गीत 'माइक' पर बजाये जायें यह 'विकृति' है। परिवर्तन को 'विकृति' नहीं कहेंगे। स्त्रियों के गेय गीतों में जो परिवर्तन होता रहा है, वह तो स्वाभाविक है और उससे परहेज नहीं हो सकता, किन्तु स्त्रियों के स्वाभाविक गान का स्थान 'यन्त्र' ले ले यह जीवन का रस सुखाने का उपक्रम है इसलिए 'विकृति' है यानी शुद्धता का सर्वथा नाश है। सहज परिवर्तनों को समेटे हुए जीवन के साथ जुड़े रहकर लोकसंस्कृति की जो धारा प्रवाहित हो वह शुद्ध है। किन्तु असहज परिवर्तन, जो लोक को जीवन-पराङमुख बनाते हों, उनमें शुद्धता का विरोध अवश्य है।

(२) ग्रामीण और आदिवासी क्षेत्रों में आर्थिक सामाजिक दृष्टि से विकास के परिणाम स्वरूप कलारूपों और माध्यमों में परिवर्तन आयेगा ही। परिवर्तन का स्वरूप एक तो यह समझ में आता है कि उनके गीतों का कथ्य बदल जाये। यह तो सदा से होता आया है। आज भी 'लोक-कलायें' (विशेषतः गीत का पद-पक्ष) जितनी सहजता से समसामयिक होती चलती हैं, उतनी सहजता से तथाकथित 'शास्त्रीय धारा' में परिवर्तन नहीं आया करता। किन्तु परिवर्तन जब गीत, चित्र, काव्य के प्रति उनके अन्तस् के अनुराग को विघटित कर दे, तब उससे चिन्ता होती है। हमारा ग्रामवासी और आदिवासी प्रकृति से जितना दूर हटेगा, उतना ही उसकी संस्कृति की ताजगी नष्ट होगी।

(३) व्यावहारिक दृष्टि से लोक-कलाओं में जो परिवर्तन होते हैं, वे 'विकृति' के ही जनक कहे जाएँगे। विकास और मिलावट की सीमारेखा यही है कि **विकास सहज**

परिवर्तनो को साथ लेते हुये अहेतुक गति से चलता है, किन्तु व्यावसायिक दृष्टि से मिला
वट की जड मे 'हेतु' का विष भरा रहता है।

(४) लोकसंस्कृति की सुरक्षा की जानी चाहिये या नही इस सवाल का उठना
ही एक बहुत बडी घटना है। आज तक तो बिना किसी सजग रक्षक के ही लोकसंस्कृति
जीवित रही है और तमाम परिवर्तनो को झेल ले गई है। किन्तु आज यह सवाल उठ रहा
है—इसलिए मानना ही पडेगा कि उसके लिए बहुत बडा खतरा खडा हो गया है। यथा-
संभव सुरक्षा के दो ही उपाय मुझे सूझते हैं—एक तो यह कि हम लोकसंस्कृति के परिष्कार
या परिमाजन की कोशिश कतई न करें और दूसरे, उसमे हेतुसहित लाई गई विकृतियो को
प्रोत्साहन न दें, बल्कि उन्हे निरुत्साहित करें। रूढिबद्धता का खतरा लोकसंस्कृति मे है
ही नही। उसे अपने हाल पर छोड दिया जाय तो वह सतत प्रवहमान नदी की भांति है।
यही उसके 'जीवित' होने का प्रमाण है। पुरातन और 'नूतन' का तत्काल समन्वय
करने की जो आतरिक क्षमता लोकसंस्कृति मे है वह अन्यत्र दुलभ है।

(५) आकाशवाणी, दूरदशन एव अन्य माध्यम लोकसंस्कृति का शोषण ही कर
रहे हैं, इस अर्थ मे कि वे उसे नागर जनो के समक्ष प्रदशन या जरा मुह का स्वाद
बदलने के अर्थ मे मनोरंजन का ही साधन मानते हैं। लोकसंस्कृति के प्रति संवेदनशील या
जिम्मेदारी से वे प्रेरित हो, ऐसा नही लगता। 'प्रस्तुति' के नाम पर 'परिष्कार' करके
लोकसंस्कृति का जो रूप ये माध्यम प्रस्तुत करते हैं उससे 'विकृति' की संभावनाएँ काफी
बढती हैं। क्योकि लोक-कलाकार उस रूप को आदर्श मानने लगते हैं।

(६) लोककला माध्यम हमारी आधुनिकतम चिन्ताओं और समस्याओ को संप्रेषित
करने मे समर्थ हैं या नही, इस प्रश्न मे ही एक तर्कदोष निहित है। क्योंकि 'हम' से यहाँ
क्या अर्थ है, यह स्पष्ट नही है। लोककला माध्यम का प्रयोग यदि वे लोग ही करें, जिनकी
माटी मे ये कलायें पनपी हैं तब तो कहना होगा कि ये माध्यम पूर्णत समर्थ हैं। किन्तु
'हम' से यदि नागर जन अभिप्रेत हो तो फिर स्पष्ट बात यह है कि ये माध्यम जस के
तस हमे काम नहीं देंगे। इनका कुछ वैसा ही उपयोग हम कर पाएगे जैसा कि साडी का
'गाउन' बनाकर कोई यूरोपीय महिला करती है। हमारी अपनी सजनशीलता और सूझ
बूझ की उसमे कसौटी होगी लोककला माध्यमों की नहीं।

(७) शास्त्रीय और लोक-कलाओं के बीच रिश्ता अवश्य है। शास्त्र ने सदा लोक
से ही प्रेरणा ली है और लोक को शास्त्र मे प्रतिष्ठा मिली है। आज केवल इन दोनो के
पास आने के माध्यम नये हो गये हैं पास तो ये सदा आते रहे हैं। इन माध्यमो के कारण
अधकचरे 'मिश्रण' का खतरा है, जिससे बचना चाहिये।

॥ भाऊ समथ ॥

(१) 'संस्कृति'—इस शब्द में 'कृ' धातु है। वह क्रिया के अर्थ मे है। क्रिया
गतिशील होती है। 'सम्' उपसर्ग 'कृ' धातु तथा 'ति' प्रत्यय से संस्कृति शब्द बना है।
इसका अर्थ है परिमार्जित करना, शुद्ध करना, परावर्तित करना और समय तथा स्थिति

सापेक्ष-लाभ हतु बदलना। जो उचित है उसे संभालना और जो जीर्ण हो गया है, उसे त्यागना भी आवश्यक है। संस्कृति प्रवाह है। प्रवाह में जल शुद्ध होता है। स्थिर जल गदा हो जाता है उसे उपयोग म लाने क लिये या तो उष्ण करना होगा या निजतुक बनाने क लिए दवा डालनी पड़ेगी या और कोई क्रिया करनी होगी।

(२) उत्सव, त्यौहार, कर्म कला, भाषा, साहित्य, क्रीडा, परम्परा, जीवन, व्यवस्था, अध्ययन, आचारादि से संस्कृति का बोध होता है। लोकसस्कृति कोई अलग नही होती। शिष्ट-विशिष्टजन अपन आपको 'लोक' से अलग-थलग समझते हैं। अपनी, कम लोगों की अलग दुनियाँ मानते हैं। लोगो से अलग रहने म वे अपनी अलग शान मानते हैं। अपने को भाषा, शिष्टाचार कला, साहित्य आदि हर क्षेत्र म वे जन से दूर बताते हैं। इस वग क लोग शासक तथा शासन से सम्बन्धित, सामत तथा इन्ही लोगो के हित-साधक विद्वान्, कलाकार साहित्यिक, बाबू लोग आदि सफेदपोश लोग होते हैं। इनकी सफेदपोशी संस्कृति है। वग सस्कृति है। आम जन के शारीरिक श्रम के उत्पादन पर ही शोषण द्वारा यह सस्कृति पलती है। इनकी सस्कृति म कृत्रिमता भी झलकती है और कृत्रिमता का विधान भी रचाया जाता है। नियमों तथा कानूनों क पालन न करने को ये गुनाह नही मानते, और इसलिए कि, चतुराई, सत्ता और धन से बच कर निकलते हैं।

—नों लाज फार लाड स एण्ड गाड स।

सब सामा यत कानून तो शोषित, शासित, पीडित तथा आम जनता के लिये होते हैं। व नियमों के अन्तर्गत जी सकें इसलिये शासकीय कानूनो के साथ साथ धमसत्ता क कानूनों को भी अधविश्वासों क साथ पालन करने की आदत आम लोगों मे डालते हैं। ब्रिटिश शासन के भारत से हटते ही, जो एकाएक परिवतन आया है, वह शहरी तबकों म ज्यादा है। भारत म ऐतिहासिक मोड जो आया है वह सामती परिवारों मे। हमारा सारा इतिहास सामती परिवारो का इतिहास रहा है। विजेताओ ने भूगोल जीता लेकिन जिन्हें यहां भारत मे रहना था उन्हे यहाँ की सभ्यता और सस्कृति म घुलना पड़ा। यह भी ठीक है कि देशी लोग जो शासक के साथ रहे, उन्होने परदशी शासकों की रीति-परम्परा का प्रभाव अपन आप पर होने दिया था। फिर भी आम जनता वर्षों से नही, युगो से अपनी परिपाटी तथा सस्कृति को पकड कर कायम रही है। इसलिये उनक विश्वासों, परम्पराओ, धमभावना, उत्सव, और उनसे सम्बन्धित कलाओं म आशय तथा विषय वस्तु म अधिक परिवर्तन नहीं आये तथा उनकी शैली तन्त्र युग युग से मज कर उनमे सादगी तथा लय का एक विनोम कायम रहा। उनकी सभी आवश्यक कलायें उनकी जनसस्कृति तथा जनजीवन से सम्बन्धित रहीं। उनकी रोजमर्रा की जिन्दगी तथा भूगोल का भी असर उनकी कलाओं म रहा है। शासक वग कभी नही चाहता कि आम जनता सुबुद्ध हो। प्रबुद्ध हो। वह वार्ता करे। प्रश्न पूछे। जवाब मांगे। जमाना आगे बढ़ता है। समय गुजरता है। शासक वर्ग तथा उस वर्ग पर आश्रित लोग नही चाहते कि, आम जनता की सस्कृति यानी कि लोकसंस्कृति म तथा लोककलाओं म बदलाव आये। लोक-सस्कृति क ठहराव से व उन्ही तत्वो म उलझे रहें, जिससे उनका विकास और उनकी

तरक्की न हो। ऐसे ही लोग लोकसंस्कृति तथा लोककलाओं की शुद्धता की बात उठाते हैं तथा जन-सामान्य को प्रबुद्ध होने में अधिक समय लगे इसकी साजिश में रहते हैं। संस्कृति गतिपूर्ण रचना है अतः लोकसंस्कृति के विरोधी लोग, सफेदपोश लोग, संस्कृति को स्थिर या अचल रहने वाली वस्तु होने की भ्रामक धारणा फैलाते रहे हैं। संस्कृति एक स्टेशन का नाम नहीं, वह तो समय के साथ चलने वाली गाडी है, रेलवे है। शुद्धता का अर्थ ठहराव नहीं है, जैसा कि सफेदपोश संस्कृति वाले लगाने के लिए बाध्य करते हैं। यह लोककला के विरुद्ध रचित षड्यंत्र है।

(३) फिर से वही बात। संस्कृति क्रिया है। क्रिया तब तक नष्ट न होगी जब तक निसर्ग है। संस्कृति के नष्ट होने का सवाल ही नहीं उठता। विज्ञान और यंत्र के कारण नगरों के साथ देहातों में भी बदलाव आते हैं। रोजमर्रा जिंदगी में भी परिवर्तन आता है। जीवन और गति का प्रभाव तो संस्कृति और कला पर पडेगा ही। संस्कृति और कलाओं में परिवर्तन आयेगा ही। यह परिवर्तन निसर्ग क्रिया है। प्राण तत्व है। लोकसंस्कृति का ठहर जाना ही विनाश है, पिछडापन है।

निसर्ग ही निरंतर विकासमय होने से उसका प्रभाव जीवन पर भी पडता है। हर क्षेत्र में सभ्यता के विकास के पूर्व कला में उसकी प्रतिक्रिया संकेत या प्रतीकों में व्यक्त होती है। कला के रूढ होते ही, विज्ञान से योग होकर शास्त्रीय कला या अकादमिक कला में उसका रूपांतरण होता है। बाद में वही कला उपयोगिता से जुड कर बाजार की ओर चली जाती है। हालांकि सृजनशील कला ही 'कला' संज्ञा की पात्र है। वह तो निसर्ग का शुद्ध प्रसाद है। शास्त्रीय कला विशिष्टजन का रंजन है। सृजनशील कला का शुरू में प्रशंसित होना मुश्किल है। शंका और प्रश्न और कभी कभी निषेध भी सृजनशील कला को सहना पडता है, इसलिये कि जनता परंपराप्रिय होती है। सृजन का बोध या सृजन की परीक्षा उतनी आसान बात नहीं है। सामंती अभिरुचि, अफसर वर्ग की चाहत सृजन की सहजता को भटका कर कला को विकृत कर देती हैं। जनबोध और जनमानसिकता से जो कला की निर्मिति होती है वह कला इतिहास में विकास की कडी बन कर जुडती है। विशिष्ट जनअभिरुचि, धन, प्रशंसा कीर्ति आदि से प्रभावित जब निर्माण होता है तब कला का यह विकृत रूप मिलावट की सीमा में आता है। मिलावट संस्कृति के स्वास्थ्य में बाधा लाती है।

(४) लोकसंस्कृति की सुरक्षा होनी ही चाहिये। उस संस्कृति में वर्तमान की अपेक्षा इतिहास ज्यादा दिखता है। नयी संस्कृति को उससे जुडना है ही तथा संस्कृति के इन अवशेषों के साथ वर्तमान के समूहानुभव मिलाकर, और इसे साधन मान कर नयी रचना करना है। यह नयी रचना वर्तमान में शक्ति दे, और भविष्य में जो संस्कृति, विज्ञान की खोज के कारण व्यवस्थागत तथा जीवन की स्थिति में बदलाव लायेगी, उसके स्वागत के लिए हमारी नयी रचना सारे समूह को सुगठित करे। यही उद्देश्य रहेगा। संस्कृति के ऐतिहासिक अवशेषों को हम, जिसे आज तक संभालते आये हैं, वह काफी हुआ है। उसे अब हमें फिल्म तथा व्हिडिओ कैसेट में जमा कर संग्रहालय में रखना

होगा। यह अवशेष तो आज की और कल की पीढ़ी के लिये अध्ययन की वस्तु है। इससे हमारा भूगोल, इतिहास, परम्परा, कर्म, कलाज्ञान और शिष्टाचार का बोध होता रहेगा।

(५) इसे सग्रहित करने हेतु, आकाशवाणी और दूरदर्शन सहायक होंगे। जानकारी के अलावा इसके अधानुकरण का बोध वर्ज्य मानना ही होगा। इन सरकारी और गैर सरकारी माध्यमो का उपयोग संग्राहक भूमिका मे हो तथा समूह की विकसित चेतना को समूह या लोगों को चिढ़ेडने के लिये न हो। इस पर जनता की ध्यान देना चाहिये। विशिष्टजन जो (Folk not) फोकनॉट है, उनमे से ही अक्सर इन माध्यमो के अफसर होते हैं, वे इन माध्यमों का गलत या समूह सस्कृति के लिये हानिकारक प्रयोग न करें, इसकी सावधानी बरतनी चाहिये।

(६) लोककला माध्यमों को वर्षानुवर्ष मांजते रहना चाहिये। सामूहिक सहयोग की क्रियायें हमें एक साथ अनुशासन की सीख देती हैं। लोककला और लोकसस्कृति के वे भाग जो आधुनिक चिंताओं और समस्याओं को व्यक्त करते हैं, वे ही व्यक्ति तथा वर्तमान बोध की सामूहिक मानसिकता के लिये कसौटी हैं।

लोककलाए आधुनिक चिताओ का अभिव्यक्ति दे सकती हैं। वैचारिकता के प्रसारण के लिए इन्हीं माध्यमों का प्रयोग कर सकते हैं। मेरा विश्वास है अभिव्यक्ति के लिये ये माध्यम साधक सिद्ध होंगे। वतमान जीवन के नये बोध के कारण कला और संस्कृति की लय मे हम कुछ घटायें या जोड़ें, सार्थक होगा। अभि यक्ति के लिये यह करें और यह न करें—यह उपदेश नही है। अपनी बौद्धिक कुशलता तथा सृजनशील ऊर्जा को हम अभिव्यक्ति के लिये साधक और उपयोगी बना सकते हैं। असम्भावना को कलात्मक तथा सूझ-बूझ की कमजोरी माननी चाहिये।

(७) शास्त्रीय कला अकादमिक है, यह कला विज्ञान है, कला का व्याकरण या गणित है। कला को व्यक्त करने के लिये शब्द मिलते हैं और ये रूढ़ शब्द नियम बाधने मे काम करते हैं तथा विशिष्टजन इस अकादमिक-प्रक्रिया की प्रशसा करते हैं तथा इसमें अपनी आस्था बताते हैं। लोककला से अलग अपनी विशिष्ट अभिरुचि के कारण वे नियमपूर्ण सीमा बाँध लेते हैं। लोककला से ऐतिहासिक नियमो को परिमार्जित कर अकादमी की सार्थकता ही बढ़ाते हैं, बढा सकते हैं। लोकसस्कृति मे विज्ञान तथा नियम के तत्व खोज कर शास्त्रीयता ही बढ़ाते हैं। सृजनशील कला शास्त्रीय कला तथा लोककला के काफी आगे की प्रक्रिया है। सृजनशील प्रवृति की सशक्त अभि यक्ति शास्त्रीय कला और लोककलाओं की पुनरचना क लिये साधन मानती है। सावधानी इतनी ही होनी चाहिये कि, हम भ्रम न पालें कि, लोकसस्कृति तथा शास्त्रीय सस्कृति को अलग से विभाजित कर हम देख सकते हैं। सृजनशील कला ही कला की भूमिका निभा सकती है। लोकसस्कृति तथा शास्त्रीय सस्कृति को हीन और श्रेष्ठ मानना हमारी विषम व्यवस्था का षड्यंत्र है, इससे बचना चाहिये।

॥ सुनील कोठारी ॥

(१) लोकसंस्कृति और लोककला की शुद्धता कायम रखने का अर्थ मेरी दृष्टि में यह है कि जीवन म उसक महत्व को जीवंत और सुव्यवस्थित समाज की अभिव्यक्ति के रूप मे समझा जाए, जो ऐसे कला माध्यमो के रूप म सामने आती है, जिनम जबरदस्त जीवनी शक्ति है। शुद्धता को सीमित अर्थों म नही समझा जाना चाहिए। किसी भी कीमत पर उस ओजस्विता की रक्षा होनी चाहिये।

(२) नहीं इस बात से सहमत नही हू कि आर्थिक-सामाजिक विकास से लोककला मे जो परिवतन आएँगे, उनसे लोकसस्कृति नष्ट हो जाएगी। हाँ, तब उसकी अभिव्यक्ति म परिवतन हो जाएगा। ये कलाए स्थिर नही रह सकता। हम लोगों को लोकसस्कृति और लोककला का मोहक रूप पसंद आता है, अत हम वैसा ही बनाये रखने के लिए ललचाते हैं। सामाजिक आर्थिक परिवतनो से तो उनमे परिवतन होगा ही। कलाओ को कोई वास्तविक खतरा नहीं है।

(३) उन्नति और विकास की एक निश्चित विभाजक रेखा होनी चाहिए। कलाओं म व्यवसायीकरण, जैसा कि फिल्मों म दिखाई देता है किसी भी तरह किसी का भला नहीं करता। कुछ कलाए अनुष्ठानों, त्योहारों और उत्सवों से जुडी होती हैं। य जीवत बनी रहेगी। व्यावसायिक उपयोग के द्वारा कलाओ को प्रकाशित करने का कोई भी 'शार्टकट' नही है। व्यवसायीकृत कला उपभोक्ता सस्कृति का हिस्सा रहेगी। उस तरह की कला का अपना हश्र होगा।

(४) हां, लोककला और संस्कृति की प्रासगिकता और महत्व को समझने की कोशिश होनी चाहिए। इन कलाओ के सम्बन्ध म बेहतर समझ प्रारंभिक स्तर से ही पैदा की जानी चाहिए—शैक्षणिक संस्थाओ पालको, प्रदर्शनियों, प्रचार माध्यमो आदि के द्वारा। सग्रहालय की वस्तु के रूप मे उनका सरक्षण संभव नही है। इस तरह तो वह स्वय ही मृत हो जाएगी। लोककलाओं का सीधा सम्बन्ध जीवन-पद्धति से तथा उन लोगों से होता है, जो उन्हे आकार देते हैं, इसीलिए उनके सरक्षण के लिए किसी को बहुत अधिक चिन्तित नही होना चाहिए।

(५) रेडियो, टी० वी० तथा फिल्म जैसे प्रसार माध्यम लोककला और सास्कृतिक महत्व के विषय में जागृत हैं, किन्तु आवश्यक रूप से यह जागृति उनमें भी विद्यमान नही है, जो कायक्रमो का निर्माण करते हैं। अत ऐसे कार्यक्रम-निर्माताओं का प्रशिक्षण आवश्यक है ताकि वे केवल विविधता के लिए कायक्रम निर्माण के पीछे न भागें और कलाओं की प्रवृत्ति को समझें। वे इन प्रसार माध्यमो के द्वारा जन समूह म जागृति फैला सकते हैं।

(६) उस अथ मे लोककला हमारे जीवन की वर्तमान समस्याओं मे इस रूप म सहायक हो सकती है कि वह हमे शहरीकरण, मशीनी जिन्दगी जैसे खतरो से सावधान कर सकती है और हमें प्रकृति के पास जाने को प्ररित कर सकती है या यह समझ पैदा कर सकती है कि जीवन मे केवल भागम-भाग का महत्व नहीं है। लेकिन ये दोनों बातें

एक-दूसरे से जुडी हैं। किसी को यह आशा नहीं रखनी चाहिए कि लोककलायें मनुष्य द्वारा निर्मित रोज-ब-रोज की राजनैतिक, सामाजिक, महानगरीय समस्याओं का निराकरण करेंगी। वे बतला सकती हैं कि किस तरह शहर में मनुष्य प्रकृति से कट गया है तथा विभिन्न मूल्यों को समझने में सहायता दे सकती हैं।

(७) शास्त्रीय और लोककलाओं का गहरा अंतर्संबंध है। वे एक-दूसरे की पूरक हैं और एक-दूसरे की ताकत को बढ़ाती हैं। शास्त्रीय कलाओं के लिए शास्त्रीय नियम आवश्यक हैं। जब ये दोनों निकट आती हैं तो इस सावधानी की जरूरत है कि दोनों अपनी ओजस्विता को न खो दें और परिणाम के रूप में कोई खिचड़ी वस्तु सामने न आए। जब हम इन दो प्रकार की कलाओं की चर्चा करते हैं तो महानगरीय स्थितियाँ हमारी दृष्टि में होती हैं और इसीलिए हम किसी विभाजक-रेखा को खींचने की कोशिश करते हैं। यह अवश्य देखना चाहिए कि वे दोनों हमारे जीवन से अलग नहीं हैं।

॥ धनंजय वर्मा ॥

(१) संस्कृति और कला के क्षेत्र में शुद्धता का नारा उसी तरह अभिजनवादी और नस्लवादी है जैसे जातियों के सन्दर्भ में शुद्धता का दावा। आज कौन-सी जाति या नस्ल शुद्धता का दावा कर सकती है? संस्कृति और कला मनुष्य सभ्यता की जय यात्रा के दौरान अर्जित मानसिक और बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक उपलब्धियाँ हैं। जीवन के भौतिक और सामाजिक आधारों की बुनियाद पर खड़ी संस्कृति और कला की संरचना में बुनियाद और अधिरचना की अन्तर्क्रिया होती है चुनांचे लोकसंस्कृति और लोक-कला की अपनी विशिष्ट पहचान भी बनती है लेकिन यह विशिष्ट पहचान या अस्मिता भी इतनी अद्वितीय और 'शुद्ध' नहीं होती कि एक देश-जाति या समुदाय की संस्कृति और कला दूसरी पड़ोसी संस्कृति और कला के सम्पर्क और स्पर्श से अछूती रहे। संस्कृति और कला की उपलब्धि ही सामाजिक अन्तर्क्रियाओं से होती है और अन्तर्क्रिया में शुद्धता की कल्पना ही निरर्थक है। अतः लोकसंस्कृति और लोक-कला ही नहीं, सामान्यतः संस्कृति और कला में भी शुद्धता का नजरिया साफ साफ प्रतिगामी, प्रतिक्रियावादी और नस्लवादी है।

(२) दरअसल संस्कृति की भी दो अवधारणाओं पर गौर किया जाना चाहिए। एक है—अभिजनवादी और दूसरी जनवादी। अभिजन समाज ही अक्सर 'संस्कृति खतरे में है', 'संस्कृति नष्ट हो रही है', 'संस्कृति के प्रति समाज उदासीन' है आदि नारे उछाला करता है। संस्कृति की जो अवधारणा हमारे तथाकथित सभ्य और बुद्धिजीवी वर्ग की है, ग्रामीण, लोक और आदिवासी संस्कृति उससे भिन्न है। हमारे तथाकथित सभ्य और अभिजन समाज में संस्कृति हमारे भौतिक वस्तु-संबंधों और जीवन पद्धति से कटी हुई दिख सकती है किसी हद तक होती भी है लेकिन ग्रामीण, लोक और आदिवासी संस्कृति और कला तो उनके भौतिक-आर्थिक-सामाजिक संबंधों और जीवन पद्धति से अविच्छिन्न और अविभाज्य रूप से जुड़ी होती हैं। वहाँ कला और संस्कृति सज्जा की, अलंकरण

की, समय काटने की चीज नहीं हैं। वे उनके दैनंदिन जीवन व्यवहार से समरस हैं। मसलन् किसी आदिवासी समाज का दीपस्तम्भ हमारे लिए उसकी कला और संस्कृति का उपकरण हो सकता है, उसके लिए वह दैनिक उपयोग की वस्तु है।

स्वाभाविक है कि जीवन पद्धति में होनेवाले परिवर्तन और उनसे विकसित चेतना के कारण संस्कृति के रूप और कला माध्यमों में भी परिवर्तन और विकास होगा और नयापन आयेगा। यह अवश्यम्भावी है और आर्थिक-सामाजिक प्रगति का दुर्निवार नतीजा है। मसलन् आज बस्तर के आदिवासी समाजों में आधुनिक बाजारों के कारण उनकी पारम्परिक उपयोग की वस्तुओं में रूपायित कला और संस्कृति परिवर्तित हो रही हैं। पारम्परिक लकड़ी की कंघी के स्थान पर प्लास्टिक की कंघी वहाँ आ गयी है। लकड़ी को काट खराद कर बनायी गयी उनकी धुंगिया डबी का स्थान टीन की तम्बाकू की डिबिया ले रही है। कौड़ियों और मूंगों से बनी उनकी सज्जा की वस्तुएं बदल रही हैं, सस्ती लुंगियां पहनावे में आ गयी हैं और नायलोन के ब्लाउज पहने जा रहे हैं। इससे आसानी से यह सरलीकृत नारा दिया जा सकता है कि उनकी संस्कृति नष्ट' हो रही है। लेकिन इससे उनकी सामाजिक विरासत में भी तो नये रूपान्तरण हो रहे हैं और उनकी संस्कृति भी एक नये संचरण की प्रक्रिया से गुजर रही है।

(३) लोक-कलाओं का व्यावसायिक उपयोग लोक-कला के स्वयंनियुक्त संरक्षक और पुरस्कर्ता ही करते हैं। जब 'भारतीय संस्कृति' और 'भारतीय कला भी निर्यात और विदेशी मुद्रा कमाने की कमोडिटी बन रही हो तब लोक कला के व्यावसायिक उपयोग के बाजार भी धड़ल्ले से खुल रहे हैं। बस्तर में बेलमेटल की कला-कृतियां हमारे एम्पोरियमों के लिए तौलकर किलो के भाव से खरीदी जाती हैं और प्रति नग के हिसाब से भोपाल और दिल्ली की 'मृगनयनी में बेची जाती हैं। अब तो घड़वा लोग भी अपनी पारम्परिक कलाकृतियों के साथ और बजाय राखदानी और कमरपट्टों के बकसुए बनाने लगे हैं। व्यावसायिक तकाजों के तहत यही विकास' और मिलावट की सीमा-रेखा मिटने मिटने को है।

यों तो संस्कृति और कला के विकास में, जीवन धारा की तरह मिलावट, अछूत और तिरस्कृत नहीं है। धारा का विकास ही मुनहसिर है इस बात पर कि उसमें दूसरी धारा और धारायें मिलती हैं और वे उसके प्रवाह को न केवल तेज बल्कि उसके पाट को भी चौड़ा करती हैं। लेकिन स्वाभाविक और सहज विकास और व्यावसायिक मिलावट में अन्तर किया जाना चाहिए। जरूरी नहीं कि हर विकास प्रगतिमूलक ही हो और हर मिलावट विकासकामी हो। कई बार ऊपरी विकास, सांस्कृतिक विपन्नता का जनक होता है वैसे ही जैसे कई तथाकथित सभ्य लोग नितान्त संस्कृतिहीन होते हैं। इसलिए यदि लोकसंस्कृति और लोककला के प्रसंग में भी (टायनबी जिसे) चुनौती और प्रतिचेष्टा—(चैलेंज एण्ड रेस्पान्स-कहता है) होती है तो वह विकास है लेकिन यदि सहज व्यावसायिक तकाजों से 'विस्तार' किया जा रहा है तो वह ऐसी मिलावट है जो न तो विकासकामी है और न कलात्मक और रचनात्मक।

(४) लोकसंस्कृति की सुरक्षा करेगा कौन ? परिषदें, अकादेमियाँ, सरकार के विभाग या बिड़ला, टाटा, डालमिया के संस्थान ?

मैं किसी और की नहीं टी० एस० एलीयट की बात का ही हवाला देना चाहूँगा 'संस्कृति एक ऐसी चीज है जिसकी जानिब हम इरादतन कोई मकसद तय नहीं कर सकते और एक संस्कृति में पूर्णता की स्थितियाँ निर्धारित संगठन के जरिए उपलब्ध नहीं की जा सकती।' लेकिन संस्कृति के संरक्षण, परिवर्द्धन और प्रवर्तन वगैरह के नाम पर किये जा रहे सारे आयोजन क्या यही सब करने की कोशिश नहीं है ? और इससे क्या संस्कृति और कला के जीवन्त प्रवाह को 'बाँधा' जा सकता है ? सुरक्षा और संरक्षण के नाम पर किये जा रहे प्रयत्नों के परिणामस्वरूप बढ़ती 'रूढ़िबद्धता' के खतरे क्या अब साफ साफ नुमाया नहीं हैं ? संस्कृति और कला किसी संस्था या उपक्रम का प्रायोजित कार्यक्रम कैसे हो सकता है ?

हाँ ! संस्कृति का जनक ही उसकी सुरक्षा भी कर सकता है, बशर्ते आर्थिक और भौतिक स्तर पर उसे इसकी मोहलत मिले। हमारा अभिजन तो संस्कृति का उपभोक्ता है और सुरक्षा के नाम पर वह उसे अजायबघर की चीज बनाया चाहता है। ऐसे माहौल में संस्कृति को उत्पन्न करने वाले, उसकी रचना करने वाले समुदाय और वर्ग की प्रगतिशीलता ही संस्कृति की प्रगतिशीलता में प्रतिफलित हो सकती है।

(५) आकाशवाणी, टी० वी० और अन्य सरकारी माध्यम मसलन् संस्कृति और पर्यटन विभाग आदि लोकसंस्कृति के प्रति नितान्त असंवेदनशील और गैर जिम्मेदार हैं। इनमें बैठा आला लोकसंस्कृति के संरक्षण, प्रवर्तन और परिवर्द्धन का दम भरता है लेकिन उसके बुनियादी 'इथॉस' से बेहिस है। वह तो उसे भी उपभोक्ता सामग्री बना रहा है और कतिपय गैर सरकारी माध्यम—मसलन् बिरला अकादेमी आव आर्ट स, आदि—उसे 'मनोरंजन' और 'विज्ञापन' की सामग्री बना रहे हैं और अन्य लोग उससे लाभ कमाने की फ़िक्र में हैं।

(६) लोककला माध्यम हमारी आधुनिक चिन्ताओं और समस्याओं को सम्प्रेषित करने में पूरी तरह समर्थ हैं लेकिन उनके अपने मुहावरे और भाषा और रूप होते हैं। 'नाचा' और 'तमाशा' में आधुनिक जीवन की विसंगतियाँ और सरकारी भ्रष्टाचार को कैसे अविश्वास की शैली में पिरोया जाता है, वह उन्हें प्रत्यक्ष और उनके अपने ही परिवेश में 'होते हुए' ही देखा जा सकता है। अपनी आधुनिक रंगशालाओं और कला-दीर्घाओं में उन्हें आयोजित करके नहीं। वहाँ तो लोककला माध्यम भी किसी के द्वारा निर्देशित' हो जाते हैं या फिर बदले हुए परिवेश के द्वारा कण्डीशण्ड।

(७) शास्त्रीय और लोककलाओं के बीच एक अटूट रिश्ता है। शास्त्र का आधार ही होता है—लोक। जो शास्त्र, लोक से जितना दूर होता जाएगा, वह उतना ही अपनी मौत के नजदीक सरकता जाएगा। शास्त्र वहीं तक जीवन्त और जीवित है जहाँ तक कि वह लोक के स्पन्दन से जुड़ा है। और कला और संस्कृति का इतिहास इस बात का गवाह

है कि जब-जब उसे शासन से पकड़ कर प्रस्तरीभूत किया गया है तब-तब वह अपनों के हाथों से छूट फिसलकर लोक के बीच आ गयी है।

॥ काशीनाथ सिंह ॥

(१) मेरी दृष्टि में यदि लोककलाएँ और लोकसंस्कृतियाँ शुद्ध हों तो अजायबघर या म्यूजियम की चीजें हैं जैसे आज तलवार लेकिन वे शुद्ध हैं ही नहीं। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात की बात है। सब कुछ में मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है। ऐसा बुजुर्ग कह गये हैं और गलत नहीं कहा है उन्होंने।

(२) 'संस्कृति' को जो लोग 'विग्रहेवन 'मुसमरी' 'गरीबी' 'फटेहाली और 'भिखमगई' का निनाद और नाच समझते होंगे, वे ही ऐसा मानेंगे।

संस्कृति' अंग्रेजी के 'कल्चर का अनुवाद है। कल्चर शब्द जुड़ा है 'कल्ट' 'कल्टिवेशन 'एग्रिकल्चर' आदि से। यानी खेती और उपज से जुड़ी मेहनत से सम्बद्ध है कल्चर या संस्कृति। जाँता के साथ जाँते का गीत बुवाई के साथ बुवाई का गीत, रोपनी के साथ रोपनी का गीत। तीज-त्यौहार भी इन्हीं से जुड़े हैं। आज कुटाई पिसाई की मशीन के साथ ही वे गीत भी गायब हो रहे हैं घरों से। सोहर वहीं गाये जाते हैं जहाँ बच्चे सौरीघर में पैदा होते हैं, नर्सिंग होम' में नहीं। कितने घर रह गये हैं ऐसे? विवाह के वे सारे गीत वहीं जीवित हैं जहाँ आज भी वे 'संस्कार' के रूप में सम्पन्न हो रहे हैं।

खेतिहर मजदूरों और आदिवासियों की अपनी संस्कृतियाँ रही हैं लेकिन मिल और फैक्टरी के मजदूरों की भी अपनी अलग कोई संस्कृति है क्या? औद्योगिक दृष्टि से सम्पन्न और विकसित देशों में मजदूरों की संस्कृतियों का अध्ययन इस मामले में दिलचस्प हो सकता है। अपने मुल्क में मिलों फैक्टरियों में काम करनेवाले मजदूर जिस क्षेत्र से भी आये हैं अपनी संस्कृतियों के साथ आये हैं और समय और स्थान के बदलाव के साथ उनकी संस्कृतियों में भी बदलाव आया है।

(३) अगर आत्मा सुरक्षित रखी जा सके तो लोककलाओं का बदलाव स्वाभाविक भी है और आवश्यक भी। लोक कलाकार कभी कभी इस कौशल के साथ परंपरागत कलाओं को बदलता है कि कहीं से भी विकृति या कृत्रिमता नहीं झलकती। ऐसे बदलाव को विकास कहूंगे।

रही मिलावट की बात तो यह उल्लेखनीय है कि अपनी सारी लोककलाएँ सदियों से चली आ रही सामन्ती समाज-व्यवस्था के भीतर विकसित हुई हैं। हम सबके भीतर वे संस्कार थोड़ी बहुत मात्रा में मौजूद हैं। व्यावसायिक दृष्टि-सम्पन्न कलाकार इसे जानता है और इस कला का इस्तेमाल 'बिकाऊ माल के रूप में करता है।

जहाँ वह पकड़ में आ जाय, वहाँ 'मिलावट' है जहाँ इस पकड़ से बच निकले, कला है।

(४) हाँ, लोककला की सुरक्षा की जानी चाहिये। इस बात का ध्यान रखते हुए

कि जब तक यह सामान्य जनो के बीच रहेगी, कला रहेगी, जीवन्त रहेगी, जब 'सहृदयों' और 'शिष्टजनों' के बीच सिमट जायेगी, मनोरंजन का साधन बन जायेगी, रूढ़िबद्ध हो जायेगी।

ऐसा किस तरह संभव है—इस पर गंभीरता से विचार करने की जरूरत है, क्योंकि सुरक्षा की चिन्ता शिष्ट जनों को ही रहेगी।

(५) सरकारी माध्यम संवदनशील तो हैं लेकिन यहाँ तक जहाँ तक व कलाए 'विकास' 'प्रगति' 'सौंदर्य' 'राष्ट्रप्रेम' और सरकार की उपलब्धियों की बात करें या उनके श्रोताओं-दर्शकों का मनोरंजन करें।

मेरा खयाल है कि इन संचार-माध्यमों में काम करनेवाले कलाकार कर्मचारी (अफसर) सरकार के प्रति तो जिम्मेदार हैं लेकिन आम आदमी के प्रति भी उनकी जिम्मेदारी है जिसे व नहीं निभाते। लोक कलाकार प्रायः अपने महत्व और भूमिका से बेखबर होता है और इसी का फायदा मीडिया उठाती है।

(६) लोककला माध्यम बड़े लचीले और सदाबहार हैं—कच्ची रौंदी गई माटी की तरह मुलायम। उनसे चाहे जो कुछ बना लीजिये। उत्पल दत्त, हबीब तनवीर और दूसरे रंगकर्मियों ने लोकमंच का इसी समझ से उपयोग किया है। विजयदान देथा ने लोककथाओं के 'फार्म' का सार्थक इस्तेमाल किया है।

ध्यान सिर्फ इतना रखना होगा कि उनका मूल रूप 'विकृत' और 'बाजारू' न हो।

(७) शास्त्रीय और लोककलाओं के बीच रिश्ता है—संगीत में इसके उदाहरण कुमार गन्धर्व हैं।

॥ अरुण कमल ॥

(१) लोकसंस्कृति और लोककला कभी भी पूरा पूरा शुद्ध नहीं होती। यह सामान्य जन जीवन को, लोक की भावनाओं, साधारण जनता के संस्कारों विचारों को व्यक्त करती है। साथ ही साथ जो शासक वर्ग है उसके संस्कार तथा विचार भी इसे प्रभावित करते हैं। लोकगीतों में, जो निम्न परिवारों में भी गाये जाते हैं, सोने की थाल और छप्पन व्यंजनों का जिक्र होता है। इस दृष्टि से पूर्ण शुद्धता असम्भव है।

लोकसंस्कृति या लोककला आमतौर पर पूँजीवाद के पहले के समाज की सामूहिक सम्पदा होती है जब वर्ग विभाजन बहुत तीव्र नहीं होता। लेकिन पूँजीवाद इस सामूहिकता को नष्ट करता है। 'लोक' की भावना को नष्ट करता है। इसीलिए पूँजीवाद के आगमन के साथ साथ लोककला तथा लोकसंस्कृति का विघटन और विनाश शुरू हो जाता है। यह आकस्मिक नहीं है कि पूँजीवाद की अमानुषिकता के विरुद्ध विकसित सभी देशों के रोमांटिक आन्दोलनों ने 'लोक' का सहारा लिया। लोक-गीतों के संरक्षण के लिए जर्मन रोमांटिकों ने विशेष प्रयत्न किये। अंग्रेजी रोमांटिक कवि लोक-भाषा का आग्रह बराबर करते रहे। हर युग में पूँजीवाद के मानव विरोधी सामूहिकता-विरोधी, व्यक्तिवादी चरित्र के विरुद्ध कवियों लेखकों ने लोक-कला को अपनाया। इससे हम

लोकसंस्कृति तथा लोककला के क्रांतिकारी स्वभाव का पता चलता है। शुद्धता से ज्यादा महत्वपूर्ण 'लोक' या 'सामूहिकता' की भावना का संरक्षण है।

(२) ग्रामीण तथा आदिवासी क्षेत्र जब हम कहते हैं तो हमारा आशय सामन्ती तथा प्राक सामन्ती समाज से होता है। उनके विकास का अर्थ है—सामाजिक-आर्थिक रूप से पूंजीवाद की ओर संक्रमण तथा उस दिशा में विकास। साथ ही चेतना का उसी के अनुरूप विकास एवं सम्पूर्ण समाज के संस्कारों मे भारी परिवर्तन। जैसा मैंने कहा, पूंजीवाद लोक या सामूहिकता की भावना को नष्ट करता है। इसलिए ग्रामीण या आदिवासी क्षेत्रों म होने वाले सामाजिक आर्थिक परिवर्तन निश्चय ही संस्कृति को यानी पूरे जीवन-संस्कार को प्रभावित करते हैं। अब लोक-गीतों का स्वतः सृजन, लोककला का स्वतः विकास सम्भव नहीं। नये-नये कला-रूप तथा माध्यम आयेंगे। लेकिन लोक कला या लोकसंस्कृति का विनाश सम्भव नहीं। इन परिवर्तनों से संस्कृति नष्ट होगी, ऐसा मैं नहीं मानता। हाँ, लोकसंस्कृति अवश्य अवरुद्ध हो जाएगी। हमारे गांवों में अब शादी ब्याह तथा विभिन्न अवसरों पर गाये जाने वाले गीत लुप्त होते जा रहे हैं। हमारी बहुत कम बहनें अब ये गीत जानती हैं। वे फिल्मी तर्ज पर गीत गाने लगी हैं। साथ ही पूंजीवादी समाज मे जाँता का गीत यानी चक्की चलाते वक्त गाये जाने वाले गीत अब हमारे दैनिक जीवन का अंग नहीं रह जाते। अब तो गेहूँ मिल मे पिसता है। इसलिए भी ये गीत नष्ट होंगे। शादी के रस्म रिवाज अगर बदल जायें तो कन्या-दान के गीत, लड़की की विदाई के गीत ये सब भी तो प्रभावित होंगे। इनके स्थान पर नये गीत आयेंगे, नये रस्म रिवाज आएँगे, नयी संस्कृति आएगी। और पूंजीवादी समाज की समाप्ति के बाद एक दिन लोकसंस्कृति को समाजवाद मे नया संस्कार मिलेगा। आज यह लोक-संस्कृति का अंग ही है कि हमारे प्रांत मे भादों मास मे सुहागिनें अपने पति के कल्याण के लिए तीज व्रत करती हैं, कल हम आठ मार्च को विश्व महिला दिवस का उत्सव मनाएँगे, जैसा सोवियत संघ में होता है। आज नव विवाहित जोड़े सबसे पहले हनुमान मंदिर जाते हैं, कल वे क्रांतिकारी शहीदों की अमर ज्वाला का आशीर्वाद लेंगे जैसा सोवियत संघ में होता है।

(३) लोककला पूंजीवादी समाज मे विकसित हो ही नहीं सकती। वह एक खास विन्दु पर आकर रुक जाती है। इसलिए पूंजीवादी समाज में समस्या लोककला को अक्षत रखने की होती है। बहुत तेजी से लोग लोकगीत, लोक-संस्कार भूलते जाते हैं। अब तो मैं देखता हूँ कि दाह संस्कार का ज्ञान बहुत से रूढ़िवादी लोगों को भी ठीक-ठीक नहीं रहता। वैसे मुझे इसका कोई अफसोस नहीं है। लेकिन यह अफसोस जरूर है कि पहाड़ों के लोग भी लोक-गीत भूल रहे हैं। ऐसे में उनका संग्रह और संकलन बहुत जरूरी है। इनका सिर्फ संरक्षण ही किया जा सकता है विकास नहीं। विकास इसलिए नहीं कि वह लोक वातावरण जो लोककला को पालता है नष्ट हो चुका होता है। लेकिन पूंजीवाद लोककला को भी व्यवसाय बना देता है। भोजपुरी फिल्मों ने किस तरह भोजपुरी लोक-गीतों को विकृत किया है, यहाँ तक कि भोजपुरी भाषा को भी, यह हम सब देख रहे हैं।

मधुबनी चित्रकला जो कभी जीवन में स्वतःस्फूर्त राग की अभिव्यक्ति थी आज जीविका का साधन बना दी गयी है और ठीकेदारों की लूट का नमूना भी।

(४) लोकसंस्कृति की सुरक्षा अत्यंत जरूरी है। यह उसी तरह जरूरी है जिस तरह प्राचीन ग्रंथों—स्मारकों की सुरक्षा। सुरक्षा का अर्थ रूढ़िवादिता नहीं है। यह रूढ़िवादिता हो जाएगी यदि हम समाज में होने वाले परिवर्तन पर से ध्यान हटा लें। कोई यदि समझे कि आदिवासी लोग हमेशा लंगोटी पहने ही घूमें तो यह अपराध होगा। ब्रेख्त ने कहा था— पीपुल डोंट विश टु बी फोक।

(५) इन प्रसार माध्यमों ने कुछ अच्छा काम भी किया है। आकाशवाणी के प्रादेशिक केन्द्र आज भी अनेक प्रकार के लोकगीत सुनाते हैं।

दूसरी तरफ, लगातार चलने वाले गन्दे फिल्मी गीत जलोटा-उधास ब्रांड भोंडे के गीतों-गजलों ने सुदूर देहातों तक को प्रभावित किया है। ये गन्दे गीत अब खेत की मेड़ पर रख ट्रांजिस्टर से लगातार आते रहते हैं और वहीं पास ही हाथ में एच० एम० टी० घड़ी बांधे नौजवान प्रातःक्रिया से निवृत्त होता रहता है। यही स्थिति लगातार चलने वाली क्रिकेट कमेण्ट्री और विज्ञापनों की है। एक उपभोक्ता संस्कृति पैदा की जा रही है। यह पूंजीवाद की निजी संस्कृति है। जब तक प्रसार माध्यम पूंजीपतियों और उनके समर्थकों के हाथ में है तब तक इसी उपभोक्ता संस्कृति का प्रचार चलेगा। लोक-संस्कृति जन-जीवन का जीवन्त अंग न रह कर स्वाधीनता दिवस की झाँकी बन जाती है। लोकनृत्य सृष्टि के आरम्भिक जीवों की तरह अजूबे लगते हैं।

(६) अन्य लोककला माध्यमों के बारे में मैं ज्यादा नहीं जानता। जहां तक लोक-गीतों का सवाल है मैं समझता हूँ कि वे खास युग की, खास वातावरण की उपज हैं। उनकी सहजता, लय तथा मार्मिकता का व्यवहार ही सकता है लेकिन आज हम लोक-गीत लिख नहीं सकते। किसी भी युग की संस्कृति का दूसरा संस्करण नहीं किया जा सकता आवृत्ति मात्र ही सम्भव है। ब्रेख्त और लोर्का ने लोक गीतों, लोक-धुनों का भरपूर इस्तेमाल किया, लेकिन वे वहीं तक सीमित न रहे। इलियट तक ने लोक-लय का इस्तेमाल किया और आधुनिक कविता रची।

लोक गीत हमारे लोकजीवन का शिलाजित है—हमारे पूर्वजों की पत्थर जिन्दगी का मृदुलतम यवांकुर, जिसे हम हर विजयादशमी को अपने दाहिने कान पर रखेंगे और ऊर्जा ग्रहण करेंगे।

(७) मैं इस बारे में ज्यादा नहीं जानता।

॥ नारायणदास परमार ॥

(१) संस्कृति किसी जन समुदाय की आध्यात्मिक, बौद्धिक तथा मानसिक सिद्धियों से सबद्ध है और कला वह होती है जो अपने अनुभवों पर आधारित किसी कार्य को कौशलपूर्वक प्रस्तुत करती है। जहां तक इनकी शुद्धता का प्रश्न है तो कहना चाहूँगा कि शुद्धता ही दुनिया की वस्तुओं का मान मूल्य बढ़ाती है, उसे प्रतिष्ठित करती है। समया-

नुसार उसमें परिवर्तन आते जरूर हैं, किन्तु ये परिवर्तन तभी तक मान्य होते हैं जब तक उसकी मौलिकता अक्षुण्ण रहती है। आज तो संस्कृति और कला भी व्यावसायिकता का शिकार हो चली हैं। उनकी शुद्धता का धीरे-धीरे क्षरण हो रहा है। ऐसे में एक दिन ऐसा भी आ सकता है कि हम मौलिकता के नाम पर केवल आडम्बरों की ही पूजा करते पड़ सकती है। शुद्धता का रंग ही कुछ अलग होता है। वह हमारी आत्मा को छूती है, प्रभावित करती है जबकि उसमें मिलावट का चमत्कार तो कपूर की तरह उड़ने वाला होता है। अतएव शुद्धता की रक्षा हर कीमत पर होनी चाहिए।

(२) विकसित होती हुई चेतना के कारण आदिवासी जीवन में परिवर्तन या जो नयापन आ रहा है वह तो स्वागतेय है लेकिन इस नयेपन को हम अपने मनोरंजन का झुनझुना न बनाएँ तो ही अच्छा है। फूहड़पन प्रकृत रूप से नहीं बल्कि थोपने से ही आता है। यदि हम ग्रामीण संस्कृति—और कला पर अपने पूर्वाग्रह न थोपें तो ही उसकी रक्षा हो सकेगी।

(३) यह सच है कि व्यक्तिगत लाभ कमाने की गरज से ही संस्कृति या कला में मिलावट की जाती है अतएव ऐसे प्रयत्नों को रोका जाना चाहिए। लेकिन परिवेश बदलने पर जो सहज परिवर्तन उसमें आता है उसे तो स्वीकारना ही होगा। उदाहरण के लिए ददरिया लोकगीतों की एक नायिका कहती है कि 'कुलुप वाला नइ दिखे बदे हौं नरियर' की जगह अब वह कहती है—'साइकिल वाला नइ दिखे, बदे हौं नरियर' तो मैं इसे एक स्वाभाविक परिवर्तन मानता हूँ।

(४) लोकसंस्कृति की सुरक्षा तो मुझे भी मुश्किल नजर आती है। नदी को यदि हम अवरुद्ध कर देंगे तो वह नदी कहाँ रहेगी ? नदी तो पल पल नई होती चलती है। उसे रोकना उसकी शान के खिलाफ चलना है। म्यूजियम में कुछ चीजें रखी जाती हैं। मुझे नहीं लगता कि जनसाधारण उसे गम्भीरता से लेता है फिर क्यों लोग एक बहती धारा को सुरक्षित रखने की चिन्ता प्रकट करते हैं समझ में नहीं आता।

(५) आकाशवाणी और टी० वी० जैसे लोकप्रिय माध्यम भी इन दिनों बिलकुल व्यावसायिक हो गये हैं। जैसे एक दूकानदार छोटी सी दूकान में रखी हुई चीजों को झाड़-पोंछ कर सुन्दर ढंग से सजाकर रखता है, ताकि लेने वाले उन वस्तुओं की ओर आकर्षित हों और खरीदने की उत्सुकता प्रकट करें। ठीक उसी तरह का तरीका ये माध्यम उठाते हैं। कला और संस्कृति को नये ढंग से ताम झाम के साथ प्रस्तुत करते हैं। मैं समझता हूँ कि ये माध्यम कला एवं संस्कृति को नष्ट करने वाले सशक्त माध्यम के रूप में किसी न किसी दिन बदनाम होंगे। मुझे नहीं लगता कि इन कर्मचारियों के भीतर संस्कृति एवं कला के प्रति कोई आत्मीय लगाव होता है।

(६) *आधुनिक चिन्ताएँ जन-जन की चिन्ताएँ हैं। इनमें पिछड़े हुए लोग भी आते* हैं। ये चिन्ताएं उन्हें भी व्यापती हैं और समयानुसार उनकी कलाओं में प्रकट होने लगती हैं। समाज में महँगाई है, ऊँच-नीच है छुआ-छूत है। और भी कुछ ऐसे सामाजिक

व्यवहार हैं। सब उनके गीतों और नाट्यों में प्रकट होते हैं। विशेष रूप से नाचा तो इन तमाम विकृतियों का पर्दाफाश कर देने में सक्षम है।

(७) कहा जाता है कि लोककलाओं से ही शास्त्रीय कलाओं का जन्म हुआ है। विद्वानों ने नियम बना कर इन कलाओं को मर्यादित किया और बढ़ाया है। यहाँ तक कि आज उसका स्वरूप ही बदल गया है। वह गिनती के कुछ लोगों को ही संतोष देने का माध्यम रह गई है, जबकि लोककला आज भी लाख लाख लोगों का रात-रात भर मन मोहती रहती है। इनमें सम्बन्ध तो है लेकिन उनमें निरंतर दूरी बढ़ती जा रही है। मुझे तो इनके पास आने की कोई सम्भावना नहीं आती। यदि कोई प्रयत्न किया भी गया तो जो तीसरी वस्तु पैदा होगी वह न तो लोककला ही रह पाएगी और न शास्त्रीय कला ही कहलाएगी। अच्छा है दोनों अपनी-अपनी जगह रहें और अपने-अपने वर्ग की सेवा करती रहें। और क्या?

॥ जीवन यदु ॥

(१) लोककला और लोकसंस्कृति की शुद्धता, मेरे विचार से, लोकजीवन की सहज प्रतिक्रिया से ताल्लुक रखती है। जिस तरह वे अपने जीवन संदर्भों को लेकर शोक और उल्लास जाहिर करते हैं, ठीक उसी तरह वे भाव उनकी कलाओं में मूर्त होते हैं। यदि उनकी कलाओं में लोकजीवन की सहज प्रतिक्रियाएँ गोचर न हों या ध्वनित न हों, तो लोक और कला का रिश्ता दूरियों में बदल जाएगा। तब हम लोककलाओं पर अशुद्धता का आरोप लगा सकते हैं। लेकिन संस्कृति पर चाहे वह लोकसंस्कृति ही क्यों न हो, इस तरह का कोई आरोप नहीं लगाया जा सकता। संस्कृति उस नदी की तरह होती है, जो रास्ते के नदी-नालों को अपने में समाहित करती आगे बढ़ती है। वह रूप बदलती हुई विकसित होती है। संस्कृतियों के संधिकाल में तीखी प्रतिक्रियाएँ जरूर होती हैं। लेकिन उस पर अशुद्धता का आरोप नहीं लगाया जा सकता।

(२) कला और जीवन एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। अतः जीवन के सारे परिवर्तन कला में भी दिखाई देंगे। समाज का आर्थिक सामाजिक ढाँचा बदलते ही कला के सारे रूपों में व्यवस्थानुकूल परिवर्तन होता है। संस्कृति में भी परिवर्तन आता है, लेकिन संस्कृति नष्ट नहीं होती। मानव-सभ्यता के साथ पैदा हुई संस्कृति आज तक नष्ट नहीं हुई, न होगी। वह रूपान्तरित होती रही है। पुरानी व्यवस्था के बहुत सारे गुण उस रूपान्तरण के बाद भी उसमें मौजूद होते हैं।

(३) इस व्यावसायिकता के युग में कलाओं पर भी व्यावसायिकता हावी है। समय के बदलाव का लोककलाओं पर भी प्रभाव पड़ता है। उनमें परिवर्तन होते हैं। यह परिवर्तन दो तरह के होते हैं—उच्चतर और निम्नतर। व्यावसायिकता लोककलाओं में निम्नतर परिवर्तन लाती है, ला रही है। व्यावसायिकता के असर से कलाओं में मिलावट की पूरी-पूरी गुंजाइश होता है। इसे लोककलाओं का विकास नहीं माना जा सकता। विकास और मिलावट के बीच सीमा रेखा को पहचानने के लिए हम लोकजीवन को

समझना जरूरी है कि उनकी समस्याएँ क्या हैं, युगीन चिन्ताएँ क्या हैं उनकी जीवन-स्थितियाँ क्या हैं ? साथ ही हम उनकी जीवन-स्थितियों के बीच उनके संघर्ष को भी समझना होगा। तभी हम लोकमानस की प्रतिक्रियाओं को आधार बनाकर विकास और मिलावट के बीच सीमा-रेखा डाल सकते हैं। उदाहरण के तौर पर छत्तीसगढ़ी-ददरिया की एक पंक्ति ले सकते हैं—'पागा वाला नइ दिखय बदे हवं नरियर' के बदले 'टोपी वाला नइ दिखय बदे हवं नरियर'—गाया जाना आकस्मिक नहीं है। इसे हम मिलावट नहीं कह सकते। यह आज के राजनेताओं के बारे में लोकमानस की सहज प्रतिक्रिया है।

(४) लोकसंस्कृति की सुरक्षा का अर्थ संस्कृति की गति को रोक देना नहीं है। हमें इस बात को शिद्दत से समझना होगा कि लोककला 'आदिम-कला' नहीं है। दोनों चीजें अलग-अलग हैं। जो लोग प्राचीन से प्राचीनतम युग की ओर बढ़ते चले जाते हैं, वे अंत में 'आदिम-युग' के गुहाव सी से उत्पन्न कला को ही लोककला की पहचान मान बैठते हैं। यह लोककला के संदर्भ में रूढ़िबद्धता है। इससे बचा जाना चाहिए। लेकिन यह भी नहीं भूलना चाहिए कि आदिम कला की पृष्ठभूमि पर लोककला ने आँखें खोली हैं।

हमारे युग में भी लोकजीवन है। इस लोकजीवन में भी लोककलाएं विकसित हो रही हैं। इन्हें सुरक्षा प्रदान करना है। ये कलाएँ भी पूर्व के लोकजीवन में विकसित हुई कलाओं की निरंतरता में हमें प्राप्त हुई हैं। सुरक्षा से केवल यह तात्पर्य नहीं लिया जाना चाहिए कि लोककलाओं को कैसेट और जिल्दों में बाँध कर रख लिया जाए, यद्यपि लोकजीवन और लोककलाओं के अध्ययन के लिए यह भी जरूरी है, लेकिन सुरक्षा से एक बड़ा अर्थ यह निकाला जाना चाहिए कि सम्पूर्ण समाज उन कलाओं में रच-बस जाये। समाज के सारे लोग, उन कलाओं में कलाकारों की तरह भले ही निपुण न हो सकें, लेकिन उन कलाओं से, वे उतने ही आनंदित हो सकें, जितना कि कोई लोक-कलाकार हो सकता है।

(५) आकाशवाणी टी० वी० तथा अन्य सरकारी माध्यमों से प्रस्तुत सांस्कृतिक कार्यक्रमों में ठेठ लोकजीवन नहीं आ पाता। वे माध्यम सरकारी योजनाओं के प्रति ज्यादा प्रतिबद्ध होते हैं अतः लोकजीवन या लोकसंस्कृति का सरकारीकरण करके प्रस्तुत करते हैं। इसे लोकसंस्कृति का सहज विकास नहीं कहा जा सकता। इसी तरह अभी हो यह रहा है कि प्रसारण के लोभ में अनेक लोककलाकार भी उन्हीं तत्वों को सामने लाने की कोशिश करते हैं जो उनका 'अपना' नहीं है। फूहड़ शब्दावली को लोकगीत का नाम दे देने से वह लोकसंस्कृति में खप नहीं सकती, न वह साज सज्जा ही लोक-जीवन का अंग बन सकती, जिसे टी० वी० में प्रदर्शित किया जाता है।

अधिकांश गैर सरकारी माध्यमों पर व्यावसायिकता 'हावी' है। व्यावसायिकता कितनी सीमा तक किसी कला के प्रति कलामंचों को संवेदन शील बना सकती है—यह आज बहुत स्पष्ट है।

(६) कला किसी एक व्यक्ति का नहीं, वरन् समूचे समाज का 'आत्मबोध' है, और सिर्फ़ आत्मबोध ही नहीं, वरन् 'आत्म-प्रकाशन' भी है। उनसे हमारी चिन्ताएँ-समस्याए सम्प्रेषित होती हैं, भले ही वे बहुत स्थूलता के साथ सम्प्रेषित न हों, लेकिन होती हैं। लोककलाओं से लोकजीवन की अभिव्यक्ति होती है। चूंकि लोककलाएँ बद्ध-कलाएँ नहीं हैं, अत उनसे सम्प्रेषित चिन्ताएँ और समस्याएँ भी युगीन होती हैं। यदि लोककलाओं में आये परिवर्तनों का अध्ययन करें, तो विभिन्न कालों की चिन्ताओं-समस्याओं से हमारा साक्षात्कार हो सकता है। लोककलाएँ भी, अन्य कलाओं की तरह युगीन जीवन को जज्ब करती हैं और प्रतिक्रियाएँ सम्प्रेषित करती हैं। उदाहरण के तौर पर छत्तीसगढ़ के नाच' या 'नाचा' को ल सकते हैं, जिसके कलाकार जीवन की समस्याओं को 'हास्य-व्यग्य' और हाज़िर-जवाबी के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं।

(७) शास्त्रीय कलाओं की जननी लोककलाए ही हैं। लोक-जीवन में प्रवाहित कलाए शास्त्रबद्ध होकर एक बडे जन-समुदाय से दूर हो जाती हैं, या दूर कर दी जाती हैं। दोनो प्रकार की कलाओं के बीच एक बौद्धिक किस्म की सीमा रेखा खींच दी जाती है—यह उच्च वर्ग की कला है और ऊँची है, यह गँवारू है और नीची है। यही मानसिक दबाव कलाकारों पर बराबर बना रहता है। आज, यद्यपि दोनों कलाओ मे भरपूर काम हो रहा है, तथापि एक दूरी का एहसास तब भी बना है। जरूरत इस बात की है, कि दोनों के कलाकार और ज्ञाता एक-दूसरे के नजदीक आकर काम करें और एक-दूसरे की कला को समझने की कोशिश करें। शास्त्रीय कलाकार अपनी कला के हर कण की खोज केवल शास्त्रों में न करें, वरन् उसे लोकजीवन मे तलाशते हुए यह भी देखें कि अब तक विकसित हुई लोककलाओं मे एक नये शास्त्र को जन्म देने की कितनी सभावनाए हैं। इस तरह वे बद्धशास्त्रीयता को मुक्त कर प्रवाह प्रदान कर सकते हैं। इसी तरह लोककला-कारों को चाहिये कि वे उस रसायन को समझने की कोशिश करें, जो लोक-जीवन से रस खींच कर तैयार किया गया है और जिसे शास्त्रीय कला-कुण्डों मे जमा कर दिया गया है। यही नहीं, वे एक-दूसरे से जो समझें, उसे पूरे समाज को भी समझायें—यह भी कलाकारों का दायित्व है। इस तरह कला-संदर्भ वर्गहीन होगा। यदि ऐसा हुआ तो यह आज तक की सास्कृतिक यात्रा म पूरे समाज का महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक क़दम होगा। आज भले ही दोनों प्रकार की कलाओं के बहुत निकट आने की सभावना न हो, या कम हो। लेकिन सभावना बन सकती है। इस आप सावधानी कहिये या जरूरत—कलाकारों को रूढ़िगत मानसिक दबावों से मुक्त होना होगा तब 'कला' 'कलह' होने से बचेगी।

॥ डा० मन्नूलाल चोटिया ॥

(१) लोकसस्कृति और लोककला शब्द भी व्यावसायिकता के लिए गढे गये शब्द हैं। इनका कोई अथ नहीं।

(२) ग्रामीण और आदिवासी क्षेत्रों के कला-रूपों में परिवर्तन स्वाभाविक है। 'उनकी सस्कृति'—जैसी बात वे ही करते हैं जो उन्हें वैसा का वैसा रखकर—या इस

तरह का रोना रोकर, आंसू के पोखर मे ऊँची क्वालिटी के साबुन से नहाना चाहते हैं। परिवर्तन मे आदिम संस्कृति भी नष्ट होगी। नई संस्कृति बनेगी यह तय है।

(३) देखो भाई, पूंजीवादी समाज व्यवस्था में जो कुछ होगा वह व्यावसायिक दृष्टि से ही होगा। व्यावसायिक लोग कहीं के भी लोगों को आदिवासी ढंग से सजा कर, नचाते हैं। सही आदिवासियों ने भी दिल्ली या विदेश के मचों पर नाच कर, इसे अपना पेशा बना लिया है। लोककला को दिल्ली के भरतराम चरतराम जैसे उद्योगपति के बगले पर मनोरंजन का साधन बनाना नई संस्कृति की जमीन बनाना नहीं है। पडवानी के साथ भी यही है। *सीमा रेखा का सवाल नहीं है—विभाजक रेखा तय होनी चाहिये।*

(४) यथा-स्थिति की सुरक्षा नहीं की जानी चाहिये।

रूढ़िबद्धता के खतरे को—इप्टा या अन्य जनवादी धारणा वाली संस्थाओं के जरिये ही टाला जा सकता है—

(५) टी० वी०, आकाशवाणी—बंधे बधाये ढांचों, समयबद्ध कार्यक्रमों के सांचे में ढले हुये हैं। उनके संवेदनशील होने का प्रश्न भी नहीं है। सरकार के किसी विभाग को यह प्रशिक्षण नहीं है कि वह किस उद्देश्य की पूर्ति के लिये बनाया गया विभाग है। सरकार को भी यह नहीं मालूम कि वह सरकार क्यों है। यह काम गैर-सरकारी माध्यम से ही पूरा हो सकता है। पर गैर-सरकारी माध्यम, अभावों के कारण कुकुरमुत्ते ही हैं।

(६) हमारी आधुनिकतम चिन्ता—एनार्की है। यह हर क्षेत्र में जन्म ले चुकी है। ट्रेड यूनियन जैसे क्षेत्र में भी यह एनार्की—क्रांति का जामा पहन कर पनप रही है। लोक-कला या लोकसंस्कृति भाईचारे का कारगर हल हो सकती है। आधुनिकतम चिन्ताओं को लोक-ढंग पर लिखा जाना चाहिये। पडवानी के ढग से वह प्रस्तुत हो सके, यह प्रयास करना चाहिये। नाचे मे नई बात नई संस्कृति को गढेगी। मैंने सोचा है—रामचरित-मानस के ढग पर चौपाई दोहों छंदों में मार्क्स चरित मानस लिखूं। गाँव-गाव मे कथा हो। पान-फूल दक्षिणा भी चढे तो परहेज नहीं।

(७) रिश्ता ही तय हो जाये तो शास्त्रीय और लोककला में कोई दूरी न रहे। रिश्ता ही नहीं बन रहा है। तुलसी और प्रेमचंद ने शास्त्र का चौपाल से रिश्ता कायम किया था। प्रगतिशीलता फैशन नहीं है, खटने वाले लोग चाहिये।

★

आयाम

॥ रवीन्द्रनाथ टगोर ॥

'जब हम सचेत होकर किसी एक विशेष दिशा मे चिन्तन करते हैं, तब ये छायामयी मरीचिकाएँ एक ही क्षण में छूट जाती हैं, हमारी कल्पना और हमारी बुद्धि एक विशेष ऐक्य ग्रहण करके एकाग्र होकर प्रभावित होती है। हमारा मन नामक पदार्थ इतना प्रभुत्वशाली है, कि वह जब सजग होकर बाहर आता है तो उसके प्रभाव के कारण हमारा अन्तर्जगत और बहिर्जगत् अधिकाश रूप म दब जाता है। वह जब देखने लग जाता है, तो अच्छी तरह सुनता नहीं है, और जब चिन्तन करता है तो न तो अच्छी तरह देखता, न अच्छी तरह सुनता है। इसी सामर्थ्य के कारण वह इस जगत् की असीम विचित्रता के बीच में ही अपनी प्रधानता को कायम रख कर चलता रहता है। पुराणो में यह पढ़ने में आता है, कि कुछ महात्मा ऐसे हो गए हैं, जिन्हें इच्छामृत्यु का वर मिला हुआ था। हमारे मन को उसी प्रकार इच्छाधता और इच्छावधिरता की शक्ति प्राप्त है, और इस शक्ति को वह काम मे लाता है, इसी कारण जन्म से मृत्यु तक उसके सामने प्रत्यक्ष रूप से होने वाली घटनाएँ उसकी चेतना के बाहर से ही निकल जाती हैं। पर लोरियों मे हमारी परिवतनशील दुनिया की छाया मिलती है। तरल स्वच्छ सरोवर पर मेघक्रीड़ित नभोमडल की जिस प्रकार छाया पडती रहती है, उसी प्रकार इन लोरियों म हमे देखने को मिलता है। इसीलिए मैंने कहा कि, वह अपने आप उत्पन्न होती है।'

'हमारे अलकार शास्त्रो म नौ रसो का उल्लेख है, पर लोरियों में जो रस प्राप्त होता है, वह शास्त्रोक्त रसो के अन्तगत नहीं है। अभी-अभी जोती हुई जमीन से जो गध निकलती है, या शिशु के नवनीत कोमल देह से जो स्नेह को उबाल देने वाली गध है, उसे फूल, चन्दन, गुलाबजल, इत्र या धूप की सुगध के साथ एक श्रेणी मे रखा नहीं जा सकता। सभी सुगधो के मुकाबले म उसमे एक अपूर्व आदिमता है, उसी प्रकार लोरियों में एक आदिम सुकुमारता है जिसकी मधुरता को बाल्य रस नाम दिया जा सकता है। यह तीव्र नहीं है, गाढ नहीं है, वह बहुत ही स्निग्ध सरस और युक्ति तथा संगीत से हीन है। इसी रस के द्वारा आकृष्ट होकर मैं बगाल के लोक साहित्य को सग्रह करने मे लगा था। रुचि भेद के कारण सम्भव है, कि यह सबको न भाये, पर इनको स्थायी रूप से संग्रह करके रखना चाहिए, इस सम्बन्ध मे शायद दो राय नहीं हो सकती। यह हमारी राष्ट्रीय सम्पत्ति है।' रवीन्द्रनाथ और लोकसाहित्य—पृष्ठ ४५४—श्री मन्मथनाथ गुप्त

॥ बालकृष्ण भट्ट ॥

अब ग्राम्य कविता पर ध्यान दीजिए। मल्लाहों के गीत, कहारों का कहरवा, बिरहा अथवा आल्हा आदि सब महाभद्दी, केवल गवारो की रोचक कविताए। उनकी

प्रशंसा में यदि हम कुछ कहें तो नागरिक जन जो भाषा की उत्तम कविता में रसपान के मसड़ में फूले नहीं समाते, अवश्य हम पर आक्षेप करेंगे और हमें निपट गँवार समझेंगे। निःसन्देह ये ग्राम्य कविताएं हैं और मलार-ठुमरी का स्वाद लेने वालों की दृष्टि में महा भद्दी और घृणित हैं। पर इससे तो यह सिद्ध नहीं होता कि कविता के बँधे कायदे पर न होने से उनमें कोई भी गुण हुई नहीं और सर्वथा दूषित ही हैं। अब हमारे पाठक अब पूछ सकते हैं, आपने उसमें ऐसा कौन-सा गुण पाया जो उस पर इतना लट्टू हो रहे हैं? माना वे सर्वथा दूषित और कविता के गुणों से वञ्चित हैं पर उनमें सच्ची कविता का असरा पाया है। अर्थात् उनमें चित्त की एक सच्ची और वास्तविक भावना की तसवीर खिंची हुई पायी जाती है और आपकी क्लासिक उत्तम श्रेणी की भाषा कविता का जहर इसमें कहीं नहीं पाया जाता। जो यहाँ तक कृत्रिमतापूर्ण रहती है कि उसके जोड़ की एक निराली दुनिया केवल कवियों के मस्तिष्क मात्र में ही स्थान पाये हुए हैं।

—'हिन्दी प्रदीप', अक्टूबर १८८६, पृ० १५
(हिन्दी की प्रगतिशील आलोचना)

॥ राहुल सांकृत्यायन ॥

लोक कवि के अपने छन्द, अपनी शैली और अपने शब्द विन्यास होते हैं। उनका जितना ही अधिक अनुसरण किया जाय, उतना ही लोककाव्य सुन्दर होता है। पर शिक्षा और सम्पर्क के साथ-साथ फैलती हुई नागरिक सभ्यता के अनुचित प्रभाव नई पीढ़ी के लोककवियों के ऊपर भी पड़ते जा रहे हैं। जिस भी घटना से लोकमानस उल्लसित या विकल हो जाता है, वह उससे कविता के रूप में निकल पड़ती है।

॥ डा० धीरेन्द्र वर्मा ॥

जनपदीय भाषाओं के महत्व को अब अधिकाधिक समझा जा रहा है। उनके शब्दों को एकत्र करने का काम उन्हें लुप्त हो जाने से बचाने के लिये आवश्यक है। उनका कोश-रूप में सम्पादन लोकसाहित्य और लोकभाषा को समझने की दृष्टि से मूल्यवान है। राष्ट्रभाषा हिन्दी की शब्दनिधि को भरने की दृष्टि से भी यह कार्य कम महत्व नहीं रखता। जनपदीय भाषाओं में भी ऐसे बहुत से शब्द हैं जिनके समानार्थी हिन्दी में नहीं मिलते और जिनके ग्रहण कर लेने से हिन्दी के विचारों को व्यक्त करने की क्षमता बढ़ेगी। अतएव जनपदीय भाषाओं की उपयोगिता स्पष्ट है।

॥ मार्कण्डेय ॥

लोकप्रवृत्तियों की परम्परा का निरीक्षण करने पर पता चलता है कि इसके समस्त तत्व श्रमिक जीवन की विभिन्न अनुभूतियों से भरे पड़े हैं। पहली बार जब आदि मानव ने शिकार की खोज में दौड़ लगाई होगी या पत्थर के एक पैने टुकड़े का निर्माण किया होगा या वृक्ष के कई पत्तों को जोड़ लिया होगा, तो वहीं उसकी कला का प्रारम्भ माना चाहिए।

[सम्मेलन पत्रिका—लोकसंस्कृति अंक]

ठारी ॥

कथाएँ कभी भी काल निरपेक्ष नहीं होतीं और किसी भी कथा का रूप यदि रात मे निरूपण कर, हम तक पहुँचा है तो सामाजिक उपयोगिता असदिग्ध ही है। लोककथाएँ वस्तुत केवल प्राचीन की अवशेष ही नहीं हैं बल्कि के सास्कृतिक सदर्भ की एक जरूरत है और उसी जरूरत ने उसे जिन्दा रखा है। ये जरूरतें भिन्न भिन्न हो सकती हैं और विभिन्न सामाजिक सस्थाओं से सश्लिष्ट सबध होने के कारण उनकी इतिहास के दौरान मे जीवन्त यात्रा सभव हो सकी है। लेकिन काल की इस परिक्रमा मे लोककथाओं के सामाजिक प्रसग बदलते रहे और ठीक उन्हीं घटनाओं मे नये-नये अर्थों की सयोजना सभव बनती गई। सामन्ती आर्थिक सामाजिक व्यवस्था के बीच में लोककथाओ की घटनाए चलती हैं किन्तु इन्हा आर्थिक सामाजिक सम्बन्धों के गत्यात्मक परिवर्तन अपने आप नये मूल्यों की स्थापना करने म सफल हो जाते हैं। [लोकसस्कृति—सितम्बर १६७७]

× × ×

समाज, जाति, रिश्ते, विश्वास वैयक्तिक अन्तरसबंध का जुडाव उन्हें गाँवो स फर्क नहीं बनाता। धीरे-धीरे इस अन्तर की दरार बढेगी, यह स्पष्ट है। ऐसी सामाजिक एव ऐतिहासिक परिस्थिति मे गाँवों एवं शहरों के बीच सागीतिक आदान-प्रदान की बात कुछ अनोखे ही तथ्यों की ओर ले जाती है। सामान्यतया शास्त्रीय सगीत का उद्भव शहरो म सभव हुआ और शहरों का यह सगीत गाँवों म कैसे पहुँच पाता है ? गाँवो का लोकसगीत किस रूप म शास्त्रीय सगीत को प्रभावित करता है ? इन पारस्परिक प्रभावों एव अन्तर सम्बन्धों के माध्यम कौन से हैं अर्थात् किस प्रक्रिया के कारण आदान-प्रदान सभव हो रहा है ? यदि वतमान को सामने रखें तो आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों द्वारा इस आदान-प्रदान की एक प्रक्रिया चल रही है जिसे रेडियो टेलिविजन, ग्रामोफोन रेकार्ड एवं ध्वनि विकास के यन्त्रों का सहारा मिला है। गाँवों के लोक गायकों को शहरो के लोग सुन रहे हैं और केवल शास्त्रीय सगीत ही नहीं, विभिन्न क्षेत्रीय सगीत परम्पराओं को गाँवों के गायक सुन रहे हैं। सिनेमा का विपुल प्रभाव सगीत की परम्परा पर सहज ही अनुभव किया जा सकता है किन्तु राजस्थान की स्थिति बताती है कि आज यहाँ शास्त्रीय सगीत की परम्परा दुबल अवस्था म है, उसकी तुलना मे लोक सगीत परम्परा सामने है।

× × ×

लेवी स्ट्रास ने मिथ [अथवा पुरा कथा] को विश्लेषित करते हुए कथा की सयोजना की बात की है। यह सरचना कितने ही स्तरों पर चलती है। एक ही कथा म भौगोलिक तत्व हैं, सामाजिक तत्व हैं, अलौकिकता के तत्व हैं, ऐतिहासिक भी हो सकते हैं और इसी प्रकार अनेक विषयो को छूने वाले तथ्य कथा क ढाँचे को खडा करते हैं। कथा के अतरग रूप तक पहुँचने के लिए कथा को ऐसी इकाइयो मे विभक्त करना आवश्यक है जो अधिक से अधिक मानवीय सम्बन्धों एव अन्तरसम्बन्धों को प्रकट कर सकें। यह विश्लेषण पद्धति

गरबा और रास (गुजरात), गी गी-पद (कर्नाटक), कोलकाली पतू (केरल), रूफ और छाकुरी (काश्मीर), सुआ और सैरे (मध्य प्रदेश), पवाड़ा और लावनी (महाराष्ट्र), हीर और गिद्धा (पंजाब) दासकाठिया और पुरसा (उड़ीसा), मांड पनिहारी और घूमर (राजस्थान), चैती और कजरी (उत्तर प्रदेश) और डालो और डाक्नी (गोआ) जैसी आंचलिक शैलियाँ प्रमुखता से पहचानी जा सकती हैं क्योंकि ये अपने मौलिक सांगीतिक स्वरूप की शुद्धता को कायम रख सकी हैं। इनमें स्पष्ट स्वरूप ने उन्हें यह स्थायित्व प्रदान किया है जो उन भाषाओं में भी नहीं है जिनमें इनकी रचना हुई है।

यह भी देखा गया है कि समय-समय पर ग्रामीण कला में घुमन्तू चारणों, भाटों, ग्रामीण महिलाओं और अन्यों के द्वारा नये बदों की रचना भी की जाती है। यहाँ तक कि पारंपरिक गीतों में भी तात्कालिक परिवर्तन होते हैं किन्तु उनको पारंपरिक लयात्मक संरचना और मूल चरित्र से वे कभी स्खलित नहीं होते। वस्तुतः परंपरा का नियंत्रण और विभिन्न सामाजिक स्तरों का पुराना अभ्यास उन्हें ऐसा करने से रोकता है।

एक गोण्ड पहेली में लिखित गीत को सफेद खेत में बोया गया काला बीज कहा गया है। इसके विपरीत बुंदेलखण्ड के एक किसान के लिए एक अलिखित गीत एक ऐसे लम्बे धागे की तरह है जिसका एक सिरा हृदय से बंधा हुआ है।

दूसरे प्रकार का कोई गीत कभी लिखा नहीं गया और न कभी स्वरबद्ध रूप में गाये गये। कारण यह है कि मौखिक कविता और परंपरागत लोकगीत हमेशा संगीत और नृत्य के साथ बँधे रहे हैं। कुछ लोकगीत तो विषयवस्तु की दृष्टि से लिखित कविता की तुलना में वस्तुतः श्रेष्ठ हैं।

मध्य भारत की आदिवासी कविता सौंदर्य और प्रतीकात्मक दृष्टि से श्रेष्ठ है। ग्रामीण समाज के साधारण लोकगीत भी भावप्रवण चित्रण और बिम्ब योजना में अतुलनीय हैं। कविता के इस खजाने की उपेक्षा यह मानकर नहीं की जा सकती कि यह तो अनपढ़ लोगों के गीत है।

॥ डॉ० मु० ब० शहा ॥

लोकसगीत, लोक-कथाएं और लोक गाथाएँ सामान्यों के घर आँगन में पलती रहीं, सामान्यों की जबान पर चक्कर हो उच्चवर्णों के पास पहुँचती रहीं। शिल्पकर्म करनेवाली लगभग सभी छोटी-बड़ी जातियाँ शूद्रों की गिनती में आती हैं। लुहार सुनार बढ़ई, कुम्हार, धोबी नाई केवट, तेली ठाकर, नट, रथकार नर्तक, वाद्यवादक अन्त में कृषक तक! महापद्मनंद के समय पुराणों द्वारा यह मान्यता फैलाई गयी थी कि भारत में क्षत्रिय वर्ण रहा ही नहीं है। अब केवल दो ही वर्ण रहे हैं एक ब्राह्मण और दूसरा शूद्र!

भारतीय संस्कृति में शूद्रों का योगदान—डा मु० ब० शहा
(सचेतना) अंक ६०, दिसम्बर ८१

॥ रामनारायण उपाध्याय ॥

गीत मनुष्य का स्वभाव है। हमारे जीवन में ऐसा/एक भी कार्य नहीं जो बिना

त के हो। किसान खेत में हल चलाता है तो गीत के साथ, मजदूर मिट्टी कूटता है तो गीत के साथ, स्त्रियाँ दही बिलोती हैं तो गाते के साथ और चक्की पीसती हैं तो चक्की के स्वर के साथ गीत की सुमधुर कड़ियाँ भी गूंजती आई है।

गीत, खाने-पीने की तरह हमारे जीवन का अभिन्न अंग बन चुके हैं। हमारे यहाँ बच्चे के जन्म के गीत हैं, नामकरण संस्कार में गाते हैं, जनेऊ के गीत हैं, ब्याह में गीत । और आदमी जब मर जाता है तो उसे भी गाते-बजाते हुए ले जाने की प्रथा है। सम्पूर्ण जीवन स्वयं एक सुन्दर संगीत है।

इन गीतों में मानव-मन की सुकोमल भावनाएं अंकित रही हैं। मनुष्य का मन जब अपने आप में नहीं समाता, या बेचैन हो उठता है तो वह किसी की याद में गाता, गुनगुनाता आया है।

इन गीतों के सहारे ही प्राचीनकाल से मनुष्य इन्द्रधनुष की तरह रंगीन स्वप्न बुनता, गिरि शिखरों की यात्रा करता, सागर की लहरों से खेलता और वायु की लहरों पर तैरते हुए अनन्त के ओर-छोर नापता आया है। गीत, एक साथी की तरह सदा उसका साथ देते आये हैं।   निमाड़ी लोक साहित्य—रामनारायण उपाध्याय
रविशंकर शुक्ल-अभिनंदन ग्रंथ

॥ डॉ० सत्यव्रत सिन्हा ॥

लोक कहानियाँ लोक मानस की सहज अभिव्यक्ति हैं। इनमे मानव जातियों का इतिहास, जनवर्ग की मूल भावनाओं, इच्छाओं, विचार और अनुभवों का समावेश रहता है। लोक कहानियों में ही लोक-मानस की साहसिकता, स्वच्छन्दता, धार्मिक चेतना, विश्वास की प्रवृत्ति, कौतूहल और रोमांस आदि का समावेश पाया जाता है।

॥ विष्णु चिंचालकर ॥

लोककला का अधिकतर सम्बन्ध उसके परिवेश से, उस जमीन से, उस मिट्टी से जुड़ा है जहाँ वह अस्तित्व रखती है। अब जैसे निमाड़ी है या मालवी या राजस्थानी लोक-चित्रकला है तो ये तीनों ही लोककलाएं हैं। अधिकतर इनके डिजाइन देखने में एक से लगते हैं यानी है चीज वही किन्तु उसमें अन्तर किया जा सकता है एक अन्दाज से—जैसे यह निमाड़ी लोकचित्रकला है, निमाड़ी से मालवी कहाँ अलग हुई और मालवी से राज-स्थानी कहाँ अलग है। यदि एक ही चीज होती है तो ये अन्तर कैसे होता है? मेरा विचार है कि वहाँ की जो परम्परा होती है वहाँ की जो आबोहवा होगी, उसकी विशिष्टता उसमें होगी जैसे लाल रंग का प्रयोग अथवा हिरण की जो आकृति है उसमें एक विशेष रूप आता है। अब देखने में तो सभी डिजाइन में सच्चाई दिखेगी लेकिन उनमें यह विशेषता है कि यह सम्बन्ध अधिकतर जिस भूमि से वह निकली है उससे जुड़ा हुआ होता है।

॥ लीलाधर शर्मा ॥

जन-मन को सदा से अनुरंजित एवं आह्लादित करने वाले लोक-साहित्य की परम्पराएँ प्रत्येक देश और जाति में पायी जाती हैं। उनके द्वारा युग युग की परिस्थितियों, मान्यताओं और जीवन पद्धति का आभास मिलता है। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी और

एक समुदाय से दूसरे समुदाय को प्रभावित करती हुई वे हम तक आयी हैं और इतिहास की शृंखला की लुप्त कड़ियों को जोड़ने मे सहायक हुई हैं। अतीत को वर्तमान से समन्वित करने का वे महत्त्वपूर्ण साधन हैं। रूसी लोक साहित्य—(लीलाधर शर्मा पर्वतीय)

॥ डॉ० केसरीनारायण शुक्ल ॥

लोक वाङ्मय लोक मानस की मौखिक सर्जना का परिणाम है और लोक-साहित्य उसी का अंग एवं अभिव्यक्ति है। इसमे मानवता के विकास की उस मंजिल की संस्कृति निहित और सुरक्षित है जब कि अभी लेखन-पद्धति का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। लोक-साहित्य मानवता का पालना है—लेखन से पहले की मानवता की संस्कृति का अमूल्य भण्डार—जिसमें धर्म दर्शन, अध्यात्म, संस्कार, कर्म-काण्ड काव्य, नृत्य, गान आदि सभी पलते झूलते और खेलते रहे हैं और जो कि इन सब का समन्वित कलात्मक रूप है। लोक-साहित्य धर्म काव्य और कला एक साथ हैं। यह शब्द-व्यापार का प्रथम कलापूर्ण आरम्भ भी है जिसके माध्यम—पहेली जन्त्र मन्त्र, लोक गीत, लोककथाओं आदि के रूप—से प्रत्येक जाति अपनी जीवन पद्धति और अपने जीवनानुभव को आनेवाली पीढ़ी को सौंपती रही है।

इसी प्रकार लोक साहित्य के उद्देश्यों के सम्बन्ध में मार्क्सवादी विचारकों का कहना है कि इसका उद्देश्य केवल थके हुए किसानों का मनोरंजन करना ही नहीं है वरन् उनकी नैतिक भावना को जगाना है उन्हें अपनी शक्ति से परिचित कराना है उन्हें अधिकार की भावना और स्वतंत्रता से अवगत कराना है उनके साहस और देश के प्रति उनके प्रेम को जगाना है और यह आवश्यक है कि लोक सर्जना अपने समय के प्रश्नों का उत्तर दे।' सोवियत विद्वानों का यह निश्चित मत है कि 'लोक साहित्य केवल बहुमूल्य सांस्कृतिक उत्तराधिकार और अतीत की आवाज मात्र नहीं है यह आज भी जीवन्त सर्जना है वर्तमान की वाणी है।'

रूसी लोक साहित्य कल्पना और अतिरंजना के माध्यम से रूसी प्रकृति का, रूसी जनता के जीवन और रीति नीति का अतीत और वर्तमान के बीच उसके चरित्र और मनोदृष्टि का सतत चित्रण करता आया है। लोक साहित्य में कलात्मक अतिरंजना बड़ा काम करती है। इसके कलात्मक और अतिरंजित चित्रों मे श्रमशील जनता के ही स्वप्न झिलमिलाते हैं। यह अतिरंजना 'उज्ज्वल भविष्य की ओर प्रयत्न और कदम है।' अतिरंजना और काल्पनिक पात्रों के माध्यम से जनता ने प्रकृति को अपने वश में करने की ओर बुढ़ापा रोग मृत्यु और अत्याचारियों से त्राण पाने की इच्छा और सम्भावना प्रकट की। गोर्की के शब्दों में 'अति प्राचीन युग में जनता ने उड़ने की सम्भावना का स्वप्न देखा—उड़ने वाली कालीन की कथा हमें यही (जनता की इसी स्वप्न और सम्भावना को) बता रही है। रूसी लोक-साहित्य—डा० केसरीनारायण शुक्ल

॥ रामनिहाल गुंजन ॥

ग्रीक और अंग्रेजी कविता मे जो बुनियादी अन्तर है, वह यह है कि प्राचीन यूनान

म कविता का सम्बन्ध सगीत से था। सगीत विशुद्ध रूप म उपकरणमूलक (संगीत शब्दों स रहित) नहीं था और प्राय सवत्र अच्छी कविता की रचना सगीत क साहचय से होती थी। आयरिश (कविता) म भी कविता और संगीत म गहरा सामंजस्य है। यह महज अनुमान की बात नहीं है, बल्कि यह जीवत वास्तविकता है। मैं उन आयरिश कविताओं को कभी नहीं भूलूंगा, जिनम स कुछ को तो मैंने पहली बार गुना था और जिन्हें प्रकाशित रूप म सामने कभी न जानता था। उनको एक कुशल विज्ञान न परम्परित शैली म गाया था। यह मरे लिए बिल्कुल नया अनुभव था। मैंने कविता या सगीत म ऐसा कुछ कभी नहीं सुना था।

आयरिश कविता की एक दूसरी विशेषता है, जो मरे लिए नई भी है। उससे मैं गहरे प्रभावित हुआ। अधिकांश अंग्रेजों के लिए अंग्रेजी कविता एक बन्द किताब की तरह है। वे न तो इसके बारे म जानते हैं और न उसकी चिन्ता ही करत हैं और बहुत थोड़े लोग हैं, जो इसम दिलचस्पी लेत हैं। उनम भी बहुत ज्यादा नहीं हैं, जिनके बार म यह कहा जा सके कि कविता का उनके दैनंदिन जीवन म व्यापक प्रवेश नहीं है। आयरलैंड के किसानो क बीच यह बिल्कुल भिन्न रूप म दिखाई पड़ती है। उनक लिए कविता का सम्बन्ध किताबों से बिल्कुल नहीं है। उनम स अधिकांश अशिक्षित है। यह (कविता) उनकी जुबानो पर रहती है। यह उनका एक सामान्य गुण है जिसको हर आदमी जानता है और उस पसन्द करता है। दैनंदिन वार्तालाप के क्रम मे बुदबुदाहट लगातार सुनाई पड़ती है। फिर भी इसम सृजनात्मकता है। जब कोई विशेष घटना घटती है और उसको लेकर किसी गीत की रचना की जाती है, तो मैं इस 'रचित' कहता हूँ, लेकिन यह शब्द यहाँ मुश्किल से लागू होता है। इन शब्दो का अगर सही अर्थ लिया जाय तो ये गीत रचे नहीं जाते, बल्कि व स्वत स्फूर्त या आशुरचित होते हैं।

आयरलैंड के बहुत से गाँवों म हाल तक एक प्रशिक्षित परम्परित कवि की चर्चा विस्तृत काव्य-रूपों म कविताए प्रस्तुत करने के कारण होती रही थी। व हमारी आधुनिक अंग्रेजी कविता क काव्य-रूपों की अपेक्षा, जो क्षण की प्ररणा पर आधारित होते हैं, ज्यादा विस्तृत थे। जैसा कि मुझे अच्छी तरह पता है, गाँव म एसा एक सुप्रसिद्ध कवि था जो करीब चालीस साल पहले मर गया। उसकी प्राय सभी कविताएँ आशुरचित और सामयिक थीं। मुझे याद है, जैसा कि उसके परिवार वाला ने बतलाया था कि कैसे उस रात जब वह मरा, अपने सिर को केहुनी के सहारे टिकाए हुए बिछावन पर लेटा हुआ था और कविता की अजस्र धारा प्रवाहित कर रहा था।

मार्क्सवाद और कविता
जाज थामसन—अनु० रामनिहाल गुंजन

॥ महेशनारायण सक्सेना ॥

लोक-जीवन का सुन्दरतम प्रतिबिम्ब लोकसगीत म दिखाई पड़ता है, क्योंकि लोकगीतों के शब्दों व स्वरो के चयन में कृत्रिमता का अभाव रहता है। उनमे लोक-जीवन

का सीधा साम्ना परिचय होता है। वे व्यक्ति के बाह्य जीवन के साथ-साथ उसके मानसिक भावों के भी परिचायक होते हैं, परन्तु उनमें सूक्ष्मता की अपेक्षा स्थूलता और स्पष्टता का अधिक महत्व होता है। लोकगीत संक्षिप्त, सरल, स्पष्ट, स्वाभाविक, सुन्दर, अनुभूतिमय और संगीतमय होते हैं। कदाचित् ही ऐसा कोई लोकगीत हो, जो संगीत से अनुप्राणित न हो। उसका संगीत भी लोक जीवन का उतना ही सफल परिचायक है, जितनी उसकी कविता। ग्रामीण ने इन गीतों के स्वरों व शब्दों में मानो अपनी सम्पूर्ण संवेदनाओं और अनुभूतियों को निष्कपट, सरल और स्वाभाविक ढंग से रख दिया है।

लोक संगीत के गायन पक्ष को ही यहाँ लिया जा रहा है। वादन पक्ष उसके साथ संयुक्त रहेगा, किन्तु लोकनृत्य पर इस स्थल पर विचार करना विषयान्तर में जाना होगा, यद्यपि उसका भी लोक-जीवन के निर्माण व विकास में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। सामूहिक रीति से नाच-नाच कर गाना ग्रामों में बहुत प्रचलित है। वादन के क्षेत्र में लय व ताल दिखलाने वाले वाद्यों का ही उपयोग ग्रामगीतों के साथ अधिक होता है। स्वतंत्र वादन का विकास लोक-संगीत में नहीं हुआ है।

लोक-संगीत में अकेले गाने से कहीं अधिक सामूहिक ढंग से गाने के महत्व का पता चलता है और उसमें स्वर की अपेक्षा लय का भी अपेक्षाकृत कुछ अधिक प्रभाव मिलता है। उत्तर भारत में लोक संगीत में प्रयुक्त होने वाले अवनद्ध अथवा घन वाद्यों में से ढोलक, खजड़ी, झाँझ और करताल उल्लेखनीय हैं।

सम्मेलन पत्रिका—लोकसंस्कृति अंक

लोकगीतों का संगीत पक्ष —पृष्ठ ३३३—श्री महेशनारायण सक्सेना

॥ ओंकारनाथ ठाकुर ॥

देशी संगीत के विकास की पृष्ठभूमि लोक-संगीत है। जिस देश या जाति का संवेदनशील मानव जिस समय अपने हृदय के भावों को अभिव्यक्त करने के लिए उन्मुख हुआ, उसी अवसर पर स्वयम्भू स्वर, लय प्रकृत्या उसके मुख से उद्‌भूत हुए और उन्हीं स्वर गीत और लय को नियमबद्ध कर उनका जो शास्त्रीय विकास किया गया वही 'देशी संगीत बना। श्री मतङ्ग रचित 'बृहद्देशी' ग्रंथ देशी संगीत का प्रामाणिक और पुरातन ग्रंथ है। मेरी धारणा है कि आज भी यदि शोध किया जाय तो प्रचार में गाये जाने वाले रागों का उत्पादक 'लोक संगीत' ही सिद्ध होगा। लोक संगीत में प्रेम, भक्ति, अनुराग, धर्म आदि मानव जीवन के सभी अवयवों का सन्निवेश है। आधुनिक प्रचलित गुर्जरी सोरठ, सौराष्ट्र टंक गान्धारी, भोपाली मुलतानी बंग भैरव, कन्नड आदि राग अपने नाम वाच्य भेद के अनुसार ही तत्तज्जनपदों और देशों के लोक-संगीत का प्रतिनिधित्व करते हैं। यदि हमारा जनतंत्र राज्यशासन लोक संगीत के सभी अंगों के विकास की यथेष्ट चेष्टा करे, तो भारतीय संस्कृति के विकास का एक ऐसा अनुशीलन प्रधान इतिहास निर्मित हो जाये, जिससे समस्त मानव जाति को प्रेरणा और लोकोत्तर आनन्द प्राप्त हो सकेगा। 'भारतीय लोक-संगीत की आत्मा'

पृष्ठ २६३ + २६४—श्री ओंकारनाथ ठाकुर

॥ अशोक वाजपेयी ॥

बंदिश के याद आए बिना राग तो आता नहीं है संगीतकार को। बिना बंदिश के, बिना ताल के राग को गाकर सुनाए। खाली राग को। कोई बंदिश नहीं, ताल नहीं। भाग जाएँगे सब।

शास्त्रीय संगीत की दुनिया प्रायः लोकसंगीत से दूर या ऊपर रही है। लेकिन आपका लोकसंगीत से उतना ही गहरा रिश्ता है जितना शास्त्रीय संगीत से। बल्कि मालवी लोकधुनों का एक समूचा कार्यक्रम भी आपने तैयार किया है जो कि शास्त्रीय संगीत के इतिहास में एक नयी बात है। आपके गाये कबीर, मीरा आदि के पदों में शास्त्रीय रागों के साथ लोकसंगीत का स्पर्श भी जगह-जगह मिलता है। क्या आप शास्त्रीय गायन में लोकसंगीत का उपयोग रचना को एक पूर्णता देने के लिए करते हैं? अगर ऐसा है तो शास्त्रीय संगीत में आपको क्या कोई अधूरापन लगा?

जो परिपूर्ण संगीत है यानी राग-संगीत, उसे हम और क्या परिपूर्ण कर सकते हैं? उसकी खोज कर सकते हैं। और वह मुझे दिखा लोक-संगीत में। हम उसमें भर डाल सकते हैं। उसमें जो भराव है—चाहिए, बहुत चाहिए। किसी ने किया नहीं है। मैंने पहले भी कहा है, राग बनाये नहीं जाते, राग बनते हैं। बनाये जाने वाले राग अलग हैं। वे जो पुराने राग-रूप हैं वैसे रूप बनाने के लिए आदमी का प्रयत्न—सिर्फ समझ ही सकती है वे बनाये नहीं जा सकते हैं। पुराने जितने राग हैं, बहुत कम हैं यानी रागों के नाम बहुत होंगे, मगर शुद्ध रूप उनका जो है, ऐसे राग बहुत कम हैं। इसलिये मुझे संगीत के तल में जाने की इच्छा हुई। लोक संगीत में जाने का उद्देश्य यही था। मेरी धारणा ही है कि लोकधुनों पर ही राग संगीत का आधार है। दस बारह जो राग हैं, उससे बने हैं।

यह सभी कहते रहे हैं कि शास्त्रीय संगीत लोकधुनों से उपजा है।
संभवतः वह कैसे होता है, यह कीमिया आपने कर दिखाया है।

कीमिया कैसा? उसका मूल क्या है, वह मुझे समझ में आ गया। कुछ पहले से बीज गिरे हुए थे। गुरुजी वाले। बम्बई में जब मैं सीखता था तो गलती से गुरुजी एक किताब लाए थे होली के गीतों की। उसमें से उन्होंने एक प्रोग्राम दे मारा रेडियो पर। लोकगीत ऐसे रहते हैं, यह शुरू में ही थोड़ा याद था। जब इधर आए तो सम्पर्क में श्याम परमार आए, ये आए वो आए। पढ़ना भी काफ़ी हुआ। तब से धुन एकत्रित करने की बात आ गई। वैसे लोकधुन जिसे कहते हैं, और मैंने भी वे पेश की हैं वह एक अलग स्थल है। और रागों की गुण-रीति की दुनिया ही अलग है। उसमें समरूपता लाने के लिए मैं लोकधुनों के पीछे पड़ा। मालवी लोकधुनों का प्रोग्राम बिलकुल अलग है। उसकी इसमें बात नहीं। लोकधुनें भी वैसे सुंदर ढंग से गा सकते हैं उसके रूप को न बिगाड़ते हुए, वह अलग एक संगीत निर्माण कर सकती है यह कहना है कुमार गंधर्व को। अपने भारत में राग-संगीत न जन्मा होता तो संगीत खत्म हो जाता क्या? दूसरे

देशों म कहां है राग संगीत ? संगीत है जरूर । यह आपकी भारत भूमि का वैशिष्ट्य है कि ऐसा संगीत कहीं दुनिया म नहीं है । आधुनिक वास्तुशिल्प तब पहुँचता है आपका राग संगीत । पहले से सारी चीजें तैयार हैं और उनसे आपको नयी दुनिया का निर्माण करना है । राग संगीत गाने वाले को क्या करना है ? भूप तैयार है, तीन ताल तैयार है । उनस म निर्माण करना है। उसको चुनौती है यह । तो, वह तो घिसा-पिटी करता है, रगड़ के वही वही गाता है । उसमें वह कलाकार नहीं होना चाहता, मजदूर होना चाहता है ।

संगीत का नया सौंदर्यशास्त्र—पृ० ६-१०

कुमार गंधर्व से अशोक वाजपेयी, रमेशचन्द्र करह, राहुल बारपुते और मंगलेश डबराल की बातचीत । (कला विनोद—अशोक वाजपेयी)

॥ शत्रुघ्न शुक्ल ॥

डा० शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे लिखते हैं, संगीत कला का प्रवाह सदैव दो धाराओं म प्रवाहित होता रहा है—१ मार्ग तथा २ देशी । प्रथम में शास्त्र के अनुगमन के द्वारा कला की परिष्कृतता तथा अभिजातता पर ध्यान दिया जाता है, दूसर म लोकाभिरुचि नियामक त व होता है तथा शास्त्र पक्ष गौण होता है । प्रथम के लिए विशिष्ट संस्कार एव शिक्षा-दीक्षा की आवश्यकता होती है, दूसरी सम्पर्क तथा सहज संस्कारों से प्रसूत होकर सर्वजनबो ध होती है दोनों में कलाकार *की सौंदर्यानुभूति का विशिष्ट स्थान रहता* है, केवल अंतर यह है कि मार्ग' म वह नियमों की सीमा में आबद्ध रहती है तथा 'देशी' में उसकी अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत स्वच्छंद रूप से रहती है ।'

शास्त्रसम्मत नियमबद्ध 'मार्ग संगीत' में शास्त्रपक्ष और लोकानुरंजक कामचार-प्रवर्तित 'देशी संगीत में लोकपक्ष प्रधान रहता है । किन्तु समय समय पर परिमार्जन और संस्कार होने पर 'देशी' का भी अंतर्भाव मार्ग में होता रहा है । इस सम्बन्ध में डा० शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे का कथन है, 'भारतीय संगीत की जाह्नवी आरम्भ से द्विविध धाराओं में प्रवाहित होती रही है—एक वह जिसका प्रयोग धार्मिक समारोहों पर पारमार्थिक दृष्टि से किया जाता रहा है तथा दूसरी वह जिसका लौकिक समारोहों पर केवल मनोरंजन की दृष्टि से प्रयोग किया जाता रहा । वैदिक काल में इन दोनों धाराओं का प्रचलन समानांतर रूप म उपलब्ध होता है । मध्यकालीन परिभाषा के अनुसार एक मार्ग है तथा दूसरा देशी । दोनों का उद्गम लोक में प्रचलित संगीत से हुआ है, केवल अंतर यह है कि एक म *गंगाधारा की गम्भीरता एवं संयतता रही तथा दूसरी म यमुनाधारा की* चंचलता तथा उन्मुक्तता । प्रथम ने 'सामगान का स्वरूप धारण कर लिया तथा दूसरी 'गांधर्व' के नाम से प्रथित हुई । इसी गांधर्व को रामायण तथा महाभारत काल तक शिष्टजन-सम्मत 'मार्ग का स्वरूप प्राप्त हुआ ।'

'यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि मार्ग तथा देशी दोनों परस्पर सापेक्ष संज्ञाएँ हैं । प्रत्येक कला जन जीवन से सम्बद्ध होने के कारण उसका देशीत्व निर्विवाद है । काल

क्रम से जब उसका अपना व्याकरण बन जाता है, वही कला 'मार्ग' कहलाती है। साम तथा गान्धर्व दोनों का मूलाधार लोकसंगीत रहा है और इस दृष्टिकोण से दोनों मूलतः देशी का प्रतिनिधित्व करते हैं। संस्कार एवं परिष्कार से संयुक्त होने पर इसी का अंत-र्भाव मार्ग' में किया जाता रहा है।'

संगीत का प्रकृत लोकरूप परिष्कृत होकर 'शास्त्रीय' रूप में परिणत हो जाने की यह प्रक्रिया समय-समय पर होती रही है। इसीलिए परवर्ती युग में ध्रुवपद, धमार, ख्याल, टप्पा आदि गान-भेद मूलतः लोकसंगीत के अंग होने पर भी परिमार्जन के कारण कालान्तर में क्रमशः 'शास्त्रीय' स्वरूप प्राप्त करते गए। किन्तु ठुमरी की परिस्थिति इससे सर्वथा भिन्न रही। समय समय पर परिष्कृत होते रहने पर भी अपने उन्मुक्त स्वभाव के कारण यह शास्त्रीयता की परिधि में अधिक सीमित न हो सकी। अतएव शास्त्र की नियम-बद्धता ठुमरी में पूर्णतया न आ पाई। समय समय पर संगीत के लोक और शास्त्रीय दोनों रूपों का उसमें समन्वय होता रहा और दोनों से ही उसका सम्बन्ध बना रहा। इसीलिए ठुमरी को शास्त्रीय और लोकसंगीत के बीच की कड़ी मानते हुए उसे प्रायः 'उपशास्त्रीय' या 'अर्धशास्त्रीय' (Light Classical) श्रेणी के रूप में वर्गीकृत किया जाता है।

लोक-कलाओं की परम्परा जनसाधारण में आदिम युग से चली आ रही है। इनका परिमार्जन अर्थात् शास्त्रीय स्वरूप ग्रहण करने की प्रक्रिया धीरे-धीरे, क्रमानुसार और नियमपूर्वक सम्पन्न होती है। अतः इनके शास्त्रीय स्वरूप ग्रहण करने पर इनमें क्रम और नियमबद्धता परिलक्षित होने लगती है। शिष्ट जन सम्मत इन शास्त्रीय विधाओं के संबंध में समय-समय पर लिखित साहित्य का निर्माण भी होता रहता है। अतएव इनके विकास का क्रमबद्ध इतिहास अधिकांशतः मिल जाता है। किन्तु परिमार्जनावस्था के पूर्व, लोक-परम्परा में शताब्दियों से चलते आए कलाविधाओं के उन्मुक्त प्रकृत रूपों के इतिहास और उद्गम को लिखित प्रमाणों के अभाव में खोज निकालना अत्यंत कठिन होता है।

ठुमरी की उत्पत्ति, विकास और शैलियाँ—(शत्रुघ्न शुक्ल)

॥ डा० श्रीमती विनोद तिवारी ॥

पालकी से लेकर अर्थी तक की सम्पूर्ण जीवन यात्रा का वर्णन लोक साहित्य में जिस सादगी और ईमानदारी से व्यक्त होती है उस ईमानदारी की जमीन तक शिष्ट साहित्य की पहुँच नहीं है। हरित चूनर से सज्जित धरा वधू की माँग से चमकीले और मेघों में टपकती रस-बूँदों से लोकगीत, शिष्ट साहित्य के आडम्बर से दूर लोकमानस के उजले दर्पण हैं।

लोकसाहित्य अर्थात् अलिखित साहित्य पीढ़ी दर-पीढ़ी उस गाँव से पालकी में बैठकर दुलहन के साथ आता है और इस गाँव से दुल्हे के साथ घोड़ी पर बैठकर जाता है। महानगरों के कोलाहल और चिमनियों के धुएं लोकसाहित्य की आवाज दबा नहीं सकते और न उसे धुमैला कर सकते हैं। वह तो कोदों-कुटकी खाकर जिया है और सामन्ती कोड़ो

की व्यथा, बहिन की सिसकी, विधवा के आँसू तथा परित्यक्ता के दर्द मे निरंतर जी रहा है। लोकसाहित्य के इन स्वरों का विश्लेषण आज के सन्दर्भ म आवश्यक है।

बुंदेलखण्डी एवं बघेलखण्डी लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन— डॉ० श्रीमती विनोद तिवारी

॥ नेमीचन्द जैन ॥

सदियों के सैकडो सांस्कृतिक अनुभव एक लोकोक्ति के निर्माण मे समर्थ होते है। फिर लोकोक्ति बनने से क्या ? जब तक जनाभिरुचि की कसौटी पर वह खरी नहीं उतरती, जनता उसे चलता सिक्का नही कर देती, तब तक उसका अस्तित्व संशय-संकुल ही रहता है। लोक-साहित्य का इतिहास इस बात का मजबूत प्रमाण है, कि सहस्रो अनाम जन-श्रुतिकारों और जानपद गृहणियों ने ही लोकोक्तियों का प्रणयन और प्रसारण किया है। आये दिनो हम जिन सैकडो लोकोक्तियों, सुभाषितों, मुहावरों और कहावतों को सुनते-सुनाते हैं उनम लोकसंस्कृति की जो जीवंत, रसवन्त और आयुष्मन् आत्मा है, वह और कहा ? छोटे-छोटे सूत्रों में जीवन का सम्पूर्ण रस और वैभव संचित कर पाना इन्ही रस सिक्त सकोरों का काम है।

ग्राम्य उक्तियाँ मुहावरे और कहावतें जनता के सांस्कृतिक जीवन की सबोल व्याख्याएँ होती हैं। इन्हें देख-सुन कर हम न केवल जनपद के स्थूल सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, कौटुम्बिक और वैयक्तिक जीवन की झांकी ही ले पाते हैं, वरन् इनमे यदा-कदा जिन्दगी का वह जश्न और वैभव मिलता है जो इतिहास के सन् संवतों रेगिस्तान मे ढूँढे से नहीं मिलता। इनका आधार ग्रहण कर हम सर्वांगीण जीवन का पूर्ण और स्वस्थ परिचय भी प्राप्त कर सकते हैं।

सम्मेलन पत्रिका—लोकसंस्कृति अंक 'मौसी महीने और मान्यताएँ'—पृष्ठ ४६६—श्री नेमीचन्द जैन, एम० ए०

॥ जगदीश त्रिगुणायत ॥

जन जातियों के बीच जानेवालो को, चाहे वे सेवा के लिए जायें या अध्ययन के लिए, उनके प्रति प्रेम और सहानुभूति का भाव लेकर जाना चाहिए। मन म उनकी सभी बातों म प्रति आत्मीयता का भाव होना चाहिए। हमारी दृष्टि ऐसी हो कि हम शहरी संस्कारो के ऊँचे कोठे पर चढ़कर दूर से उनके जीवन की अवघट घाटियों पर दृष्टि न डालें, वरन् उनकी विशेष परिस्थितियों के निकट जाकर उन्हीं की परिस्थितियों म उनके जीवन का अध्ययन करें। आदिम जातियाँ समाज की अविकसित अवस्था म मानी जाती है। यदि यह बात सच हो, तो भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि शिशु का विकास धूल के घरौंदो और काठ के घोड़ों पर ही होता है। जो अभिभावक शिशु की अभिरुचियो और ममताओं को सहानुभूतिपूर्वक नहीं समझता और केवल अपनी ही इच्छाओ को सर्वथा शिशु के सिर पर लादा करता है, वह मूर्ख उसके साथ अत्याचार करता है। हम अपने ...ों को उन्हें समझाने और उसी कसौटी पर उनके जीवन को कसने के बदले उनके

आदर्शों को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। आदिम जातियों की बहुत-सी बातों को बुरी, निरर्थक और हीन समझने वाले बुद्धिमानों को इस बात को नहीं भूलना चाहिये कि ये पिछड़े कहलाने वाले लोग भी वैसे ही उन सभ्यों की भी बहुत-सी बातों को हीन और निरर्थक समझते हैं जो सब-की सब केवल ऊँची और महत्वपूर्ण ही नहीं हैं।

लोक वार्ताओं में जनता के प्राण बसे रहते हैं। विशिष्ट वर्गों के साहित्य और कलाएं अधिक संस्कृत होती हैं। उनमें आडम्बर, कृत्रिमता और सजावट होती है, इसलिए मन बहलाव और फैशन में ही उनकी अधिक उपयोगिता है। किन्तु जनता और विशेषकर पिछड़ी जातियों की वार्ताएं केवल मन बहलाव और फैशन की ही सामग्री नहीं होतीं वरन् वे सांसों की तरह महत्वपूर्ण होती हैं। उनके दुखी और पिछड़े जीवन के सारे रस और आनन्द उन्हीं में बिखरे होते हैं।

लोकवार्ताएं और लोक-कविताएं आदिम जीवन के पंछी के लिए जंगल की डाल हैं जिसके रसमय और उन्मुक्त वातावरण में उनके पंख स्पन्दित होते हैं और स्वर फूटते हैं। आदिम प्राणों की मछली के लिए निर्मल धारा है जिसमें उनके प्राण गतिशील होते हैं। गीत और नृत्य उनके प्राणों की सूखती हुई खेती के लिए सावन की काली घटा हैं और उनकी मुरझाई हुई कलियों के लिए वसन्त की ठंडी हवा हैं। जैसे पंछी की मस्ती को वन से हटाकर और मछली की जिन्दगी को पानी से अलग करके नहीं देखा जा सकता, वैसे ही गीत नृत्य से हटा लेने पर आदिवासी-जीवन टूटी हुई टहनी की तरह मुरझा जाता है। वन-पर्वत, नृत्य-संगीत तथा उमंग और मस्ती की पृष्ठभूमि के बिना आदिवासी जीवन का चित्र भरपूर नहीं उभरता और सफेद दीवार पर उजली रेखाओं के समान निर्जीव जान पड़ता है।

आदिवासी लोकसाहित्य का अध्ययन, श्री जगदीश त्रिगुणायत
(बाँसुरी बज रही है, पृ० १०, ११)

॥ कुमार गन्धर्व ॥

आजकल लोगों का ध्यान विशेष रूप से गाँवों की ओर आकृष्ट होता जा रहा है। विभिन्न दृष्टियों से ग्राम्य विशेषताओं को प्रकाश में लाने की चेष्टा की जा रही है। लेखक, शोधक, कलाकार आदि ग्रामों की संस्कृति के सम्बन्ध में खोज करने के लिए अग्रसर हो रहे हैं। संगीत क्षेत्र में भी इसका अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव दिखाई दे रहा है। विशेष रूप से लोक संगीत की चर्चा की जाती है और यदा कदा लोक-संगीत में निहित मूल धुनों को व्यक्त करने के प्रयास सामने आ रहे हैं। किन्तु क्या इसे हम संगीत क्षेत्र में प्रगति का संकेत समझ लें? केवल लोक-धुनों को एकत्र करना या उन्हें उनके मूल रूपों में अपनाने मात्र से संगीतशास्त्र में कोई उन्नति सम्भव नहीं। यदि वास्तव में किसी प्रकार की प्रगति संगीत-क्षेत्र में अपेक्षित है, तो लोकधुनों के सहारे नया सृजन होना चाहिये। यह बात सर्व विदित है कि हमारे शास्त्रीय संगीत की उत्पत्ति इसी लोक-संगीत से हुई है। कैसे हुई?—इस सम्बन्ध में आज तक किसी ने जानने का प्रयत्न नहीं किया।

यदि इस जिज्ञासा की पूर्ति पहले की गई होती, तो आज हमारा संगीत बहुत कुछ आगे बढ़ा हुआ होता। दुर्भाग्य की बात है कि हमारे संगीताचार्यों ने केवल पुरातन काल से प्राप्त पूंजी को ही सम्हालने का प्रयत्न मात्र किया है। वस्तुत यह प्रयत्न भी बिना सोचे समझे किया गया, अत व्यर्थ ही रहा। व्यर्थ इसलिए कि चिन्तन के अभाव म उसमें विकृति आ गई। आजकल के अनेक प्रचलित रागों को संगीतज्ञ अनजाने ही विकृत रूपों में गाते आ रहे हैं। हमारे पास यह बात जानने के लिए कोई साधन भी नहीं कि हम निश्चयपूर्वक कह सकें कि जो कुछ गाया जाता है, वह प्रामाणिक है। इसीलिए रागों के विषय म अनेक मतभेद प्रचलित हैं। इन सब बातों को सही-सही जानने के लिए लोक-संगीत के सम्बन्ध मे परिचित होना अत्यावश्यक है। लोकसंगीत के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण शोध अभी यही है कि यह जाना जाये कि उसमे से शास्त्रीय रागों की उत्पत्ति कैसे हुई?

सम्मेलन-पत्रिका—लोक संस्कृति अंक,
भारतीय संगीत का मूलाधार लोक संगीत —पृष्ठ ३०३, श्री कुमार गन्धर्व

॥ शेख गुलाब ॥

जीवन के हर व्यापार में प्रेम का रंग घुला है। प्रेमी से अनुरोध है खेत में नोनी कोदो फेंकने चले, परन्तु संशय भी है कि चार के बीच मे नजरों से कैसे बातें होंगी। प्रेम तो है, दूर का हो या पास का, नजरें तो मिल ही जायेंगी। फिर कृषि कार्य की बात आती है। हार, पहार जोत रहे हो, पानी गिर रहा है काला कम्बल ओढ़ लो। मैं बोझा बांधने की रस्सी रख लेता हूँ। तुम कोंदो भेकने के लिए हंसिया रख लो। घास की पूठी निकाल कर खुमरी बनायेंगे। तभी तो कोदों और कुटकी से कोठी भरेगी। ये ही भाव इस गीत म पिरोये गये हैं —

खेतव में कांद पके घस लगी रे हाय रे, हय सगत कसे मिलावो नजरी रे ।
पथरा में डोंठे पथर डोली जाये हो ।
दुरिहा के माया नजर डोली जाय हो हय सगत ॥
भोंगर जोतों डोंगर जोतों अर जोतों टिकरा हो ।
पानी गिरथे खुमरी ओढ़ो कारे करमा हय सगत ।
पोटी तो डोरा उधरा बाधी हो ।
घर लेवे हसिया फेंके ला कोदी हय संगत ॥
पुठी तो काटय हानाके खुमरी ।
कोदों और कुटको से भरही बखरी हय सगत ॥

करमा—शेख गुलाब
घोमाछा—६, फरवरी १९८५

॥ बयारीलाल सुमन ॥

लोकगीतों म नारी माता पत्नी, बहन आदि अनेक रूपों म सामने आती है। इन गीतों मे नारी जीवन के दुख-दर्द का वास्तविक चित्रण है।

नारी गीतों में संगीत-तत्व पर्याप्त मात्रा में है। गीत से विलग होकर लोक-गीतों की अपनी अवस्था विकृत हो जाती है। लोकगीतों को मौलिक स्वर-लहरियों के आंचल में ही देखकर उनका वास्तविक मूल्यांकन किया जा सकता है।

नारी गीतों में बहन अपनी ससुराल में भाई की बाट जोहती है। इस भावना ने अनेक गीतों की रचना में प्रेरणा दी है।

विवाह गीतों में माँ और बेटी का प्रेम उमड़ पड़ता है। माँ-बेटी के प्रेम का प्रारम्भ तो विवाह के गीतों से ही हो जाता है। अनेक गीतों में ननद भौजी के परस्पर विरोध और सास बहू के कलह का उल्लेख मिलता है। स्त्री-पुरुष के प्रणय का चित्रण भी लोक-गीतों में हुआ है।

स्वच्छन्द होने के कारण वह पीड़ा और ताड़ना का प्रतिकार करती है। विवाह जो कि स्त्री के जीवन का आरम्भ है, जिसकी भित्ति पर स्त्री जीवन का सर्वस्व आधारित है, पुरुष के लिए महत्वहीन है। इसीलिए छत्तीसगढ़ी लोक गीतों में नारी के कुंठित और अपमानित जीवन की झलक दीख पड़ती है।

नारी के सुआ, भोजली, ददरिया आदि गीतों में उनके प्राणों की वेदना दुलार में फूट पड़ती है। उन गीतों में भावना का इतना अधिक वेग रहता है कि हृदय द्रवीभूत हो उठता है। अनेक गीतों में नारी पुरुष की प्रताड़ना सहती है। कुछ गीत प्रकट करते हैं कि स्त्री का स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं है। पुरुष स्त्री को असहाय और अनाथ बनाकर छोड़ सकता है।

|| राजेश उपाध्याय ||

अब जरा त्योहारों को देखें—विशेष रूप में गाँवों में। शहरों में तो यूँ भी त्योहार उस सामूहिक रूप में और उस उमंग-तरंग के साथ नहीं मनाये जाते रहे हैं, जैसे गाँवों में। आज से तीन दशक पहले गाँवों में त्योहारों की क्या स्थिति थी और आज क्या स्थिति है इसकी विवेचना भी हमें किन्हीं निष्कर्षों तक पहुँचा सकती है। गाँवों से सम्बन्धित सारे लोग दोनों स्थितियों के अन्तर को आसानी से महसूस कर सकते हैं। पहले होली के त्योहार में एक उल्लास होता था। सारा गाँव एक साथ हो हल्ला करते हुए रंग खेलता था। शाम को लोग जरूरी तौर पर एक दूसरे के घर अबीर खेलने जाते थे। फागुन और चैत दोनों महीनों में फगुआ और चैता गाने वाली टोलियों की बहार होती थी। आसपास के गाँवों में रोज किन्हीं दो टोलियों का मुकाबला होता था। त्योहारों में क्यों अब उतना भी उल्लास, उतनी भी सामूहिकता नहीं बची? क्यों अब फाग गाने वाली टोलियों का मुकाबला तो दूर, सामूहिक लोकगीत भी सुनने को नहीं मिलते? दीपावली के दीयों का तेल कौन राक्षस पी गया है? नागपचमी के अखाड़े और कुश्तियाँ कहाँ अन्तर्धान हो गयी हैं? ईद और बैसाखी में उत्साह और उल्लास के हरे पौधे को किस विष ने सुखा दिया है? वर्ग-समाज में निरन्तर क्षरित होती हुई सामूहिकता के जो भी अवशेष साल दो समाज में बचे रहते हैं, उनका सफाया करते खड़ी होती हुई यह व्यक्तिवादी और

असगावपरक संस्कृति आखिर क्या है ? क्या यह गाँवों में भी पूंजीवादी संस्कृति की धमनी हुई जड़ें नहीं हैं ? आम जनता के लिए त्योहार मनाना मात्र औपचारिकता क्यों बनता जा रहा है ? सिर्फ इसलिए कि त्योहारों में भी लोगों की भावनाएँ नहीं, पैसा प्रधान हो चुका है । पैसा—जो जहाँ भी रहता है—अपनी पूरी संस्कृति के साथ रहता है ।

सांस्कृतिक आन्दोलन की दिशा
बदलना परिवेश, सांस्कृ० आन्दो० की दिशा, राजेश उपाध्याय

॥ कन्हैयालाल मिश्र ॥

एक देहात में मैं भाषण देने गया । जिनके घर ठहरा, उनका छोटा लड़का मुझसे हिल गया । रात में वह मेरी बुक्कल में बैठा था कि वे बाहर से आये और बोले—'गोपाल, पण्डित जी के साथ तेरी दोस्ती तो पहले ही दिन गदरा गयी भाई !'

'बोलना उनसे सीखिये, जो पढ़े-लिखे नहीं हैं —पृष्ठ ४३४

एक गाँव के मुखिया का घर—हम ३ ४ मेहमान उनकी बैठक में भोजन की थालियों पर, जिनमें उनका एक लड़का भी । यह लड़का खाने में प्रगतिशील । मुखिया जी बोले—पण्डित जी, यह पहले जन्म में जानवर था, इसलिए आदमी की जून पाकर भी इसका ढंग नहीं बदला । खैर धूनता, मसकता तो यह नहीं, पर खाने को खाता नहीं, निगलता है ।

इन सब में क्या भेद है, मेहरबानी करके यह बताइए मुखिया जी !' लड़के को उनकी भाड़ से बचाने के लिए मैंने बात बदली, तो मुखिया जी बोले— पण्डित जी, आदमी खाता है *जानवर निगलता है भूत धूनता है और राक्षस मसकता है ।'*

और तब उन्होंने बताया कि खाना खाया जाता है धीरे-धीरे चबाकर, निगला जाता है पपोलकर जल्दी जल्दी गले में उतार कर, धूना जाता है ढेरों भोजन बिना ठीक तरह चबाये पेट में भर कर और मसका जाता है बहुत तेजी से हाथ चलाकर चारों ओर छिपकाते हुए और हाथ मुँह को सानते हुए ।

मुखिया जी ने यह बताया ही नहीं मुँह और हाथ की आकृति को मुद्राओं में बदल-कर चारों भावों का प्रदर्शन भी किया ।

शब्दों की इस सूक्ष्म भेद रेखा से कितने शिक्षित परिचित हैं ?

सम्मेलन पत्रिका—लोकसंस्कृति अंक
'बोलना उनसे सीखिये, जो पढ़े लिखे नहीं हैं'—पृष्ठ ४३२
श्री कन्हैयालाल मिश्र, प्रभाकर

॥ जगदीशचन्द्र माथुर ॥

लोक रंगमंच और नागरिक अथवा साहित्यिक रंगमंच में मुख्य अन्तर यह है कि लोक रंगमंच जनसाधारण, विशेषतः देहाती जनता, के दैनिक जीवन की एक प्रक्रिया, एक अंग रहा है और सामाजिक उद्देश्यों का एक माध्यम, नागरिक रंगमंच वर्ग विशेष के लोगों

के मनोरंजन का साधन, उनकी फुरसत के क्षणों का मन बहलाव। दूसरे शब्दों में लोक-रंगमंच लोक-समाज की देह का अंग है, नागरिक या साहित्यिक रंगमंच उसका बाहरी आभूषण, लोक रंगमंच जीवन की उमंग की स्वाभाविक और अनायास अभिव्यक्ति है, नागरिक रंगमंच कलात्मक और चेष्टायुक्त अभिव्यक्ति। इसलिए लोक रंगमंच सर्वदा रहा है और रहेगा भी, किन्तु नागरिक और साहित्यिक रंगमंच राजाओं और धनिक वर्ग के आश्रय अथवा व्यावसायिक परिस्थितियों पर निर्भर रहता है और तदनुसार ही जीवित अथवा विलुप्त होता रहा है।

सम्मेलन पत्रिका—लोकसंस्कृति अंक
'लोक रंगमंच का रूप और संगठन'—पृष्ठ ३४१
श्री जगदीशचंद माथुर, आई० ए० एस०

॥ प्रजेश बनर्जी ॥

लोकनृत्य का राष्ट्रीय महत्व है और सौन्दर्य बोधात्मक मूल्य है। वाशिंगटन इरविन के इस कथन में बहुत सत्यता है कि किसी मनुष्य का चरित्र उसके मनोरंजन के माध्यम से परखा जा सकता है क्योंकि प्रसन्नता के क्षणों में मनुष्य का मस्तिष्क बंधनमुक्त और स्वाभाविक रूप में होता है। अतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि नृत्यकला की उन्नति सभ्यता की उन्नति का प्रतीक है, अतः किसी राष्ट्र के इस कला में विकास करने को उस राष्ट्र की सुरुचि के प्रति उसकी दृष्टि का परिचायक माना जा सकता है। किसी राष्ट्र के लोकनृत्य को राष्ट्र का दर्पण कहा जा सकता है जिसके माध्यम से किसी सीमा तक उस राष्ट्र के स्वभाव कला, संस्कृति, सरलता, सामाजिक स्तर, परम्परा को यह अभिव्यक्त करता है।

× × ×

उदयशंकर ने यह सही कहा है कि प्रत्येक भारतीय नर्तक है। भारतीय आबादी का ८५% कृषि पर निर्भर है। देश की नृत्यकला का एक बड़ा हिस्सा ग्रामीण जनता के द्वारा जीवित रखा गया है। ग्रामीणों की विशेष रूप से स्त्रियों की हलचल से स्पष्ट है कि उनकी चाल प्राकृतिक रूप से ही बहुत लावण्यमय है, और इस लावण्य को रोजमर्रे के ग्रामीण जीवन में देखा जा सकता है, जहाँ कृषक कन्या सिर पर पानी का घड़ा आसानी से उठाती है, उसे लेकर फुर्ती और सुरम्यता से झूमती चाल से चलती है। उसकी कमर की सहज क्रियाएँ गोद के बच्चे से बाधित नहीं होतीं। क्योंकि सभी स्त्रियों के पैरों में झंकार करते हुए कड़े होते हैं अतः जब वे अपने रोज के काम करती हैं, नृत्य की लय की सजीवता का आभास होता है। उस समय अपने सौन्दर्य, सहज और सर्वांगसुन्दर ठवन से वे अन-जान होती हैं।

ग्रामीण व्यक्ति को लय का एक सहज ज्ञान होता है और उसके वाद्य-वृन्द में कितने ही विचित्र आकार के वाद्य होते हैं जिन्हें बजाने में वह निपुण होता है और सभी ग्रामीण नृत्यों में उनका उपयोग होता है।

★

हिन्दी साहित्य के इतिहास का आधुनिक काल कुछ महत्वपूर्ण विचारणीय मुद्दे



शिवकुमार मिश्र

(१) साहित्य के इतिहास (के काल-विभाजन) का सम्बन्ध यदि जनता की चित्तवृत्तियों मे होने वाले परिवर्तन के फलस्वरूप साहित्यिक रचनाशीलता मे हुए परिवर्तनों से है और जनता की चित्तवृत्तियों मे परिवर्तन किसी समय के समाज म सक्रिय आर्थिक-सामाजिक राजनीतिक स्थितियो मे होनेवाले परिवर्तनों से जुड़ा होता है तो साहित्येतिहास के किसी नये काल का निर्धारण करते समय जरूरी हो जाता है कि समाज मे हुए परिवर्तन के फलस्वरूप जनता की चित्तवृत्ति म होने वाले परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरते हुए साहित्यिक रचनाशीलता के बदलाव की व्याख्या की जाय और नए काल निर्धारण का औचित्य इस जमीन पर तर्कसम्मत ढग से प्रतिपादित किया जाय। हिन्दी साहित्य के इतिहास के आधुनिक काल का प्रारम्भ कब से माना जाय इस विषय पर छोटे-मोटे तमाम मतभेदों के बावजूद एक एकदम नया विचार डा० रामविलास शर्मा का है जिसकी चर्चा हम यहाँ न करके, आगे करेंगे। फिलहाल, हम यही मानकर चलते है कि हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल का प्रारम्भ उन्नीसवी सदी के उत्तरार्ध म, भारतेन्दु बाबू के आविर्भाव के साथ होता है, (और सम्प्रति यही मत अधिकाधिक मान्य भी है) तो एक महत्वपूर्ण सवाल विचारार्थ प्रस्तुत होता है जो महज आधुनिक काल के इतिहास के अध्यापन से जुड़ा सवाल न होकर आधुनिक काल के साहित्यिक इतिहास से जुड़ा सवाल भी है। सच पूछा जाय तो आधुनिक काल के साहित्येतिहास के अध्यापन से जुड़े सारे सवाल साहित्येतिहास के ही सवाल हैं और इतिहास के सही अध्यापन के सिलसिले में जिनका दबाव महसूस करना या जिनका अहसास होना लाजिमी है। इतिहास के सम्यक अध्यापन के लिए इतिहास-बोध का होना या जिसे इतिहास विवेक कहते हैं, उसका होना प्रथम शर्त है और चूँकि यह अध्यापन आधुनिक समय में होता है और फिर आधुनिक काल के साहित्येतिहास का अध्यापन है, तो इस इतिहास विवेक के साथ जिसे हम आधुनिक-बोध कहते हैं वह और उसके साथ एक उन्नत प्रकार के साहित्य विवेक की भी आवश्यकता है। बोध और विवेक की इस प्रकार की अनुपस्थिति म कवि-कीर्तन हो सकता है, साहित्य-परिचय दिया जा सकता है, इतिहास का अध्यापन नहीं हो सकता। अस्तु

जिस सवाल को महत्वपूर्ण मानकर सबसे पहले यहाँ हम उठाना चाहते हैं और

जो आधुनिक काल के साहित्येतिहास से रूबरू होते ही सबसे पहले हमारे सामने उपस्थित होता है, उसका सबध आधुनिक काल के साहित्य के उदय के पहले की हिन्दी जाति की सजनशीलता की लगभग सौ वर्षों की महत्त्वपूर्ण चुप्पी से है। इस अवकाश या इस चुप्पी को व्याख्यायित किए बिना आधुनिक काल की रचनाशीलता को एक नए मोड की रचनाशीलता कह पाने मे दिक्कत का अनुभव होता है। हम अपनी बात को कुछ विस्तार से स्पष्ट करने की अनुमति चाहेंगे।

आधुनिक काल के साहित्य के ठीक पहले साहित्येतिहास के जिस काल से हम परिचित होते हैं वह हि दी साहित्य के इतिहास का रीतिकाल है। कमोवेश इस रीतिकाल का समय सं० १७०० से लेकर सं० १६०० तक माना गया है। इस रीतिकाल के, जिसके भी रचनाशीलता के हिसाब से कुछ विभाग किए गए हैं, अंतिम बडे कवि पद्माकर हैं, जिनका ज म स० १८१० माना गया है। बडे कवि से यहाँ हमारा तात्पय पहली पात क कवि स है, जो चल रही रचनाशीलता मे शिखर की रचनाधर्मिता के साथ सामने आए या उसके भीतर किसी नई प्रवृत्ति का पुरस्कर्त्ता बनता हुआ उस प्रवृत्ति मे प्रथम श्रेणी की रचनात्मक उपलब्धि लेकर सामने आए जैसे घनानन्द। हमारा कहना यह है कि रीतिकाल के लक्षणप्रयकार कवियो और स्वच्छद कवियों, दोनों को, और फुटकल खाते के कवियो को भी शामिल किया जाय तो, जैसा कहा, पद्माकर समूचे रीतिकाल के अंतिम बडे कवि के रूप मे हमारे सामने आते हैं। उनके उपरान्त रीतिकाल मे हमे ठाकुर, बोधा, पजनेश, द्विजदेव, जैसे कवि तो मिलते हैं जो न केवल सहृदय कवि हैं, का य-रचना के हुनर म भी प्रवीण हैं और इतिहास मे इसीलिए मान के साथ उल्लिखित होत हैं, परतु यह सब कुछ होत हुए भी इनमे से कोई भी अपनी रचना म इतना बडा नही है कि रीतिकाल के बिहारी, देव मतिराम, घनानन्द या पद्माकर की बराबरी कर सके। पद्माकर का ज म सवत् १८१० है और आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रवतक भारते दु बाबू का १६०७। पद्माकर और भारते दु बाबू के बीच इस प्रकार सत्तानबे वष का अन्तर है। हिन्दी भाषी प्रदेश का जो विस्तार है उसे देखते हुए क्या यह बात आश्चयजनक और बिडम्बनापूर्ण नहीं लगती कि इतनी विस्तृत और विराट जमीन पर लगभग सौ साल तक एक भी प्रथम श्रेणी की सर्जक प्रतिभा अपनी पहचान नहीं करा पाती, एक भी ऐसा रचनाकार सामने नही आता जो या तो चली आती हुई धारा म ही कोई शिखर उपलब्धि करता या उसे इस प्रकार मोडता कि एक नया प्रवत्तन सम्भव हो पाता? आखिर इसका कारण क्या हो सकता है? यह सौ सालो का अवकाश क्या कहता है? कहीं ऐसा तो नहीं है कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के नवजागरण हिंदी जाति मे अपने जागरण अथवा राष्ट्रवाद की भावना के उदय की चिनगारी सौ सालो क इस अवकाश के भीतर, इन सौ साला की ऐतिहासिक-राजनीतिक-आर्थिक और सामाजिक स्थितियों के बीच, मुगल शासन के क्रमश ह्रास तथा प्लासी की लडाई क बाद अग्रजी सत्ता के क्रमश विस्तार और स्थायित्व के बीच जनता की परिवर्तित चित्तवृत्ति म पल और पनप रही हो? जाहिर है कि इन सौ सालों मे माहौल वैसा ही नहीं रह गया था जैसा कि उस समय था जब आश्रयदाताओं के आश्रय

मे रीतिकालीन कविता परवान चढी थी। एक विदेशी सौदागर जाति अपनी शक्ति के बल पर दशी राजे रजवाडो को ही नही, देश की केन्द्रीय मुगल सत्ता को, उनके अस्तित्व को चुनौती द रही थी। भारतीय समाज मे, भारत की आत्म निर्भर ग्राम-व्यवस्था म अग्रेज सक्रिय हस्तक्षेप कर रहे थे। भारत को रौंदा ही नही जा रहा था, लूटा भी जा रहा था और इस लूट का परिणाम अग्रेजो के साथ साधारण जनता भी भोग रही थी, वह जनता जो इतिहास बनाती है। उन्नीसवी सदी के उत्तराध म जिस नवजागरण या पुनर्जागरण का रूप मूर्तिमान होता है और जिस बहुत से लोग अग्रेजी की शिक्षा या अग्रेजो की देन मानते हैं, सच पूछा जाय तो पुनर्जागरण से जुडा राष्ट्रवाद (आधुनिक काल के *हिन्दी साहित्य की जो एक मूलवर्ती प्रेरणा है*) इन सौ सालो के *भारतीय सामाजिक जीवन* मे आए बदलाव के बीच ही अपनी शक्ल पाता है। लगभग सभी प्रबुद्ध इतिहासकारों ने कहा है कि भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन यहाँ की सामाजिक परिस्थितियो स, साम्राज्यवाद की परिस्थितियो और उसकी शोषण प्रणाली स पैदा हुआ है। वह उन सामाजिक तथा आर्थिक शक्तियो स पैदा हुआ है जो इस शोषण के कारण भारतीय समाज म उत्पन्न हो गई हैं। उनके पैदा होने का कारण यह है कि भारत म, पूजीपति वग का उदय हो चुका है और चाह शिक्षा की कैसी भी व्यवस्था क्यों न होती, ब्रिटिश पूँजीपति वग के प्रभुत्व के साथ उसकी प्रतिस्पर्धा अनिवाय है। यदि भारत के पूँजीपति वग ने केवल सस्कृत में लिखे वेदा का अध्ययन किया होता अथवा सभी तरह की विचारधाराओं से अलग हटकर मठो म ज्ञान प्राप्त किया होता तो निश्चय ही सस्कृत म वेदो में भी उसे अपनी आजादी के सघष की प्रेरणा से भरे खिढा त मिल जाते। (रजनी पामदत्त)

हम जो बात यहाँ कहना चाहते हैं वह यह कि इन सौ सालो के भीतर बदली और बदल रही स्थितियो के बीच उस प्रकार की रचनाशीलता के लिए कोई भी वस्तुगत आधार नहीं रह गया था जैसी कि रीतिकाल की रचनाशीलता थी, और सच पूछा जाय तो वस्तुस्थिति क अनुरूप एक नई युग-प्रवतक रचनाशीलता क लिए जमीन तथा वातावरण तैयार हो रहा था। सक्राति के इस काल मे इसी कारण लगभग सौ सालो तक हिन्दी रचनाशीलता के बीच से कोई प्रथम श्रेणी की सजक प्रतिभा सामने नही आ पाती। वह आती है स० १९१० मे भारतेन्दु बाबू के रूप मे, जब हिन्दी साहित्य मे एक नए युग का प्रवत्तन होता है। आचाय शुक्ल लिखते हैं—'नई शिक्षा के प्रभाव से लोगो की विचार धारा बदल चली थी। उनके मन म देशहित, समाजहित आदि की नई उमगें उत्पन्न हो रही थी। काल की गति के साथ साथ उनके भाव और विचार तो बहुत आगे बढ़ गए थे पर साहित्य पीछे ही पडा था। भारते दु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोडकर हमारे जीवन के साथ फिर स लगा दिया।' भारतेन्दु म इस युग प्रवत्तन के प्रेरणा-स्रोत वही थ जिनका जिक्र हमने पिछली पक्तियों मे किया है और इन प्रेरणा स्रोतों को रूप और शक्ति मिलता है उस अवकाश काल में उस चुप्पी के समय जो सौ सालों का अवकाश या सौ सालों की चुप्पी है।

(२) किसी जाति के साहित्य का इतिहास उस जाति की साहित्यिक रचनाशीलता

के साथ उसकी अपनी भाषा (जातीय भाषा) तथा उसके अपने जीवन (जातीय जीवन) का इतिहास भी हुआ करता है। समाज में हुए परिवर्तनों के साथ जनता की चित्तवृत्ति में परिवर्तन होता है और जनता की यह परिवर्तित चित्तवृत्ति उसकी साहित्यिक सर्जना में भाषा तथा अभिव्यक्ति की नई-नई भंगिमाओं के साथ प्रतिबिम्बित होती है। इतिहास-लेखक, यदि वह सही मानों में इतिहास विवेक से लैस है सामाजिक जीवन, जनता के जीवन और उस जनता की अपनी भाषा तथा सर्जना में छनकर आने वाले इस जीवन को उसकी सारी द्वन्द्वात्मक भूमिका के साथ संश्लिष्ट रूप में एक व्यवस्था देते हुए अपने द्वारा लिखे गए इतिहास में मूर्त करता है। इस प्रकार देखा जाय तो सही इतिहास-लेखक एक आँख से नहीं अनेक आँखों से, विवेकपूर्वक सब कुछ देखते-समझते हुए इतिहास-लेखन में प्रवृत्त होता है। किन्तु यह तो इतिहास-लेखन की बात हुई। इतिहास का अध्यापन भी इसी प्रकार किसी किस्से-कहानी का अध्यापन न होकर किसी जाति की समूची सांस्कृतिक अस्मिता को पहचानने का एक नितांत विवेकपूर्ण कर्म है। अध्यापन के स्तर पर मुख्य समस्या इस काम को पूरे विवेक के साथ अंजाम न दे पाने से सम्बन्ध रखती है। परिणामतः या तो कोरा कवि-कीर्तन सामने आता है या साहित्यिक सर्जना का एक नीरस, सिलसिलेवार इतिवृत्त, तथाकथित साहित्यिक प्रवृत्तियों का समाज के संदर्भ से च्युत एक शुष्क आख्यान। यही नहीं, जरूरत इस बात की भी होती है कि किसी जाति के जीवन, उसकी भाषा तथा उसकी सर्जना की पहचान जहाँ तक सम्भव हो और जहाँ तक उचित हो, इस समानधर्मा दूसरी जातियों के जीवन, भाषा तथा साहित्यिक सर्जना के मेल में कराएँ ताकि विविध जातियों के जीवन तथा सर्जना के बीच आवश्यक सम्बन्ध-सेतु कायम हो सके, उनके बीच के संवाद का रूप उभर सके, और समग्रता में एक भारतीय अथवा राष्ट्रीय साहित्य की समझदारी का विकास हो सके। इतना तो नितांत जरूरी है कि जिस साहित्यिक रचनाशीलता का अखिलप्रदेशिक आधार है, मसलन भक्ति-आन्दोलन से प्रेरित भक्ति-काव्य अथवा आधुनिक स्वाधीनता-आन्दोलन से प्रेरित आधुनिक युग की रचनाशीलता, ऐसी रचनाशीलता का इतिहास अपनी जातीय विशिष्टताओं के साथ राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में ही हमारी चिन्ता तथा प्रस्तुति का विषय बने।

प्रायः तो नहीं, परन्तु इस प्रकार के विचार इतिहास-लेखन की परम्परा के साथ बराबर सामने आते रहे हैं कि इतिहास अथवा इतिहास-लेखन की जरूरत ही क्या है? स्मरण रहे कि इतिहास लेखन की जरूरत को लेकर इस प्रकार के सवाल उठाने वाले समान मानसिकता से ही ऐसी बात नहीं करते। इनमें से एक वर्ग तो इतिहास विरोधी वर्ग है जिसके लिए साहित्य ही नहीं, मनुष्य का भी कोई इतिहास नहीं है। हम इन इतिहास विरोधियों के बारे में सम्प्रति कुछ नहीं कहना चाहेंगे कारण उन पर काफी कुछ कहा जा चुका है और हम उन्हें और उनके इरादों को अच्छी तरह पहचानते हैं, परन्तु दूसरे प्रकार के जो लोग इतिहास की जरूरत पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं वे इतिहास विरोधी न होकर वस्तुतः एक दूसरी जमीन से इस प्रकार का सवाल उठाते हैं। सवाल है कि भारत में इतिहास-लेखन की परम्परा क्यों नहीं रही, शायद यही एक दूसरे स्तर पर इस

प्रकार की जरूरत नहीं समझी गई। इतिहास तब तक इतिहास है, शव है, जब तक वह अपनी अतीतता में ही सीमित और कैद है, आगे के समय और उसके सरोकारों से विच्छिन्न, उसमें संवादहीनता की स्थिति में है, उससे निरपेक्ष है। इतिहास तब शव नहीं है, जीवंत है, अतीत का होते हुए भी समकालिक है इतिहास नहीं है, जब वह इस रूप में लिखा और हमारे सामने लाया जाता है गोया वह हमारा हमसफर हो, हमसे और हमारे समय से जुड़ा हो, हममें और हमारे समय के साथ संवाद करता हुआ हो, हमारे प्रयोजनों की संगति में हो, हम उसे अपने लिए, अपने वर्तमान और अपने भविष्य के लिए जिलाए हुए हो, प्रासंगिक बनाए हुए हो हम उससे वह सब कहला सकें, वह सब पा सकें, जो सीधे या परोक्ष रूप से हमारे अपने वर्तमान तथा भविष्य से जुड़ा हो। स्मरण रहे कि तथ्य ही इतिहास में सब कुछ नहीं होते। उन तथ्यों को इतिहासकार अपने युग की जरूरतों के तहत नये सिरे से जिन्दा करता है, उनकी व्याख्या करता है, उन्हें अपने युगीन प्रतिपाद्य के संदर्भ में प्रासंगिक बनाता है और तब अपनी अतीतता को लिए हुए भी वे हमारे अपने समय के भी बनते हैं वे इतिहास न रहकर, शव न रहकर, समकालिकता पाते हैं हमारे लिए जी उठते हैं। कहने का मतलब यह कि इतिहास को अतीत में घटित सत्य के रूप में न पेश करें या न पढ़ाकर उसकी अतीतता को छोड़े बिना समकालिक बनाकर पेश करना या पढ़ाना उसे अपने लेखे नई प्रासंगिकता देना उसमें नए प्राण फूंक देना है। (इतिहास इसीलिए इन दूसरे लोगों के लिए आवश्यक नहीं है क्योंकि उनके लिए अपनी अतीतता के बावजूद, और उसमें महत्वपूर्ण होते हुए भी वह उसमें कैद न होकर सर्वकालिक और सदैव वर्तमान है।) हिन्दी साहित्य में इतिहास के अध्यापन की सही प्रणाली इतिहास को समकालिक बनाकर अपने समय के लिए अर्थवान बनाकर ही प्रस्तुत की जा सकती है। यही परम्परा के मूल्यांकन का भी सही नजरिया है जहां वह अतीत के लेखे महत्वपूर्ण होते हुए भी वर्तमान के लेखे भी अपनी प्रासंगिकता सिद्ध करती है। इस प्रणाली में इतिहास गड़े मुर्दे उखाड़ना न होकर या एक नीरस चर्चा मात्र न रहकर हमारे वर्तमान बोध का सरस अंग बन जाता है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के अध्यापन पर हम कुछ विस्तार से कहना चाहेंगे। यह बात हम कह चुके हैं कि इतिहास का अध्यापन कवि-कीर्तन या किस्से-कहानी का अध्यापन नहीं है। वह अतीत में घटित हुए का सिलसिलेवार आख्यान भी नहीं है वह अतीत को वर्तमान और भविष्य से जोड़ने वाला और इस जोड़ में एक संगति बिठाने वाला इतिहास को वर्तमान और भविष्य के निर्माण के लिए नियोजित और इस्तेमाल करने वाला एक सजग कर्म है जिसके लिए खरा इतिहास बोध और आधुनिक बोध (और बोध न कहकर विवेक कहें तो ज्यादा उचित होगा) जरूरी है, और चूंकि इतिहास साहित्य का इतिहास है, अतएव जरूरी है एक उन्नत साहित्य विवेक, जो अपने समय की सर्जना और उसकी मूल्यवत्ता से बनकर आया हुआ तथा उसके मूल्य और महत्व की पहचान करने वाला विवेक हो इस बात के साथ कि अपने समय में उसके इस मूल्य-बोध तथा साहित्य विवेक में परम्परा से अर्जित मूल्य बोध तथा साहित्य विवेक की भी

विद्यमानता हो। बिना इस तैयारी के, इस पूर्व शर्त के, साहित्येतिहास का अध्यापन पेशा होगा, दायित्वपूर्ण कर्म नहीं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास हमारे अपने समय की साहित्यिक सृजना का इतिहास है। गो कि जिस बिन्दु पर वह प्रारम्भ हुआ था आज वह एक सदी हमसे पीछे छूट गया है परन्तु फिर भी वह जिस मंजिल और जिन सत्कल्पों के तहत एक जाति की अस्मिता को मूर्त करने के हेतु प्रस्थित हुआ था, वह मंजिल आज भी हमारा प्राप्य है, वे सत्कल्प आज भी उतने ही नये और ऊर्जस्वित हैं। राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन का प्रारम्भ बिन्दु ही आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास का भी प्रारम्भ-बिन्दु है। स्वाधीनता आन्दोलन के सारे आरोह अवरोह उसके सारे तेवर, उसके सभी आयाम और उसकी सभी छवियाँ आधुनिक हिन्दी की सर्जना में अंकित और नक्श हैं यान्त्रिक स्तर पर नहीं, अपने अंतर्विरोधों के साथ, अपनी समूची द्वन्द्वात्मक सक्रियता में, सर्जनात्मक अभिव्यक्ति बनकर। यह आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य का अपना वैशिष्ट्य है कि वह आधुनिक काल के भीतर से उगा और विकसित होता हुआ साहित्य है, उसकी ऊर्जा से ऊर्जस्वित, उसकी अन्तर्वस्तु से निर्मित और उसकी अंतर्वर्ती चेतना के सारतत्व से अनुप्राणित। इसमें स्वाधीनता-आन्दोलन का इतिवृत्त भी है, और उसकी आत्मा भी, उसके विभ्रम और ठहराव भी हैं और उसकी गतिशील जीवंत वास्तविकता भी। वह उसका अनुवर्ती भी रहा है और उसका पथ प्रदर्शक भी। उससे प्रेरित और अनुकूलित भी हुआ है और उसे फलाग कर उसके आगे भी गया है, अपनी जीवनी शक्ति से उसे शक्तिवान भी बनाया है। समूचा स्वाधीनता आन्दोलन उसमें प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में अपने सारभूत सत्य के साथ कलात्मक अभिव्यक्ति पा सका है, एक जीवित जाति की सृजनेच्छा तथा सर्जन-क्षमता का विषय बनकर उस जाति के अपने स्वत्व को सामने ला सका है। इस सर्जना के इतिहास का अध्यापन तब तक संभव नहीं है जब तक आधुनिक काल के अपने सारभूत सत्य का, उसकी समूची प्रातिनिधिकता में (औसत में नहीं) हमें बोध न हो जिस जाति की यह सृजना है उस जाति के अपने बुनियादी सरोकारों से हमारा लगाव न हो, साथ ही, आवश्यक को अनावश्यक से प्रतिनिधि को औसत से अलगाने की समझदारी तथा विवेक हममें न हो। इतिहास-लेखक, जो कुछ उपलब्ध है सबको इकट्ठा नहीं करता, वह तथ्यों में चुनाव करता है, उन्हें व्यवस्था देता है, उनकी व्याख्या करता है और आवश्यक तथा प्रतिनिधि को एक खरे साहित्य विवेक तथा मूल्यबोध के तहत सही स्थान पर रखता है, महत् और साधारण में अंतर करता है, उनके बारे में निर्णय देता है। यह सब उसकी दायित्व चेतना का अंग है अन्यथा इतिहास महत्वपूर्ण अमहत्वपूर्ण घटनाओं तथा तथ्यों का सिलसिलेवार किन्तु अराजक आख्यान बनकर रह जाय। यही साहित्य के इतिहासकार के लिए साहित्य का समीक्षक भी होने की पूर्वशर्त जुटती है और साहित्येतिहास के लिए समीक्षा अनिवार्य हो जाती है। साहित्य के इतिहास के माध्यम से हमें सभी समीक्षा के मान मिलते हैं और इतिहासकार की समीक्षा दृष्टि नये सन्दर्भों में नये समीक्षा मानों को जन्म देती है। साहित्य की धाराएं, उसकी प्रवृत्तियां तथा रचना-

कार सब नया अर्थ पाते हैं, इतिहास मे अपनी सही जगह पर प्रतिष्ठित होते हैं। ऐसा नही है कि इतिहासकार इतिहास लिखे और समीक्षक समीक्षा करे। इतिहास-लेखक ही समीक्षक बनकर अपने द्वारा चुने तथ्यों को व्यवस्था तथा सगति देता है, युग के सदर्भ में महत्वपूर्ण या अमहत्वपूर्ण घोषित करता है और जो कुछ प्रतिनिधि सत्य के रूप म सामने लाता है उसका मूल्य और महत्व आककर हमे भी उनकी सही पहचान देता है।

आज जो इतिहास हमे उपलब्ध है जाहिर है कि आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी को छोडकर कोई भी उनसे आगे की चीज नही बन सका है। शुक्लजी तथा द्विवेदी जी के इतिहास आधुनिक काल की सजना तथा अपने युग बोध को सामने लाते हुए भी आधुनिक साहित्य की वास्तविक मूल्यवत्ता को अनेक कारणों से अपेक्षित रूप मे प्रस्तुत नही कर सके हैं। जो कुछ उन्होंने आधुनिककाल की सजना के बारे म कहा है उसे लेकर मतभेद तथा विवाद भी हैं। मध्यकाल तक के साहित्य क बारे म उनकी दिशा और दृष्टि हम जिस प्रकार आश्वस्त करती है, आधुनिक काल की सजना के बारे मे हम वैसा नहीं कह सकते। इतिहास के रूप मे न लिखा जाकर भी समीक्षा ग्रन्थो मे उपलब्ध दूसरा तमाम स्तरीय और अस्तरीय विवेचन हमे जरूर मिलता है जो लिखने वाले के अपने-अपने साहित्य विवेक तथा युगबोध से मडित है। इतिहास के रूप मे न प्रस्तुत होता हुआ डा० रामविलास शर्मा का बहुत सारा कार्य वस्तुत शुक्लजी के बाद और द्विवेदी जी के बाद उनस आगे की जमीन स किया गया इतिहास लेखन जैसा काय है, उसी समझदारी के साथ किया गया काय, जो इतिहास-लेखन की बुनियादी पूर्वशत है और जिसका जिक्र हम कर चुके हैं। अपने आग्रह पूर्वाग्रह यहाँ भी है, अपनी दृष्टि तथा दृष्टिकोण भी यहाँ हैं, परन्तु जो कुछ उनके द्वारा प्रस्तुत हुआ है वह अनेक दृष्टियो स बहुत मूल्यवान है और आचार्य शुक्ल तथा द्विवेदी जी मे एक गुणात्मक इजाफा है। हम यहाँ आधुनिक साहित्य के लिखे गये इतिहासो का मूल्याकन नहीं कर रहे, हम डा० शर्मा के उल्लेख के माध्यम से एक ऐस तथ्य को प्रस्तुत करना चाहते हैं जो आधुनिक साहित्य के इतिहास के अध्यापन मे रेखाकित होना चाहिये और वह है अपनी जातीय परम्परा की पहचान कर उसके प्राणवान अशों पर अपने को केद्रित करना तथा समूची जातीय सर्जना को थाहकर उसकी प्राणवान तथा जीवत उपलब्धियों को पूर्ववर्ती उपलब्धियों स जोडना और इस प्रकार परम्परा के प्राणवान अशो को एक निरंतरता म हमारे समक्ष रखना पूर्ववर्ती तथा परवर्ती मे इस बिन्दु पर सबध सूत्र कायम करना। ताकि कोई भी प्राणवान तथा जीवत उपलब्धि अचानक आ टपकने वाली अथवा आरोपित-आयातित न लगकर अपनी पूर्ववर्ती उपलब्धियो का ही विकास लगे, उसी लीक का विकास या गुणात्मक स्तर पर उससे भिन्न, परन्तु उससे अनुप्राणित भी, जैसा कि हर विकास होता है। 'भारतेन्दु युग स लेकर निराला की साहित्य साधना' तक अपनी किताबो मे डा० शर्मा ने भारतेन्दु से लेकर महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचाय शुक्ल, प्रेमचंद निराला तक के सजनात्मक विकास तथा विचारधारात्मक सघष के बीच आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य की रचनागत तथा विचारगत उपलब्धियो को, इस सजना की अंतर्वस्तु तथा रूपतत्व के विकास को, उसके प्रेरणास्रोतो के साथ

युगीन परिदृश्य म उनके बीच की क्रिया प्रतिक्रिया को मूर्त करते हुए प्रस्तुत किया है और बताया है कि इस सृजन की अंतर्वस्तु और रूप माध्यमों की यह कौन सी दिशा है, उनका वह कौन सा अंश है जो अपने युग की प्राणवान तथा प्रगतिशील शक्तियो की संगति म ह तथा जो अविच्छिन्न रूप से आधुनिककाल के हर चरण म गुणात्मक रूप से विकसित होता रहा है, और जो ही हिन्दी जाति की प्रतिनिधि सांस्कृतिक अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। इस क्रम म स्वभावत आधुनिक काल की सर्जना का वह अंश भास्वर हुआ है जो अगली सर्जनात्मक संभावनाओं का पूर्वाधार है और इस प्रकार आधुनिक युग का सजनशीलता का एक ऐसा इतिहास हमे मिलता है जो हम उसके जीवत अंश की पहचान कराता है तथा प्रतिगामी जर्जर अंश से उसे अलगाता हुआ आगे के लिए नई दिशा दृष्टि और आधार प्रदान करता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास का अध्यापन करते समय यदि हम आवश्यक को अनावश्यक से, प्रगतिशील को प्रतिगामी स, संभावनायुक्त को संभावना शून्य स अलग करने का विवेक अपने साथ नही रखत, पूर्ववर्ती और परवर्ती म आवश्यक सबंध सेतु जहाँ हैं उन्हे वहाँ नहीं पहचानते और समूचे विकास-क्रम को उसक अंतर्विरोधो के बीच स उगता हुआ नही देखते या दिखा पाते, रचना तथा विचारगत संघर्षों की बुनियादी आधारभूमि सक्रियता तथा उनकी निष्कर्षात्मक परिणति म परिचित नहीं होत, हम आधुनिक साहित्य का इतिहास पढाने का भ्रम पाले हुए भी वस्तुत इतिहास न पढ़ा रहे होंगे, कुछ और कर रहे होंगे। हमे इतिहास का अध्यापन करत समय यह दिखाना होगा कि भारतेन्दु के समय स लेकर अद्यावधि साहित्यिक सजनशीलता तथा विचार की जो प्रगतिशील प्राणवान परम्परा एक अविच्छिन्न क्रम क रूप म सामन आ सकी है वह सीधी सपाट जमीन से होती हुई यहाँ तक नही पहुँची है वरन् अनेक अवरोधो को पार कर, अंतर्विरोधों मे गुजर कर सजना तथा विचार की विरोधी लीका स टकराती हुई सामाजिक जीवन के वस्तुगत आधारों स्थितियो से प्राणशक्ति पाती हुई हा और तेजस्वी रचनाकारो को अपनी रचना सामर्थ्य क बल पर अपने को पहचान करा सकी है। यदि हम तक और तथ्य की जमीन पर ऐसा नहीं दिखा पात, तो हम सही इतिहास क अध्यापन का दावा नही कर सकते।

यही नही, हम अध्यापन के दौरान इस बात के प्रति भी सजग रहना होगा कि परम्परा को अविच्छिन्न दिखाते हुए भी, प्रवृत्तियों की व्याख्या करते हुए भी, धाराओ का क्रम और समानान्तरता बताते हुए भी वैयक्तिक प्रदेश अथात् रचनाकारो की अपनी सजन प्रतिभा तथा विचार सामर्थ्य को कतई नजरंदाज न होने दे। प्रवृत्तियों का धाराओ का ही परिचय देने मे न रह जाय उन्हे ही सारी मुख्यता न दें वरन् कृतियों और रचनाकारा के पूरे वैशिष्ट्य को उभार कर प्रस्तुत करें। इस सारे काम के लिए गजब की वस्तुनिष्ठता चाहिए, वस्तुनिष्ठता इतिहास लेखन की बुनियादी शत है यद्यपि हम यह ध्यान रखना चाहिए कि वस्तुनिष्ठता की इस माँग को हम इतना रिजिड न बना दें कि इतिहास लेखक या इतिहास के अध्यापक की अपने विवेक को उसके द्वारा अर्जित अपने बोध को उसकी अपनी दृष्टि की जीवतता को समाप्त ही कर दें। वस्तुनिष्ठता के माने यही है कि हम

इतिहास को इतिहास के रूप में देखें। उसे उसके अपने समय के संदर्भ में पहचानें तथा प्रस्तुत करें, व्याख्या उसकी समकालिक चेतना के तहत करें ताकि वह अपनी जमीन पर रहता हुआ ही हमारे सरोकारों से जुड़े, हमारी जमीन पर आकर हमारा समर्थन न करे।

इतिहास-लेखन एक कठोर अनुशासन है उसका अध्यापन भी। उसके लिए एक ऐसी दृष्टि चाहिए जो दूर और पास, व्यापकता और गहराई, स्थूल और सूक्ष्म सब में गतिशील रहते हुए सापेक्ष और प्रतिनिधि को पकड़ सके, उसे एक जीवित तारतम्य में रख सके, उसे मूल्यांकित कर सके। आधुनिक साहित्य को लें तो ढेरों विवाद, तमाम आन्दोलन, तमाम उद्वेलन साहित्यिक प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि में रहे हैं। इनसे गुजर कर महत्वपूर्ण स्थापनाएँ भी हुई हैं बुनियादी बदलावों का रूप उभरा है और सतही प्रवृत्तियाँ भी सामने आई हैं महज प्रतिक्रियाओं पर आधारित नारेबाजी भी हुई है और इस नारेबाजी को स्थायी महत्व का बताया गया है। इतिहास-लेखक तथा इतिहास के अध्यापक को इन सबका यथोचित जायजा लेते हुए सही और बुनियादी को छाँट तथा सतही से अलगाना होगा और इनके परिणामों का भी सही मूल्य आँकना होगा। अराजकता में व्यवस्था लाना भी इतिहासकार और इतिहास के अध्यापक का काम है। खरे इतिहास बोध, जीवंत और समकालीन चेतना से लैस उन्नत साहित्य विवेक और समीक्षा दृष्टि का धनी इतिहास-लेखक और अध्यापक यह काम कर सकता है। जिसमें इस सामर्थ्य की जितनी ही कमी होगी वह उतनी दूर तक काम को पूरा अंजाम नहीं दे सकेगा। समकालीनों पर कहना तथा उन पर मूल्य निर्णय देना सरल नहीं होता। जो सब कुछ सामने घटित होता है, एकदम इतिहास नहीं बन जाया करता है। उसके साथ हमारे अपने पूर्वाग्रह तथा राग-द्वेष लगे रहते हैं नजदीक से देखने पर चीजें अपनी समग्र पहचान में नहीं आतीं। आचार्य शुक्ल स्वतः समकालीनों पर लिखने में संकुचित हुए थे। कितनी भी वस्तुपरकता का दावा कोई करे, समकालीन और सामने घट रहे में चूंकि उसकी भी साझेदारी होती है वह उतना वस्तुपरक नहीं रह पाता। फिर दृष्टियों तथा विचारधाराओं की भयानक टकराहट के इस युग में, बातें इतने कोणों से और इतनी भिन्न जमीन से की जा रही हैं कि उनमें संबंध सूत्र बनाना सरल नहीं रह गया है। सरल वह कभी नहीं रहा परन्तु आज तो अराजकता की स्थिति है। सृजना की मूल्यवत्ता को लेकर विपरीत ध्रुव पर खड़े होकर बातें की जा रही हैं। साहित्य, समाज और जिन्दगी की अपनी-अपनी समझ को बुनियादी बताया जा रहा है। ऐसे समय में जब दिशा निर्देश भी न हो अपनी समझ को इतिहास की समझ के साथ एक करके वस्तुपरक निर्णय लेना और देना मुश्किल है। हम अंततः यही कहकर पनाह माँगते हैं कि सही कौन है और कौन नहीं इसे इतिहास ही तय करेगा। फिर भी जो उज्ज्वल है, जो भास्वर है वह चुप नहीं रहता, कौंधता रहता है अपनी पहचान कराता रहता है। हमारे देखते-देखते बहुत से समसामयिक आन्दोलन, प्रवृत्तियाँ तथा रचनाकार जो कुछ समय पहले बुनियादी, महत्वपूर्ण और स्थायी होने का दावा लेकर सामने आये थे आज हवा हो गये हैं और जिन्हें गैर बुनियादी अमहत्वपूर्ण मानकर जबरन पीछे ठेल दिया गया था आज दिशा निर्देश दे रहे हैं एक पूरी की पूरी पीढ़ी को एक पूरे

के पूरे युग की मजना को। नागार्जुन, मुक्तिबोध, त्रिलोचन, केदार सभवा के गमय म कहाँ थे ? मुक्तिबोध तारसप्तक म छपकर पीछे फेंक दिये गये थे। पर तु इतिहास की ताकतें उन्हें सामने लाई और वे युग के प्रतिनिधि क रूप म पहचाने गय। हमारे कहने का मतलब है कि इतिहास क आधुनिक साहित्य के इतिहास के अध्यापक की यही समझदारी से अपने काम को अजाम दना है ताकि जिन्हें हम यह इतिहास पढ़ा रहे हैं व इतिहास की प्रक्रिया क भीतर स उपजती अपनी सर्जना को—उसक ऐतिहासिक महत्व को पहचान सकें, यह अनुभव करें कि उन्होंने वस्तुत इतिहास पढ़ा है, एक जीवत इतिहास और उसे जिया भी है।

(३) सवाल है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य क इतिहास की शुरुआत कहाँ से माना जाय ? वैज्ञानिकता का और सही इतिहास दृष्टि का तकाजा है कि समाज विकास के इतिहास के साथ ही साहित्य के विकास की भी चर्चा हो ताकि समाज के विकास और साहित्य क विकास क बीच के सबध, जटिल और द्वन्द्वात्मक संबधो को एक दूसरे को सापेक्षता म हम जान समझ सकें। कदाचित् इसी सदभ म एक क्रांतिकारी स्थापना डा० रामविलास शमा ने यह सिफारिश करत हुए दी है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास के आधुनिककाल की शुरुआत बारहवी सदी स मानी जाय – पूजीवाद के उदय क साथ जिन्हें हम आधुनिक भारतीय भाषा कहत हैं उनक और उन्हें बोलने वाली आधुनिक भारतीय जातियो क उदय क साथ, उस बदली हुई मानसिकता क साथ उनके अनुसार जिसक स्पष्ट चिह्न इन जातीय भाषाओ म उस समय के साहित्य म देख पडत ह। बारहवी सदी का यह समय थोडा बहुत आगे भी बढ़ाया जा सकता ह, उनका मुख्य कहना यह है कि जिस हम आज तक हिन्दी साहित्य के मध्यकाल के रूप म जानते-पहचानत रहे हैं वह वस्तुत हिन्दी साहित्य का मध्यकाल न माना जाकर उसका आधुनिक काल माना जाना चाहिए, उपर्युक्त तर्कों क आधार पर।

यह सही है कि समाज क विकास अथवा समाज के इतिहास का जो वैज्ञानिक विवेक अथवा इतिहास दृष्टि हमारे पास है उसके अनुसार पूजीवाद के उदय के साथ समाज के आधुनिक-काल का उदय मानना सगत है, और आधुनिक जातियो और जातीय भाषाओ का उदय भी पूजीवाद के उदय के साथ जुडा हुआ है और ये सारी बातें जिसे अब तक हम मध्यकाल का हिन्दी साहित्य मानते हैं उसके साथ जुडी हुई हैं। भक्ति आन्दोलन का उदय ही सामती जकडबदी के कमजोर होने की सूचना देता है, निगुण कविता मुख्यत एसे सतों को सामने लाती है जो शिल्पकार या कामगर हैं अत्यज या नीच हैं और जाहिरा तौर पर उनकी कविता मे सामती व्यवस्था का, सारे सामती सुपरस्ट्रक्चर का विरोध भी है एक मानव सस्कृति की बात है, मानवतावादी स्वरों की प्रधानता है जातीय चेतना की मास्वरता है, जातीय अस्मिता ही नही जातीय भाषा और जातीय अस्मिता के साथ जातीय चेतना का अतिक्रमण कर अधिक बडे परिप्रेक्ष्य म एक दूसरे के साथ सास्कृतिक स्तर पर आदान-प्रदान भी है। इन्हीं सब बातों के नाते भक्ति आन्दोलन विभिन्न जातियों का सामाजिक और सास्कृतिक आन्दोलन ही न रहकर

एक अखिल भारतीय सामाजिक तथा सांस्कृतिक जागरण या नवजागरण का सूचक है, परंतु फिर भी इस सबको आधुनिक काल की शुरुआत मानकर आधुनिक चेतना से जोड़कर देखने म, आधुनिक काल के अतगत मान लने म अनेक प्रकार की दिक्कतें है और वे व्यावहारिक दिक्कतें ही न होकर, बुनियादी प्रकार की दिक्कतें है विचारों की उसी जमीन स उठी दिक्कतें हैं जिनके आधार पर मध्यकाल के इस साहित्य को आधुनिक काल के अतगत मान लने की सिफारिश की गई है।

सवाल है कि पूजीवाद के कौन स रूप को आधुनिक काल के उदय का सूचक माना जाय—औद्योगिक पूंजीवा^ को जो इस समय नही था, बावजूद छोटे स्तर पर होन वाली छिटपुट औद्योगिक प्रगति के जबकि समाजों के इतिहास म सब कही औद्योगिक पूंजीवाद के उदय को ही आधुनिक युग का निर्णायक बि दु माना गया है। औद्योगिक पूंजीवाद के पहले यापारिक पूजीवाद की स्थिति होती है और इस मध्यकाल म उसकी स्थिति से हम इकार नहीं है। औद्योगिक पूंजीवाद जिस प्रकार समाज की पूरी सरचना को, पुरानी या चली आ रही सरचना को क्षत विक्षत करता है व्यापारिक पूंजीवाद की यह स्थिति क्या भारतीय समाज के इस दौर की सरचना को इसी प्रकार क्षत वि त करती है, क्यों कर भक्ति आ दोलन के शताब्दियों के क्रियाकलाप और जागरण के बाद हि दी साहित्य मे रीतिकाल का आविर्भाव होता है और रीतिकाल ही क्यों, स्वत भक्तिकाल मे ही कृष्ण और रामभक्ति की धाराओ म क्रमश वही सामती जकडब दी पुन स्थापित हो जाती है जिसके शिथिल होने के नाते ही सत सा^ित्य के स्वर उभरे थे? ये तमाम सवाल हमारे सामने उपस्थित हो जाते हैं यदि हम उपयुक्त तर्कों क आधार पर इस मध्यकाल स आधुनिक काल का प्रारभ मानने की सिफारिश करत हैं। यही नही, राष्ट्रवाद का जो उदय सभी समाजो में औद्योगिक पूजीवाद के उदय के साथ होता है, विज्ञान के प्रवेश के साथ जो वैज्ञानिक मानसिकता मध्यकालीन बोध को आधुनिक बोध स पृथक करती है, धम और अध्यात्म, व्यक्तिगत साधना और मो त क स्थान पर सामाजिक मुक्ति क जो स्वर औद्योगिक पूजीवाद के साथ उत्पन्न राष्ट्रवाद और आगे चलकर समाजवाद मे उठते सुनाई पडते हैं इन सबको व्यापारिक पूंजीवाद की स्थिति वाले, किन्तु धर्म प्राण, व्यक्तिगत साधना तथा मोक्ष पर बल देने वाले, सामती जकड ब दी के विरोध म उठे हुए स्वरों के बावजूद सामती आधार की आत्मनिभर ग्राम व्यवस्था वाले मध्यकाल म कैसे और किस रूप में पाया जा सकता है? अकादमिक और तकनीकी स्तर पर हम अगर कुछ सिद्ध भी करें तो यावहारिक स्तर पर सामन आने वाली कठिनाइयों को कैसे नजरदाज किया जा सकता है? समाज और साहित्य का विकास समानान्तर होने की बात भी एकदम यात्रिक तरीके से नहीं लागू की जा सकती। समाज तथा साहित्य क विकास में समानता के साथ अन्तराल भी होते हैं अंतवस्तु तथा रूप के विकास की अपनी परेशानियां तथा स्थितियां होती हैं। साहित्य का विकास सामाजिक विकास की अनुरूपता मे होता हुआ भी उसका यान्त्रिक प्रतिबिंब नहीं होता, समाज। का विकास साहित्य के विकास को गति देता है और साहित्य का विकास सामाजिक

विकास को गति प्रदान करता है, इनमें ओवर लैपिंग भी होती है, इन तमाम बातों को भी समाज तथा साहित्य के समान विकास की बात करते हुए ध्यान में रखना चाहिए। डा० शर्मा की अपनी तर्क-शृङ्खला में महत्व को मानते हुए भी व्यावहारिक जमीन पर उसे स्वीकार करने में समस्या का समाधान उतना नहीं होता, जितना वह और उलझ जाती है। बहुत विस्तार न करके इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि हिंदी साहित्य के आधुनिक काल की शुरुआत उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से ही मानी गई है वह संगत है, विचार की उसी जमीन पर संगत, जिस जमीन पर उसकी शुरुआत डा० शर्मा ने मध्य-काल से मानी है। पर इस बात का है कि इस आधुनिक काल का संबंध व्यापारिक पूँजीवाद से जोड़ा जाय या औद्योगिक पूँजीवाद से। जातियों के निर्माण का मसला फिर भी शेष रह जाता है पर यह और लंबी बहस का विषय है।

(४) इस क्रम में एक दूसरी समस्या की चर्चा भी कर लें जो जनपदीय बोलियों या भाषाओं के पैरोकारों की ओर से उनकी अपनी बोलियों या भाषाओं के साहित्य को आधुनिक काल के साहित्य में शुमार न करने के आरोप के साथ सामने आती है और हिंदी से *सर्वथा स्वतंत्र अपनी बोलियों या भाषाओं की अस्मिता की घोषणा करते हुए* अलगाववाद या पृथकतावाद का नारा लगाती है। इस समस्या के कई कोण हैं और जरूरी है कि हम उसके हर कोण पर विचार करें और उसे महत्व दें। इस समस्या का एक दूसरा छोर इस तर्क के साथ प्रस्तुत किया जाता है कि जिसे हिंदी साहित्य का इतिहास कहना चाहिए वह वस्तुतः खड़ी बोली हिन्दी के साहित्य का ही इतिहास है और —'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष' जैसी किताब लिखकर शिवदानसिंह चौहान इस मत को लेकर सामने आए हैं। जरूरी है कि इस सारी समस्या पर गंभीरता के साथ विचार हो।

भाषा विज्ञान की दृष्टि से हिन्दी के संकुचित तथा व्यापक अनेक अर्थ हैं। स्वतः हिन्दी शब्द हिंदी का नहीं, मुसलमानों का दिया हुआ शब्द है। अपने संकुचित और सीमित अर्थ में हिंदी खड़ी बोली हिन्दी है जिसका आज गद्य तथा पद्य में व्यापक प्रयोग होता है जो मानक भाषा के रूप में स्वीकार हुई है और जिसे ही राष्ट्रभाषा कहा गया है। शिवदानसिंह चौहान की बात इसी जमीन पर स्वीकार की जा सकती है कि उनकी 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' किताब वस्तुतः खड़ी बोली हिन्दी साहित्य के अस्सी या अब अधिक वर्षों के इतिहास की किताब है। यह सही है कि खड़ी बोली हिंदी के पहले की जनपदीय बोलियों या भाषाओं के लिए हिन्दी शब्द मुसलमानों की ओर से आया, उन बोलियों या भाषाओं के लोगों की ओर से नहीं, परंतु हिंदी अपने व्यापक अर्थ में इन सभी जनपदों की बोलियों और भाषाओं के समूह का द्योतक शब्द भी है। जिसे हम हिन्दी प्रदेश या हिन्दी भाषी प्रदेश कहते हैं उस प्रदेश का मध्यदेश का द्योतक शब्द भी है, और इस अर्थ में ब्रज, अवधी, बुंदेली, राजस्थानी, मैथिली आदि बोलियाँ या भाषा उपभाषा होते हुए भी हिंदी हैं और हिंदी साहित्य के इतिहास में इनके साहित्य का समावेश सर्वथा जायज है और इसी नाते अद्यावधि शिवदानसिंह चौहान के अलावा

सभी इतिहास लेखकों के द्वारा समाविष्ट किया गया है, भाषाविदों द्वारा मान्य हुआ है। जब तक इन जनपदीय बोलियों या भाषाओं के निर्माण या गठन की प्रक्रिया जारी रही, एक या एकाधिक जनपदीय बोलियाँ अपने जनपदों का अतिक्रमण कर दूसरे जनपदों में साहित्यिक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में भाषा की पदवी पाते हुए प्राप्त हुई, हिन्दी साहित्य के इतिहास के अंतर्गत उन सबके साहित्य की गणना हुई, सबका मिला-जुला साहित्य हिन्दी साहित्य कहलाया हिन्दी प्रदेश का साहित्य कहलाया। स्मरण रहे कि इस अवधि में अवधी ब्रज, बुंदेली आदि भाषाओं में लोक साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में रचा गया होगा परन्तु हिन्दी साहित्य के इतिहास में इन जनपदीय भाषाओं का साहित्यिक स्तर पर मान्य शिष्ट साहित्य ही उल्लिखित और विवेचित हुआ है। परन्तु १६वीं सदी के उत्तरार्ध में पश्चिम की खड़ी बोली जब अनेक कारणों से अपनी जनपदीय सीमाओं का अतिक्रमण कर दूसरे जनपदों की भाषाओं या बोलियों को पीछे छोड़कर भाषा के स्तर पर समूचे हिन्दी प्रदेश में व्यवहार तथा साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बन गई (हिन्दी प्रदेश के विविध जनपदों के बीच पारस्परिक विचार विनिमय बाजार-व्यापार आदि का माध्यम तो वह पहले भी थी भले ही उसमें साहित्य रचना न हुई हो, साहित्यिक अभिव्यक्ति में भी उसका रूप बहुत पहले अमीर खुसरो से ही या उससे भी पहले से पाया जाता है) तब हिन्दी साहित्य का जो भी इतिहास लिखा गया अर्थात् आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य का इतिहास, उसमें स्वभावतः उसी खड़ी बोली हिन्दी के साहित्य की चर्चा हुई और होनी चाहिए जो समूची हिन्दी जाति की एकता की प्रतीक मानक भाषा है। यह खड़ी बोली हिन्दी अब किसी जनपद विशेष से संबद्ध न रहकर समूचे हिन्दी प्रदेश की भाषा है और जाहिरा तौर पर सारी जनपदीय बोलियों और भाषाओं से अपने को प्राणवान बनाने वाली भाषा है। अतएव आज जबकि खड़ी बोली हिन्दी *के साहित्य को ही हिन्दी साहित्य के इतिहास के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो इससे* जनपदीय बोलियों और भाषाओं से जुड़े लोगों को हैरान नहीं होना चाहिए क्योंकि जनपदीय स्तर पर या उससे कुछ अधिक उनकी अपनी बोली या भाषाएँ भले ही अपना साहित्य लेकर सामने आ रही हों और वह निश्चित रूप से हिन्दी प्रदेश की भाषाओं और बोलियों का साहित्य है, परन्तु उसकी चर्चा अलग इतिहास ग्रंथों में आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में अलग से होना चाहिए परंतु आधुनिक हिन्दी साहित्य के मुख्य प्रवाह में खड़ी बोली के हिन्दी साहित्य की ही चर्चा उचित है कारण यह खड़ी बोली जैसा कहा गया, समूची हिन्दी जाति की एकता की प्रतीक उसकी मानक भाषा के रूप में मान्य है। अपनी बोली अथवा अपनी जनपदीय भाषा को हिन्दी से स्वतंत्र घोषित करने के पीछे प्रादेशिक शावनिज्म की प्रेरणा ही मानी जाएगी। हम जब इन जनपदीय *बोलियों या भाषाओं को हिन्दी की बोलियाँ या उपभाषा मानते हैं तो हमारा आशय* यही होता है कि ये हिन्दी प्रदेश की बोलियाँ या उपभाषाएं हैं खड़ी बोली मानी जाने वाली हिन्दी की नहीं। पृथकतावाद की यह भावना कितनी घातक है हिन्दी भाषा के लिए, इन जनपदीय बोलियों और भाषाओं के लिए, इन जनपदों के लोगों के विकास के

लिए, राष्ट्रीय एकता के लिए, और इसके पीछे जो शक्तियाँ कार्यरत हैं हमें उनके बारे में सोच समझकर ही किसी आन्दोलन को खड़ा करना चाहिए। हिंदी भाषा, हिन्दी भाषी प्रदेश और उसके अंतर्गत अपनी अपनी बोलियों से जुड़े लोगों का हित इसी बात में है कि वे आज की मानक खड़ी बोली हिंदी को उसी भावना से अपनाएँ जिस भावना से ब्रजभी बोलने वाले महावीरप्रसाद द्विवेदी ने, भोजपुरी के भारतेन्दु ने और इसी प्रकार हिन्दी के महान् रचनाकारों ने उसे अपनाया था, उसे आगे बढ़ाया था, हिन्दी जाति की एकता के नाते। अस्तु—

इस विवाद को यहीं पर समाप्त करके हम हिंदी उर्दू के सवाल पर संक्षेप में विचार करना चाहेंगे।

उर्दू हिंदी की एक शैली है अथवा स्वतंत्र भाषा, इस बात पर बहुत विचार और विवाद हो चुका है। हिंदी उर्दू पर साम्प्रदायिकता का रंग चढ़ाकर एक को हिंदुओं की और दूसरी को मुसलमानों की भाषा कहकर भी काफी कुछ विष बोया और काटा जा चुका है। उर्दू को उत्तर प्रदेश और बिहार में दूसरी भाषा का दर्जा दिलाने के पीछे और हिन्दी उर्दू के बीच भेद और फर्क की दीवार खड़ी करने की राजनीति और उसके दुष्परिणामों से भी हम वाकिफ हैं। हम इन सारे सवालों को और उनसे जुड़ी चर्चा को फिर से कुरेदना नहीं चाहते। हमारी गुजारिश सिर्फ इतनी है कि लिपि के अन्तर तथा शब्दावली के अपने-अपने अतिवाद से परे हिंदी उर्दू का एक ऐसा रूप भी है जो न तो हिन्दू है न मुसलमान, न संस्कृत प्रधान है न अरबी फारसी प्रधान, जो हिन्दी प्रदेश में एक लम्बे अर्से से हिंदू मुसलमान दोनों के द्वारा जाना-पहचाना जाता रहा है जिसमें दोनों परस्पर वैचारिक आदान-प्रदान करते रहे हैं और जो साहित्यकारों द्वारा भी अपनाया जाता रहा है। हिंदी और उर्दू में भेद और अलगाव पैदा करने वाले तत्वों पर ध्यान देने से और उनके आधार पर अपना आंदोलन खड़ा करने से ज्यादा जरूरी है, हम उस जमीन पर अपने को केंद्रित करें जिस पर हिंदी उर्दू दोनों एक जबान के रूप में उगती और पल्लवित होती रही हैं। आज की हिंदी भी खड़ी बोली का ही एक रूप है और उर्दू भी उसी खड़ी बोली का ही दूसरा रूप। मध्यकाल से लेकर आधुनिक काल तक हिंदू मुसलमान लेखकों की एक कतार है जिसने हिंदी उर्दू दोनों को अपनी ही जबान के रूप में माना है और अपनी कृतियों में उनके ऐसे रूप को उभारा है जो अतिवादी अथवा साम्प्रदायिक आग्रहों से अलग है। दरअसल इसी को देने की जरूरत है। उर्दू को हिंदी से अलगाने के बजाय या हिंदी को उर्दू से अलगाने के बजाय यदि हम हिन्दी उर्दू की एकता को मानकर चलें तो हिंदी उर्दू साहित्य के इतिहास को हिंदी साहित्य के इतिहास की अनेक विलुप्त कड़ियाँ जुड़ती नजर आएगी। हमने प्रारम्भ में सौ साल की चुप्पी की जो बात की थी इस जमीन पर वह चुप्पी टूटती हुई नजर आएगी और भारतेन्दु के पहले हम और पद्माकर के बाद हमें मीर सौदा नजीर, गालिब आदि मिलेंगे और लगेगा कि मध्यदेश की रचनाशीलता में लम्बा विराम चिह्न कभी नहीं लगा है।

सदी के पहले तक हमें ब्रजभाषा का अपरिपक्व गद्य नहीं, खड़ी बोली का

वाला साफ-सुथरा गद्य भी मिलेगा और खड़ी बोली गद्य के इतिहास को हम और भी निखरे हुए रूप मे पेश कर सकेंगे । उर्दू साहित्य के इतिहास को हिन्दी साहित्य के इतिहास म स्थान मिले और हिन्दी साहित्य का इतिहास उर्दू साहित्य के इतिहास का अंग बने यह स्थिति काम्य है । हम कहेंगे कि हिन्दी और उर्दू के बीच की खाई हिन्दी साहित्य के एक दो कालखण्डो को छोड कर कभी इतनी गहरी नही रही, जैसी कि आज दिखाई दे रही है । छायावाद और प्रयोगवाद नई कविता को छोडकर हि दी उर्दू सब कालखण्डों म परस्पर मिलती जुलती रही हैं । हिन्दी के तमाम वरिष्ठ लेखक हिन्दी के साथ-साथ उर्दू के लेखक भी रहे हैं और यह सिलसिला आज तक चला आ रहा है । इसे गति देने की जरूरत है और जरूरत है हिन्दी उर्दू के तथाकथित पक्षधरों को अपनी साम्प्रदायिक मानसिकता छोडने की—जिस जमीन से उर्दू उगी है उसे उस जमीन की गंध से, उसके अपने संस्कारों से ओतप्रोत करने की । यदि ऐसा हो सके तो यह हि दी उर्दू दोनों के हित म है, राष्ट्र के हित म है ।

अब हम एक बहुत महत्वपूर्ण सवाल पर आना चाहेगे जिसका सम्बन्ध आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य की व्यवस्था से, सौ वर्षों से ऊपर की उसकी रचनाशीलता के सम्यक् वर्गीकरण और विभाजन से है जो एक बडी समस्या के रूप मे अध्यापन के स्तर पर भी विद्यमान है और इस रचनाशीलता को उसके सही सदर्भो मे पहचान से भी जुडा है ।

आचार्य शुक्ल ने आधुनिक काल को प्रवृत्ति के अनुसार गद्यकाल कहा है और तदुपरान्त उसे गद्य खड और पद्य खड इन दो विभागों में बाँटकर गद्य प्रवाह के अंतर्गत तीन उत्थानो की और पद्य प्रवाह के अंतगत तीन उत्थानों की चर्चा की है । किसी भी कालखण्ड के नाम उन्होंने व्यक्तियों के आधार पर नही दिए । प्रवृत्तियों की चर्चा जरूर उन्होंने की है और गद्य के अंतगत गद्य की विभिन्न विधाओं का विकास प्रस्तुत किया है । आचाय शुक्ल का यह उपक्रम अनेक प्रकार की उलझनों और समस्याओं को जन्म देता है । आचार्य शुक्ल द्वारा किए गए इस विभाजन में गद्य तथा पद्य प्रवाह समान कालखण्ड से सम्बन्धित होते हुए भी अलग अलग लगते है और किसी एक कालखण्ड म गद्य तथा गद्य विधाओ का विकास तथा उनकी प्रवृत्तियों का काव्य तथा उसकी प्रवृत्तियो स कोई तालमेल नही दिखाई पडता । एक ही कालखण्ड मे गद्य तथा पद्य की भिन्न भिन्न प्रवृत्तियों तथा परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों की व्याख्या भी यहाँ नहीं मिलती । आचाय शुक्ल के विभाजन तथा व्यवस्थापन स हटकर दूसरे तमाम प्रयास जो इस बारे म हुए उनकी फेहरिस्त पेश करना जरूरी नही है, कारण उनसे अधिकतर हम परिचित हैं । गद्य तथा पद्य दोनों के सदर्भ में व्यक्तिपरक तथा प्रवृत्तिपरक विभाजन करते हुए भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग जैसे नाम भी सामने आए हैं और जो लोकप्रिय और ग्राह्य भी हुए हैं । इसी प्रकार कविता के विकास को दर्शाने वाले छायावाद युग, प्रगतिवाद युग, प्रयोगवाद युग, नई कविता, साठोत्तर कविता जैसे नाम तथा उपन्यास, नाटक और समीक्षा के सिलसिले में प्रेमचन्द युग, प्रेमचंदोत्तर युग, प्रसाद युग, प्रसादोत्तर युग, शुक्ल युग और शुक्लोत्तर युग जैसे नाम भी

सामने आए हैं और अपने-अपने सदर्भों म ढलने से चल रहे हैं। छायावाद काल, छायावादोत्तर काल, स्वातत्र्योत्तर काल जैसे काल विभाग भी प्रचलन म हैं। प्रचलन की बात छोड दें तो इन सारे नामों और इस सारे विभाजन की सगति आधुनिक काल के साहित्य के व्यवस्थित विकास और उसकी सही पहचान को हमारे सामने नहीं लाती।

जरूरत आधुनिक साहित्य के समूचे विकास को एक परिप्रेक्ष्य देने की है, सुस्पष्टता के साथ इस प्रकार का काल विभाजन करने की है कि उनके अतगत गद्य या पद्य की समान या परस्पर विरोधी प्रवृत्तियो की स्थिति दर्शाई जा सके और उनकी तर्कसम्मत व्याख्या की जा सके। जो विभाजन किया जाय वह तर्कसम्मत हो और साहित्यिक विकास के साथ सामाजिक जीवन की पहचान से भी जुडा हो। एक विनम्र प्रयास के रूप म एक रूपरेखा विचारार्थ प्रस्तुत है—

आधुनिक काल का प्रारम्भ भारतेन्दु बाबू की सजना से ही माना जाय परन्तु आधुनिक काल के प्रारम्भ की तिथि १८५७ ई० स्वीकार की जाय, इस नाते कि यह राष्ट्रीय मुक्ति सघर्ष की शुरुआत की तिथि है, साथ ही हिन्दी जाति के इस सघर्ष म सर्वप्रमुख योगदान, त्याग और बलिदान की भी तिथि है। १८५७ ई० का मुक्ति संघर्ष डा० रामविलास शर्मा के अनुसार राष्ट्रीय सघर्ष के साथ हिन्दी जाति का अपना सघर्ष भी है।

राष्ट्रीय मुक्ति सघर्ष का जो सिलसिला १८५७ ई० स प्रारभ होता है वह निरतर चलता है। राष्ट्रीय मुक्ति की जो परिकल्पना हिन्दी लेखक पेश करते हैं वह अद्यावधि भी हमारा प्राप्य ही बनी हुई है। राजनीतिक मुक्ति भारत को जरूर मिली है परन्तु जिसे सही अर्थों मे मुक्ति कहा जा सके उस मुक्ति के लिए भारत का जन गण आज भी सघर्षरत है। अतएव हमारी सिफारिश है कि राष्ट्रीय मुक्ति सघर्ष अथवा राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन को आधार मानते हुए १८५७ ई० से अब तक के समूचे काल खण्ड को राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का काल कहना चाहिए। आधुनिक काल अपनी प्रवृत्ति की दृष्टि से, अपनी अतर्वस्तु मे राष्ट्रीय मुक्ति सघर्ष का काल है। जाहिरा तौर पर इस मुक्ति सघर्ष के अपने उतार चढ़ाव तथा अतर्विरोध हैं, और वे सब आधुनिक काल के गद्य तथा पद्य साहित्य में मूर्त भी हुए हैं।

यदि हम आधुनिककाल के साहित्य को राष्ट्रीय मुक्ति सघर्ष का काल मान लेते हैं तो हमें इस मुक्ति सघर्ष को कुछ चरणो म बाँटकर देखना होगा और वे चरण ऐसे होने चाहिये जो मुक्ति संघर्ष के बदल हुए तेवरों के साथ साहित्य की बदली हुई अतर्वस्तु की ओर भी इशारा करें। इस दृष्टि से राष्ट्रीय मुक्ति सघर्ष का पहला चरण १८५७ ई० से १९०० ई० तक का होगा, जिसे हम भारतेन्दु युग कहने के अभ्यस्त हैं उस तक। यह कालखण्ड राष्ट्रवाद के उदय का काल है, जागरण का काल है। राष्ट्रीय मुक्ति सघर्ष के दूसरे चरण में १९०० ई० से लेकर १९३० ई० तक के काल खण्ड को हम लेना चाहेंगे जो वस्तुत सुधारवादी आदर्शवादी स्वच्छंदतावादी मनोभूमि का काल है। अब तक के हमारे जाने पहचाने द्विवेदी युग तथा छायावाद युग इसके अतर्गत आएगे। १९३० की तिथि (१९३६ ई० तक भी बढ़ाई जा सकती है) परन्तु चूँकि बदलाव के संकेत १९३०

ई० मे ही मिलने लगते हैं अतएव इसे १९३० रखना अधिक उचित होगा। द्विवेदी युग तथा छायावाद युग रूप रचना तथा अतर्वस्तु मे अलग लगते हुए भी मूलत सुधारवाद तथा आदशवादी चेतना से ही अभिप्रेरित है। १९३० तक के प्रेमचद युग को भी द्विवेदी युग तथा छायावाद युग के रचनाकारो के साथ इस कालखण्ड मे विवेचित किया जा सकता है। राष्ट्रीय मुक्ति सघर्ष का तीसरा चरण १९३० या ३६ स १९६० तक का माना जाना चाहिये। राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन की अतर्वस्तु म बदलाव के साथ इस कालखण्ड के साहित्य म भी वह बदलाव आता है समाजवाद तथा यथाथवाद के स्वर गहरे होते हैं प्रधान बनते हैं तथा उनके विरोध मे उठने वाले प्रतिपक्षी स्वर भी सामने आते हैं। यह कालखण्ड यथाथवाद तथा उसके प्रतिपक्ष का कालखण्ड है जब साहित्य म सामाजिक तथा व्यक्तिवादी दृष्टियाँ, यथाथवादी और यथाथ विरोधी प्रवृत्तियाँ साथ साथ सक्रिय होती हैं और एक दूसर स टकराती हैं। प्रगतिशील धारा स लकर नई कविता तक का समय इसके अतगत आ जाता है। गद्य म भी यथाथवादी और यथार्थ विरोधी प्रवृत्तियाँ सक्रिय रहती हैं। सन् १९६० ई० स वतमान समय तक राष्ट्रीय मुक्ति सघर्ष का चौथा चरण है जो वस्तुत दिग्भ्रम मोहभग तथा नई जन-चेतना की अभिव्यक्ति का समय है। राजनीतिक सामाजिक जीवन म अतिवादी अराजक प्रवृत्तियों क साथ साहित्य मे भी नये नये फैशन कविता तथा कथा साहित्य मे उभरते हैं साथ ही जन आन्दोलनो म तेजी आती है और एक नई जन चेतना या वाम चेतना अपनी सक्रिय उपस्थिति सूचित करती है। डा० मैनेजर पाण्डेय द्वारा सुझाये गये व्यवस्थापन का यह मेरे अनुसार कुछ सुधरा हुआ रूप है। इस प्रकार आधुनिक काल अर्थात् राष्ट्रीय मुक्ति सघष क काल को चार चरणों में जागरण का समय, आदशवाद-सुधारवाद स्वच्छदतावाद का समय यथाथवाद वाम चेतना तथा प्रतिविरोधी प्रवृत्तियों का समय तथा मोहभग दिग्भ्रम तथा नई जन चेतना का समय में बाटकर हम आधुनिककाल की रचनाशीलता का व्यवस्थापन तथा मूल्याकन कर सकते हैं। हमारे जाने पहचाने नाम इस विभाजन के भीतर आते रह तो भी कोई हज नही, कारण वे विभाजन के आधार नही हैं। अपने इस व्यवस्थापन तथा विभाजन की मैं विस्तार से व्याख्या कर सकता हू जो फिलहाल सभव नही है। अस्तु—

मुख्य समस्याए यही हैं। गौण समस्याए यहाँ नही उठाई गइ मसलन सारे इतिहास म या तो ई० सन् देना या सवत् देना, हिन्दीतर प्रदेशो म हिन्दी म लिखी जानेवाली रचनाशीलता को हिन्दी साहित्य के इतिहास मे स्थान देना आधुनिक रचनाशीलता का विवेकपूर्ण मूल्याकन करते हुए रचनाकार को उनकी गुणवत्ता के आधार पर सही स्थान म रखना आदि आदि। सप्रति आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य क इतिहास के बारे में समस्याओं के स्तर पर जो कुछ सोच विचार सका हूँ वह आपके विचाराथ प्रस्तुत है।

लोकसाहित्य के बदलते परिवेश



रामनारायण उपाध्याय

लोकसाहित्य का काम महज लोक गीत लोककथा और लोक-कहावतों के संकलन का काम नही है, वरन् यह जो अनादिकाल से अनन्तकाल तक मानव की जीवन यात्रा प्रवहमान है उसमें वह कहाँ उठा, कहाँ गिरा, और कहाँ आगे बढा इन सबकी खोज, शोध और अध्ययन का काम है।

लोक क्या है ? यह जो गाँवो और नगरों में, खेतों और कारखानो मे, गिरि-कन्दराओं और मैदानों में, नदियों के मुहाने से लेकर पर्वत शिखरों तक, मधुमक्खी के छत्ते की तरह, असख्य जनता फैली है, वेदव्यास ने जिसके बारे मे कहा था, कि मैं तुम्हें अत्यन्त गुप्त रहस्य की बात बताता हूँ इस दुनिया में सबसे बडा मनुष्य है उससे बडा कोई नही। चंडीदास ने जिसके बारे में गाया, 'हे भाई, सुनो, मनुष्य से बडा और कोई सत्य नहीं है।' डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल ने जिसके बारे मे कहा कि 'हमारे समस्त विचारो और कार्यों का मूल में जनता प्रतिष्ठित है। पृथ्वी हमारी माता है और हम उसके पुत्र हैं। अतएव उस लोक को जानने, पहचानने और जाग्रत करने का प्रयास ही जनपदीय अध्ययन का मूल उद्देश्य है।'

लोकसाहित्य की चर्चा करने से पूर्व हमे उसके स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। आजकल पचायत एव समाज सेवी तथा परिवार नियोजन आदि विभागों की ओर से लोक-गीतों की मांग की जाती है और उन्हें पुरस्कृत भी किया जाता है। लेकिन आडर पर तैयार माल की तरह लोकगीतों की रचना नही की जा सकती। व्यक्ति की एकान्तिक कल्पना नहीं, वरन् समष्टिगत अनुभूति मे से ही लोकगीत का जन्म होता है। श्रम से गीत का नजदीकी रिश्ता रहा है। श्रम मे से गीत का जन्म होता है और गीत श्रम को हल्का करने मे अपना योगदान देता आता है।

एक किसान जब खेत में हल चलाता है तो गाता है—'हे सूरज, धीरे-धीरे तपो ताकि मेरी स्त्री के सिर पर उगा हुआ कुकुम का दूसरा सूरज पिघल नहीं जाये।'

एक मजदूर जब सडक पर मिट्टी कूटता है तो गाता है—'हे धरती माता, अपने हृदय को नरम बना लो, ताकि मेरी प्रिया की पीठ को सहलाने वाली हथेली मे छाले न पड जायें।'

एक स्त्री जब चक्की चलाती है तो उसके स्वर के साथ गीत के स्वर भी फूटती आई है। चक्की चलाने के हर घुमाव के साथ गीत भी मोड लेते हुए अनाज के साथ

रात को भी पीस कर कब दुधिया आटे और दुधिया घूप का ढेर लगा जाते हैं कुछ पता ही नही चलता।

इन गीतो मे समष्टि के दुख-दर्द, हास-उल्लास और यथा को वाणी देने का प्रयास किया गया है। लोक की भाषा मे रचना करके कोई लोक कवि तो कहला सकता है लेकिन उसका गीत लोकगीत का दर्जा नहीं पा सकता। मनुष्य जब तक अपने नाम को लोक गंगा मे विसर्जित नही करता तब तक उसका गीत लोकगीत नही कहलाता।

लोकसाहित्य की दूसरी विशेषता यह रही है कि वह भाषागत भिन्नता लिये होने पर भी भावों की दृष्टि से एक और अभिन्न रहा है। चाहे कन्या गुजरात की हो या राजस्थान की, निमाड की हो या मालवा की बेटी की बिदाई के समय के सारे गीतो में एक जैसा दर्द मिलेगा। इनमे पिता के रोने से गंगा मे बाढ आ जाती है माँ के रोने से धरती तक अंधेरा छा जाता है, भाई के रोने से उसकी धोती पांव तक भीग उठती है लेकिन भौजाई की आँख मे आँसू तक नही आते।

जैसे चिड़िया तिनके से घोसला बुनती है ऐसे लोकभाषाएं सहायक नदी की तरह अपने दोनों कूल किनारो से विपुल शब्द सम्पदा गीत कथाओं कहावतों को लेकर राष्ट्र-भाषा और राष्ट्रीय एकता को सम्पन्न बनाने मे अपना योगदान देती आई हैं।

लोकसाहित्य मे व्यक्ति तब तक नही गाया जाता जब तक कि वह समष्टि की किसी उदात्त कल्पना का मूलाधार न बने। इसमे राम सीता शिव-पार्वती, दशरथ, कौशल्या और नंद यशोदा भी तभी स्थान पाते हैं जब वे अपने देवत्व को भूल मानवीय स्वरूप मे अवतीर्ण होकर मनुष्य के सुख-दुख मे भागी हो उठते हैं। इनमे किसी के भी घर पुत्र जन्म लेने पर बधाई बाबा नन्द के घर ही भेजी जाता है।

हिन्दी साहित्य मे पुनरावृत्ति दोष माना गया है लेकिन लोकसाहित्य मे एक ही पंक्ति को बार बार दोहराने की परम्परा रही है। उसका यह दावा नही कि वह जो कह रहा है वह नया है। वरन् यह दावा है कि वह जो कह रहा है लोक द्वारा सचित, ग्रहित और मान्य रहा है। पंक्तियो को बार-बार दुहराने से गीत को याद रखने मे सुविधा रहती है।

लोकसाहित्य की सबसे बडी विशेषता रही है उसमे असुन्दर, अमंगल के लिये स्थान नहीं होता। उसमे किसी के भी आगत मे चन्दन से चौक पुरे जाते रहे है, वर-वधू को सवा घडे दूध से स्नान कराया जाता है। और हीरे तथा मोतियो के थाल से बधाया जाता है। उसमे मक्खन की पाल से बँधे तालाब होते हैं और रेशम की डोर से बंधे सोने और रूपे के घडो से पानी भरने वाली अनिन्द्य सुन्दरियो का वर्णन पाया जाता है।

मनुष्य ने जो कुछ किया उसका वर्णन तो इतिहास मे आ जाता है लेकिन अपने मनोजगत् मे उसने जो कुछ सोचा विचारा रंगीन कल्पनाएँ बुनी सुन्दर सपने संजोये, उन सब का लेखा जोखा लोकसाहित्य मे सुरक्षित रहा है।

लोकसाहित्य को डाक छाँटने की तरह नये और पुराने खानो से बाँटा नही जा सकता। वह वेद और लोक की तरह अपौरुषेय रहा है। वह समय की सीमा मे बंधा

होकर भी समयातीत होता है। जिस तरह नदी अपने एक हाथ से उद्गम को प्रणाम करती है और दूसरे से समुद्र से जा मिलती है उसी तरह लोकसाहित्य भूत से प्रेरणा लेकर वर्तमान को संवारते हुए, भविष्य में आगे बढ़ने की ऊर्जा प्रदान करता है।

आज लोकसाहित्य के समक्ष जितनी चुनौतियाँ खड़ी हैं उतनी इतिहास में दूर-दूर तक देखने को नहीं मिलती। जिन गाँवों में लोकसंस्कृति का जन्म हुआ, जिन गाँवों ने सब कुछ अपने ऊपर सहकर लोक की जीवन्त रस धारा को सूखने नहीं दिया, वे ही गाँव आज टूटते जा रहे हैं।

लेकिन चुनौतियों के सामने सिर झुकाना लोक का स्वभाव नहीं। वह शून्य में से शक्ति अर्जित करते हुए संघर्ष में से जी जाने की प्रेरणा पाता है।

शोषण जितना गहरा होगा उसके खिलाफ अभिव्यक्ति उतनी ही तीखी होगी। हल की नोक से धरती की छाती पर उभरे ढेलों की तरह यहाँ के जानपद जन के चेहरे पर दुःख-दर्द और विवशता के चिन्ह आसानी से पढ़े जा सकते हैं, भयंकर गर्मी के दिनों में भी मुस्कराने वाले पलाश के फूलों की तरह संघर्ष में से जन्मे यहाँ के लोक साहित्य में समासामयिक चेतना के स्वर अधिक प्रखर होकर उभरे हैं चाहे गीत हो, कथा हो, या कहावतें सभी जगह इस स्वर को सुना जा सकता है।

देखिये एक निमाड़ी लोक कथा में शोषणकारी पूँजीवादी व्यवस्था पर कैसा कस-कर प्रहार किया गया है। कथा जितनी छोटी है उसका वार उतना ही गहरा है। जैसा कि लोक का स्वभाव है उसमें बात प्रतीकात्मक शैली में कही गई है। कथा के बोल हैं—

'न्हार न बकरी ख पूछ्यो
क्यों री बकरी मांस खायेगी ?
बकरी न कह्यो,
म्हारोज बचो जाय तो बहुत।'

अर्थ है—

'शेर ने बकरी से पूछा, क्यों री बकरी, मांस खायेगी?' बकरी ने कहा—'मेरा ही बच जाये तो बहुत।

इसमें शेर बकरी से बात करे और बात भी यह करे कि तू मांस खायेगी और इस पर बकरी का यह जवाब कि मेरा ही बच जाये तो बहुत शोषक और शोषित के सम्बन्धों का कैसा नग्न चित्र प्रस्तुत करता है। इसमें कथा साहित्य की दृष्टि से भी कहानी के तीनों गुण विद्यमान हैं। एक पहली ही पंक्ति में पाठक का मन बाँध लेने की क्षमता, दूसरे उत्सुकता की चरम सीमा तीसरे अनपेक्षित अंत। समूचे कथा साहित्य में यह अपने ढंग की अकेली सबसे छोटी लेकिन सबसे तीखी लघु व्यंग्य कथा है।

निमाड़ का किसान कर्ज में जन्म लेता कर्ज में जीता और कर्ज ही उत्तराधिकार में छोड़कर बिदा लेता है। इसी कर्जदार व्यवस्था पर व्यंग्य करते हुए एक लोककथा है।

'एक बार एक किसान ने एक साहूकार से कर्जा लिया। साहूकार ने **काफी कर्जे**

की वसूली म उसका घर खेत, जयर जानवर धाग और कपड़े सब छीन लिये । उसके शरीर पर सिर्फ एक लगोटी बच गयी । उसने सोचा कि साहूकार इसे भी न छीन ले अतएव वह भागकर एक मदिर म भगवान की मूर्ति के पीछे छिप गया । अधेरा हो चला था । अतएव सर्दी लगने उठता बर उसने भगवान की मूर्ति पर हाथ फेरा तो उसे लगा कि उनके शरीर पर भी कपडे नही हैं । उसका मन भर आया उसने धीरे-से भगवान के कान में पूछा, 'क्यों रे भगवान जी ? क्या तूने भी साहूकार से कर्जा लिया था ? उसने मेरे शरीर पर तो लगोटी छोडी लेकिन तेरे शरीर पर वह भी नहीं है !'

एक कर्जदार की व्यथा और साहूकार के शोषण पर बोलती सी इस व्यंग्य कथा पर काई भी टिप्पणी छोटी है ।

विदेशी हुकूमत के दिनो शासकीय कर्मचारियों के अन्याय को जितना गांव वालों ने सहा और भोगा है उतना शहर वालो ने नहा । विदेशी शासकों से स्वदशी कर्मचारी ज्यादा अन्याय करते थ इसी भाव को व्यक्त करते हुए एक निमाडी कहावत के बोल हैं—

'सूरज सी रेत ज्यादा तपज ।

'याने सूरज से रेत ज्यादा तपती है ।

कैसी सूक्ष्म सटीक अभिव्यक्ति है ।

इसी तरह गांव के आदमी का जमीन से रिश्ता होने के कारण जमीन से सम्बन्धित रेवेन्यू अधिकारियो ने वसूली में सिलसिले मे उन्हे इतना अधिक सताया कि मानवता के मूलभूत सिद्धान्तों को भी भुला दिया । दो सौ वर्षों की इसी व्यथा को व्यक्त करते हुए एक निमाडी कहावत के बोल हैं—

तू आवमी छ की तसिलदार

मानो जो तहसीलदार होता है वह इस देश और धरती के मालिक किसान के प्रति अपने व्यवहार म आदमी रह ही नहा जाता । इसी तरह जब किसी गरीब के घर पर बडा आदमी कब्जा कर लेता है तो वह ऐसे प्रतीत होता है मानो—

उघई का बावलसा म भुजग ।

याने 'दीमक के बने-बनाये बमाठे म साँप घुस गया हो । न तो उसे निकाला जा सकता है और न उससे लडाई सी जा सकती है ।

इसी तरह गरीबा क शोषण पर एक सबसे मजेदार तीखी कहावत सुनिये । इसमे देवताओं को भी बक्शा नही गया है । कहा है —

गरीब का छोरा ख सरग पर बिगार ।'

याने 'गरीब के लडके से स्वर्ग म भी बेगार ही ली जाती है । आखिर देवताओं को पानी पिलाने का काम कौन करेगा ?

आजादी के जनक ग्राम स्वराज्य के मसीहा गांधी की चर्चा के बिना सम सामयिक लोकसाहित्य की चर्चा अधूरी मानी जायेगी । सुदूर रामायण काल के लोकगीतो मे यदि गन्ने के खेत मे काम करने वाली स्त्रियों के मुख से महाराजा रघु की लोकप्रियता के गीत

गूंजते थे तो आधुनिक युग के लोकगीतों में गांधी का यशोगान सुना जा सकता है। सदियों से शोषित, पीड़ित और उपेक्षित ग्रामीण जनता के सामने जब गांधी का नाम आया तो उसने उसका उगते सूरज की पहली किरण की तरह स्वागत किया और उसे धरती के सूखे होंठों की प्यास बुझाने वाली, वर्षा की पहली बूंद की तरह प्यार किया। गांधी का नाम एक सहारा था—उस गरीब आदमी के लिए अच्छे दिन आने का। वह प्रतीक था लम्बे अरसे से भोगी जानेवाली मुसीबतों से मुक्ति का। वह आश्वासन था ईमानदारी से कमाई गई रोटी पर कमाने वाले के अधिकार का। इसी से यहाँ के लोकगीतों में गांधी की कल्पना मन्द-मन्द बहने वाली बयार से नहीं वरन् आजादी की प्रचंड आंधी से करते हुए कहा गया है—

'ई खोटी पसो नी खरी चाँदी आय।
ई हवा अधोक नी गांधी आय॥
ई आसमानी बादला, नी सत्याग्रही
की टोलई आय।
ई तो गरीबन का लेण
फलायेल गांधी बाबा की झोलई आय।
ई मारन की नहिं मरण की बात करज
ये काज सो येठ अंगरेज भी डरज।

अर्थ है—

'यह खोटा पैसा नहीं खरी चाँदी है। यह हवा आंधी नहीं गांधी है। यह आसमानी बादल नहीं सत्याग्रहियों की टोली है। यह गरीबों के लिए फैलाई गई गांधी बाबा की झोली है। यह मारने की नहीं मरने की बात करता है इसी से अंग्रेज भी डरता है।'

किसान चाहे निमाड़ का हो या बघेलखंड का सबको गरीबी एक जैसी सालती आई है। डॉ० भगवतीप्रसाद शुक्ल ने बघेली लोकसाहित्य में इस व्यथा की चर्चा करते हुए लिखा है—

'स्वराज्य हो जाने के बाद जिन सुख स्वप्नों में लोक मानस खोया हुआ था, जिन आशा-आकांक्षाओं में डूबा हुआ था, उनकी पूर्ति जब नहीं हो सकी, सत्ता और सम्पत्ति पर जब मुट्ठी भर लोगों का अधिकार हो गया और अधिकांश लोग उसमें वंचित होकर दुःख और यातना का जीवन बिताने लगे, तब उस व्यथा को बाँधते एक बघेली लोकगीत के स्वर उठते हैं—

'सबके घरे माँ दियना बरत हुये,
मोरे घर अंधियार
सबके घरे माँ चूल्हा बरत है,
हमरे घर माँ भुखियाक राज

कसे चलई जियरा हम्हार
की हरी लेत ऊँ भुखिया हम्हार हो रामा।'

सबके घर म दिया जल रहा है लेकिन मेरे घर मे अधेरा छाया है।
सबके घर मे चूल्हा जल रहा है, लेकिन मेरे घर म भूख का राज है।
हमारा जीवन कैसे चले—हे भगवान्, हमारी भूख को तो हर लवो।

इसी तरह श्रीचंद जैन ने एक बुदेली किसान की कथा को व्यक्त करते हुए लिखा है। देखिये, एक बुदेली लोकगीत के माध्यम से उसकी पीडा कितनी सजीव होकर उतरी है, गीत के बोल हैं —

'लहँगा बिक गओ लुगरा बिक गओ।
बिक गई अगिया तन की।
राजा के बाँधन की सला बिक गई
फजिहत हो गई घर घर की।

गरीबी के कारण लहँगा भी बिक गया, साडी भी बिक गई और तन की अगिया भी बिक गई।

अरे मेरे प्रियतम को बाँधने की जो स्नेह की डोर थी वह भी बिक गई। हे भगवान् गरीबी से तो घर-घर की आफत हो गई है।

श्री माखनलाल गुप्त ने छत्तीसगढ़ी लोकसाहित्य मे आम आदमी की व्यथा को व्यक्त करते हुए एक गीत प्रस्तुत किया है —

'पीपर के पान डोलत नइये,
मोर मन के बोलइया बोलत नइये।

अर्थ है—

'जिस तरह पीपल का पत्ता हिल-डुल नहीं रहा है उसी तरह मेरे मन के अनुरूप बोलने वाला बोल नहीं रहा है।' मन का यह न बोलना अपने आप म कितनी बडी बात बोल जाता है।

आज के खर्चीले चुनावी तत्र ने किस तरह आदमी को बहुरूपिया भिखारी बना दिया है। इस तरह तीखा व्यंग्य करते हुए मालवी लोकसाहित्य के विद्वान् डा० चितामणि उपाध्याय द्वारा प्रस्तुत एक मालवी लोकगीत भी सुनिये। गीत के बोल हैं—

'बीरा थाराकारणे
बोट का भिखारी उभो रे द्वार
एक वोट को माँग दान
बेनड़ी हो रख जे म्हारी मान।

हे भाई, वोट का भिखारी दरवाजे पर खडा है। वह एक वोट का दान माँग रहा है और कह रहा है हे बहन, मेरी इज्जत रख लेना।' अन्त मे एक लोकगीत की महत्ता दर्शाते हुए कहा गया है—

'नाहीं बिरहा कर खेती भइया
नाही बिरहा फरे डार
बिरहा बसेने हिरिदिया मे हो रामा,
जब उमगेले तब गाँय।'

'बिरहा की कोई खेती नही होती, और न बिरहा किसी वृक्ष की डाल म लगता है। बिरहा तो हृदय म बसता है भाई, जब उमंग आये तभी गा लो।'

लेकिन जीवन मे ऐसे क्षण भी आते हैं जब मनुष्य के मन की उमगें दुनियावी कठिनाइयों के नीचे दब सी जाती है—और आदमी गीत के स्वर भूल जाता है। लेकिन इस अवस्था का वणन भी मनुष्य ने गीत के माध्यम स ही किया है। देखिये, एक अहीर गर्वाल का कहना है—

'महँगी के मारे बिरहा बिसरिगा
भूलि गया कजरी कबीर,
देखिके गोरिया के उभरा जोबनवा
उठै ना करेजवा माँ पीर।'

'महगाई के मारे बिरहा भूल गया हूँ। और भूल गया हूँ कजरी तथा कबीर, अब तो गोरी का उभरा हुआ यौवन देखकर भी कलेजे म पीर नहीं उठती।'

और इस छत्तीसगढ़ गोंड युवक की भी बात सुनिये। उसका कहना है —

'मडला बजार मे गुड नहीं मिले रे
करमा गवया का सुर नहीं मिले रे।'

'अर्थात् मडला बाजार मे गुड नही मिल रहा है। इसीलिये करमा गवैया का सुर नहीं मिल रहा है।

लेकिन महगाई और गुड नही मिलने से यदि गवैया के सुर नही मिलते तो अब तक न जाने कब से काव्य का लोप हो गया होता। इस सुर नही मिलने की बात भी लोकसाहित्य के गायक ने सुर मे ही कहा है, यही उसकी सबसे बडी देन है। जब तक आदमी अपने दद को गीत मे कहने की शक्ति रखता है तब तक लोकसाहित्य का लोप नही हो सकता। और वह नये युग मे जनता को नई ऊर्जा प्रदान करते हुए उसका साथ निभाता रहेगा।

★

लोकसाहित्य की अपराजेय भावना



डॉ० कुंवरपाल सिंह

प्राय लोग यह प्रश्न पूछते हैं कि शताब्दियों तक भारत के साधारण जन मुसीबत के पहाड़ के नीचे से कैसे गुजरते रहे ? वह कौन सी अदम्य इच्छा रही है जो बड़े-बड़े तूफानों को झेलने में समर्थ रहा है ? अपने और विराने दोनों ही शासकों से निरन्तर पीड़ित रहने वाले भारतीय जन मानसिक रूप से कभी परास्त नहीं हुए। इसका एक बड़ा कारण है, इनकी लोकसंस्कृति लोकसाहित्य जिसने भारतीय जनता के लिए अंधेरे में सदैव एक नन्हे से दीपक का काम किया है। वे हार कर भी कभी परास्त नहीं हुए तथा गिरकर भी हर बार खड़े हो गए। हर भाषा का लोकसाहित्य इसका साक्षी है। भारतीय लोकसाहित्य और लोकजीवन ने अपने पड़ोसियों को बहुत दिया है और उनसे बहुत लिया भी है। शताब्दियों में इस आदान-प्रदान का यदि इतिहास लिखा जाए तो इसमें हमारा लोकसाहित्य इतिहासकारों को सबसे अधिक सहयोग और मदद कर सकता है। पश्चिमी एशिया और मध्य एशिया की सैकड़ों ऐसी लोककथाएं हैं जो ब्रज और राजस्थानी लोककथाओं से मेल खाती हैं। संस्कृति का आदान प्रदान शासकों के माध्यम से बहुत कम हुआ है। यह व्यापार करने वाले कारवाँओं के माध्यम से अधिक हुआ है। इस भावना को संतों और फकीरों ने जन-जन तक पहुँचाने में बहुत योगदान दिया है। यदि अलग अलग जन भाषाओं के साहित्य का अध्ययन किया जाए तो भारतीय इतिहास उसकी संस्कृति तथा अनेक अनूठी परम्पराओं का पता चलेगा जो हम भारतीय जन जीवन को समझने में सहयोग देंगी।

लोकसाहित्य के अनेक रूप हैं लेकिन सबसे अधिक जीवन्त और लोकप्रिय लोक कथाएं और लोकगीत हैं। लोकसाहित्य के किसी अन्य रूप की अपेक्षा लोकगीत समकालीन परिवर्तनों को अधिक ग्रहण करते हैं क्योंकि लोग अपनी रसात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति इनके माध्यम से अधिक आसानी से कर सकते हैं। सामाजिक परिवर्तनों की पहचान लोकगीतों में हमें स्थान स्थान पर मिल जाती है। वीर पुरुषों की स्मृतियाँ लोकगीतों में समाविष्ट हो जाती हैं। पुराने से आधुनिक विषयों का समावेश हम इनमें सामाजिकता ही नहीं समकालीन राजनीति और आर्थिक स्थिति का भी मार्मिक चित्रण इनकी विशेषता है। आततायी का चित्रण सदैव व्यंग्य के माध्यम से होता है। लार्ड वारेन हेस्टिंग का नाम भारत में लूट मचाने वाले और एक आततायी शासक के रूप में स्मरण किया जाता है। बहुत से प्रसिद्ध इतिहासकार उसे बड़ा कूटनीतिज्ञ तथा सूरमा सिद्ध करते हैं लेकिन हमारे जन मानस की राय इसके विपरीत है—

हाथी पै हौदा घोड़े पै जीन
जल्दी से भाग गए वारेन हैस्टिंग

ब्रिटिश शोषण का एक चित्र देखिए—

बिस्कुट और चाय पीते हैं, करते सैर जहाजन मे
पाँच लाख पायसराय कू मिलते, देखि लेओ अखबारन मे

अपनी दारुण स्थिति बदलने के लिए भारतीय जनता ने सदैव संगठित और असंगठित प्रयास किए हैं। वे परास्त हुए हैं लेकिन उनके मन ने हार कभी नहीं मानी। उनका नारा रहा है 'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।' १८५७ ई० म वे अंग्रेजो के हाथों परास्त हो गए। इस क्रांति म त्याग और बलिदान करने वाले भारतीय किसान हैं। भारतीय सामंत अपने हितों की लड़ाई लड़ रहे थे लेकिन ये किसान देश की लड़ाई लड़ रहे थे। जनता के जिन सेनानायकों ने इस युद्ध म सबसे अधिक बढ़-चढ़कर भाग लिया, वे लोकसाहित्य के अमर नायक बन गए। ऐसे ही अमर नायक आरा के कुंवर सिंह थे। लोकगीतों म उनकी गाथा म उनका स्मरण देखिए—

लिखि लिखि पतिया भेजलन कुंवर सिंह ए सुनु अमर सिंह भाय हो राम।
चामड़ा के टोड़वा दाँत से हो काटे कि छतरी के धरम नसाय हो राम।
बाबू कुंवर सिंह भाई अमर सिंह दोनों अपने हैं भाय हो राम।
बतिया के कारण से बाबू कुंवर सिंह फिरंगी से रेंड बढ़ाए हो राम।
दानापुर से जब राजतक हो कम्पू, कोईलवर में रहे छाय हो राम।
लाख गोला छुटे के गनि ये हो, मारे हो छोड़ परहृखा के राज हो राम।

सन् सत्तावन म जब अंग्रेजो ने वाजिद अलीशाह से अवध की गद्दी छीनकर उसे लखनऊ से निष्कासित कर दिया, तो इस दुःख से अवध की जनता रो उठी। उसका हृदय विदारक चित्रण इस प्रकार हुआ है—

गलियन-गलियन रयत रोवें, हटियन बनिया बजाज रे।
महल मे बैठी बेगम रोय, डहरी पर रोय दवास रे।
मोती महल की बैठक छूटी, छूटी है मीना बाजार रे।
बाग जमनिया की सैरें छूटीं छूटे मुलुक हमार रे।
जो मैं ऐसी जानती मिलत लाट से जाए रे।
हा हा करती पैयां परती, लेती सइयां छुड़ाय रे।

आततायियों के विरुद्ध ऊंचे स्वर म भले ही भारतीय जनता बहुत दिनों तक न बोली हो परन्तु उनके लोकगीतों म यह स्वर बहुत तीखा है। जनता ने किसी भी आततायी को श्रेष्ठ नहीं माना। बल्कि उनका नाम हिकारत से लिया है। ब्रज का एक लोकगीत देखिए—

चढ़ि घोड़े प भाँगि दियौ
भाँगि दियौ भाई भाँगि दियौ

दिल्ली जाए पुकारो है
दिल्ली को है ऊंचो कोट
मार रे भया पहली चोट
चेन्द गई चूल्हा की ओर
फिरंगी पठो कूड में
व सारे थ मूड मे।

इन लोकगीतो म स्वतन्त्रता का स्वागत है, गाधी का आभार है। सुभाषचन्द्र बोस की आजाद हिन्द फौज म त्याग और बलिदानो की गाथा है। बदलती हुई परिस्थितियों के स्वर इन लोकगीतो म हमे निरन्तर मिलते हैं—

गयो फिरंगी राजु काजु गाधी को आयो है
बापू के बल बूते प अब सुराजु पायो है
चली बसाखो खेती मे गहू जो हूंगे।
चना मटर सरसों अरहैर लखि गन चगे हूंगे।

× × ×

आस भाग्न की ओर सुभाष, आजु भारत मे फिरि आओ
आन क अमर देश के प्रान देश भारत अपने आओ
आजादी को दीवानो ज्वानन ते बोल्यो।
करो क मरो, टेक ये हो प्रान बलिदान आन ये हो।
सुखी आजाद हिन्द जीव अमर होइ अमृतरस पीव।

सुराज से जनता को बडी आशाए था। लोग समझते थ कि सुराज म उनके सब दुख-दर्द अन्याय, शोषण दूर हो जाएंगे। उनके शताब्दियों के दुख-दद दूर हो जाएंगे। लेकिन वह दुस्वप्न ही सिद्ध हुआ। वह पीडा एक लोकगीत म इस तरह प्रकट हुई है—

जिय राम राजु के बदल
भया राजु बनि गयो रावन को।

नये शासको की कथनी और करनी म जो अन्तर है वह जनता से बहुत दिनो तक नहीं छिपा रहा। कागजो पर कितनी ही योजनाए बनाइये, आकर्षक नारे दीजिये, 'मध्यवग के बुद्धिजीवी तो झांसे मे आ जाते हैं लेकिन जनता नही। कथनी और करनी के इस दुहरेपन पर इस लोकगीत म एक तीखा व्यग्य है—

जाय सतवती मति समक्ष
घर मे सूपनखा घुसि आई है।

किसान शताब्दियो तक भारतीय अर्थ-व्यवस्था का मूलाधार रहा है। उसी के बलबूते पर सामंतों ने दिग्विजय के झडे फहराए, बडे आलीशान महल बनवाये और राजमहलो का निर्माण किया। सैकडो साल आधे पेट रहकर भारत के स्वर्ण युग का

निर्माण किया। नई व्यवस्था ने भी किसान के इस शोषण को कम नहीं किया, बल्कि अपने सकट का बोझ पहले से ही पीडित किसान के कंधे पर डाल दिया। वर्तमान पूजीवादी व्यवस्था अपने अधिक मुनाफे को और बढ़ाने के हित म किसान की पैदावार का उचित मूल्य देने को किसी प्रकार भी तैयार नहीं है। किसान अपनी खीझ के स्वर मे कहता है—तैने बाये कूँ बुवाई बैरिन ईख, मिठाई खाये गये जै हिन्दी।' (जै हिंदी से तात्पर्य काग्रेसियो से है।)

आर्थिक शोषण के विरुद्ध लोकगीतो मे सदैव आक्रोश रहता है। ऊँच-नीच की इस खाई की ओर लोगो का सदैव ध्यान गया है। धार्मिक व्यक्ति उसे भाग्य की देन, पूर्व-जन्म का पाप और भगवान् की मर्जी कहकर लोगो को समझाते रहे हैं। लेकिन इससे किसान की पीडा तो कम नहीं हुई, स्त्रियों का आर्थिक शोषण तथा धनहीन स्त्री की क्या ददशा होती है उसका एक ममस्पर्शी चित्र देखिये—

टूटही मुड़इया बुनिया टपकई रे, के सुधि लेवे हमार।
जेठा छवावइ आपन बगलया, देवरा छवाय चौपार।
हमरा मबिरुवा के ऊ म छवाय जेकर पियवा विदेश।
पियवा जे चलते पुरुब बनिजरिया से केई रे छइहें ना।
मोरा उजडल बगलवा, से केई रे छइहें ना।

किसानों का जीवन निश्छल है। वे स्वय ही जीवित नहीं रहते बल्कि दूसरो की जीविका का भी आधार रहे हैं। वे इतना चाहते हैं कि अपने से अलग दूसरे पीडित व्यक्ति की भी मदद कर सकें। अपनी खुशी और दुख—दोनो ही बाँटने म विश्वास रखते हैं। यही लोकसस्कृति का मूलाधार है—

उठे हो पेरो होय उठे हो सासरो, अपूणों होय न खेत चवे न,
नाडा खेत नजीक जड़े खोलना, इतना दे करतार फेर नहीं बोलना।

युगों से सामती व्यवस्था से पीडित जनता लोकसाहित्य के माध्यम से अपनी व्यथा प्रकट करती रही है। इन लोकगीतों में सामाजिक स्तर पर बदलाव के स्वर दिखाई देते हैं। कुरीतियों अधविश्वासो और पाखण्डों का विरोध लोकसाहित्य में विपुल मात्रा में मिलता है। पढे पुरोहितों का लोकसाहित्य में व्यग्य के साथ नाम लिया जाता है। सामता का मजाक उड़ाया जाता है। अधकार मे भी इस साहित्य म हमे प्रकाश की आस्था मिलती है। लोकसाहित्य ने सबसे अधिक पीडित व्यक्ति को वाणी प्रदान करने का प्रयास किया है। भारतीय समाज मे सबसे अधिक पीडित नारी ही है। वह चारों ओर से दुखिता है—

चांद सुरज तेरे पया लागु, तिरिया जनम मति देय।
जनम-जनम को तिरिया दुखिनी, सासु ननद दुख देय।

सास-ननद का यह शताब्दियों पुराना किस्सा आधुनिक नारी का आज भी पीछा

नहीं छोड़ता। बहुओं को सताने में सास-ननद आज भी सबसे आगे हैं। बहू सास को व्यवहार में तो आज्ञा नहीं दे सकती, लेकिन इस लोकगीत के माध्यम से वह अपने मन की बात प्रकट कर देती है—

ए मालिन तुम गीत गावो, ए मेरी सास
तुम मेरे भाई के लिए पड़ी बनाओ
आरे आरे जागिन मालिन सब कोई गावहु हो
मोरा जियरा मइसवा हुलास बीरन मोर आवेस हो
आरे आरे सासु बड़इतिन करहिया हो
मोरा जियरा हिलोरे, बीरन मोर आवेस हो

नारी की दुर्दशा और दु खो का कोई अन्त नहीं है, उस ताने दिये जाते हैं उसकी मार्मिक मनोदशा का चित्रण इस प्रकार हुआ है—

सासु मोरी कहेली बिसिनियाँ ननद ब्रजवासिनि हो
ललना जिनकी हम नारी के ब्याही ऊहो घर से निकालइन हो।

लड़की की शादी अनजाने परदेश में कर देते हैं। नाई और पुरोहित की इन रिश्तों में प्रमुख भूमिका होती है। ऐसी हजारों लड़कियों की व्यथा और आक्रोश लोकगीतों में करुणा का सागर बनकर हमेशा उमड़ता रहा है—

काहू कू ब्याही विदेश रे सुन बाबुल मोरे
× × ×
क्यों रे नउआ के रे कऊआ
क्यो ब्याही परदेस
कहा करूँ जिजमान की बेटी
करम लिखो परदेस हो।

लोकसाहित्य श्रव्य विधा है। प्राय इसका कोई लिखित रूप नहीं होता है। परिवेश के साथ सामंजस्य उसकी अपनी विशेषता है। जीवन की सभी स्वस्थ परम्पराएँ और सांस्कृतिक परिवेश लोकसाहित्य में समाहित हैं। मनुष्य अपनी इन जटिल परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने का निरंतर प्रयास करता है। इस साहित्य के माध्यम से हम भारतीय जन-जीवन के परिवर्तित रूप तथा उस पर पड़े विभिन्न प्रभावों को आसानी से देख और परख सकते हैं। यद्यपि लोकसाहित्य मौखिक रूप से पीढ़ी-दर पीढ़ी चलता रहता है। इसलिए इसका रूप भी बदलता रहता है। परन्तु इसमें परम्परा का सूत्र कभी लुप्त नहीं होता। जन जीवन की आस्थाएं, संघर्ष, उसका परिवेश प्रेम गाथाएं, लोकजीवन के बन्धे-टुटे अनुभव लौकिक और अलौकिक काय व्यापार, एक सहज संवेदना के साथ एक ऐसे अन्त सूत्र में आबद्ध होते हैं कि वे एक क्षेत्र विशेष के होने पर भी मानव मात्र की सम्पत्ति हैं।

लोकसाहित्य अपने समय की सामाजिक चेतना का यथार्थ प्रतिबिंब होता है। वह युग के अनुरूप अपने में तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रवृत्तियों का समावेश करता चलता है। उसकी यह यथार्थता ही उसे आज भी जीवित रखे हुए है। लोकसाहित्य के अन्तर्गत नौटंकी, लोक नाटकों के अनेक रूप, स्वांग, रास आदि में तत्कालीन स्थितियों पर कठोर व्यंग मिलते हैं। लोकसाहित्य हमारे श्रेष्ठ साहित्य के लिए कच्चे माल की तरह है। पूरा भक्तिकाल लोकसाहित्य का परिनिष्ठित रूप ही है। इसलिए आज भी वह इतना अधिक लोकप्रिय है। खुसरो की वह मुकरियाँ भी लोकसाहित्य के अन्तर्गत आती हैं। भारतेन्दु बाबू की मुकरियाँ भी लोकसाहित्य का एक अंग हैं जिनमें व्यंग्य का सहारा लेकर अंग्रेजी राज, झूठी शान, फैशन-परस्ती, मानसिक गुलामी आदि नवीन विषयों का समावेश कर लिया गया है। हिन्दी-साहित्य ने जहाँ भी लोकसाहित्य का सहारा लिया है, वह जनप्रिय भी हुआ है और श्रेष्ठ भी। हिन्दी का प्रगतिशील साहित्य और नई कविता इसके दो छोर हैं।



छत्तीसगढी कविता सदर्भ और मूल्य



जीवन यदु

प्राचीन भाषाओ मे शब्दो के विश्लेषण से तत्कालीन समाज की सास्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक सामाजिक आदि व्यवस्थाओं का पता चलता है। चूकि भाषा जनता की ऐसी अर्जित सम्पत्ति होती है, जिसके शब्दाजन के पीछे तत्कालीन समाज का इतिहास छुपा होता है वह इतिहास की दीघकालिक यात्रा की जटिल प्रक्रियाओ से गुजर कर सम्पन्न हुई होती है, अत उसमे भी इतिहास की तरह निरन्तरता होती है और परिवतन होते रहते है। ठीक यही बात किसी भी क्षेत्रीय बोली के साथ लागू होती है। चूकि क्षेत्रीय बोली जन सामान्य की बोलचाल की भाषा है अत आपसी व्यवहार म उसकी सम्प्रेषणीयता और उसके शब्दो की अथवत्ता कहीं ज्याद होती है। 'हिन्दी तथा अन्य आर्य भाषाए विद्वानो की शैली विशेष मे उधार लेने वाली भाषाएँ हैं, सामान्य जनता की बोल-चाल मे—क्या मानक भाषाएँ, क्या उनकी जनपदी बोलियाँ शब्द रचना म और शब्दो को नया अर्थ देने मे अपनी अपूर्व क्षमता का परिचय देती हैं।' क्षेत्रीय बोलियो का व्यवहार क्षेत्र भाषा के व्यवहार क्षेत्र से अपेक्षाकृत छोटा होता है। क्षेत्र विशेष की जनता अपनी बोली के माध्यम से अपने इतिहास के साथ ज्यादा आत्मीयता स जुडी होती है और आत्मिक जुडाव के पीछे मुख्यत सास्कृतिक कारण होते हैं। पूर्व काल म जबकि छोटे-बडे युद्धो की सभावना हमेशा बनी रहती थी तब भी जनता के सामने भाषा रक्षा का सवाल, सस्कृति रक्षा के सवाल के साथ जुडा रहता था। आक्रमण चाहे देशी हो या विदेशी जनपदों की भूमि से बधे हुए किसान कुल मिलाकर अपनी भाषा सस्कृति की रक्षा करते हैं। हिन्दी क्षेत्र की जनपदीय भाषाओं के प्रभाव मे कारण मुख्यत सास्कृतिक हैं उसके बाद आर्थिक राजनैतिक।'[2]

अपनी बोली के साथ जनता का आत्मिक और सास्कृतिक जुडाव इतिहास गत होता है। साथ ही बोली की व्यवहार-सीमा मे अदर बेहद मजबूत भी। इन्ही वजहो से क्षेत्रीय भाषाए ऊर्जा सम्पन्न होती हैं, जिनमे, विद्वानो के अनुसार जबरदस्त सृजनशीलता भी होती है। जन सामान्य की बोली की ऊर्जा सम्पन्नता के कारण ही तुलसी जैसे सस्कृत के विद्वान् ने, या और आगे जाए तो बुद्ध, महावीर आदि धम प्रवतकों ने जन भाषा को साहित्य और विचारों के प्रचार-प्रसार का माध्यम बनाया। यह सच है कि 'लोकभाषाओं के स्वरूप का निर्माण जनता ने किया था, लेकिन उन्हे काव्य भाषा का रूप इन्ही कवियों ने दिया।'[3] सन्त कवियो की पूरी परम्परा लोकभाषा को लेकर खडी है।

चूंकि छत्तीसगढ़ी भी क्षेत्रीय भाषा है अत इसमे भी वे सारे गुण हैं जो अन्य लोकभाषाओ म पाये जाते हैं। छत्तीसगढ़ी के रचनाकारों को बेशक इसका लाभ मिल रहा है। 'छत्तीसगढ़ी कविता लिखने की प्रक्रिया सन् १६०४-०५ के आस-पास प्रारम्भ हुई।" यह वह काल था, जब पूरा देश साम्राज्यवादी शिकंजे म जकड़ा हुआ था और जनता म ठेठ सामंती मूल्य जीवन को संचालित कर रहे थे। लेकिन इसके पूर्व से ही लोकगाथाओ और सतवाणियों के रूप मे छत्तीसगढ़ी कविता जनता मे प्रचलित हो चुकी थी। अत. इसम शक नहीं कि 'आधुनिक छत्तीसगढ़ी कविताओं की उत्सभूमि लोकगीत ही है।'

इस तरह हम देखते हैं कि छत्तीसगढ़ी-कविता लेखन म आने से अब तक आठ दशक गुजार चुकी है। किसी बोली भाषा व रचना-ससार के विकास के लिए इतनी अवधि नाकाफी नहीं होती। अत यह जरूरी हो गया है कि उसकी सही और गहरी पड़ताल की जाए और यह देखा जाए कि छत्तीसगढ़ी कविता की समकालीन स्थितियो म उपादेयता क्या है? उपलब्धि क्या है? लम्बे इतिहास के दौर म वह किन स्थितियो से गुजरी है, उन्हें प्रभावित किया है और खुद भी किस हद तक प्रभावित हुई है? साथ ही-साथ इस बात पर भी गौर किया जाय कि उसम कितनी मात्रा म समकालीनता बोध है और वह इतिहास के इस दौर मे कितने अशों मे प्रगतिशील है? कितनी मात्रा और 'कितने अंशों म' कहना—मेरी समझ म—छत्तीसगढ़ी कविता-ससार के प्रति अन्याय नहीं है, वरन् इस कटु सत्य का उद्घाटन है कि रचनाए किसी विचार-धारा को ध्यान म रखकर नहीं रची गई हैं। रचनाकार की भावुकता के दायरे म जो बातें आइ, रचनाओं में शामिल हो गइ। किन्ही किन्हीं रचनाओ मे कवि का 'व्यक्ति' इस कदर हावी हो गया है कि वह जिसकी तरफ बात रख रहा है, उसकी सहज सस्कृति के विरोध मे खड़ा हुआ जान पड़ता है।

कविता, चाहे जिस भाषा या बोली की हो, यदि वह एक लम्बी रचना यात्रा तय कर चुकी है, तो उसके रचना मूल्यो पर बात करते समय, उसे क्षेत्रीय तुला पर न तौलकर राष्ट्रस्तर पर ही रहे कविता-क्रम के सर्वस्वीकृत मानदण्डों पर तौला जाना चाहिए। लेकिन क्षेत्रीय जीवन स्थितियों को भी नजरअंदाज नहीं किया जाना चाहिए। जिस समाज म वह कविता पैदा हुई है, उसे उसके समूचे इतिहास के साथ देखा जाना जरूरी है। क्योंकि 'साहित्य या कलाएँ कोई दैवी विधान अथवा प्रतिभा का विस्फोट न होकर अनेक प्रकार के सघर्षों एवं अंतर्विरोधो से भरे-पूरे तथा उसके माध्यम से विकसित होने वाले सामाजिक जीवन का मूलरूप साबित होती हैं। वे विशुद्ध मानवीय उपलब्धियां हैं, जिन्हें सामाजिक जीवन के साथ अपने दीर्घकालीन साहचर्य और विकास के क्रम म मनुष्य ने अर्जित और विकसित किया है।' इससे साफ जाहिर है कि रचनाकार की सृजनशीलता पर न केवल उसके समाज के वर्तमान का, वरन् उसके इतिहास, राजनीति भूगोल आदि का भी दबाव होता है। ये वे कारक हैं, जिनके साहचर्य से समकालीन समाज की व्यवस्थाएँ तय हुई हैं, जीवन पद्धति निर्धारित हुई है।

भूगोल जड़ नहीं है, उसमें भी परिवर्तन होते रहते हैं। यद्यपि उसके परिवर्तन

की गति बहुत धीमी होती है, तथापि यह मानव जीवन को जबरदस्त प्रभावित करता है। जीवन गति की सहजता में अवरोध उत्पन्न करने वाली शक्तियों को पहले भूगोल की परिवर्तन गति से कुछ अधिक लेना देना नहीं होता था, क्योंकि मानवीय जिजीविषा मनुष्य को परिवर्तित भौगोलिक स्थितियों के अनुकूल ढाल देती थी। भूगोल के अन्दर प्रकृति और मनुष्य के द्वंद्व में एक निरन्तरता होती है। यह द्वंद्व उन इलाकों में और अधिक मुखर होता है, जहां विज्ञान और टेक्नालाजी की पहुँच कम है। विज्ञान और टेक्नालाजी मनुष्य और प्रकृति के द्वंद्व को सरल बनाते हैं। यही कारण है कि शोषक शक्तियाँ विज्ञान और टेक्नालाजी में हस्तक्षेप करती है और उन्हें अपने स्वार्थ में प्रयोग करने की भरसक कोशिश करती हैं।

छत्तीसगढ़ कृषि व्यवस्था से निकल कर विज्ञान और टेक्नालाजी की पहुँच में धीरे धीरे आता जा रहा है जिसमें औद्योगीकरण की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता। शहरों के औद्योगीकरण की शुरुआत हो चुकी है। इससे एक नयी संस्कृति पनप रही है और एक दूसरे-किस्म के अंतर्विरोध सामने आ रहे हैं। लेकिन यही स्थिति सम्पूर्ण छत्तीसगढ़ में नहीं है। आज भी कुछ ऐसे इलाके हैं जहाँ आदमी और प्रकृति का कठिन द्वंद्व उभार पर है। वहाँ आदमी की पहुँच कृषि-व्यवस्था तक भी नहीं हो पाई है। वहाँ की जिंदगी वनोपज पर खड़ी है। यद्यपि वनोपज का एकत्रीकरण अब पहले जैसा सरल नहीं रह गया। वनोपज पर सरकारी अधिकारी और बिचौलियों का कब्जा हो चुका है। यदि वे वन अधिकारियों की आंख बचाकर वनोपज इकट्ठा करते हैं, तो बिचौलिए पानी के मोल खरीद लेते हैं। लेकिन 'हर आदिवासी अब जान गया है कि सारी मुसीबतों की जड़ सरकारी अधिकारी ही है।'[9]

'महुआरी मां जातेन
महुआ बीने ला ओ महुआरी मां
सुते हें गांव भर मुंदरहा के मझनी
निकरे के बेरा हे ठउका।

(नारायणलाल परमार)

इस कविताश में दो बातें सामने आती हैं—एक तो यह कि सारा गांव सोया हुआ है, अतः महुआ बीनने वाले कम होंगे और वे अधिक महुआ बटोर सकेंगे। उनका यह स्वार्थ निश्चित रूप से उनकी परम्परागत अर्थव्यवस्था पर चोट पहुँचाने वालों के कारण पैदा हुआ है। दूसरी बात यह कि गांव सोया हुआ है, जिसमें वे सरकारी नौकर भी सोए हुए हैं, जिनसे उन्हें हमेशा खतरा रहता है। इसके बावजूद छत्तीसगढ़ में कृषक संस्कृति ही प्रमुख है। आज भी छत्तीसगढ़ 'धान का कटोरा' कहा जाता है। प्राचीन कवियों से लेकर समकालीन कवियों तक—सबने कृषि कर्म को रचना परिदृश्य में लाया है—

'हरियर हरियर दिखत हे धान,
चिनउर, बकाती, गुरमटिया अजान,

हरि मरि माना मोर हरि मरि माता
होहो जो खेती ऐसो सोरा माना।'

(स्व० कुंजबिहारी चौबे)

या—'भइया ग किसान हो जा तियार,
मूंड मां पागा, कान मा चोंगी
धर हंसियां मउ डोरी म,
चल-चल ग भइया, लुए ला पसी धान।'

(लक्ष्मण मस्तूरिया)

क्षेत्र के फैलाव (१३४७६ हजार हेक्टेयर क्षेत्र मे फैला यह क्षेत्र राज्य का लगभग ३०.४६ प्रतिशत होता है।'[९]) की दृष्टि से नहर-नालियो का जाल जिस अनुपात मे फैलना था, उतना नहीं फैल पाया है। अत किसानों का एक बड़ा हिस्सा आज भी प्रकृति पर निर्भर है और अनिश्चितता को भुगत रहा है। वह अपने जीवन की अनिश्चितता और विपन्नता को प्राकृतिक कारणो से उत्पन्न मानता है। इसलिए वह आदमी और प्रकृति के ऊपर एक तीसरी सत्ता की कल्पना करता है—

'किसानो के जिनगी तोरे परसादे,
अब तो मोर मालिक पानी बरसादे,
अरझे हुये काँटा मा परान
पानी बिना मरत हुये धान।'

(रमेश अधीर)

आदमी की सहज जीवन गति के खिलाफ जाने वाली शक्तियाँ चाहती हैं कि आदमी और प्रकृति के बीच एक तीसरी सत्ता कायम रहे, ताकि आदमी आर्थिक मामलों को राजनैतिक मामलों से एकदम अलग समझे और उनका शोषण सहजता से हो सके। ऐसे में यदि आदमी भाग्यवादी हो जाता है तो कोई ताज्जुब नहीं। यह, वह जमती मूल्य है, जो पूंजीवादी व्यवस्था मे रूपान्तरित होकर आता है।

शोषक शक्तियों की जबरदस्त घुसपैठ इतिहास और राजनीति मे भी होती है। वे इतिहास की घटनाओं को लोगो के सामने तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करते हैं चरित्रों को बदल देते हैं, ऐतिहासिक मूल्य की पुस्तकों की व्याख्या अपने हित मे करते हैं तथा ऐसे विचारो के प्रचार-प्रसार पर रोक लगा देते हैं, जिनका सम्बन्ध रचनाकार की प्रगतिशील भूमिका से होता है। उदाहरण के तौर पर कबीर का प्रचार-प्रसार बहुत अधिक है, लेकिन कबीर के रहस्यवादी और उलटबासियों का गायन गाँवों मे भजन-मंडलियो द्वारा ज्यादा किया जाता है, उन पदों का नहीं, जिनके द्वारा कबीर ने अपने जमाने की विसंगतियों पर प्रहार किया था। यदि हम इसके पीछे छुपे कारणों की तलाश करें तो राजसत्तीय व्यवस्था के मूल-चरित्र तक पहुँच जाएँगे, जो यथास्थितिवाद को मुखालफत मे भी हिलाने की इजाजत नहीं देता। वह जानता है कि किस तरह साहित्य लोगों के संस्कार में घुसता है। इस तरह इतिहास अपनी सारी

को विरासत में मिलता है। साहित्यिक जीवन का यह सनातन सत्य नहीं, पुराना है जो इस पूंजीवादी व्यवस्था में दिन ब दिन सशक्त होता जा रहा है।

छत्तीसगढ़ में अनेक राजवंश यथा नागवंशी, पाण्डुवंश, सोमवंशी, कलचुरी राजवंश, गोंड राजाओं, मराठे और अंग्रेजों आदि ने शासन किया है। राजतंत्र व्यवस्था में शासक और शासित का सम्बन्ध क्या रहा? — यह अब छुपा नहीं है। फिर भी कुछ अतिउत्साही रचनाकार राजाओं की उदारता (दानशीलता के कारण), धार्मिक उदार (मंदिर, मठ निर्माण करने के कारण) और उत्तरोत्तर स्वर्णयुग का सूत्रधार कहते नहीं थकते। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि जन समाज अपने स्वर्णकाल को भूतकाल में खोजता है और वर्तमान से उसकी तुलना कर निराशा से भर उठता है। वह सोचता है कि दिन-ब-दिन बुरा जमाना आता जा रहा है। सच तो यह है कि 'उच्च वर्गों के लिए इतिहास के सभी युग स्वर्णयुग हो रहे हैं लेकिन आम जनता के लिए वे कभी स्वर्ण युग नहीं रहे। जनता का वास्तविक स्वर्ण-युग अतीत के गर्भ में नहीं, भविष्य के गर्भ में निहित है। इस स्वर्णयुग की कल्पना ने छत्तीसगढ़ के रचनाकारों-इतिहासकारों को भी प्रभावित किया है। पाण्डुवंश के हर्षगुप्त के पुत्र शिवगुप्त बालार्जुन का राज्यकाल छत्तीसगढ़ का स्वर्णयुग कहा जा सकता है।" इस स्वर्णयुग का कारण है कि — राजा निर्माण के पक्ष मठ, विहार-मन्दिर, मूर्तियाँ, शिलालेख आदि—बराबर करवाता रहता था।" "इसी तरह कलचुरि जैन और बौद्धयुग छत्तीसगढ़ के स्वर्णयुग के समान रहे।" "या रतनपुरी राजाओं का शासनकाल सुख समृद्धि और उन्नति का काल था। इसे छत्तीसगढ़ के इतिहास का स्वर्णयुग कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। रतनपुर के वैभव से ऐसा अनुमान होता है कि प्रजा सुखी थी।"

राजतन्त्र में राजाओं के वैभव से जन सामान्य की स्थिति का पता नहीं लगाया जा सकता। यह सच है कि तब मठ विहार मन्दिर और महलों का निर्माण हुआ था। आज भी पूंजीपति वर्ग अपने आलीशान महल और बड़े बड़े मठ मन्दिर-आश्रम आदि बनवा रहे हैं लेकिन इसे भारत का स्वर्णयुग कहना समकालीन यथार्थ को झुठलाना ही कहा जाएगा।

स्वर्णयुग की स्मृति में रचनाकार अतीत का गौरवगान प्रारम्भ करता है और धीरे धीरे पुनरुत्थानवाद के कीटाणु संस्कृति में प्रवेश कर जाते हैं—

नाप नाप काठा मां हथिया
बेहर देवत रहिन गौंटिया
कभू नहीं स्टाम लिखाइन लिहिन गवाही जोर।
ये हमर देस छत्तीसगढ़ आगू रहिस जगत सिरमौर।
(स्व० शुकलालप्रसाद पाण्डे)

या— 'जाग गौंटिया ला दुरथें
तरे मा मइया नून लगायें,

घरही थाघ नेवरिया मन ला,
मुरता करहीं फेर जुन्ना ला।'
(गुरमाल साय यसारी)

सामंतीयुग की ग्राम व्यवस्था मे 'गौंटिया' की भूमिका उज्ज्वल नही कहा जा सकती। वह भी शोषक-समाज का एक सदस्य था। मराठों के जमाने में 'गांव व अधिकारी 'गौंटिया' ज्यों के त्यों बने रहे और मालगुजार भी कहलाने लगे। किसानों से लगान वसूली की पहली और दूसरी किश्त की रकम निश्चित कर दी जाती थी, पर तीसरी किश्त की रकम अनिश्चित रहती थी, जिसमें 'कमाविसदारों को तीसरी किश्त म मनमानी वसूल करने का सुभीता रहता था।''[१] वे किसानो स बगार लेते और तरह-तरह के अत्याचार करते थे। 'अंग्रेजी राज म गौंटियों (जमीदारों) का राजा स सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया और मालगुजारी प्रथा प्रारम्भ हुई।''[१४] मालगुजारी वसूलते वक्त मालगुजार जिन हथकण्डों का इस्तेमाल करता था, वे मानवीय दृष्टि से जायज नहीं कहे जा सकते। फिर भी हम 'गौंटियों का जयगान करें तो हमारी रचनाशीलता पर प्रश्न लगेगा ही। अपने अतीत पर गर्व करना कोई बुरी बात नहीं है लेकिन यह गर्व इतिहास की समझ के साथ होना चाहिए। अन्यथा इसके विनाशक परिणामों से बचा नही जा सकता।''[१५]

अंग्रेजी शासन-काल म 'साम्राज्यवादी इतिहास लेखन की तीखी प्रतिक्रिया उग्र राष्ट्रवाद के रूप में हुई। सन् १९१६ से १९२५ तक के राष्ट्रवादी आन्दोलनों के समय पुनरुत्थानवाद से सम्बन्धित शोध लिखे गए, जिनम हिन्दुओं के अतीत का गौरवगान किया गया।''[१६] इन आन्दोलनों का क्षेत्रीय इतिहास-लेखन और साहित्य सृजन पर भी जबरदस्त प्रभाव पड़ा और आज भी वह हवा बेअसर नहीं हुई है। इतिहास साहित्य को बहुत लम्बी दूरी तक प्रभावित रखता है। राम, कृष्ण, मोरध्वज जैसे पौराणिक पात्रों को खुद की जमीन से जोड कर लेखन की ललक बहुत से इतिहासकारों और साहित्यकारों में आज भी दिखाई देती है—

'इहाँ रिहिन मोरध्वज दानी
सुत - सिर चिरिन राजारानी।
(स्व० शुकलालप्रसाद पाण्डे)

'सुग्घर सब ले छत्तीसगढ़,
कौशल्या माता के घर,
ओकर सुमिरन कर परनाम
जनम लिहें त राजा राम।'
(हरि ठाकुर)

अतीत मोह से प्रेरित होकर कभी-कभी रचनाकारों ने ऐतिहासिक पात्रों के चरित्र को मिथकीय मोड़ भी दिया है। दन्त कथाओं की चामत्कारिक घटनाओं को सीधे-सीधे

कविता मे उतार देना भी उनकी अतीत प्रियता की ओर इंगित करता है—

'रतनदेव के हाथ के बीया बिन आगी के बर जाय,
उही रतनपुर मोख म मइया, हीरा-मोती बाँटय।'
(डॉ० महेन्द्र कश्यप राही)

यह सुखद बात है कि सम्प्रदाय की दुर्गंध अभी इस क्षेत्र मे नहीं फैली है, फिर भी हमें देखना है कि इतिहास किस तरह साम्प्रदायिक हो सकता है। क्योंकि वह साहित्य मे घुसकर कभी भी खतरनाक हो सकता है। धर्म आदमी की बेहद कमजोर नस है, जिसके दबते ही आदमी हिंसक हो जाता है। इस क्षेत्र मे शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन, बौद्ध, कबीर और सतनामी आदि मतों-पंथों का प्रचार प्रसार हुआ था। इसका कारण—'मुस्लिम शासन यहाँ कभी नहीं हुआ धर्म की पूरी स्वतन्त्रता मिलती रही और मुस्लिम संस्कृति का कोई प्रभाव नही पड़ा'[८]—कहना जायज नहीं लगता। क्योंकि शासकों ने यदि साम्प्रदायिक-सद्भावना का व्यवहार किया तो इसके पीछे तत्कालीन परिस्थितियों म निश्चित तौर पर राजनीतिक और आर्थिक कारण हो सकते हैं। शासक के मुस्लिम या ग़ैर मुस्लिम (अथवा अन्य धर्मावलंबी) होने से सामान्य जनता के बीच की सद्भावना प्रभावित नहीं होती। क्योंकि 'मुस्लिम शासित मध्यकाल म साम्प्रदायिक सद्भावना—सामती उच्चवर्ग के स्वार्थानुकूल प्रेरित धार्मिक विद्वेष के बावजूद बनी रही मुस्लिम शासको के दरबारों मे उत्तरोत्तर हिन्दू सामतो का प्रतिशत बढ़ता ही गया।'[९] सच तो यह है कि राजनैतिक स्वार्थ के आगे धर्म की कोई अहमियत नहा होती। वह स्वार्थसिद्धि का जरिया बन जाता है। छत्तीसगढ़ की धार्मिक विचारधारा पर अनेक मत मतान्तरों का प्रभाव आज भी दिखाई देता है। यहाँ की जनता ने लोकप्रवृत्ति की अनुकूलता मे उन मत मतान्तरों को ग्रहण किया है।

मुस्लिम आक्रमणकारियों (अन्य आक्रमणकारियों से भी) से इस देश की जनता दहशत अगेज और सत्रस्त अवश्य हुई थी लेकिन जिन राजवंशों ने इस क्षेत्र म शासन किया, उनसे दिली-उदारता की उम्मीद कैसे की जा सकती है—राजतत्रीय व्यवस्था के चरित्र का खुलासा हो जाने के बाद? विशेषकर भोंसलो का युग जन सामान्य के हित में कभी नहीं रहा। 'मराठा शासन ने भी आरण्यवासियों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। लूटपाट मे उनकी अधिक दिलचस्पी थी।'[१०] बिम्बा जी भोंसले के शासनकाल मे इस क्षेत्र मे इस तरह कुशासन व्याप्त हुआ कि भोंसले का अर्थ ही छत्तीसगढ़ी म अराजकता हो गया। मराठा शासनकाल म 'मनमाने कर लगाये गए। जनता त्रस्त हो गई। नारी खुले बाजार म नीलाम होने लगी। फलस्वरूप परिवार मे नारी का स्थान नगण्य हो गया।'[११] नारियों की हीनदशा और उनकी पीड़ा के चित्र हमे नारी लोकगीतों म देखने को मिलते हैं। अत यह कहना जायज नहीं लगता कि छत्तीसगढ़ के पिछड़ेपन का कारण 'गोंड और अंग्रेजी राज्य उत्तरदायी हैं।'[१२] शासक और शासित के बत सम्बन्धों को ध्यान म रखते हुए इतिहास के इस लम्बे दौर मे छत्तीसगढ़ के पिछड़ेपन का कारण एक दो राजवंशों या शासकों के शासनकाल मे नहीं तलाशा जा सकता। इसे इतिहास के पूरे दौर में देखा

जाना चाहिए। चूंकि छत्तीसगढ़ के राजवंशों के चरित्र विश्व के तमाम राजवंशों से एकदम अलग नहीं हो सकते। साथ ही, आजाद भारत में इस क्षेत्र की सारी स्थितियों परिस्थितियों पर भी नजर डाली जानी चाहिये।

शैक्षिक पिछड़ेपन के कारण अंधविश्वास की जड़ें यहाँ काफी गहरी हैं। 'टोना टम्बर की बहुत सी बातें और कुम्भी पाटिया सरीखी जमातों का आज भी मौजूद रहना यह सिद्ध कर देता है कि छत्तीसगढ़ बौद्धों की वज्रयानी परम्परा को भी अभी किसी न किसी रूप में अपनाए हुए ही है।'[31] गाँवों में और किसी हद तक शहरों में भी टोने टोटके और जादू मंतर जारी हैं। यद्यपि विज्ञान के प्रचार प्रसार के कारण पहले से बहुत कम हो चुके हैं। अभी छत्तीसगढ़ बाबाओं और योगिनी माताओं के जाल में जकड़ा है। इसका कारण न केवल अशिक्षा, वरन् आर्थिक निराशा भी है। गाँवों में आज भी ऐसे लोग मिल जाएँगे, जो हैजे और चेचक जैसी बीमारियों को 'टोनहियों' की करामात कहते हैं।

अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीतियों को इस क्षेत्र ने भी देश के दूसरे हिस्सों की तरह भुगता है। उनके पूँजीवादी शोषण के तरीकों से सन्त्रस्त हुआ है। 'अपने देश में सभ्य और शिष्ट रूप में प्रकट होने वाली पूँजीवादी सभ्यता जब उपनिवेशों में जाती है तो उसकी भयंकर धूर्तता और स्वभावगत बर्बरता हमारी आँखों के सामने बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। क्योंकि वह वहाँ अपने नग्न रूप में प्रकट हो जाती है।'[32] अंग्रेजों ने भी क्रूरतम तरीकों का इस्तेमाल किया—लेकिन पूरी धूर्तता के साथ। पहले विश्व का सारा सोना हमारे देश में जमा हो रहा था, वही बाद में इग्लैण्ड का खजाना भरने लगा। अंग्रेजों की पूंजीवादी नीतियों ने देश के पूर्व-प्रचलित आर्थिक आधारों को अपने हित में तोड़ा मरोड़ा। इससे दस्तकार और किसान दिन-ब दिन टूटते चले गए—

'अजो, अंग्रेज ! तयँ हर हमला बनाए कगला।
सात समुंदर बिलायेत ले आ के,
हमला बना दे भिखारी जी।
हमला मढाए तय बँदरा बरोबर
बन गए तयँ हर मदारी जी।
चोप-चोप के तयँ हमर धेथी के माँस ला
अपन घर तयँ हर देखाए बँगला।
(स्व० कुंजबिहारी चौबे)

फलस्वरूप जन सामान्य के मन में अपने शासक के प्रति घृणा पैदा हो गई। अंग्रेज जनता की दृष्टि में आदमखोर से कम नहीं थे—

'रहे समुन्दर के पार, करे सोरा सिंगार
धरे एटमी हथियार, करे दुनिया बिहार
मेकर मानुस के अहार, हवे सोना के अपार।
(केयूर भूषण)

ऊपरांकित कविताओं से साफ जाहिर है कि रचनाकारों की नजरों में देश की गिरती आर्थिक स्थिति का कारण स्पष्ट था। अंग्रेजों की पूंजीवादी शोषण नीति की तीखी प्रतिक्रिया के रूप में सन् १८५७ का महाविद्रोह हुआ। छत्तीसगढ़ में अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह की शुरुआत सन् १८३३ में ही हो चुकी थी। सन् १८३३ में रायगढ़ नरेश जुझार सिंह के पुत्र देवनाथ सिंह ने अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह किया था।[१५] राष्ट्रस्तर पर होने वाले महाविद्रोह में छत्तीसगढ़ के राजाओं और जमींदारों ने भी हिस्सा लिया था। 'छत्तीसगढ़' में ये सुराजी आन्दोलन के मोर्चा ल सम्बलपुर के सुरेन्द्र साय सोनाखान के नारायण सिंह अउ रायपुर के ठाकुर हनुमानसिंह सम्हाले रिहिस।[१६] रायपुर, सबलपुर, सरगुजा, सोनाखान आदि स्थानों में अंग्रेजी फौज के विरुद्ध सशस्त्र क्रान्ति हुई थी—

छत्तीसगढ भी ठोंकिस ताल अठरा सौ सन्तावन साल।
गरजिस वीर नारायण सिंह, भेटिस सबे फिरंगी चिन्ह।
(हरि ठाकुर)

'अपन जम्मो धन बाँट के, वीर नारायण कहे ललकार।
सेवा भाव के ढोंग मढ़ा के अंग्रेज होगिन हे मक्कार।'
(डॉ० दशरथलाल निषाद)

पहले ही कहा जा चुका है कि इतिहास काफी दूर तक साहित्य पर हावी होता है, लेकिन 'इतिहासकार का उद्देश्य इतिहास का फोटोग्राफ ही सामने रखना मात्र नहीं होता, वरन् उसके सुन्दरतम एवं जीवनोपयोगी चित्र की अपेक्षा इतिहास से की जाती है।'[१७] यह बात साहित्य के सम्बन्ध में और ज्यादा जरूरी होती है।

राजाओं और जमींदारों के विद्रोह के पीछे अपने सिंहासन की रक्षा की भावना भी किसी हद तक काम कर रही थी। लेकिन फौजी और गैर फौजी किसान अंग्रेजों की उस आर्थिक नीति के खिलाफ लड़ रहे थे जिसने उनकी वर्षों से चली आ रही आर्थिक व्यवस्था को शोषक वर्ग के स्वार्थ में तोड़कर रख दिया था और शोषण का नया सिल-सिला शुरु कर दिया था। जिसे कुछ लोगों ने सामाजिक क्रांति भी कहा है। अंग्रेजों की इस तथाकथित सामाजिक क्रांति ने 'गावों के आर्थिक जीवन का संतुलन भी नष्ट कर दिया। इससे खेती के लिए छीना झपटी होने लगी और जो आज दिन तक बराबर बढ़ती ही गई है। इसके साथ ही काश्तकारों से बड़ी बेरहमी के साथ ज्यादा से ज्यादा मालगुजारी वसूल की जाने लगी। लेकिन बदले में खेती और सिंचाई वगैरह की बढ़ती के लिए कुछ भी नहीं किया गया। इसका नतीजा यह हुआ कि खेती का विकास रुक गया। १८५०-५१ में राज्य की आमदनी का केवल ०.८ प्रतिशत सार्वजनिक निर्माण कार्य पर खर्च किया गया था।'[१८]

क्रांति अनेक कारणों से असफल हुई। किसानों और दस्तकारों का वह सपना पूरा नहीं हो सका जिसे वे अंग्रेजों का शोषण-नीति के बदले चाहते थे। अंग्रेजों ने भारतवासियों की एकता का कारण तलाशना शुरू किया, जिससे '१८५७ के महाविद्रोह के बाद ब्रिटिश कूटनीति में नया मोड़ आया। अब नारा बन गया—बाँटो और राज

करो, इस नारे की जड़ में हिन्दू मुसलमान जनता की एकता को तोड़ना था।'[१] और इस नीति के तहत साम्प्रदायिकता के बीज बोये गये। अंग्रेजों ने कभी हिन्दुओं की पीठ ठोंकी तो कभी मुसलमानों की। संस्कृति रक्षा में हथियारबन्द हुए लोगों ने कभी नहीं माना कि 'अब इस संसार में केवल एक संस्कृति है, और वह है आर्थिक संस्कृति।[३०] साम्प्रदायिकता को लेकर देश के विभिन्न क्षेत्रों में जबरदस्त हिंसक घटनाएं घटीं। लेकिन तब भी इस क्षेत्र में हिन्दू-मुसलमानों के बीच छुट-पुट घटनायें भले घटी हों, उसने दंगे का रूप कभी नहीं लिया। यहाँ तक कि देश विभाजन के समय भी साम्प्रदायिकता का उग्र और अमानवीय रूप सामने नहीं आया।

१८५७ के महाविद्रोह के बाद देश की सत्ता ब्रिटिश सिंहासन के अधीन हो गई। विक्टोरिया ने अपना घोषणा पत्र जारी कर दिया।

देश के राजनैतिक मंच पर गांधीजी का पदार्पण इस रूप में विशिष्ट घटना माना जाता है कि उन्होंने देशवासियों के एक बहुत बड़े हिस्से को अपना नेतृत्व दिया था यद्यपि गांधीजी बुर्जुआ नेता और देशी पूंजीपतियों के हिमायती थे, तथापि उनका प्रभाव-क्षेत्र विस्तृत था। इसका कारण उनके व्यक्तिगत महात्मापन के साथ उच्चवर्ग और उच्चवर्ण का राजनैतिक सहयोग भी था, जो जन-साधारण के बीच उनके संतत्व के प्रभामंडल का प्रचार करते थे। आज भी गांवों में कुछ ऐसे बुजुर्ग मिल जाते हैं, जो यह कहते हैं कि गांधीजी जेल में बंद होने के बाद भी अपने संतत्व के जोर पर बाहर दिखाई देते थे। 'नरमदली नेताओं को यह एक ऐसा मसीहा मिला था जो अपने व्यक्तिगत महात्मापन और त्याग से जनता के हृदय कपाट खोल देता था, जहाँ से कि नरमदली पूंजीवादी नेता सिर पटक-पटक कर लौट आते थे। और वह एक ऐसा नेता था, जिसकी रहनुमाई स्वीकार करने पर हर जन-आंदोलन के ठप्प हो जाने की गारंटी हो जाती थी। क्रांति की नैया को हर बार मझधार में डुबोने वाला यह खेवनहार, मानो पूंजीपति वर्ग के लिए शुभ घड़ी लाने वाला ताबीज बन गया था, जिसे वह संघर्ष की हर बड़ी लहर के उठने पर पहन लेता था।'[११]

१८५७ की क्रांति के असफल होने के बाद भी, छत्तीसगढ़ में अन्य क्षेत्रों की तरह, अंग्रेजों के विरोध में आवाजें उठ रही थीं। यहाँ भी गांधीजी का जबरदस्त प्रभाव था—

'देवता बन के आये गांधी देवता बन के आये
अड़बड़ अटपट काम करे तयें घर घर अलख जगाये
तोर करनी ला कतेक बताओं सक्को नइ हे मारी,
देस बिदेस गांव-गांव मा सोरच । जारी।

(स्व० द्वारकाप्रसाद तिवारी विप्र)

गांधीजी के प्रभाव से उनकी बकरी भी सम्मानित हुई—

'गांधीजी के छेरी भइया, मं मं कहि नरियाय रे
ओकर दूध पिये से भइया, बुढ़वा जवान हो जाय रे।'

(स्व० कोदूराम दलित)

अनेक बार महात्मा गांधी ने छत्तीसगढ़ की यात्रा की। इससे फलस्वरूप यहाँ के जन-जीवन में नव चेतना का उदय हुआ। इसकी पर्याप्त झलक हम पुरुष लोकगीतों में पाते हैं।[11] यही वजह है कि छत्तीसगढ़ में गांधीवादी-राष्ट्रवादी विचारों का पर्याप्त प्रचार हुआ। छत्तीसगढ़ में जन-जागरण में प० माधवराव सप्रे की पत्रिका 'हिन्दी केसरी' की विशिष्ट भूमिका थी, जो सन् १९०७ से निकलने लगी थी। इसी तरह 'बीसवीं शताब्दी में यहाँ आदिवासी अंचल जागृति के दृष्टि से प० माधवराव सप्रे के 'छत्तीसगढ़ मित्र' के सन् १९१० से शुरू होइस।'[11] गांधीजी की दांडी यात्रा का प्रभाव पूरे देश पर पड़ा। '८ अप्रेल १९३० को रायपुर में नमक बना और उसे बेंचकर नमक कानून तोड़ा गया।'[1] राष्ट्रवादी विचारों और राष्ट्रीय आंदोलनों के फलस्वरूप जन सामान्य में आजादी की चिंता गहराती गई और उसने निर्णय लिया—

'जइसन हमला पोसे पाले, वइसन आवो एक दिन काम।
बंधन से मुक्ता के तुम ला, करबो कोटि बार परनाम।'

(पुरुषोत्तम लाल)

दूसरी गोलमेज सभा की असफलता के बाद सन् १९३२ में सरकार ने दमन नीति का सहारा लिया। गांधीजी अन्य नेताओं के साथ बंदी बना लिए गये। तब 'रायपुर में भी खूब लाठियाँ चली और गिरफ्तारियाँ तो पूरे छत्तीसगढ़ में हुइ।'[1] 'भारत छोड़ो आंदोलन में भी इस क्षेत्र की जनता ने हिस्सेदारी निभाई और गिरफ्तारियाँ दीं। ९ अगस्त १९४२ को रायपुर में 'तात्यापारा चौक और ककाली अस्पताल चौक के बीच जुलूस का नेतृत्व कर रहे प० रामानंद दुबे, बाबू हरिसिंह दरबार, पं० विजयशंकर दीक्षित, माणिकलाल चतुर्वेदी, गिरजाशंकर मिश्र, पं० भगवतीचरण शुक्ल, रामगोपाल भारतीय शालिगराम शुक्ल को गिरफ्तार कर लिया गया। कांग्रेस भवन में सरकार ने ताला डाल रखा था और वहाँ पुलिस का तगड़ा पहरा था। सभा की कार्यवाही शुरू हुई। डा० त्रैतानाथ ने सभा की अध्यक्षता की। जो भी बोलने आता, पुलिस उसे गिरफ्तार कर लेती। तीन घंटे के भीतर ७३ लोगों को पुलिस ने गिरफ्तार किया। उस दिन गिरफ्तार होनेवालों में महादेवप्रसाद पाण्डेय तथा पंकजलाल तिवारी भी थे, जिनकी आयु मात्र १४ वर्ष की थी। उसके बाद तो प्रतिदिन तीन माह तक लगातार गिरफ्तारियों का सिलसिला जारी रहा।'[1] तात्पर्य यह है कि सन् १९४७ तक यह क्षेत्र भी देश के दूसरे हिस्सों की तरह आंदोलित होता रहा।

गांधीवादी विचारों के प्रचार-प्रसार के बावजूद कुछ कवियों में साम्यवादी विचारों का असर दिखाई देता है। चूंकि सन् १९३४ तक अनेक यूनियनें कम्युनिस्ट पार्टी के असर में आ गई थीं और साम्राज्यवादी सरकार काफी चिन्तित हो गई थी। 'कांग्रेस के सन् १९३६ में हुए लखनऊ अधिवेशन में जवाहरलाल नेहरू अध्यक्ष चुने गए। उनकी कार्यकारिणी के तिहाई सदस्य वामपक्षी थे।'[1] कांग्रेस में कम्युनिस्टों के बढ़ते हुए प्रभाव से गांधीजी भी काफी चिन्तित थे। इसके बावजूद 'विभिन्न कांग्रेस समितियों व महत्वपूर्ण पदों पर कम्युनिस्टों का चुनाव किया गया और कांग्रेस की सर्वोच्च निर्वाचन समिति

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में कम से कम २० कम्युनिस्टों को स्थान दिया गया।''[८] इससे साफ़ जाहिर है कि राष्ट्रीय आन्दोलन में साम्यवादियों की विशिष्ट भूमिका रही है और इससे रचनाशीलता प्रभावित हुई है—

'सामवाद के सूरज अरय, सब हो के रहियो बरोबरिहा,
बनिहार किसान हुकूमत अरये, सबो हो जाहीं लेयरिहा।'

× × ×

'एक बरोबर खावें-पीवें, एक बरोबर सब रहियें,
छोटे-बड़े मिल के सबरा, छ घटा बूता करयें।''

(गिरधर वैष्णव)

यद्यपि यह कविताएं साम्यवाद के अर्थ में पूरी तरह स्पष्ट नहीं है, फिर इस पर साम्यवादी वैचारिक क्रांति का असर माना जा सकता है। केवल असर ही, क्योंकि राष्ट्रीय आन्दोलन में 'आम आदमी की पूरी शिरकत और भूमिका रंग लाए, वह विकसित और आधुनिक बने, इसके पहले ही उसे धर्म और नीति की 'स्लीपिंग पिल्स' और मध्ययुगीन आदर्शों के झुनझुने थमा दिए गए। और आर्थिक और सामाजिक और मानसिक रूप से स्वतंत्र हुए बिना वह राजनैतिक रूप से स्वतंत्र घोषित कर दिया गया।''[९] यदि पूरे राष्ट्रीय आन्दोलन पर दृष्टिपात करें तो हमें पता चलेगा कि 'वर्ग संघर्ष के जरिए पूंजीवाद और सामंती व्यवस्था को उखाड़ फेंकने की बजाय वर्ग सहयोग, समझौतों और समर्पणों से नए इतिहास की रचना हो रही थी।''[१०]

इतिहास के इतने लम्बे दौर को सामने रखने के पीछे मेरा मकसद यह बतलाना था कि 'काव्य के सत्य और मूल्यों में इतिहास के उद्देश्य और मूल्य निहित होते हैं तथा इतिहास-प्रक्रिया और रचना प्रक्रिया में दूरियां और भेद नहीं होते।''[११] इतिहास की हर हलचल कविता को प्रभावित करती है।

१५ अगस्त सन् १९४७ को विदेशी पूंजीपतियों ने आजादी की बागडोर देशी पूंजीपतियों के हाथ में सौंप दी। देश आजाद हो गया, मगर देश की जनता की आर्थिक आजादी वाला हिस्सा सम्पूर्ण आजादी से फिर भी गायब रहा। गांधीजी की शुरू से यही आकांक्षा भी थी। 'सन् १९४७ के पहले गांधीवाद का सारतत्व यही है कि ब्रिटिश साम्राज्य पर जन आन्दोलन का दबाव डालना, पर उस आन्दोलन को सामंत विरोधी क्रांति का रूप न लेने देना और मौका मिलते ही अंग्रेजों से समझौता करना। इसका कारण यह आकांक्षा कि सत्ता पूंजीपति वर्ग के हाथ में बनी रहे।' [१२] आजादी के बाद भी गांधीजी की यह नीति राष्ट्रीय अपनीति म धंसी रही। देश के राजे-महराजे, सामंत, जमींदार और पूंजीपति देश की राजनीति में आ गए। उनकी सामंती सत्ता का नवीनीकरण हुआ और इस नवीनीकरण में उनकी सत्ता का विस्तार हुआ। राष्ट्रीय आन्दोलन को ध्यान में रखते हुए, जिस तरह का इतिहास लेखन हुआ था, उसका परिणाम यह हुआ कि देश की जनता में संकीर्ण राष्ट्रवाद विकसित हो गया। साथ ही उसमें पुनरुत्थानवाद और अतीतोन्मुखता के रोगाणु प्रवेश कर गए ~~ रोगाणुओं को रास्ता दिया जन सामान्य पर थोपी गई

मान्यताओं ने, जिनमें राजा ईश्वर का प्रतिनिधि होता है। आज भी छत्तीसगढ़ ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण देश में यह स्थिति है कि लोकसभा और विधानसभा के अधिकांश क्षेत्रों से पुराने राजे महराजे, सामंत, जमींदार पूंजीपति तथा ग्रामपंचायतों से पुराने गौंटिया चुने जा रहे हैं। नव धनाढ्य और पूंजीपति वर्ग पक्ष विपक्ष दोनों को अनुदान कर रहा है ताकि उसके लाभ की संस्कृति को धक्का न पहुँचे। यह वर्ग कहीं राजनीति की पृष्ठभूमि में तो कहीं मुख्य भूमिका में देखा जा रहा है।

इन्हीं ऐतिहासिक स्थितियों के बीच छत्तीसगढ़ी कविता प्रारंभ हुई थी, जो आज तक जारी है। 'जब हम समकालीन कविता की बात करते हैं, तब हमारे सामने दो जातियों की कविताएं खड़ी होती हैं। एक जाति की कविता वह जो खुशनुमा होने की कोशिश में अपने जद पड़े मुख और उसके लहूलुहान वक्त की पहचान को धूमिल करती है और दूसरी जाति की कविता वह है जो इस पहचान को और भी तेज और साफ करती है और इस कोशिश में खुद क्षत विक्षत रक्तात्त हुई रहती है। ' हम इस दूसरी जाति की कविता की खोज छत्तीसगढ़ी कविता संसार में करना है। साथ ही कविता को प्रभावित करनेवाले समकालीन आन्दोलनों सामाजिक अंतर्विरोधों और समाज के उत्पादन सम्बन्धों को देखना होगा। तथा कविता की वैचारिक विसंगतियों पर भी नजर फिरा लेना जरूरी है।

क्षेत्रीय स्तर पर होने वाले संकीर्ण आन्दोलनों ने छत्तीसगढ़ी कविता को भटकाया है। राजनैतिक लाभ उठाने वालों ने जब भी क्षेत्रवाद और पृथकतावाद को भड़काया है उनके पोषित रचनाकारों ने या भावुक रचनाकारों ने जिनकी राजनैतिक चेतना गड़बड़ रही है—क्षेत्रवाद और पृथकतावाद के समर्थन में रचनाएं की। कुछ ऐसे रचनाकार भी थे, जो कुछ लिखने के जोश में कुछ लिख गए। लेकिन ऐसी रचनाएं राष्ट्रीय हित की दृष्टि से तब तो गलत थी ही और आज भी उनका कोई सामाजिक साहित्यिक मूल्य नहीं है। आज भी छत्तीसगढ़ी सांस्कृतिक जागरण के नाम पर जन सामान्य में ऐसा जहर बांटा जा रहा है कि लोग कभी-कभी मुगालते में इस क्षेत्र को इस महादेश से ही अलग समझ बैठते हैं।

कवि सम्मेलनी अखाड़ेबाजी ने छत्तीसगढ़ी कविता को जहाँ एक ओर लोकप्रिय बनाया है, वहीं दूसरी ओर उसका जबरदस्त नुकसान भी किया है। छत्तीसगढ़ी कविता की लोकप्रियता ने कई प्रतिभासम्पन्न कवियों को भटकाया और कई गलबाजों को कवि का दर्जा दिला दिया। इससे छत्तीसगढ़ी कविता का क्या फायदा हुआ ? वह कितनी आगे बढ़ी—यह उनके सोचने का विषय कभी नहीं रहा। कुछ रचनाकार केवल ग्रामोफोन रिकार्ड और रेडियो के लिए लिखकर संतुष्ट हो गए। इस तरह छत्तीसगढ़ी कविता-संसार का एक बड़ा हिस्सा मध्ययुगीन शाब्दिक चमत्कार में अटक गया। कविता बोली चोली और टिकुली फुंदना में गूंजती रही—

मोती अइसन दांत के पाती, नागिन अइसन बेनी,
पड़रा अंग मा करिया लुगरा, लागत हे तिरबेनी,

तिल-तिल गोंदना—
मरे छाती मां चढ़े हे हरियर चोलना।'
(डॉ० महेन्द्र कश्यप राही)

या—'आँखी मां गड़ि जाय रे चढ़ती जुवानी,
बड़े-बड़े पथरा होयगे पानी पानी।'
(लक्ष्मण मस्तूरिया)

इससे एक बात साफ जाहिर है कि क्षेत्रीय मानसिकता ने मंच और बोली की मधुरता के माध्यम से कवियों को लोकप्रिय बनाया लेकिन कवियों ने कविता को नहीं। कवि सम्मेलनी सस्ती लोकप्रियता के अतिरिक्त एक लोकप्रियता और होती है, वह 'लोकप्रियता युग की चेतना की अभिव्यक्ति, सामूहिक एहसास के इजहार और मानव की आवाज में होती है।'[३४] अब छत्तीसगढ़ी कविता संसार में जन-चेतना की पड़ताल करते वक्त हम कवि की उस दूसरी लोकप्रियता पर ध्यान रखना होगा, जो उसकी रचना मे निहित है। छत्तीसगढ़ी कविता का यह पक्ष भी निरन्तर विकसित हो रहा है, जिसमे कवि का अनुभव स्वाभाविक तौर पर कविता में रूपान्तरित हुआ है। जहाँ प्रकृति के साथ आदमी के रिश्ते तय हुए हैं, जहाँ आदमी का सौंदर्य-बोध और स्वाभाविक प्रेम-प्रसंग उद्घाटित हुआ है, जहाँ समकालीन परिस्थितियों से जूझती आदमी की जिजीविषा और भविष्य के प्रति आदमी की स्वाभाविक चिन्ता लेखन में उपस्थित हुई हैं, जहाँ विसंगतियों पर कवियों ने जबरदस्त चोट की है। छत्तीसगढ़ी कविता-संसार में ऐसे स्थान भी हैं, जहाँ इस क्षेत्र की सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों की बात की गई है, जहाँ यथार्थवादी जीवन दृष्टि के पक्ष में रचनाकारों ने अपने शब्द रचे हैं और जीवन को सहज अभिव्यक्ति दी है।

पहले इस बात का जिक्र किया जा चुका है कि छत्तीसगढ़ी कविता—संसार की अधिकांश रचनाएँ किसी विशिष्ट विचारधारा को ध्यान में रखकर नहीं रची गई हैं। एक समीक्षक का विचार है कि 'छत्तीसगढ़ी कवियों ने अपने को किसी भी मतवाद से उलझाये न रख कर स्वतंत्र विचरण करने दिया। सामान्य मानवतावाद के बीच लिखी जानेवाली छत्तीसगढ़ी कविताओं का स्वर मूलतः मानवतावादी है।'[३५]

यदि समीक्षक के इस कथन को सही मान लिया जाये तो छत्तीसगढ़ी रचना-संसार के लिए जबरदस्त खतरा यह है कि उसके रचनाकारों की कोई स्पष्ट पक्षधरता नहीं है, जबकि आज की कविता में, यहाँ तक कि प्राकृतिक सुषमा और प्रेम की कविता में भी स्पष्ट पक्षधरता होती है। उसमे रचनाकार का वर्गबोध स्पष्ट होता है। 'आज के युग में यह पक्षधरता किसी भी सच्चे और संवेदनशील रचनाकार की मूलभूत ईमानदारी मानी जायेगी।' 'पक्षधरता' शब्द से चौंकने या घबराने की जरूरत नहीं है। प्रत्येक युग में यह इतिहास द्वारा लाई गई वह स्थिति है जिसे कलाकार को स्वीकार करना ही पड़ता है। यह पक्षधरता और कुछ नहीं, उस व्यापक और उदात्त सत्य की स्वीकृति है।'[३६]

वर्ग विभाजित समाज में अखंड मानवतावाद की बात नहीं की जा सकती। यह, वहीं संभव है, जहाँ वर्गहीन समाज की व्यवस्था है। अगर रचनाकार दोनों वर्गों को

अपनी सहानुभूति देता है तो उसकी रचनाशीलता शक की सीमा में आ जाती है। शोषक और शोषित दोनों के प्रति मानवतावादी दृष्टिकोण नहीं रखा जा सकता। यह दो नावों में पैर रखने जैसा खतरनाक काम सिद्ध होगा। 'सामान्य मानवतावाद के हिमायती रचनाकारों का पक्ष संवेदना को बराबर-बराबर बांटने का है। संवेदना के इस वितरण के सिलसिले में ऐसा रचनाकार यदि अमीरों के दुःख दर्दों को ही अपनी संवेदना का बड़ा अंश दे दे तो इस आधार पर उसे दोषी नहीं ठहराया जा सकता कि वह तराजू लेकर संवेदना को बांटने नहीं बैठा है। 'सामान्य मानवतावादियों' के यहाँ अक्सर ऐसा ही हुआ भी है। अतएव 'सामान्य मानवता' वाली यह बात अपने में कितनी गहरी है, इसे सरलता से समझा जा सकता है।'[२७] रचनाकारों को यह कहना ही होगा—

> ओ गिरे, थके हपटे मन,
> अउ परे डरे मनखे मन,
> मोर संग चलो रे।
>
> (लक्ष्मण मस्तूरिया)

यदि कोई रचनाकार अपने को युगीन मतवाद से विरक्त रखता हुआ रचना करता है, तो उसकी कविता में वह द्वंद्व नहीं आ सकता, जो समकालीन सचाइयों और कविता की ऊंचाई के लिए जरूरी है। ऐसी स्थिति में कविता में विचार तो आते हैं लेकिन एक संपूर्ण विचारधारा नहीं बन पाती। बहुत संभव है रचनाकार 'विचार विस्फोट' को ही रचना की अनिवार्य मांग समझ बैठे। भावुकता और इतिहास की अनभिज्ञता की वजह से ऐसा होना असंभव नहीं। फिर, रचना बहुत से विरोधी विचारों को अपने में शामिल करती हुई भटकाव की स्थिति पैदा करता है। मुझे लगता है कि छत्तीसगढ़ी कविता के साथ यह हादसा हुआ है और एक सीमा तक आज भी हो रहा है।

'सामान्य मानवतावाद' की परिणति रचना में इस तरह हुई कि रचनाकार ने 'कांटा बोने वालों' को भी अपनी दया मया और संवेदना का पात्र समझ लिया, जबकि दोनों वर्गों की स्थिति उनके सामने स्पष्ट है—

> 'दया मया ले जा रे मोर गाँव ले
> कांटा खूंटी के बोंवया बने-बने के मठइया।
> तोर हीरा-मोती हमर धुर्रा-माटी
> तोर महल किल्ला, हमर परवा छानी,
> तोर कपट छल अउ हमर कांगर छाती,
> तोर धन-दौलत हमर धरती पानी।'
>
> (लक्ष्मण मस्तूरिया)

फिर यही रचनाकार जब यह कहता है कि—

> 'घुच्छा गरजे मां बने नहीं, अब कड़क के बरसे बर परही।
> चमचम चमके मां बने नहीं, बन गाज गिरे बर अब परही।'

तब यह बताना मुश्किल हो जाता है कि रचनाकार अपने पाठक श्रोता को किन

लोगों पर गाज बनकर गिरने के लिए प्रोत्साहित कर रहा है, क्योंकि 'काँटे बोने वाले' तो उसकी सवेदना के पात्र हो चुके हैं। ऐसे में रचनाकार के पास एक ही रास्ता बच रहता है कि वह आर्थिक समस्या के समाधान को आध्यात्मिक मोड़ दे दे—

'तोर मोर के पथरा म बइहा घुरा झन,
पद मद मा मर मर के जियत भुँजा झन,
ले आही काल ला पकड़ के, सब ला नंगा के,
जे भेजे हावे हम सब ला बना के,
दुनिया के चलइया हवे बड़ निरवइया।'

(लक्ष्मण मस्तुरिया)

आर्थिक समस्या का समाधान भी आर्थिक होगा, आध्यात्मिक नहीं। इस तरह रचनाकार के अंदर की आग समाज की तमाम विसंगतियों के सामने निष्प्रभावी लगती है। और रचनाकार अपनी सामाजिक भूमिका से कटा-सा लगता है। यह न केवल सामान्य मानवतावाद की ही परिणति है, वरन् विचारधारात्मक कमजोरी भी है, जिसकी वजह से सामाजिक विसंगतियों को उजागर करने और उन पर प्रहार करनेवाली कविता अपने आप में ही विचारगत विसंगति का शिकार हो जाती है। यह एक तरह का विचार-विस्फोट ही है भजन की दीन मानसिकता में। 'सहज आदमी को देखते हुए जो अनुभव बनते हैं, वे अनुभव क्रमश: एक छोटे कोष में विचार बन जाते हैं, पर इससे कविता में व्याप्ति नहीं आती। व्याप्ति उसमें तब आती है, जब विचार, विचारधारा बन जाते हैं।'[८] आज की कविता के लिए विचारधारा बहुत ही जरूरी आधार है। बिना इसके अच्छे परिणाम सामने नहीं आते। कविता हर समस्या का मध्ययुगीन समाधान प्रस्तुत करने लगती है। मानवीय सवेदना पैदा करनेवाला कवि भी भटक जाता है। उदाहरण के तौर पर—

'चल मोर जँवारा मड़ई देखे ला जाबो,
सँझकेरहा जाबो अउ सँझकेरहा आबो
रइपुरिहिन बहनी कहूँ आये होही,
अचरा मा बाँधे मया लाये होही,
मिल भेंट लेबो बूलो जाँवर-जोही,
मामा के मामा अउ गोहो के गोहो,
मड़ई कोतो के मारो ले के आबो।'

(दानेश्वर शर्मा)

इस कविता की नायिका के मन में रिश्तों के प्रति जबरदस्त ललक दिखाई देती है। उसके लिए मड़ई मेले अपने प्रियजनों से मिलने या उनकी खबर पाने के उत्साह भरे स्थल हैं। यहीं कवि जब रिश्तों को मखौल में बदलता है तब उसकी कविता की पहचान टूटने लगती है। कवि का कविसम्मेलनी समीकरण उजागर हो जाता है—

'मोर सारी परम पियारी रे, मोर सारी,
× × ×
छ छ लइका के महतारी, होवय फर अटल कुंवारी रे।'
(दानेश्वर शर्मा)

कविता 'मूड' का विषय नहीं है। कवि के मस्तिष्क म कविता की प्रक्रिया बहुत पहले से चलती रहती है, जिसमे कवि के अनुभवों का समावेश रहता है। याने कविता एक लम्बी विचार-प्रक्रिया का परिणाम होती है। यदि कवि एक ही विषय पर द्वैत विचार प्रस्तुत करे तब पाठक-श्रोता के सामने यह निर्णय लेने म कठिनाई आती है कि कवि का कौन सा विचार सही है। उदाहरण के तौर पर, 'गाँव' विषय पर एक ही कवि का विचार वैभिन्न्य प्रस्तुत है—

'सुग्घर मिठमगी दूरी बस मोर गाव र,
जेकर लाज हा चिथरा मां लुकाये है,
जेकर जिनगी कँखठ मा बुराये हे
बिन अधार के जिनगी, कुरिया जेकर ठाढ
टुटहा छानी बस मन हर अउ जेमां माढ़
जुच्छा हाथ बिगर धूरी बस मोर गाँव र।'
(डा० विनय पाठक)

जिहां जावे पावे विपत के छाँव र,
हिरदे जुड़ा ले, आजा मोर गाँव रे,
इहाँ के मनसे मन करथे बड़ बूता,
बाई मन दग दग ले पहिरे हे सूता
किसान अउ गौटिया हावे रे पोंठ,
घी, दही, दूध पावत, सब्बो हैं रोंठ,
सँवनाला पाय के ओमा नहाँव र।
(डा० विनय पाठक)

कविता जब मूड की चीज बनती है, तब इसी तरह की विसंगतियाँ सामने आती हैं। विचारों म द्वैत पैदा होता है और रचनाकार अपने ही विचारों पर कैंची चला डालता है। आजादी के बाद के भारत के गाँवों का सत्य लेकिन सा गाँव के ओमा नहाँव तो कतई नहीं हो सकता। बिना विचारधारात्मक आधार के कविता म निहित यथार्थ 'फोटो ग्राफिक' हो सकता है। उसम वह गतिशीलता नहीं आ सकती जिसकी संगति समकालीन जीवन के साथ बैठ सके।

साहित्य म विचारधारा एक महत्वपूर्ण चर्चा है लेकिन इससे भी ज्यादा जरूरी बात यह है कि रचनाकार की विचारधारा क्या है? आज के जमाने म यह कहना पर्याप्त नहीं है कि रचनाकार की विचारधारा चाहे जो हो, अगर उसे यथार्थ की सही पहचान है और वह अपनी कला में कुशल है, तो वह महत्वपूर्ण रचनाकार हो सकता है।'[१] रचनाकार

की यदि विचारधारा मुट्ठी भर लोगों की मानसिक अय्याशी का साधन जुटाने वाली हो, अपनी वास्तविक जमीन से काटती हो, व्यक्तिवाद का वहम लेकर बहती हो, कलावादी कलाबाजी में उलझी हो, तो उस पर रचित रचना को स्वीकृति देना सही नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के तौर पर 'धान कमियाँ अउ कमेलिन' नामक कविता की पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

'भूल गए सब दुनियादारी, खेत के जब ले धरिस तियारी।
नवा बहुरिया निपट अकेल्ला, दिन ला काटे हाय बिचारी।
छानी चूहय टप टप टप टप परछी मा सरि कुरिया मां।
बोरे बासी रखे कुड़रा मां, बटुवा मां, हड़िया मा।
नाचे मोर गोसया, सोचिस नवा बहुरिया, खार मा।
× × ×
घुप्प रात भर गिर गिर पानी, कइसे सहिलय भरे जवानी।
दुलहा डोका खेत गए हे, हाय कटे कइसे जिनगानी।
धान बनिस अब सउत मोर, गोसया ओखर बर मरथे।
रात दिन चिखला-पानी मां, चिक चिक रहि सेवा करथे।
× × ×
मोर जहर सावन भादों मां, जेठ परिस, मयँ जरत हवौं।
नाचत हावय ओती ओहर, घुट घुट के मयँ मरत हववँ।
रहि जा बेंगरी धान, बने हुत सउत, तोला मयँ देखिहवँ।
तभे अडबड गुस्सा मां कहिस—'तोर गर मुरकेटिहवँ हाय मां।'
(डा० विमलकुमार पाठक)

छत्तीसगढ़ कृषक-संस्कृति का क्षेत्र है। किसानी संस्कृति में नयी बहू ससुराल आने के दो-तीन दिनों के बाद से ही पति के साथ खेतों में काम करने जाने लगती है। कविता की नायिका का चरित्र किसानी संस्कृति से कतई मेल नहीं खाता। लगता है रचनाकार ने किसी दूसरी संस्कृति की नायिका के चरित्र को किसान की बहू पर थोप दिया है। जिस तरह का विरह-वर्णन कवि ने प्रस्तुत किया है, वह किसानी संस्कृति में सम्भव नहीं है। साथ ही, किसान की बहू, चाहे वह नयी हो या पुरानी 'धान' को अपनी सौत के रूप में कल्पना ही नहीं कर सकती और न वह उस काल्पनिक सौत की गरदन मरोड़ने' की बात सोच सकती है। धान की 'लुवाई' बिलकुल दूसरी बात है। किसान की बहू के संदर्भ में कवि ने कृत्रिम विरह (बिहारी की नायिका के विरह जैसा) को प्रस्तुत किया है। इसे नई कल्पना या प्रयोग कहकर स्वागतेय नहीं कहा जा सकता। लेकिन यही कवि जब दूसरी जगह—

गोई! मयँ तो सेहुँवें रे बिहाये
जउने मोर खेती ला लगही कमाये
र तोला उपजाये।'

'अब नहीं बता तुलसीदास / तोर रमायेन हा /
कहाँ पूरा हो सकित हे / रावन हा आज ले जियत
हे / हमर रकत ला पियत हे।'

(मेहतर राम साहू)

लोगों को देश की आजादी से बड़ी बड़ी आशाएं थी। लेकिन उनकी कोई भ पूरी नहीं हो पाई। केवल कुरसी पर बैठने वाले चेहरे बदले हैं। गोरे' के बदले 'व... सिंहासनासीन हुए हैं।

गोरिया मछरी मार मछिन्दर जब छोड़िन ये तरिया
करिया मछरीमार मछिन्दर तभे देंता बिन चोरिया,
मा मछरी बर झगरो अगोजर, का गोरिया ? का करिया ?
दोनों दोनों साले हमर बर ये जाल हे।

(जीवन यदु)

चूंकि पूंजी व्यवस्था के केन्द्र में राजनीति होती है अतः पूंजीवादी शोषक शक्तियां राजनीतिक पक्ष अनुकूल रखती हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन के समय से ये शक्तियां देश की राजनीति में पसरती जा रही थी और आज पूरी तौर पर राजनीति में उनका वर्चस्व है। रचनाकारों की नजरों से ये स्थितियां छुपी नहीं हैं। लेकिन जरूरी बात यह है कि रचनाकारों की राजनीतिक दृष्टि क्या है ? अच्छी रचना साफ राजनीतिक दृष्टि की मांग करती है। (सृजन की आवश्यकता के लिए और यथार्थ संभावनाओं की तलाश के लिए रचना की राजनीतिक दृष्टि मंद और धुन्ध नहीं होनी चाहिए। रचना राजनीति सार में ही व्यंग्य की सृजन संभावनाएं होती हैं।" अतः यह देखा जाना जरूरी है कि रचनाकार पुरानी व्यवस्था के विरोध के बाद जिस नयी व्यवस्था का समर्थन करता है वह अंगुलियों पर गिने जाने वाले लोगों के हित में होगी या एक बहुत बड़े जन समुदाय के पक्ष में।

छत्तीसगढ़ की राजनीति पर बात करते समय यह प्रश्न जरूरी लगता है कि छत्तीसगढ़ी कौन है ? छत्तीसगढ़ी के ऐसे कम ही रचनाकार होंगे, जिन्होंने छत्तीसगढ़' और (छत्तीसगढ़ी) पर रचनाएं न की हों। यहां के मूल निवासियों के अतिरिक्त समय समय पर विभिन्न दूसरे प्रान्तों के लोग यहां आकर बस गए। काफी दिनों के बाद वे यहां की संस्कृति में घुल मिल गए। लेकिन 'पहले जो छत्तीसगढ़ में आये थे, वे सब छत्तीसगढ़ में दानों गाकर अपने नामों से तिरस्कृत किए जाते।" और यह लगातार चल रहा है। बाद में आने वाले लोग जब तक पूरी तौर पर यहां घुल मिल नहीं जाते, तब तक परदेशी जैसी अराष्ट्रीय भावना का शिकार रहते और तब उनका उद्देश्य यहां के मूल छत्तीसगढ़ी और पूर्व में आकर *छत्तीसगढ़ी-प्रकृति में घुल मिल लोगों का शोषण* करना होता है। ये कभी यहां की राजनीति में घुसते हैं तो कभी व्यापार में—

नेंग्वा हिहो छाड़ ये बपारी मन आइन।
छत्तीसगढ़ के गाँव - गाँव मां सब्बे छाइन।
धड़धड़ परवा सरान आरन पंख सा बढ़ाइन।

,

कहि के ददा, बबा, ममा, घोंगी ला पिया दे।
घर मां खुसर के कोन हमर पेट ला मार दिन।'

(स्व० भगवतीलाल सेन)

ऊपरांकित कविताश मे 'बैरागी' शन्द बेहद महत्वपूर्ण है। इससे छत्तीसगढ़ के अपर्तन मे बिचौलियों की स्थिति का पता चलता है। आज भी यह स्थिति है, जिसकी कभी-कभी तीखी प्रतिक्रिया होती है। इस तरह की तीखी प्रतिक्रियाए (क्रियाए भी) राष्ट्रीय एकता के लिए घातक सिद्ध हुई हैं। घुटे हुए राजनीतिवाज इसका फायदा उठाते हैं। उनके लिए क्षेत्रीयता बडे काम की चीज होती है। यदि हम इस बात में दूर तक जाएँ तो पाएँगे कि ऐसी कूटनीति के पीछे अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीवाद की राजनीति काम करती है, जो छत्तीसगढ मे अनेक लुभावने नारो के साथ सगठन तैयार कर तोड़-फोड कराती है। उनके अपने कवि और लेखक, इतिहासकार और राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक कार्यकर्त्ता होते हैं।

औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप वर्ण, वर्ग मे बदलता जा रहा है। फिर जातिगत भावना कमोबेश रूप मे आज भी है। इसका भी फायदा राजनीतिज्ञ उठा रहे हैं। उनके द्वारा जातिवाद उकसाया जाता है। जातियों के आधार पर चुनावी राजनीति तय की जाती है। गाँवों के बडे-बडे किसानों जमीदारों के अन्दर सामती अवशेष जोर मारते हैं। वे नहीं चाहते कि पिछडी हुई जातियाँ उन्नति करें। इधर निम्नजातियो को तथाकथित 'उन्नति' के नाम पर विरोधी के रूप मे खडा किया जाता है। जातिगत विद्वेष को दमन करने की कोशिश गांधीवाद में इस तरह हुई कि केवल 'जातिनाम' मे परिवर्तन कर दिया गया। मंदिरों के दरवाजे उनके लिए खोल दिए गए, जैसे आर्थिक विषमता बहुत महत्व की चीज न हो। रचनाकारों म जातिगत ऊच नीच को लेकर आक्रोश दिखाई देता है—

छुआ छूत ला सबे सवेल के बार देहूँ आगी।
मोर छत्तीसगढ़ के अँचरा मां झन लागे दागी।'

(महेश मजु जोशी)

छुआ छूतला भेद-भावला, ऊँचनीच ला घरिया देबव।
एकता के झडा ला जग मा, ऊँचहा करके फहरा देबव।'

(हरि ठाकुर)

'भेद भाव भुला के सबो, एक थारीं मां खाबोन।
गोर. के. चंधरा. फुआ. फूर. के. रहिमेल. फूसे. मसे. ।

(बन्धु राजेश्वर राव खरे)

'सरकारी नीतियाँ निश्चित रूप से इस आम सघर्ष को मोडकर जातियों के झगडे की शक्ल देने म अपना योगदान दे रही हैं। पूंजीपति भूस्वामी वर्ग अपने वर्गीय शासन को मजबूत कर रहा है।'[४]

'छत्तीसगढ मे सामती परम्पराओं के निर्वाह का दायित्व देहातो मे मालगुजारी सभ्यता और गौंटिया संस्कृति पर आ गया है। दूसरी ओर औद्योगीकरण की प्रक्रिया

प्रारंभ होते ही पूँजीवादी सामाजिक संरचना के अंतर्विरोध और अवगुण उभरने लगे हैं।" आज़ादी के बाद शहरों का औद्योगीकरण तेज़ी के साथ हुआ है। और इसी के साथ मिल मज़दूरों और खान मज़दूरों के आसपास भी शोषण चक्र चल निकला। इन शोषण चक्रों के खिलाफ़ समय-समय पर छत्तीसगढ़ मे आवाज़ें बुलन्द हुई हैं। किसान और मज़दूरों ने वर्तमान व्यवस्था के प्रति अपनी अस्वीकृति ज़ाहिर की है। औद्योगिक मज़दूरों की सहज चेतना की लहर किसानों और खेतिहर मज़दूरों तक पहुँच रही है। कुछ दिनों पूर्व खेतिहर मज़दूर उस तरह मुक्त नहीं थे, जितने कि खानों कारखानों के मज़दूर। यदि वे विरोध करते तो उनका 'चोंगी माखुर' बंद कर दिया जाता था। कभी-कभी तो इस आर्थिक मामले को जाति-संगठन के स्तर पर निपटाया जाता था। (सुदूर इलाकों में आज भी निपटाया जा रहा हो सकता है।) अब तो मज़दूर गाँव गाँव में अपनी मज़दूरी की जायज़ माँग संगठन के माध्यम से रख रहे हैं। हो सकता है यह स्थिति समूचे छत्तीसगढ़ मे न हो किन्तु औद्योगिक नगरों के समीपवर्ती गाँवों में यह स्थिति अवश्य है। कुछ लोग किसानों और मज़दूरों का शहर-पलायन को औद्योगीकरण का परिणाम मानते हैं। कुछ रचनाकारों ने इस पलायन को लेकर गाँव और शहर की तुलनात्मक कविताएँ भी लिखीं—

मोर गवई गंगा ये मोर गवई गंगा ये
छोड़ के गवई सहर सहर मन जा झन जा लागा रे
ए मया के चादर ये
भारत माँ के काजर ये,
ये भुइयां के अँचरा,
ये धरती के गजरा,
जुगुर-जागर रात इहाँ के, चुहल-पुहुल संझा रे।

(लक्ष्मण मस्तूरिया)

'चल सहर जातन रे भाई
गाँव ला छोड़ के सहर जातन
ठक्कर ठकर पसिया पी के कमई कर आयन
बइला भइसा कस कमायन गाँव मां दुख पायन
दुख ला हरे जातन रे भाई, गाँव ला छोड़ के।

(स्व० हेमनाथ यदु)

गाँव अपनी प्राकृतिक सुषमा या खूबसूरती के बल पर ग्रामीणों के शहर-पलायन को नहीं रोक पायेगा, क्योंकि इसका कारण सामाजिक-आर्थिक है।

व्यवस्था-परिवर्तन के पश्चात् नए सम्बन्ध बनते हैं—आर्थिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर। यद्यपि सामाजिक सम्बन्ध भी आर्थिक सम्बन्धों पर आधारित होते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था आत्मिक सम्बन्धों पर घातक हमलावर होता है—

'मनसे सा मनसे जानत नइये,
भाई सा भाई मानत नइये,
तइहा के दिन हा निपट नँदागे।'

(गुमन सोनवानी)

'मन रोवत हे मट गावत हे, का कहिबे।
गिधवा घलो ढवा लागत हे का कहिबे।

(लाला जगदलपुरी)

पृष्ठगामी शक्तियाँ अत्याधुनिक साधनों को अपने हित में प्रयोग तो करती ही हैं, उन्हें बदनाम करने की कम कोशिश नहीं करतीं। अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास के पृष्ठों पर इस तरह की घटनाएं देखी जा सकती हैं। यदि रचनाकार सजग न रहे तो उन्हीं शक्तियों का स्वरूकार साबित होता है। नहर-बाँधों और पुलों के निर्माण में मजदूरों की बलि चढ़ाई जाती है। लेकिन जन सामान्य ने आधुनिक साधनों की उपयोगिता समझी और अफवाहों को अस्वीकृत कर दिया—

'नगरस बाँधेन, नरी बाँधन, हमरो लेहेन रोक।
घरघरा, खाम्न रद्दी के पानी, खेती म बेहेन झोंक।'

(लक्ष्मण मस्तूरिया)

इन नहर बाँधों के कारण खेती में उन्नति हुई है लेकिन—

हाड़-हाड़ा दिखत हे तन म लहू न सेस।
डोले नर कंकाल अस, सहि किसान सब कलेस।

(हरि ठाकुर)

जैसी किसान की आर्थिक स्थिति से इन्कार नहीं किया जा सकता। ये स्थितियाँ सवाल उठाती हैं।

आज जबकि शिक्षा का प्रचार जोरों पर है तब भी गाव ऐसे मिल जायेंगे, जहाँ के प्रभुता सम्पन्न लोग स्कूल खोलने का अदम्य विरोध करते हैं। शिक्षा की उन्नति का शासकीय नाम 'साक्षरता' है। गावों में लोग अब अँगूठा लगाने के स्थान पर हस्ताक्षर करने में समय होने लगे हैं। किसानी संस्कृति में साक्षरता सम्मानजनक बात जरूर है, लेकिन कृषि कुशलता को साक्षरता पर तरजीह दी जाती है—

'जनम के हम तो नागर जोंता, नइ जानन सोरा सतरा।
पुरखा मइसा ला ता ता ता, यही हमर घर पोथी पतरा।

अब पूँजीवाद की घुसपैठ धर्म, राजनीति, बिचौलिये-व्यापारी और सरकारी तन्त्र सब में हो चुकी है और सभी उसके शोषण के माध्यम बने हुए हैं—

'भूख मरत ईमान गली मा मांगत भीख खड़े हे
बीच सहर बइमान सेठ के भारी महल खड़े हे,

जनता क पइसा मां मइया नेता मजा उड़ावयं,
अफसर पथा तरी बइठ के, दिन भर जोंघ जुड़ावयं,

(रामेश्वर वैष्णव)

धर्म के पंडे गांवों म धर्म की अतीतोन्मुखी और पुनरुत्थानवादी व्याख्या कर रहे हैं। 'पुनरुत्थान कोई संयोग नहीं है। वह ऐतिहासिक प्रतिक्रान्तिकारी प्रक्रिया का एक हिस्सा है। क्रान्तिकारी दृष्टिकोण को धूमिल करने के लिए और क्रान्ति चेतना के विकास को रोकने के लिए इस्तेमाल किया जाता है पुनरुत्थानवाद और उसके बच्चों जैसे पूर्वग्रह अंधविश्वास, सम्प्रदायवाद, जातिवाद वगैरह का इस्तेमाल वर्तमान आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था को मजबूत और स्थाई बनाने के लिए होता है, न कि समाज और राष्ट्र के विकास के लिये।'[५६] गांवों मे बिचौलिया- व्यापारी दुहरा तिहरा लाभ कमा रहे है। किसानों की खड़ी फसल खरीद रहे हैं और दोगुनी कीमत मे पुनः किसानों को बेच रहे हैं—

जांगर टोर कमाए बारो महिना माई पिल्ला।
तभो ले लागा बोड़ी के ये कावा परे न ढिल्ला।
अन उपजया भूख मरथे मजा करे व्यापारी।
बाचन खाचन कर झपटत हे निरमोही पटवारी।

(हरि ठाकुर)

सरकारी दफ्तरों के हमेशा बंद दिखाई देने वाले दरवाजे दरअसल हमेशा खुले रहते हैं—

'अधिकारी मन घूस खाय के जइसे हैं अधिकारी।
बाबू भइया मन गंगा मा डुबक पारी पारी।
करके कहिया टांठ तयं बाबे तब आफिस म आबे।
अउ आफिस के बेर म साहेब ला तय घर म पाबे।

(जीवन यदु)

'सरकारी दफ्तर मा गांधी के फोटू
सूरा के मुंह मां जरा लीम के मुखारी।

(मुकुन्द कौशल)

कौन करही जांच जाव करइया के
हिस्सा बंध हे सौंन के पाछू मा पाच
सवारी बात कहे हा आय तेला कहूं बतावो
मान हानि के दावा करके सोज्झा जेल भेजवायो

(विशम्भर यादव 'मरहा)

वर्तमान राजनीति पूंजीवादी व्यवस्था से उसका एक हिस्सा होकर संचालित हो रही है। १९४७ के पहले कांग्रेस राष्ट्रीय आन्दोलन का परम्परागत मंच तथा उसका

जन-संगठन थी, हालांकि उस पर ऊपरी वर्गों के ढुलमुल तत्वों का प्रभुत्व था। १९४७ में सत्ता परिवर्तन के बाद वह सरकारी पार्टी बन गई और उस पर निहित स्वार्थों का, इजारेदारों का, बड़े जमींदारों, मुनाफाखोरों और सट्टेबाजों का प्रभुत्व हो गया।[१७]

हमें सारी स्थितियों—राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक—को मद्द नजर रखते हुए उस दूसरी जाति की कविता को सामने लाना है जिसका ताल्लुक सबसे ज्यादा हमारी जिन्दगी से है। जन सामान्य की आशा आकांक्षाओं से, उसके वर्तमान और भविष्य से, उस कविता का गहरा सम्बन्ध है। क्योंकि जन-सामान्य के जीवन के यथार्थ और उस कविता के यथार्थ में फर्क नहीं है। चूंकि 'यथार्थ की गहराई और जटिलता में प्रवेश कर साहित्य उसे इतिहास क्रम में ग्रहण करता है, जिससे वह समकालीन होकर भी केवल समकालीन नहीं रहता, अतीत और भविष्य से भी सम्बद्ध हो जाता है।'[१८] अतः यथार्थ-दृष्टि से रची गई रचना, एक तरफ तो हमें भविष्य के प्रति लिए गए निर्णयों की ओर आगे बढ़ाती है तो दूसरी तरफ़ अपनी परम्पराओं से जोड़ती है। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि वह वर्तमान जीवन और समाज के यथार्थ को जीवन और समाज की गतिशीलता में रेखांकित करती है। उस सत्य को उजागर करती है जिसे इतिहास का एक हिस्सा होना है। जो विचार हमारे वर्तमान समाज और राष्ट्र जन की प्रगति के लिए प्रासंगिक नहीं हैं वे हमारे लिए न समकालीन हैं और न स्वदेशी। हमारे लिए वे ही विचार समकालीन हैं जो शोषण से मुक्ति के लिए संघर्ष ... और उससे जुड़ी रचनाशीलता को आगे बढ़ाने में सहायक हो।[१९] यही कारण है कि कबीर और तुलसी हमारे लिए आज भी प्रासंगिक हैं। अतः समकालीन जीवन और समाज को आंदोलित करने वाले विचार ही समकालीन कहे जाएंगे—

'कविता रहही समाज के
टाटक - दउवा आज के।
(बलाराम साहू)

छत्तीसगढ़ी के रचनाकारों में रचनाधर्मिता के प्रति ईमानदारी तो है, इसमें शक नहीं, लेकिन अधिकांश के पास युगीन जीवनदर्शन और गतिशील विचारधारा नहीं है, यह एक कटु सत्य है। यही कारण है कि रचनाओं में रचनागत अन्तर्विरोध आ जाते हैं। इसके बावजूद छत्तीसगढ़ी रचना-जगत् की सम्पूर्णता में समाज की व्यवस्थाएँ उजागर हुई हैं—

'उधारी लिखे बर / हमर देस ले बड़का /
ककरो नइये खाताबही / अधारी पाय
आही / कौंआ मन चारा बाटत ह /—
दिया हा तेल बर सोचत
हे / बाती के आस हा / जरत म्हे बरही /
(प्रभंजन शास्त्री)

कवि एक तरफ़ देश की अव्यवस्था को सामने रखता है तो दूसरी तरफ़ जन-

सामान्य के विश्वास का भी मोल नहीं रहा। जिस तरह देश विदेशी सूदखोरों के चंगुल में फंसा है उसी तरह गांव की दशा सूदखोरों की गिरफ्त में है—

'चांदी के सूता पारी फूलकांस कहाँ ?
हाड़ा असन दिखत हवो, तोर मांस कहाँ ?
सबो होगे बरोबात, सत्यानास कहाँ ?
खाता म नाँव लिखके तोला खा के बइठगें—
छुटते रहिबे कहिके तोला लागा मढ़ार दिन।

(भगवतीलाल सेन)

टोंटा म टंगिया साहूकार के जीव ल डारिस ब्याज गा।
हमर देस के भुइयां बर य कइसन अजब सुराज गा।'

(रमेश अधीर)

साहूकारी व्यवस्था के समानान्तर बैंकों की स्थापना हुई। लेकिन जिन अन्तर्विरोधों से सारी व्यवस्था ग्रस्त है बैंक भी उससे अछूता नहीं है। किसान वहाँ भी लुट रहा है। पूंजीवाद के दुर्गुण राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सभी स्तरों में उभर गए हैं। रचनाकार की नजरों में शोषक शक्तियों का गठबंधन उजागर हो चुका है। वह जान चुका है कि शोषकों के अनेक रूप हैं—

सब अग बइमानी सचरगे, तोर किरपा हे भारी।
तहीं मंत्री तहीं नेता तय अफसर बपारी।'

(रामेश्वर वैष्णव)

—और शोषण के अनेक तरीके—

'राजनीति के कोप ल शकुनि ल अवतार।
महल बनाव एक ठन शोषण के सौ द्वार।

(हरि ठाकुर)

शोषक शक्तियों के गठबंधन का परिणाम यह होता है कि शोषक वर्ग के ही सदस्य बार बार सिंहासनासीन होते हैं। इसके लिए वे अनेक चुनावी हथकण्डे अपनाते हैं। वोट की राजनीति पर नोट की राजनीति हावी हो जाती है। फासीवादी तरीके अपनाये जाते हैं। और फिर जन सामान्य के लिए वकील स्व० भगवती सेन पाँच बछर के पार उतरनो बैतरनी ले भारी हो जाती है। दरअसल पूंजीवादी राजसत्ता एक राजनैतिक संगठन मात्र है, जिसे अपनी देशी विदेशी सम्पत्ति और स्वार्थ की गारंटी के लिए पूंजीपति अपनाते हैं।'[९०] तात्पर्य यह कि पूंजीपतियों का (पूंजीवाद का) उद्देश्य सत्ता के माध्यम से अपने स्वार्थ को स्थायित्व देना होता है। उन्हें इस बात की फिक्र नहीं होती कि उनके अमानवीय करतूतों से कोई मरता है या जीता है—

मुड़ी हलावय टेटका, अपन टेटको संग।
जइसन देखय समय ला, तइसन बदलय रंग।

तइसन बवसय रग, बचाय अपन बो घोला।
लिलय गटागट जतका फिरवा पाय सबोला।
पेट भरे तब पान-पतेरा मा छिप जावय।
बकरो जावय जीव, टेटका मुड़ी हलावय।'

(स्व० कोदूराम दलित)

अपनी इस स्वार्थपरता के कारण पूंजीवादी व्यवस्था ने राष्ट्रीय अपतन्त्र में अनेक कोढ़ पैदा कर दिए हैं। उसके दुर्गुणों को उसकी हितैषी सरकार भी बढ़ावा और प्रश्रय देती है—

'सट्टा के बपार चलत हे पुलिस के नाक के खाल्हे।
सरकारी लाटरी खुले हे, एक ठन टिकिस बिसालें।'

(रामेश्वर वैष्णव)

न्याय-व्यवस्था के आसपास भी पूंजीवादी जाल बिछे हैं जो कभी गवाहों को तोड़ते हैं, तो कभी झूठी गवाहियाँ देते हैं या दिलवाते हैं—

'बोली म ताना हे, झूठ के जमाना हे।
नियम हे ननफी बर, रोंठ बर बहाना हे।
उल्टा हे रीत यहाँ, लबरा के जीत यहाँ,
सघहा के भरसे हे फाँसी या मरबन।'

(उधोराम झखमार)

'सौता टूरई अऊ जनाकारी नानकुन बात होंगे,
रकछा करइया मनखे बुहसाहार के जात होंगे,
चोरी चकारी, लूटा पुदगा, खाव उड़ाव रोज रोज के खेल होंगे,
सतजुगिया ला फाँसी अऊ नियाय ला जेल होंगे।'

(काशीपुरी कुन्दन)

देशी पूंजीपतियों के माध्यम से देशी पूंजी विदेशी बैंकों में जमा होने लगा है। सरकार विदेशों से कर्ज पर कर्ज लिए जा रहा है और देश क्रमशः अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीवाद के शिकंजे में कसता जा रहा है। इसके दुष्परिणामों को सामान्य जनता भुगत रही है। रचनाकार का इन स्थितियों के प्रति चिन्तित होना लाजिमी है—

'देश मा एको झन धनी,
भूखन मरे नइ पावे।
आने देस माँ कोनो झन
माँगे खातिर जावे।
बाढ़े देस के करजा ला जल्दी-जल्दी टार दे।

(रविशंकर शुक्ल)

वास्तव में 'पूंजीवादी समाज अनिवार्यतः दो युद्धरत खेमों में बट जाता है — एक ओर एक छोटा अल्पसंख्यक वर्ग होता है, जिसका उत्पादन की शक्तियों पर अधिकार

होता है और दूसरी ओर एक बहुसंख्यक वर्ग है, जिसके पास अपने श्रम को बेचने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता।[६१]

'दू दल हे दुनिया म, दू दल हे ग,
एक हे अमीरहा, एक हे गरीब।
तइहा ले छाती म चढ़े हे अमीरहा,
अब होगे मरे के बिलकुल करीब।
(मनोहर शर्मा)

उपरोक्त काव्यांश में 'तइहा' शब्द बहुत महत्व रखता है। जो पिछले युग में 'स्वर्णयुग' देखते हैं उन्हें इस शब्द पर विचार अवश्य करना चाहिए। जिन दो दलों के विषय में कहा गया है, दोनों के अलग अलग चरित्र हैं। दोनों की अलग-अलग जीवन पद्धतियाँ हैं—

'दू मुट्ठी धन मां अघाथे एतो
अउ उतो कमती हजार हे सगो।
(ईश्वरदास चांद)

'पसिया ला पी के हम चादर ओढ़ सोया,
सबरा मन झखत हें रात दिन सोंहारी।
(मुकुन्द कौशल)

रचनाकार जन सामान्य का ध्यान ऐसे लोगों की तरफ खींचता है जो शोषितों के बीच शोषक वर्ग की तरफ से जासूसी करते हैं। सही आंदोलनों को असफल बनाने की कोशिश करते हैं और मजदूर किसानों का नेतृत्व करते हुए उनकी सामूहिक शक्ति को गलत मोड़ देने का प्रयास करते हैं—

'पोरकुन दूभेदिया मनख घलो हें,
तेखर तुम झन खावव सुती।
सुन ग मजूर, सुन ग किसान,
तुहला हुरियावत हें पूंजीपति।
(मनोहर शर्मा)

वर्ग विभाजित समाज में सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र भी पूंजीवादी घुसपैठिया से अछूते नहीं रहते। पूंजीवाद अपनी संस्कृति के प्रसार प्रचार के लिए अत्याधुनिक साधनों का प्रयोग करता है। शासकीय साधनों को काम में लाता है। बड़ी-बड़ी (रंगीन) पत्रिकाओं में विज्ञापन निकालता है। फैशनपरस्त और प्रयोगधर्मी रचनाओं के जरिए साहित्य में घुसता है। ब्लू फिल्म वीडियो पर प्रदर्शित की जाती हैं। छविगृहों की फिल्म सैक्स, कुण्ठा हिंसा और निराशा से भरपूर होती हैं। अश्लील पत्र-पत्रिकाएँ भी पूंजीवाद के दुर्गुणों की वाहक हैं। जगह-जगह जूडो-कराटे का प्रदर्शन होता है। युवा-शक्ति को बहकाने की भरपूर साजिश होती है। ऐसे-ऐसे मौकों का ईजाद किया जाता है कि आम्मी

उसी को जिन्दगी समझता हुआ, जिन्दगी की मूल-भूत चिंता से भटक जाये। ताकि वह यह प्रश्न न कर सके—

मिलाय कोन हे मोर चाऊँर मां गोटी।
नगाय कोन हे मोर बाँटा के रोटी।'
(स्व० भगवतीलाल सेन)

परिणाम यह होता है कि आदमी अपनी मूल चिंता से ही नहीं, वरन् अपनी परम्परा और 'संस्कृति से भी कट जाता है। संस्कृति कोई जड़ स्थिति नहीं है निरन्तर प्रक्रिया है, और निरन्तरता की निहित प्रकृति ही परिवर्तन है। इतिहास की गति में निरन्तरता और परिवर्तन,—संस्कृति और आधुनिकता विरोधी नहीं है, वे विकास के दो बिन्दु हैं।'[८] लेकिन हर परिवर्तन आधुनिकता के सन्दर्भ में जायज नहीं कहा जा सकता। हमें उस परिवर्तन की दिशा और परिवर्तन की वजह को देखना होगा। अन्यथा—

'हिप्पी बन गिन टूरा मन सब, मेम बनिन सब टूरी।
लाज-सरम फशन मा बुड़गे, हाय मां मइ हे चूरी।'
(रामेश्वर वैष्णव)

—को भी जायज समझा जा सकता है।

पूँजीवादी व्यवस्था में जीने वाले व्यक्ति का यह अन्तर्विरोध है कि वह दो जून की रोटी बमुश्किल कमा पाता है, लेकिन फिल्में देखना नहीं छोड़ पाता। हिंसा और यौन कुण्ठा से भरी पत्रिकाएँ घरजू बनती जा रही हैं और साथ ही साथ उपवास-व्रत भी बढ़ते जा रहे हैं, नए-नए देवी-देवता सामने लाए जा रहे हैं, बाबावाजियाँ बढ़ती जा रही हैं। वीडियो हाउस अश्लील फिल्मों के आरोप में सुबह बन्द किए जाते, मगर शाम को फिर खुलवा दिए जाते हैं। गाँव इन कुप्रभावों से नहीं बच सकता। यह व्यवस्था आदमी को सामाजिक सांस्कृतिक मोर्चे पर ज्यादा तोड़ती है। सम्पन्न करने के नाम पर विपन्न करती है। वह इसको जीतने के लिए सरकारी-गैर सरकारी प्रचार तंत्रों पर मनमाना खर्च करता है। रचनाकार इन स्थितियों का महत्वपूर्ण गवाह होता है और उसकी रचनाएँ महत्वपूर्ण दस्तावेज। 'जो रचनाकार सामाजिक जीवन की गहराइयों में जितना अधिक उतर सकने की क्षमता रखता है, उसकी रचना के औजार उतने ही तीक्ष्ण होते हैं और उसकी रचना उतनी ही अधिक जीवन्त होती है।'[९] रचनाकार उस अलोकवादी व्यवस्था से वैचारिक स्तर पर सांस्कृतिक लड़ाई लड़ता है। इसलिए एक तरफ तो वह समाज के सामने वर्तमान की विद्रूपताओं को रखता है, उनके कारणों की ओर इशारा करता है उन विसंगतियों के बीच अपनी निरन्तर गिरती स्थिति पर सोचने के लिए प्रेरित करता है तो दूसरी तरफ वह उस सांस्कृतिक चेतना से लैस करता है, उसकी मानवीय संवेदना को जगाता है। 'समकालीन कविता की वैचारिकता को इसी अर्थ में समझा जा सकता है कि कोमलता और करुणा की कविता के रूप में वह एक तरफ तो सघन संवेदना की जरूरी मानवीय दुनिया की कविता है और दूसरी तरफ हर विषय पर सोचने की वैचारिक प्रक्रिया भी।'[१०] रचनाकार अपनी संवेदना को रचना में ढालने की प्रक्रिया में अपने

घर परिवार, पास-पड़ोस, यार दोस्त के सुखों दु खो से जुड़ता है। वह मानवीय दुनिया की हर नाजुक हरकत को अपनी लेखनी का विषय बनाता है। मा बाप, भाई-बहन, पुत्र पुत्री पति-पत्नी प्रेमी प्रेमिका के संवेदनात्मक रिश्ते को रचनाकार उकेरता है। बेटी की बिदा बेहद नाजुक मामला है—

'कोन बिहो माला पानी एक घर,
तोर बिन मोर छाती होयय गरू,
बड सिधवा नोनो तयँ गुनागर सरू
बोल तय कभू नहीं मोला करू
अइसन दुलौरिन ला कइसे के बेदव।'

(दानेश्वर शर्मा)

बेटी जब ससुराल से मायके आती है, तब उसके मन म एक साध होती है—

में लुगरा के लाभिन मोहो ससुरार सामरथ हावे।
मइके के पेज पिये बर मोर मन बड तरसावे।

(श्यामलाल चतुर्वेदी)

मइके के पेज पिये बर —कहकर कवि ने जबरदस्त संवेदना की सृष्टि की है। इसी तरह शर्माजी की कविता म 'बेदव' शब्द बेहद महत्वपूर्ण और गहरे अर्थ का अनुगामी है। पिता की नजर म पुत्र और पुत्री दोनों का समान महत्व है। पुत्री को बिदा देते हुए पिता को लगता है जैसे वह उसे बलात् प्राण से दूर कर रहा है। मा और पुत्र के संवेदनात्मक सम्बन्ध पर बड़ी बड़ी रचनाएं लिखी गई है। निम्न कवितांश म मा अपने पुत्र को दुख की दवा मानती है—

अधरी के मोर लाठी बिडगा मोर कन्हैया दाई।
मोर पड़वा मैना सुआ दुख के मोर दवाई।

(शुकलालप्रसाद पाण्डे)

रचनाकार सम्बन्धो को संवेदनात्मक आधार देता हुआ भी सामाजिक विसंगतियों को पाठक के सामने रख सकता है—

का कहौं रात दिन एक बात गुनथों—
मोर बहना तोर कइसे पीयर करौं हाथ।
सगा मन्ने सबइ मेउ बर भइगे लाभिया
सोना चांदी मां कइसे सजावा तोर डोलिया
भातो बस बहनो पहुसा बिन गोंगी।

आज दहेज प्रथा को रागसी मध्यवर्गीय परिवार को बर्बाद सील रही है। अर्थ की प्रधानता ससुरालो म निरन्तर बढ़ती जा रही है। और हिंसक घटनाओ का कारण बन रही है। भाई के प्रश्न पर मइके का उत्तर स्नेह-प्यार स भरा तो है ही साथ ही सामाजिक जागरूकता स भी—

'घरे मां गोबर गोद दरके जी जाहूँ
फेर कोनो लोमिया संग बिहाव नइ रचाहूँ ।'

(लक्ष्मण मस्तुरिया)

पारिवारिक सम्बन्धों के माधुर्य को छत्तीसगढ़ी के कवियों ने भी रचना में स्थान दिया है—भाभी अपनी ननद को उसके 'लेनहार' के आने की सूचना पूरी शिष्टता के साथ देती है—

'धान लुवागे सुग्गा होगे, खेतखार गोई ।
आ गये मोर नदोई ।'

(डा० महेन्द्र कश्यप राही)

भाभी और देवर का रिश्ता हंसी दिल्लगी का होता ही है, लेकिन इसके साथ ही उनके बीच ममता वात्सल्य का भी रिश्ता होता है । प्रस्तुत अंश मे देवर नही चाहता कि उसकी भाभी मायके जाए—

आँसू गिरही, देख के ककरो लुगरा लाली किनार,
सुन लो झनजा मोर भउजी, आगे फागुन तिहार ।

(शिवशंकर शुक्ल)

यहाँ देवर के रोकने का अंदाज शिष्ट और दोस्ताना है । भाभी के अंदर जो ममतामयी माँ है, उसकी तारीफ करना देवर नहीं भूलता । ठंड के दिन हैं । भाभी सुबह नहाकर आई है । कपड़े गीले हैं । फिर भी, वह बच्चों के लिए गरम गरम 'चिला' पहले सेंक देना चाहती है—

'आँखी रमँजत उठे हे भउजी,
लुगरा गिल्ला गिल्ला ।
लमो ले बपुरी हा राँधत हे,
लइका मन बर चीला ।'

(भीखमदास वैष्णव)

देवर को इस बात का दुःख है कि घर की गिरती हुई आर्थिक स्थिति ने भौजी के कंगन बिकवा दिए । वह उस समस्या का समाधान 'सुमति' में देखता है—

'नवतप्पा के सुरुज हा लेसत हे अगना
कलकी घर बेंचा गय भउजी के कँगना,
दुख ला टोरी जइसे काड़ी,
चलो रे सबो सुमता कस माड़ी ।'

(गेंदराम सागर)

इसी प्रकार रचनाकार ने सास बहू के स्नेहिल दृश्य को शब्दों में बाँधा है—

'सास बहू ला पार गोहार,
कहिये तुलसा मा दिया ला बार,

नवा बहुरिया के भारी पाँव,
दिया धरे अँचरा के छाँव।'

(हरि ठाकुर)

सृजन के समाजीकरण का दायित्व सृजन के दायित्व से भी ज्यादा महत्वपूर्ण इसलिए होता है कि लेखन एक सामाजिक कर्म है। यह, वह जगह है जहाँ लेखक को बहुत सतर्कता बरतनी पड़ती है। पारिवारिक रिश्तों को लेकर लिखी गई रचना शिष्टता की माँग करती है चूँकि हमारी संस्कृति संबंधों के झरोखों से झाँकती है। धान लुवाई के समय का एक दृश्य रचनाकार ने बहुत ही प्रभावशाली ढंग से बाँधा है—

'लकर धकर बपुरी लइकोरी समधिन हा घर जावय,
चुरुर चुरुर नान्ह बाबू ला दूदू पिया के आवय,
दीदी लुवयधान खबाखब माटा बाँध भारा,
अऊहा चऊहा वोहि-वोहि के लजय भउजी ब्यारा।'

(कोदूराम दलित)

इस कवितांश की समधिन'— लाखो मे एक भन हावय ग मोर समधिन से अलग और स्वस्थ सर्जना है। पति पत्नी के अटूट रिश्ते को रचनाकार ने 'आग और धुएं' के रिश्ते से तुलना की है—

'आगी कस धुगिया कमेलिन हा
करही पाछू तोर घरे-घरे चरिहा।
अन्सन बूता दूनो मिलके कमाहू ग
घोरको छूटे झन कोनो डहर परिया।

(बी० डी० एल० श्रीवास्तव)

पति पत्नी के संवेगात्मक सम्बन्ध के बीच श्रम की उपस्थिति श्रमजीवी संस्कृति की शायद पहचान भी है। 'मानवीय सम्बन्धों का सबसे ज्यादा आदिम प्रसंग और उत्तेजक संदर्भ है—प्रेम। यह सबसे व्यापक और लगभग पूरा अभिव्यक्ति माध्यम भी रहा है। और कदाचित् शुरू से लेकर अब तक कविता का महत्वपूर्ण सरोकार भी।[६५] छत्तीसगढ़ी कविता-संसार में प्रेम की उन कविताओं को नजरअंदाज नहीं करना है जिनसे रिश्ते गरिमामय हुए हैं, जिनसे प्रेम का स्वरूप नैतिक और आत्मिक हुआ है क्योंकि प्रेम और प्रणय सिर्फ रूमानी संसार की काल्पनिक उड़ानें और आत्मकेन्द्रित, व्यक्तिवादी, अराजकता की स्वेच्छाचारी स्वैर कल्पनाओं का संसार नहीं है। वह मनुष्य सभ्यता और संस्कृति की विकास-यात्रा का मानवीय बिम्ब भी है।[६६] छत्तीसगढ़ी में प्रेम और शृंगार की ऐसी कविताएँ भी हैं जो मध्ययुगीन मांसल प्रेम की याद दिलाती हैं। यथा—

'करधन अंग अंग तोर अमरित
पी के मयहर गयेव मताय।
टिप टिप भरे रखे हस करसी
दू ठो छाती मां बँधवाय।

तीसो दिन बारो महिना—
कुँवर कँवची पातर कहिया—
धसो फँक्य कस के फँदा ।'

(डा० विमलकुमार पाठक)

हमारा युग मध्ययुग से मीलों आगे आ चुका है। अब प्रेम और शृंगार का आधार केवल शारीरिक नहीं रह गया है। निम्न कविताश मे कवि ने नायिका की बाँहों को शीतलता प्रदान करने वाली कहा है, नीम की छाँव की तरह—

'गोरी तोर बइहा,
लीम अस छइहा।

(मेहतर राम साहू)

इसी तरह नायिका 'धमनी के हाट' म नायक को देखती है। वह उसका जिस रूप मे वर्णन करती है, उससे उसके प्रेम की निःस्वार्थता तथा नायक का वर्ग-चरित्र स्पष्ट हो जाता है—

लकर-धकर आए जोही, आखी ला मटकाए गा,
कइसे जादू करे मोला, सुरता मां रिझाए गा,
चूवी म तयँ चोंगी चोंचे झुलुप ला बगराए गा,
चकमक अउ सोला म त चोंगी ला सपचाए गा।'

सूखे (बिना किसी लालच के) में रीझने वाली नायिका का प्रेम किन ऊचाइयों पर है और चकमक (पत्थर) से चोंगी सुलगाने वाले नायक का वर्ग-चरित्र क्या है—यह बहुत स्पष्ट है। चाहे वह पति-पत्नी का प्रेम हो या प्रेमी-प्रेमिका का प्रणय, चूंकि छत्तीसगढ़ मे एक जमाने से किसानी संस्कृति है, अतः वह उन मानवीय भावों को श्रम से जोड़कर देखता है। नायिका अपनी सहेली से कहती है, कि वह उस पुरुष से विवाह करेगी, जो उसकी खेती मे हाथ बँटाए—

गोई! मयँ तो तेहूँ रे बिहाये
जउने मोर खेती ला रे लगही कमाये—
रे, सोना उपजाये।

(डा० विमलकुमार पाठक)

इसी प्रकार नायक जेठ की भरी दोपहरी में खेत मे कुदाल चलाने के बाद लौट रहा है। परिश्रम के बाद भी उसे भूख इसलिए नहीं सता रही है, क्योंकि उसे नायिका की मीठी बातें याद आ गई हैं—

'लकर-धकर ले बेरा ढरगे,
करथी मन के धलो उसरगे,
गाँव शहर/मया खातिर—
रँगते जिया लहरात।

कतिक मीठ तोर मन के बात।
भूख प्यास नइ जनाय।'

(विनोद परमार)

कहीं कहीं विशुद्ध प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है—

तोर डेरा मोर बर हे महल बरोबर
तोर अगना मोर साध, सपना धरोहर
तोर मया मोर बर हे सरग ले आगर,
तोर बिना मोर जिनगी कांकर अउ पाथर।

(लक्ष्मण मस्तूरिया)

प्रेम जैसे प्रसंग में भी कवि की वर्ग दृष्टि सजग रहती है। इसे हम कवि के काव्य-चरित्र या रचनाशीलता की कसौटी भी कह सकते हैं—

छानी के आज मोर नइ दिखे छकन्या
बाढ़ हे नदिया फेर कहाँ हे रवइया।

(नारायणलाल परमार)

'घर म जो होय के आरो देथे
मग-मग ले साग ला बघार के।

(अनुरुद्ध भोई)

हरियर-हरियर लुगरा पहिरे चरी कारी
धीरे-धीरे आवत रेहे बोझा धरे भारी
सोला देखेंव तभी ले मोर सुध भुलागे।

(जगमोहन मिश्र)

ऊपर के काव्यांशों में आया हुआ नायक महलवासी नहीं है। नायिका किसी जमींदार की पुत्री नहीं है और न होटलों में, कॉकटेल पार्टियों में चहकने वाली बुलबुल है। छानी छकन्या, 'साग ला बघार के' और 'बोझा धरे भारी' शब्द समूह रचनाकार के वर्ग की ओर इशारा करते हैं।

संवेदनशील रचनाकार की संवेदनशीलता घर-परिवार, पास पड़ोस, इष्ट मित्रों से फैलती हुई सम्पूर्ण मानव समाज पर फैल जाती है—

अमरया बन जइ छाँव म मोर संग बइठ जुड़ालव।
पानी पीलव मय सागर अंव दुख पीरा बिसरालव।
नवा जोत लय नवा गाँव बर रस्ता नवा गढ़व रे।

(लक्ष्मण मस्तूरिया)

रचनाकार पूरे समाज को साथ लेकर चलना चाहता है। यहीं से 'सुमत', 'सगठन' या एका की यात्रा प्रारंभ होने की संभावना बनती है—

'एक बोली - बात एक रस्ता म रेंगव ।
एक ठन आंखी म सब कहूँ देखव ।'

(पुनुराम साहू 'राज')

इसी प्रकार एक रचनाकार ने एक ऐसा दृश्य प्रस्तुत किया है, कि जिसमें देखते हुए हम कवि के संवेदनात्मक मन में झांक सकते हैं। कविता के 'सुद्दू' नामक नायक-किसान को एक नवजात शिशु मिलता है। किसान की पत्नी रूई के फाहे को दूध में भिगोकर उस शिशु को पिलाती है—

'रूई फोहा म दूध पियावत, थम थम देखत नारी।
सुद्दू नींद भांज सकत नइ, टहल-टहल जगवारी।'

(नूतनप्रसाद शर्मा)

आदमी अपने व्यक्तिगत सुखों दुखों को समाज के सुखों दुखों से मिलाकर जब तक नहीं देखता, तब तक उसे अकेलेपन का एहसास (पूंजीवादी बौद्धिक दुर्गुण) सालता रहता है। रचनाकार हर पल यही चाहता है कि सुखों-दुखों का भी समाजीकरण हो—

'बाँट ले सगी,
सुख-दुख हा बँटा जाही,
चुरोना कस चूर के देखव,
मन के महल हा छँटा जाही।'

(मेहतर राम साहू)

आदमी की संवेदनशीलता का प्रसार प्रकृति तक होनी चाहिए। इस समय तो इसकी जरूरत और भी ज्यादा है। क्योंकि पूंजीवाद आदमी को मशीन में बदल देना चाहता है। रचनाकार समाज का सबसे ज्यादा संवेदनशील प्राणी है। सच तो यह है कि 'विश्वकाव्य की कोई भी बड़ी प्रतिभा प्रकृति के सौंदर्य से संवेदित हुए बिना न तो मानवीय सार्थकता पा सकती है और न रचनात्मक। एक हद तक प्रकृति की गोचर सत्ता से संवेदित होने की क्षमता का अनुपात ही उसकी मानवीयता का अनुपात भी है।'[६७] छत्तीसगढ़ी के कवि भी प्रकृति के सौंदर्य पर अनुरक्त हुए हैं। चूंकि आदमी का प्रकृति से न केवल सौंदर्य-बोधात्मक सम्बन्ध है, वरन् वह आदमी की जिंदगी के बुनियादी सवालों से भी जुड़ी है, अतः इस जुड़ाव में श्रम की भूमिका कहीं न कहीं बन ही जाती है। छत्तीसगढ़ी रचनाकारों की प्रकृति सम्बन्धी रचनाओं में प्रकृति का गोचर सत्ता के रूप में नदी पहाड़, पेड़ पौधे, फूल बादल पानी तो है ही लेकिन वे सबसे ज्यादा जुड़ाव धरती के साथ महसूस करते हैं। छत्तीसगढ़ की धरती के माध्यम से वे सम्पूर्ण धरती को स्मरण करते हैं—

साहे बिंदिया सहीं घाटे-डोंगरी पहाड़,
चंदा सुरुज बनय तोर नयना।
सोनहा धाने के अंग लुगरा हरियर हे रंग,
तोर बोली हवय सुघ्घर मयना।

(डा० नरेन्द्रदेव वर्मा)

रचनाकार यह भी अनुभव करते हैं कि प्रकृति के क्रिया-व्यापारों में आदमी की उपस्थिति प्रकृति को भी साथक करती है—

'बादर के बदहां म सुरुज लुकाय रे।
जगल म मँजूर नाचे,
फुलचुवकी इतराय रे।
झनकर ससो, कहि के नदिया
नरवा ला दुलराय रे।
× × ×
मया के मारे पानी अपन
धरती ला नहवाय रे।
कहूं हा मरों माठा जोंते
कहूं ला बारो भाय रे।

(नारायणलाल परमार)

रचनाकारों ने प्रकृति के माध्यम से श्रृंगारिक रचनाओं का भी सृजन किया है लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि उनमे भी मानवीय उपस्थिति का आभास होता है—

'फूल ला तितली मन सुनाथे—
लहरा के ककनी खनखथे गा।
पुरइन के पाना म सपना के रानी,
हवा के परी झनकथे गा।
आथे चंदनी मोर चरा सजावत—
कहिया म गगरा धरे हे।

(डा० हनुमन्त नायडू)

अग-अग म सोनहा गहना लादे गोंदा आये।
संग चदनी गोंदा ले के घर घर अलख जगाये।'

(प्यारेलाल गुप्त)

उपर्लिखित काव्यांशों म 'पुरइन के पाना म सपना के रानी - जहाँ प्रकृति में मानवीय उपस्थिति का इशारा है वहीं— घर घर अलख जगाये —प्रकृति के क्रिया-व्यापारों पर आदमी के क्रिया व्यापारों के आरोपण का संकेत है।

प्रकृति में इस संदर्भ वाली अनेक कविताएँ छत्तीसगढ़ी रचना संसार म मिलती हैं। प्राय सारे कवियों ने इस पर कलम चलाई है—

'काजर सहीं करियर करियर दिखत हवे पानी
तरिया म बने खोचमा फूल के फूले हे जवानी,
धान के सुवई होथे गाँव सब बदरिया
दरती बेरा कमिया मन माहुन आवे तरिया।

(रामप्यारे सिंह)

भर गे ताल तरया भया, भर गे ताल तरया ।
रिमिर झिमिर जस पानी बरसे,
महके खेत - खार के माटी ।
घुदुर - घुदुर जस बादर गरजे,
डोले नदिया परवत घाटी ।
नागर धर के निकलिन घर ले,
सबे किसान कमैया ।'

(हरि ठाकुर)

छत्तीसगढ़ी के रचनाकारों ने क्षेत्र के जीवन-यथार्थ याने यहाँ की जीवन-स्थितियों पर भी बहुत कुछ लिखा है—

'हमर लहू बन के पछीना भुइँया म गिरथे,
तभे धान के बाली भया जम के बड़ फरथे,
फेर हमर हड़िया रीता हे कुड़गे हवे परान
तोला का बतावें मितान,
मोर देस के किसान,
कहे बर हवे भुइँया के भगवान ।'

(महावीर अग्रवाल)

गोड़ - मूड़ ले चिखला मताथी
खुर्री लई रोपा लगाथी,
नाँगर-कोपर सब धप हो के,
गोबर - घातू राख - गिल्ला माई - पिल्ला—
पसिया पी - पी के बेरा हम बितान ।'

(फूलचन्द श्रीवास्तव)

रात - दिन कमायन हम,
नाँगर जोते ला जायन हम
मुधियार होत ले आयन हम,
खोंची भर ला पायन हम ।'

(उधोराम झखमार)

कविताओं से साफ जाहिर है कि छत्तीसगढ़ के किसान भरपूर श्रम करते हैं लेकिन पसिया पीकर जिन्दगी जीते हैं या उनके हिस्से 'खोंची' (मुट्ठी) भर अनाज ही आता है। उस पर तुर्रा यह कि वे धरती के भगवान् कहे जाते हैं।

इन समस्याओं से जूझते हुए भी रंग बदलती प्रकृति उन्हें लुभाती है। बदलता हुआ मौसम उन्हें नाचने-गाने को मजबूर कर देता है। यही वह वक्त होता है, जब श्रम से पैदा हुई संस्कृति उनके गीतों, नृत्यों तथा अन्य सांस्कृतिक-सामाजिक व्यवहारों में मुखरित होती है—

'पीपर उल्होगे अउ डूमर धुलोगे,
गस्ती, तेंदू, चार महुँआ लुमोव,
मेला - मडाई गमागे झमाझम,
चले रहचुली अउ ढेलुवा।
रग माते रे मांग फगुनवा।
बिहाव-पठौनी के लगन धरागे,
संगी-जहुँरिया मया म बँधागे,
गावत बजावत चले चउथियारिन
बाजा - रूजी संग बरतिया।
रग माते रे मांग फगुनवा।

(लक्ष्मण मस्तूरिया)

यहाँ का जन-जीवन समस्याओं से जूझता हुआ भी प्रेम-प्रणय जैसी मानवीय भावनाओं से रिक्त नहीं होता। शृंगार म रस लिया जाता है—

'पाटी पारे मांग सँवारे, हँसिया खोंचे कमर म,
जाय खेत मोटियारी मन, तारा दे-दे के घर म,
छनर - छन्नर परी बाजय, खन्नर - खन्नर चूरी
हाँसत - कुलकत - मटकत रेंगय बेल बेलहिन टूरी।'

(कोदूराम दलित)

लेकिन इस शृङ्गार मे एक खास फर्क यह है कि कविता-परिदृश्य में उपस्थित जवान लडकियों की कमर में हँसियाँ खुंचे हुए हैं। उनकी कमर कुचर कैंचकी कन्हिया' से अलग है। दृश्य के वर्णन मे कवि हावी नहीं है। वरन् वह सहज होकर यथार्थ की जमीन पर दृश्य का पुन सृजन करता है।

मनुष्य की जिन्दगी चूंकि गतिशील है, अत उसे देखने की दृष्टि गतिशील यथार्थ-परक ही होनी चाहिए। अपनी समय सीमा में उन मान्यताओं को आज की जिन्दगी पर नहीं लादा जा सकता। और यदि ऐसा किया जाता है तो जिन्दगी के प्रति रचनाकार के निर्णय को सरस नहीं कहा जा सकता—

जिनगी येखरे गांव, कभू घूप, तो कभू छाँव।
कखरो बाँटा भूखे भूख, कखरो बाँटा गांव।
जिनगी मोहे फूल के दसना,
जिनगी मोहे रस में रसना,
जिनगी आय करम के खेती,
जिनगी आय विपत में हँसना।

(सुशील यदु)

कवि के सामने आर्थिक व्यवस्था (कखरो बाँटा भूखे भूख कखरो बाँटा गांव) स्पष्ट है। इसके बाद भी जिन्दगी के धूप छाँव को 'करम के खेती (भाग्य की खेती)

स्वीकार करता है। इस तरह कविता भावगत-विसंगति से ग्रस्त हो जाती है। जिन्दगी के धूप-छाँव का मध्ययुगीन हल प्रस्तुत करने के बदले—

'जिनगी हावे अपन बाँह के भरोसा।
बिना कमाई कहिके नइए आशा।'

(पुनराम साहू 'राज)

या— 'चदा बन के जीबो हम,
सुरुज बन के मरबो हम,
अन्यायी के आधू रे भइया—
आगी बरोबर बरबो हम।'

(लक्ष्मण मस्तूरिया)

—कहना ज्यादा वाजिब होगा। ग्राम-समाज श्रम का महत्व समझता है, फिर भी वह टूटते हुए सामंती मूल्यों को पूरी तौर पर छोड नही पा रहा है। यह एक अन्त-विरोध है। इसी तरह शहरी समाज भी पूंजीवादी अवगुणों को धीरे धीरे जब्त करता जा रहा है, यह मानते हुए भी कि उसका शोषण पूंजीपति और उसके नाजायज नाती पोते ही कर रहे हैं। यह भी एक अन्तर्विरोध है। देश के आर्थिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए बडी-बडी योजनाएँ बनती हैं, क्रियान्वित भी होती हैं। लेकिन उन योजनाओं का फायदा सामान्य जनता को कम ही मिल पाता है। क्योंकि—

'जलघत ले होही नहीं जर सोसन के अंत।
अमरित बरसे तभो ले, होवय नहीं बसंत।

(हरि ठाकुर)

लेकिन बहुत निराश भी नही हुआ जा सकता। क्योंकि यह शोषक व्यवस्था जैसे-जैसे पाँव फैलाती है, अपने फंद मे ही फसती जाती है। एक दिन इसका परिणाम यह होगा कि—

'जंगल के बरहा,
तने रहिस गर हा,
फर कइसे का होइस त—
अपनेच सींग म—
फँस गे असकरहा।'

(मेहतर राम साहू)

फिर भी वर्तमान स्थितियों के प्रति रचनाकार का गुस्सा नाजायज नहीं कहा जा सकता। यह गुस्सा न केवल रचनाकार का है, वरन् रचनाकार के माध्यम से एक बहुत बड़े जन-समुदाय का है—

सिधा रेहे मं मलफर लागे,
टेड़गा अब बन जाना हे।

पटकई म पीठ छोलागे,
पेट के खाज बचाना हे।'

(लक्ष्मण मस्तुरिया)

'कहाँ हे हमर पूँजी गन-गन के लेबोन।
सोझ म मइ मानिन त चटकन म देबोन।'

(भगवतीलाल सेन)

शोषक व्यवस्था के प्रति कवि के मन मे क्रोध और घृणा होने के साथ ही शोषित जन के प्रति उसके मन मे सहानुभूति भी होती है। बल्कि उस क्रोध और घृणा से यह सहानुभूति अधिक मूलभूत और गहरी होती है। [६८] अतः कविता मे गुस्से की अभिव्यक्ति के साथ ही साथ यह आत्मविश्लेषण भी जायज होगा कि हमार अन्दर का रचनाकार कहीं अराजक तो नही हो रहा है, कि कहीं हमारी राजनतिक दृष्टि अपरिपक्व तो नहीं है, कि कहीं अपनी रचना के प्रति हमारा रचनाकार असावधान तो नही है? अगर ऐसा हुआ तो रचनाकार की ऊर्जा व्यय हो जाएगी। जैसे—

'मोर देस / देस कम आय,
सील जावा /
मन ले मन पाताल मिरचा के चटनी अस—
बिन नून के पिसावत हन—
गनतन्त्र के सोढ़िया म।

(भगतसिंह सोनी)

आज के युग म गणतन्त्रात्मक-राजनैतिक व्यवस्था श्रेष्ठ मानी जाती है और है भी। लेकिन रचनाकार की दृष्टि मे सारी बुराई की जड गणतन्त्र है। जब कि पूंजीवाद गणतन्त्र जैसी राजनैतिक व्यवस्था को अपने हित मे प्रयोग कर रहा है। रचनाकार इस समस्या का हल उपदेशक बनकर नहीं तलाश सकता।

छत्तीसगढ़ी में ऐसे भी रचनाकार हैं जो वर्ग विभक्त समाज को वर्ग विहीन समाज म बदलने के लिए वैचारिक लड़ाई लड रहे हैं। वे ऊँच-नीच की खाइयों को पाट देना चाहते हैं—

'धर ले रे कुदारी ग किसान।
आज डिपरा ला खन के डबरा पाट देबो रे।

(मुकुन्द कौशल)

श्रम को बेचने वाले बहुत बड़ जन समुदाय के साथ उसकी सहानुभूति है—

'जेखर जांगर, ओखरे मांगर,
जेखर मांगर, ओखरे मुदरी।
अन उपजया मन के बल म
चलत हवे सब दिन म दुनिया।

(हरि ठाकुर)

।

लेकिन पूंजीवादी व्यवस्था के चलते मंजिल बहुत नजदीक भी नहीं है। इसके लिए निरन्तर चलना होगा—

'तिपे चाहे भोंभरा, झन बिलमव छाव म
जाना हे हमला, ते गांव अभी दुरिहा हे।
कतको तुम रेंगव ग रद्दा हा नइ सिराय
कतको आवय पहाव, पांव जस नइ पिराय,
तइसे तुम जिनगी म महिनत संग मीत बदो—
सुपना झन देखव ग छांव अभी दुरिहा हे।

(नारायणलाल परमार)

आज, इसमें शक नहीं कि छत्तीसगढ़ी कविता ने आठ दशक की लम्बी यात्रा में, जहाँ वस्तु के स्तर पर खुद को समृद्ध किया है वहीं शिल्प के स्तर पर भी खुद को सँवारा है। और सबसे महत्व की बात तो यह है कि अधिकांश रचनाकार समकालीन स्थितियों के प्रति सजग हैं। विश्वास है, कि भविष्य में शोषित-पीड़ित के हित में जाने वाली विचार-धारा में छत्तीसगढ़ी रचना संसार अपनी ऊंचाइयां पाएगा। क्योंकि छत्तीसगढ़ी के रचनाकारों में अब वह दृष्टि विकसित हो रही है जो—

हम तोर संगवारी कबीरा रे,
हम तोर संगवारी
लेके हाथ लुकाठी अपने,
हम फूंके हन घरबारी

(लक्ष्मण मस्तूरिया)

—कह सकें।

संदर्भ

(ग्रंथ पत्र पत्रिकाएं, आलेख डायरियां)

१ भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी डा० रामविलास शर्मा पृ० ६७
२ वही, पृ० २८१
३ शब्द और कर्म मैनेजर पाण्डेय पृ० १११
४ छत्तीसगढ़ी साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन नंदकिशोर तिवारी पृ० ६
५ वही, पृ० ७
६ साहित्य और सामाजिक संदर्भ डा० शिवकुमार मिश्र पृ० १०
७ आदिवासी और हम (आलेख) राजनारायण मिश्र
८ जनधर्म छत्तीसगढ़ विशेषांक
९ प्राचीन भारत एक रूपरेखा डी० एन० झा पृ० १२४
१० छत्तीसगढ़ी लोकजीवन और लोकसाहित्य का अध्ययन डॉ० शकुंतला वर्मा पृ० १३

११ वही पृ० १३
१२ छत्तीसगढ़ी भाषा का उद्‌विकास डा० नरेन्द्रदेव वर्मा
१३ छत्तीसगढ़ी लोकसाहित्य का अध्ययन दयाशंकर शुक्ल पृ० १०६
१४ प्राचीन छत्तीसगढ प्यारेलाल गुप्त (जेन किंस रिपोर्ट १८२७ से उद्धृत अंश)
१५ छत्तीसगढ़ी लोकजीवन और लोकसाहित्य का अध्ययन डा० शकुन्तला वर्मा
१६ इसलिए—१ ओ० चित्रन्ना रेड्डी पृ० ७२-७३
१७ उत्तरगाथा—१०-११ भरतसिंह पृ० १८०
१८ छत्तीसगढ़ी लोकजीवन और लोकसाहित्य का अध्ययन डॉ० शकुन्तला वर्मा
१९ उत्तरगाथा—१०-११ भरतसिंह पृ० १७४
२० छत्तीसगढ़ी लोकजीवन और लोकसाहित्य का अध्ययन डा० शकुन्तला वर्मा
२१ छत्तीसगढ़ी लोकसाहित्य का अध्ययन दयाशकर शुक्ल पृ० ११०
२२ छत्तीसगढ़ी लोकजीवन और लोकसाहित्य का अध्ययन डा० शकुन्तला वर्मा पृ० ३५
२३ छत्तीसगढ परिचय डा० बल्देवप्रसाद मिश्र
२४ कलम मार्क्स विशेषांक पृ० ६५
२५ छत्तीसगढ़ी लोकसाहित्य का अध्ययन दयाशंकर शुक्ल पृ० १११
२६ छत्तीसगढ़ी सेवक वीरनारायण सिंह बलिदान दिवस अंक हरि ठाकुर पृ० ३
२७ देशबंधु रायपुर लोककला कितनी लोक कितनी कला गोरेलाल चंदेल
२८ भारत वर्तमान और भावी रजनी पामदत्त पृ० ४१
२९ उत्तरगाथा साम्प्रदायिकता अंक भरतसिंह पृ० १७८
३० उत्तरगाथा प्रेमचंद पृ० २०
३१ भारत वर्तमान और भावी रजनी पामदत्त पृ० १७०
३२ छत्तीसगढ़ी लोकसाहित्य का अध्ययन दयाशंकर शुक्ल पृ० १११
३३ छत्तीसगढ़ी सेवक वीरनारायण सिंह बलिदान दिवस अंक डा० रमेन्द्रनाथ मिश्र पृ० ८
३४ छत्तीसगढ़ी लोकजीवन और लोकसाहित्य का अध्ययन डॉ० शकुन्तला वर्मा पृ० २५
३५ वही, पृ० २५
३६ नव भारत (रायपुर) ९ अगस्त १९८६ रायपुर में भारत छोड़ो आंदोलन का पहला दिन हरि ठाकुर
३७ भारत का मुक्तिसंघर्ष और रूसी क्रांति विश्वामित्र उपाध्याय पृ० ६७
३८ वही पृ० ६८
३९ हस्तक्षेप धनंजय वर्मा पृ० ८६
४० वही पृ० ८६
४१ शमशेर की कविता वस्तु प्रारूप और शिल्प की द्वंद्वात्मकता (आलेख) डा० राजेश्वर सक्सेना

४२ पहल—२२ डा० रामविलास शर्मा से महेन्द्रपाल शर्मा की बातचीत
४३ पहल– १३ कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह
४४ प्रगतिशील कविता के प्रतिमान नागार्जुन धनंजय वर्मा
४५ छत्तीसगढ़ी साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन नंदकिशोर तिवारी पृ० २२
४६ साहित्य और सामाजिक संदर्भ डा० शिवकुमार मिश्र पृ० ७३
४७ वही पृ० ७३-७४
४८ साहित्य और विचारधारा डा० कमलाप्रसाद पृ० ११
४९ शब्द और कर्म मैनेजर पाण्डेय पृ० १३
५० वही, पृ० ८८
५१ साहित्य और सामाजिक संदर्भ डॉ० शिवकुमार मिश्र पृ० १६०
५२ शमशेर की कविता वस्तु, प्रारूप और शिल्प की द्वंद्वात्मकता डा० राजेश्वर सक्सेना
५३ प्राचीन छत्तीसगढ़ प्यारेलाल गुप्त पृ० १३९
५४ जाति और वर्ग बी० टी० रणदिवे पृ० ४७
५५ छत्तीसगढ़ में प्रगतिशील लेखन वर्तमान और संभावनाएँ (आलेख) प्रभाकर चौबे
५६ ब्रहनिए—१ जनवरी ८४ ओ० चित्रप्पा रेड्डी
५७ भारत वर्तमान और भावी रजनी पामदत्त पृ० ३१५
५८ पहल—१६ डॉ० नन्दकिशोर नवल
५९ शब्द और कर्म मैनेजर पाण्डेय पृ० ६५
६० कलम मानस विशेषांक महादेव साहा पृ० १११
६१ वही बी० टी० रणदिवे
६२ हस्तक्षेप धनंजय वर्मा
६३ साहित्य और सामाजिक संदर्भ डा० शिवकुमार मिश्र ११
६४ पहल—१४ अजय उपाध्याय
६५ प्रगतिशील कविता के प्रतिमान नागार्जुन धनंजय वर्मा
६६ वही
६७ वही
६८ शब्द और कर्म मैनेजर पाण्डेय पृ० ५६ ५७

अन्य

१ चन्दा (डॉ० महेन्द्र कश्यप राही)
२ करवा ल गे कान सा (मिहवर राम साहू)
३ लक्ष्मण मस्तुरिया के गीत (लक्ष्मण मस्तुरिया)
४, घरघुन्दियाँ (रमेश अधीर)
५ नदिया मरे पियास (स्व० भगवतीलाल सेन)

६ मोंगरी (सं० विनयकुमार पाठक)
७ नोंनी बेंदरी (रामेश्वर वैष्णव)
८ छत्तीसगढ़ी गीत अउ कविता (हरि ठाकुर)
९ चंदैनी गोंदा छत्तीसगढ़ की एक सांस्कृतिक यात्रा (सं० नारायणलाल परमार, त्रिभुवन पाण्डेय)
१० अकादसी (डॉ० विनय पाठक)
११ साक्ष्य (प्रवेशांक)
१२ युवा परिचय अंक-१ (सं० बाबू खान)
१३ दर्पण (सं० पुरन वर्मा)
१४ सहयोग दर्शन (रायपुर जिला सहकारी संघ मर्यादित)
१५ कवियों से व्यक्तिगत संपर्क एवं उनकी डायरियों एवं पत्रों से ली गई कविताएं।



छत्तीसगढ़ी प्रबन्ध-गीतों में नारी की संघर्षशील चेतना



गोरेलाल चंदेल

छत्तीसगढ़ी लोकसाहित्य का ऐतिहासिक विश्लेषण करने से यह ज्ञात होता है कि लोकसाहित्य लोकमानस के संघर्षशील एवं सश्रम के द्वारा निर्मित लोकसमाज के इतिहास का मुकम्मल दस्तावेज है। मनुष्य का इतिहास मानवीय श्रम द्वारा प्राकृतिक वस्तुओं के समाज की आवश्यकता के अनुरूप रूपान्तरण के दौरान मानवीय संघर्ष एवं जिजीविषा का इतिहास है। जिस समय मनुष्य ने दो पैरों पर खड़ा होना सीखा और आगे के दो पैरों को मुक्त कर हाथ के रूप में प्रयोग करना सीखा वहीं से प्रकृति के साथ उसका संघर्ष शुरू हो गया। इस संघर्ष में उसका मूल उद्देश्य रहस्यमय प्रकृति को अपनी आवश्यकता के अनुरूप बदलने का रहा है। इस बदलाहट में उसके द्वारा पदार्थ के पुराने रूप को नये रूप में परिवर्तित करना प्रमुख रहा है। मानवीय इतिहास के विकास क्रम में मनुष्य का यही श्रम और संघर्ष हर युग में हमें अंकित दिखायी देता है। उत्पादन के साधनों का तीव्रगति से विकास एवं उत्पादन शक्तियों तथा उत्पादन-सम्बन्धों में लगातार विरोधी सम्बन्ध उपस्थित होने के कारण उनका प्राकृतिक संघर्ष समाजार्थिक संघर्ष में बदलने लगता है। यही द्वन्द्वात्मक स्थिति लोक समाज के विकास का मूल है।

साहित्य चाहे वह लोकसाहित्य हो या लिखित साहित्य अपने समाज की परिस्थिति एवं परिवेश के दबाव से उत्पन्न होता है। फलस्वरूप समाज का आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक इतिहास, तत्कालीन मानव की पीड़ा संघर्ष आशा और जिजीविषा की अभिव्यक्ति स्वाभाविक है। लोकसाहित्य में आम मनुष्य की तमाम प्रवृत्तियाँ अधिक मुखर होती हैं। लोकसाहित्य के रचयिता आम मनुष्य के बीच के होते हैं इसलिए उनकी दृष्टि अधिक यथार्थपरक, उनका अनुभव अधिक ठोस और उनकी संवेदना अधिक गहरी होती है। हमें इस साहित्य में चिन्तन की गहराई या दर्शन की जटिलताओं अथवा शिल्प की सजावट भले ही दिखायी न दे किन्तु पसीने की गंध और माटी की महक के प्रति, कोड़े की बेगार के बोध हटकर जान की ताकत के प्रति यह अधिक ईमानदार दिखाई देता है। क्योंकि लोकसाहित्य का जन्म निराई गोड़ाई, हल-बखर, फसल की कटाई मिसाई और चक्की के साथ जूझती हुई संघर्षशील हाथों में हुआ है। या फिर तमाम पीड़ा और दुःख को ढंककर मेल लगने में उभर कर थिरकते पैरों एवं मुस्कराते चेहरों के साथ विभिन्न पर्वों में निमग्न जनमानस के बीच होता है। अतः हम इन लोकसाहित्यों को आध्यात्मिकता का

चोला ओढ़ाकर इनकी संघर्षशीलता को नकार कर लोकसाहित्य के प्रति ईमानदार होने का खोखला दावा नहीं कर सकते।

मेरे इस लेख की सीमा है। इसलिए विस्तारभय के कारण मैं केवल नारी प्रबंध गीतों तक अपनी बात सीमित रखूंगा। नारी प्रबंध गीतों मे मौजूद ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक पक्षों की चर्चा करते हुए लोक प्रबंधकारों की प्रतिबद्धता को स्पष्ट करना ही इस लेख का प्रमुख उद्देश्य है।

नारी प्रबंध गीतों की गहराई म उतरने से ऐसा लगता है कि अधिकाश गीतों का रचनाकाल सामंतवादी सामाजिक यवस्था रहा है। सामंतवादी यवस्था मे नारी पर तरह-तरह के प्रतिबंध लगे हुए थे। नारी-स्वतन्त्रता लगभग समाप्त हो चुकी थी। नारी पुरुष की दासी बना दी गई थी और मात्र भोग की वस्तु बनाकर उसकी सघर्षशीलता भोथरी कर दी गई थी। नारी अपने जीवन की छोटी से छोटी आवश्यक्ता के लिए पुरुष की आज्ञा की मोहताज होती रही है। फलस्वरूप उसका पुरुष के अमानवीय अत्याचार का लगातार शिकार होना पड़ता रहा है। यह स्थिति सामन्ती व्यवस्था से जुड़ी हुई नारियों में अधिक दिखायी देती है। चारदीवारी मे कैद सामन्ती नारियों पर पुरुष का एकछत्र अधिकार रहा है —

अहिमन झन जा सगरी नहाय ला
बेटा जान सुन पाहय ते
पुरजा में खाल निकाल दे है। (अहिमन)

अहिमन पर लगाई गई यह पाबंदी मातृसत्तात्मक व्यवस्था के पितृसत्तात्मक में परिवर्तन के साथ ही शुरू हो जाता है। जहाँ गौना कराने के लिए स्मरण दिलाने मात्र से पुरुष का क्रोध चरम सीमा पर पहुँच जाता है —

पहिली ले लिखते कँवला सिरी सीतारामे
दूसर मे लिखत कवला मोये दे वो सलामे
मरद मोर होवय तो आही मोर बटाते
तिरिया जो होहव तो चूरी ला पहिरब

सामन्ती व्यवस्था का सामन्त पुरुष भला नारी की ऐसी धृष्टता कैसे बर्दाश्त कर सकता है ? पुरुष का खोखला स्वाभिमान उसे ललकारता है —

राजा मदन सिंह दे भई घोड़ा बर पूछी म
घोड़ा के पूँछी कँवला ला बाँधे
घोड़ा ला कुदावस अउ कवला हर चिमरय (कँवला रानी)

या

बोर सिंह राजा गये हे कचेरी
डोंड ला खेंच के गये

लोकसाहित्य का सभी नारी प्रबंधगीत नारी की इन्हीं व्यथाओं से भरा हुआ दिखायी देता है। सामन्ती व्यवस्था मे नारी की वास्तविक स्थितियों का यथार्थ स्वरूप

इन लोकगीतों मे दिखायी देता है। पुरुष समाज नारियो के जान-माल का पूर्ण स्वामी होता था। अहिमन रानी को तरिया नहाने के लिए पति की अनुमति न लेने का परिणाम भोगना पड़ता है।

गौवें ले अहिरावय कहना अउ राजा
कि झपट में चूंदी ला राजा हा धरय
घोडा के पूछी मा वेनी ला बाँधय
कि घुरमट मे घोडा कुदाय
अहिमन कहना अल्वर भइगे रे
मरौ मे जावय बीर सिंह राजा

लोकगीतकारो ने रानी को सामान्य नारी के अनुभव के माध्यम से देखा है। इसीलिए सामन्ती नारियाँ भी अपनी जमीन को छोड़ती हुइ दिखायी देती है—

कि घोरा के पूछी ला छोरय
हेरि कं हथियार दुइ भाग करे।

छत्तीसगढ़ के अधिकांश लोक गीतकार सामान्य वर्ग से ही सम्बन्धित हैं। इसलिए उनमें वर्ग चेतना बहुत अधिक दिखायी देती है। जहाँ एक ओर वे अपने समय की राजनैतिक चेतना से प्रभावित दिखायी देते हैं वही अनुभव की दृष्टि से निम्नवर्गीय अनुभव में पुख्ता नजर आते है। परिणामस्वरूप उनके नारी सम्बन्धी प्रबन्ध गीतों में जहाँ राजा-रानी का कथ्य है वहीं वर्णन में वे अपने वर्ग के अधिक निकट हैं—

कि अहिमन कइना मोटरी ला घर के रेंगय
आगे आगे कइना अहिमन चलय (अहिमन)

यहाँ रानी भी डोला-पालकी में न चलकर सिर पर मोटरी लेकर चलती है। यहाँ बारात में हाथी घोड़ा और फौज फटाका के साथ —

जेकर घर तेल रहय भई तेल ला चुपरय
गरीब बिचारा तो भई मोर पानी ला चुपरय
राजा मदन सिंह के भई मोर जावय बराते। (कवला रानी)

इन लोक गीतो में रानी चक्की पीसती दिखाई देगी। लोकगीतकारो ने रानी को वर्गच्युत (डिक्लास) करने मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। डिक्लास की यह प्रवृत्ति वर्गीय अनुभव तथा वर्ग दृष्टि का प्रमाण है। पूर्व में यह कहा जा चुका है कि लोककलाकार अधिकांशतः निम्न वर्ग मे आये हैं। फलस्वरूप निम्न वर्ग की नारियो को उन्होंने अपनी खुली आँखों से देखा है। इसलिए रानी की बात करते समय भी उनकी नायिका (रानी) में अपने वर्ग की नारियो का आरोपण मुख्य प्रवृत्ति रही है। रानी के चरित्र को न देख पाने के कारण जाने अनजाने अपनी नायिका को (रानी को) डिक्लास करते चलते हैं। इसीलिए रानी कभी 'गोबर के हेरइया राजा पानी के भरइया' के रूप में आती है तो कभी —

खटिया ला टार के जाँता ला बाहुरय
कि गेहूँ ला देवय महाय
डोकरी हा नोकर सम पिसन लागय न

गेहूँ पीसती हुई दिखायी देती है। लोकगीतकारों की रानी 'सगरी' से 'घइला' सिर पर रखकर पानी लाती नजर आती है। 'गोरसी ने मरदया राजा कचरा के फेंकइया' की चेतना लोककलाकार की ही चेतना हो सकती है। दरबारी कवि से ऐसी उम्मीद भी नहीं की जा सकती कि वह रानी में सामान्य वर्गों के कार्यों का आरोपण कर सके।

लोकगीतकारों के नारी प्रबन्ध गीत में नारियों द्वारा सामन्तवाद की जमीन तोड़ने की अभिव्यक्ति या उनके वर्गीय चेतना से प्रभावित दिखायी देती है। सामन्तवाद में सामाजिक बुनावट कुछ ऐसी थी कि सामन्ती नारियाँ जहाँ एक ओर दासत्व की मानसिकता का शिकार हो रही थी वहीं किसान मजदूर या भू दास वर्ग की नारियाँ सामन्ती नारियों की दासता की जमीन तोड़ने की दिशा में अग्रसर हो रही थीं। सामन्ती नारियाँ जहाँ श्रम से अलग-थलग पड़कर निरन्तर पराश्रित हो रही थीं, वहीं भू दास वर्ग की नारियाँ पुरुष से कंधा से कंधा मिलाकर श्रम में लगी हुई थी। सामन्ती व्यवस्था में पुरुषों का अत्याचार तो वे भी सह रही थी पर पुरुष के सामने वे बेजान मूर्ति बनकर नहीं रहती थीं वरन् अपने अधिकारों के लिए लड़ने की क्षमता भी उनमें थी। लोकगीतकारों ने अपने नारी प्रबन्ध गीतों में नारी की इस क्षमता को खूब पहचाना है। इसलिए पुरुष के आदेशों की अवहेलना कर 'सगरी' नहाने जाती हैं—

सभो ले सासे के भाखा नइ मानिस
कि आपन संगी बलाय (अहिमन)

सास द्वारा राजा का भय दिखाने पर भी रानी अहिमन सगरी नहाने जाती है। लोकगीतकारों की नायिकायें अपने अधिकारों के प्रति सजग दिखायी देती हैं। ज्योंही उन्हें मालूम होता है कि उनका विवाह हो चुका है वह सामन्तवाद की जमीन तोड़कर अपने पति से पत्नीत्व का अधिकार माँगने से नहीं चूकतीं—

अचरा ला चीर-चीर कँदला ओ कागज बनाव
काड़ी औ सूँटी के मुखना मोर सीस अउ स्याही
पहिली ले लिखते कचुला सिरी सीता रामे
दूसर में लिखते कँदला ये दो ओ सलामे
मरद मोर होवय तो आही मोर बराते
तिरिया ओ होवय तो चूरी ला पहनव

लोकगीतकारों की नारियों में यह चेतना उन्हें आधुनिक युग की नारियों के समकक्ष लाकर खड़ा कर देती हैं। पण्डवानी की माता दुरपती तीजा पोरा में मायके जाने के अपने पारम्परिक अधिकार को भला कैसे भूल सकती है? मायके न जाने से उनके पति और सास द्वारा लगातार मना करने के बाद भी उनकी तीजा-पोरा जाने की जिद सामन्ती नारी को कई कदम आगे ला देती है—

सावन भादों के महिना आवे रे भाई,
खीरा-ककड़ी भोला जान देवे
अहिरा सा सुने राजा अरजुन हा
ऐसी के पृथ्वी ऐसो सहुदी जाही
फेर कम्मू तई जायो सरग रोहनी बाई

लेकिन उस सामन्ती व्यवस्था म भी दुरपती की संघर्षशीलता अरजुन को बाध्य कर देती है और उसे यह कहना ही पड़ता है—'चल चल दुरपती गरग रोहनी म।' रेवारानी पैदल ही अपनी नहान के लिए जाती है। उनका रानीत्व आम नारीत्व में बदल जाता है। तभी तो वह—चलो चलो बर रेंगत चले। महलों महल छूट जाय हो लाल / छीन घंटा के वह रेंगना म / सागर के पार नियराय हो लाल।

राजा वीरसिंह की गाथा म रानी रगुलिमा पति की आज्ञा की अवहेलना करके साधु को दान देने के लिए निकल पड़ती है।

साहित्यकार अपने मौजूदा समाज का ही सश्लेषण विश्लेषण नहीं करता वरन् समाज के यथार्थवादी विश्लेषण स समाज के भावी स्वरूप की कल्पना भी करता है। यदि साहित्यकार के पास यथार्थ का पुख्ता अनुभव है तो वह भावी सामाजिक सरचना के सम्बन्ध में प्रगतिगामी कल्पना करता है जो मौजूदा समाज से बेहतर समाज का चित्र होता है। लोकसाहित्यकारों द्वारा इन्हीं अनुभवों के आधार पर नारियों की सघर्षशीलता को परख की गई है और नारियों को निरीह स्थिति से बाहर निकालने का प्रयास किया गया है। इस प्रयास म जहाँ उन्होंने सामन्ती नारियों को शत्रुओं की सेना के साथ तलवार भांजते हुए दिखाया है, वहीं शोषण के शिकार परिजनों को शोषण-मुक्त करने की दिशा म भी प्रयास दिखाया है। यहाँ दृष्टि सामाजिक न होकर व्यक्तिवादी होने का आरोप लगाया जा सकता है किन्तु यह व्यक्तिवादिता एक ओर तो उनके युग की सीमा है तो दूसरी ओर मात्र अनुभव पर ही आधारित उनकी चेतना का विकास है। हम लोक-साहित्यकारों को प्रशिक्षित साहित्यकारों के मानदंड पर तौलकर अपनी बौद्धिकता का ढोल भी नहीं पीट सकते। ऐसा करना उनके प्रति अन्याय ही होगा। लोकसाहित्यकार की नायिकायें आततायियों स मुक्ति के लिए या तो सामाजिक जन स अपेक्षा करती है या ईश्वरोन्मुख हो जाती हैं। पहली स्थिति म व जहाँ जनसामान्य से जुड़ने की अब और बाह्य प्रक्रिया म दिखायी देती हैं वहीं इसकी स्थिति म ऐतिहासिक सामाजिक कारण हैं जिनकी चर्चा हम बाद म करेंगे।

फेर माता दुरपता निकल गना म।
अब छेंव पारा म डोकरा अउ डोकरी
इहोंच सा गोठियावत रहीस
सुन ल वो डोकरी कहिना हमारा
घर मा दसो पण्डवा आगे रिहिस
जौने सा कौरू सुरग मे ढरल दिस।

अहिमन रानी को पुनर्जीवन देने में बेवारी की भूमिका महत्वपूर्ण है। फूलकुंवर रानी की गाथा में तो फूलकुंवर को वीर बाला के रूप में चित्रित किया गया है। मैं समझता हूँ कि इस गाथा पर मध्यकालीन वीरबालाओं के चरित्र के प्रभाव से इकार नहीं किया जा सकता किन्तु लोकसाहित्यकारों की अभिव्यक्ति अधिक मौलिक दिखाई देती है। हो सकता है कि एक दूसरे के चरित्र ने एक दूसरे को प्रभावित किया हो।

लोकसाहित्यकारों की अपनी युगीन सीमा रही है। अपने देश और काल की प्रवृत्तियों, गुण धर्मों से प्रभावित हुए बिना वे नहीं रह सकते थे। सामंती व्यवस्था में समूचा समाज राजा और रानी के इर्द गिर्द घूम रहा था। किस्से-कहानी का प्रमुख विषय राजा-रानी ही रहे हैं। इसलिए लोकसाहित्यकारों ने राजा रानी से हटकर किसी भू-दास को अपनी गाथा का विषय नहीं बनाया। किन्तु राजा रानी के माध्यम से भू-दासों की जीवन पद्धतियाँ ही इन गाथा गीतों में अधिक मुखर हुई हैं। सामंती व्यवस्था में दास-व्यवस्था में या उसमें भी पहले आदिम साम्यवाद में प्रकृति की जिन रहस्यमयी शक्तियों का रहस्यभेदन न हो सका उनमें देवत्व का आरोपण किया गया। सामंतवाद में ये देवता और ईश्वर मानव समाज के शोषण के धारदार हथियार बने। ईश्वर का प्रचार प्रसार इतना अधिक हुआ कि जनमानस उससे अभिभूत होता गया और मनुष्य के श्रम को नकार कर समाज का संचालक तत्व ईश्वरीय माना जाने लगा। लोकसाहित्यकार भी अपने युग के इस तथाकथित संचालक शक्ति से मुक्त नहीं हो पाये। इसीलिए उनकी गाथाओं में यह प्रभाव यत्र-तत्र दिखाई देता है। संकट के समय वे समूह की ताकत की अपेक्षा ईश्वरीय शक्ति पर अधिक विश्वास करने लगे। नारी प्रबंध गीतों में अहिमन नारी को महादेव पार्वती अमृत पिलाकर जिलाने, कँवला रानी की कहानी में नारद मुनि और महादेव पार्वती द्वारा जिलाने फुलवासन कहानी में फुलवासन के तालाब में जाकर फूल में बदल जाने के दृश्यों में साहित्यकार पर उक्त प्रभावों को स्पष्ट देखा जा सकता है।

सामन्ती व्यवस्था में बौद्ध धर्म का जन्म हो चुका था तथा विभिन्न शाखाओं में वह विभाजित हो चुका था। अपने अस्तित्व को जिन्दा रखने के लिए इन सम्प्रदायों ने चमत्कार का सहारा लिया। सर्वाधिक चामत्कारिक शाखा—वज्रयानी शाखा का प्रभाव छत्तीसगढ़ में बहुत अधिक रहा है जिसके अवशेष आज भी मौजूद हैं। इस शाखा द्वारा जादू टोना रूप परिवर्तन के द्वारा सामान्य जनों को छलने की एक लम्बी परम्परा रही है। रेवारानी की गाथा में ऐसी ही निशाचर दुमदुमी द्वारा रूप बदलकर रानी के साथ सद्व्यवहार, राजवीर सिंह की कहानी में कारी पिउरी चाऊर' मारकर सबको पत्थर में बदल देने की प्रवृत्ति पर यह प्रभाव देखा जा सकता है।

फिर भी अपने युग की प्रवृत्तियों एवं गुण-धर्मों के दबाव में रहते हुए भी लोक-साहित्यकारों ने युग की संघर्षशील शक्तियों को बखूबी पहचाना है। युग की जमीन तोड़ने में सहयोग दिया है, युग से आगे बढ़कर सोचा है। उनकी गाथाओं को उल्लास के क्षणों में पैदा होने वाली गाथा कहकर भाव विस्फोट से जन्मी रचना मानकर उनकी युगदृष्टि और यथार्थवादी सामाजिक चेतना को भुलाकर हम उनके साथ न्याय करने का दावा नहीं कर सकते।

★

बस्तर का भतरा नाट



निरंजन महावर

बस्तर के बाहर के लोगों को शायद ही यह ज्ञात हो कि बस्तर में परंपरागत नाट्य की कोई विधा भी विद्यमान है। जगदलपुर के प्रबुद्धजन भी या तो इस बात से अनभिज्ञ हैं, या उन्हें सिर्फ इतना ही मालूम है कि नाट नामक कोई नाट्य शैली बस्तर में है तो अवश्य। पर वे उसके विषय में विशेष कुछ नहीं जानते। कुछ लोगों ने दशहरा पर्व पर नाट प्रदर्शन करते हुए भतरा आदिवासियों को देखा है, किन्तु उनकी उसमें विशेष रुचि न होने के कारण अधिक जानने का प्रयत्न ही नहीं किया।

मैं सन् १९६२ में दशहरा पर्व पर जगदलपुर में था। उस वर्ष स्वर्गीय प्रवीरचंद्र भंजदेव, जो बस्तर रियासत के भूतपूर्व महाराजा थे, का विवाह सम्पन्न हुआ था। आदिवासियों में उक्त कारण से बहुत अधिक उत्साह एवं उल्लास था। परंपरा के अनुरूप महाराजा रियासत की कुलदेवी के प्रमुख पुजारी होते हैं, अतः वे अपनी नवविवाहिता महारानी के साथ रथ पर आसीन होकर दशहरा उत्सव के कार्यक्रम में सम्मिलित होने वाले थे। जगदलपुर नगर में उस दिन अप्रत्याशित भीड़ थी। बस्तर रियासत के लगभग सभी क्षेत्रों के आदिवासी दशहरा पर्व में सम्मिलित होने हेतु, अपनी परंपरागत वेष-भूषा में नृत्य समूहों के साथ वहाँ आए थे। दन्तेश्वरी माता के रथ के सामने-सामने विभिन्न नर्तक-दल अपने-अपने परंपरागत जातीय नृत्य प्रस्तुत करते हुए चल रहे थे। इन्हीं नर्तक दलों के बीच मुझे एक नया ही नृत्य दिखाई पड़ा, जिसे मैंने इसके पूर्व कभी भी नहीं देखा था। यह नृत्य दरअसल नाट्य अधिक प्रतीत हो रहा था। मैंने उन समूह के लोगों से पूछा तो सिर्फ इतना ही जान पाया कि उस नृत्य नाट्य स्वरूप का नाम भतरा नाट था। इससे अधिक उस समय कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका। जगदलपुर के मेरे मित्रों ने भी इतनी ही जानकारी दी कि भतरा जनजाति के लोग नाटक करते हैं, जिसे बस्तर के लोग नाट कहते हैं। बस्तर के नाट्य स्वरूप से इस तरह मेरा प्रथम परिचय हुआ।

सन् १९६२ से १९६५ तक के अपने बस्तर-प्रवास में मुझे नाट देखने के कई एक अवसर प्राप्त हुए। जगदलपुर से जैपुर (उड़ीसा) जाने-आने रास्ते में पड़ने

घाले गावों मे नाट देखने के कई अवसर हाथ लगे । कभी कभी तो जगदलपुर के अत्यन्त समीप के गांवो म भी नाट के आयोजन देखने को मिले, किन्तु आश्चर्य इस बात पर होता था कि जगदलपुर म नाट का आयोजन होते हुए मैंने कभी नही पाया । सन् १९७३ से सन् १९७६ के बीच मुझे बस्तर प्रवास मे पुन नाट देखने के अवसर हाथ लगे । नाट का सपूण क्षेत्र उसका इतिहास शैली तथा लोकजीवन मे उसकी गहरी पैठ आदि पक्षो का अध्ययन करने का अवसर मुझे इसी प्रवास मे मिला ।

सस्कृत शब्द नाट्य का ही बिगडा हुआ स्वरूप नाट है । नाट म प्रस्तुत किये जाने वाले अधिकाश नाटक पौराणिक कथानको पर आधारित है । इन नाटको के आधार या गुटकों को चम्पू कहा जाता है । चम्पू भी सस्कृत भाषा से ही आया हुआ शब्द है । सस्कृत भाषा मे पद्य एव गद्य के मिले जुले स्वरूप वाले लोकनाटक को चपू कहा जाता है । बस्तर के आदिवासियों मे पौराणिक नाटकों का प्रादुर्भाव क्यो कर सभव हुआ इसका भी एक दिलचस्प पहलू है । इसके पहले मैं यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि बस्तर के आदिवासियों के नृत्यों म नाटकीय तत्व तो अनेक स्थानो पर मिलते है किन्तु उनका उद्भव एव विकास पूण विकसित नाट्य स्वरूप मे नही हो पाया है । फसल काटने के बाद छेरछेरा पर्व पर युवक घर-घर जाकर अन्न एकत्रित करते है, तब वे काष्ठ व तूंबे के बने हुए मुखौटे लगाकर अभिनय द्वारा हास्य एव विनोद प्रस्तुत करते है । मुखौटो के अलावा युवक अपने चेहरों को रंगकर भालू के बालों की बनी दाढी मूछें लगाकर भी अपनी तरह-तरह की भगिमाओं द्वारा हास्य उत्पन्न करते हैं । खेलुक म भी गीत एव नृत्य के साथ साथ नाटकीय तत्वो का समावेश पाया जाता है । दडामी माडिया जनजाति के प्रसिद्ध गौर नृत्य म भी अभिनय के तत्व स्पष्ट दिखाई पडते हैं । मुरिया जनजाति के माओपाटा नृत्य में भी पर्याप्त नाटकीय तत्व विद्यमान हैं । नाटकीय तत्वो के इन आरभिक लक्षणो का विकास पूण रूप से रग विधा म नहीं हो सका । भतरा नाट सस्कृत एव उडिया लोक-नाट्य का मध्ययुगीन स्वरूप है जो बस्तर में पहुँचकर वहाँ की जनजातियो के रगो म रग गया है ।

बस्तर म नाट के पहुँचने का इतिहास भी बहुत ही दिलचस्प है । लगभग साढे पाँच सौ वर्ष पूर्व बस्तर रियासत में महाराज पुरुषोत्तम देव (१४०७ १४३९) जगन्नाथपुरी की यात्रा पर गये थे । इस यात्रा मे उनके साथ उनके अनुचरों के अतिरिक्त उनके बहुत से प्रजाजन भी तीर्थयात्रा हेतु गये थे । जगन्नाथपुरी की रथयात्रा का पर्व सपूण भारत मे प्राचीनकाल से ही अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध रहा है । जगन्नाथ प्रभु के रथ को उडीसा की शबर जाति के लोग खींचते है । इस अवसर पर सपूण उडीसा की जनजातियो के लोग रथयात्रा पर्व मे सम्मिलित होते हैं । उल्लासपूर्वक नाचते गाते हुए विभिन्न समुदायो के लोग अपने परपरागत कलारूपों को प्रस्तुत करते हैं । यह परपरा प्राचीनकाल से चली आ रही है । महाराजा पुरुषोत्तम देव तब उनके साथ गये अनुचरो एव प्रजाजनों के मानस पटल पर जगन्नाथपुरी की रथयात्रा का गहरा प्रभाव पडा । गज-

पति ने बस्तर के महाराजा से प्रसन्न होकर उन्हें सोलह पहियों के रथ को अपने राज्य में ले जाने की अनुमति प्रदान की। उस काल में इतने विशाल रथ को पुरी से बस्तर लाना संभव नहीं था, अतः राजा उड़ीसा से भगवान् जगन्नाथ की काष्ठ-निर्मित प्रतिमाएँ ही अपने साथ लेकर आये। बस्तर की सड़कें या रास्ते उस युग में इतने चौड़े या अच्छे नहीं थे कि उन पर सोलह पहियों का रथ चल सके, अतः दो छे-छे, और एक चार पहियों के, तीन रथ बनवाये गये। एक दंतेश्वरी माता हेतु, एक जगन्नाथ जी हेतु एवं एक अन्य देवी-देवताओं एवं पुजारी हेतु। यही परंपरा बस्तर में आज तक चली आ रही है।

महाराज अपने साथ जगन्नाथपुरी से उत्कल के कुछ ब्राह्मण परिवारों को भी साथ ले आये थे तथा इन परिवारों को जीविकोपार्जन हेतु दान में भूमि तथा धन प्रदान कर उन्हें बस्तर में ही बसा लिया था। केसरपाल से प्राप्त एक शिलालेख से भी इस बात की पुष्टि होती है, जिसमें उत्कल के धारिया ब्राह्मण परिवारों को भूमि दान किये जाने का उल्लेख किया गया है। इन्हीं ब्राह्मणों ने महाराजा के साथ पुरी यात्रा पर गये अनुचरों एवं प्रजाजनों को हिन्दू धर्म में सम्मिलित कर उन्हें जनेऊ प्रदान किया। तभी से ये आदिवासी भद्र कहलाने लगे जो शब्द बिगड़ते-बिगड़ते भतरा हो गया। इन्हीं भतरा जनजाति के लोगों में नाट का स्वरूप प्रचलित है।

नाट का संगठन—बस्तर में नाट, उड़ीसा की सीमा से लगे हुए क्षेत्र जगदलपुर, बकावंड एवं भानपुरी-केसरपाल में ही प्रचलित है। इसी क्षेत्र में भतरा जाति के लोग निवास करते हैं। किसी गाँव के नवयुवकों में जब नाट का संगठन बनाने की अभिलाषा जाग्रत होती है, तब वे अपनी इच्छा को गाँव के प्रमुख एवं वयोवृद्ध व्यक्तियों के सम्मुख व्यक्त करते हैं। गाँव के प्रमुख व्यक्तियों की पंचायत बैठती है, जिसमें नाट संगठन करने के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया जाता है। गाँव में नवयुवकों की संख्या से लेकर उस पर होनेवाले खर्च का अनुमान तथा उसकी व्यवस्था आदि बातों का आकलन किया जाता है। आजकल नाट की आरंभिक तैयारी पर आठ-दस हजार रुपयों का खर्च आता है। यदि पंचायत का आकलन इस परिणाम पर पहुँचता है कि इतने धन की व्यवस्था हो सकेगी व गाँव के युवक नाट को लम्बे समय तक चला सकेंगे, तो निर्णय नाट को संगठित करने के पक्ष में लिया जाता है। नाट हेतु गाँव के सभी लोग अपनी स्थिति के अनुरूप नगद धन व धान-चावल आदि चढ़के के रूप में देते हैं। धान चावल को बेचकर भी नगद धन एकत्रित किया जाता है। जब कुछ धन एकत्रित हो जाता है, तब आसपास के गाँव के किसी प्रसिद्ध नाटगुरु को आमंत्रित कर नाट-प्रशिक्षण का दायित्व सौंपा जाता है। नाट-गुरु को इस हेतु पाँच सौ रुपये तक पारिश्रमिक एवं भोजन आदि प्रदान किया जाता है। नाट का प्रशिक्षण आरंभ होता है तथा इच्छुक नवयुवक उसमें सम्मिलित होते हैं। एक गाँव के लोग एक ही नाटक करते हैं तथा उसका चुनाव गाँव के प्रमुख व्यक्तियों की सलाह पर किया जाता है। नाट में केवल पुरुष कलाकार ही हिस्सा लेते हैं, तथा स्त्री पात्रों का अभिनय भी युवक ही करते हैं। आमतौर पर एक नाट मंडली में पच्चीस से चालीस की संख्या में कलाकारों की आवश्यकता होती है।

नाट का प्रशिक्षण लगभग तीन से चार सप्ताह तक चलता है, जिसमें नाट-गुरु भाव-भंगिमाएँ, अभिनय, वेष-भूषा, श्रृंगार, नृत्य तथा संगीत आदि सभी विषयों में कलाकारों को प्रशिक्षण देते हैं। प्रशिक्षण पूर्ण होने पर गाँव के प्रमुख लोगों के साथ नाटगुरु वेषभूषा व श्रृंगार तथा साज आदि खरीदने हेतु जयपुर (उड़ीसा), जगदलपुर या जगन्नाथपुरी तक की यात्रा करते हैं। पुरी की नाट्य सामग्री व मुखौटे श्रेष्ठ माने जाते हैं। जगदलपुर की अधिकांश नाट्य सामग्री मथुरा की बनी हुई होती है। सामग्री क्रय होने पर नाट का प्रथम प्रस्तुति नाटगुरु की देखरेख में कलाकारों के अपने ही गाँव में की जाती है। उस प्रस्तुति की कमियों आदि का विवेचन, दर्शकों की प्रतिक्रियाओं को ध्यान में रखकर किया जाता है तथा उनको धीरे-धीरे भविष्य में होने वाली प्रस्तुतियों में सुधारा जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि बस्तर का नाट एक लोकतांत्रिक एवं धर्मनिरपेक्ष रंगमंच है जिसका निर्माण पूर्ण रूप से जनभावनाओं एवं निर्णयों पर आधारित होता है। नाट की प्रथम प्रस्तुति के पश्चात् आसपास के गाँवों में यह समाचार फैल जाता है कि अमुक गाँव में अमुक (कथानक) नाट है। उन्हें निमंत्रण मिलने लगते हैं, और नाट की प्रस्तुतियाँ होने लगती हैं। नाट का रंगमंच रंगस्वरूप एवं प्रस्तुति-नाट, गाँव के खुले प्रांगण में आयोजित किये जाते हैं। मंच भूमि से लगभग एक इंच ऊँचा लकड़ी के तख्ता से बनाया जाता है। दोनों पार्श्वों पर चार-चार या छै-छै बल्लियाँ गाड़कर ऊपर चंदावा तान दिया जाता है। दो बल्लियों पर दोनों ओर गैस की लालटेनें प्रकाश हेतु लटकाई जाती हैं। मंच के पीछे की ओर नाटगुरु गायक तथा वादक मंडली के साथ बैठते हैं। मंच के चारों ओर दर्शक बैठते हैं। मंच के सामने बच्चे, व उनके पीछे स्त्रियाँ और फिर पुरुष। बैठने की व्यवस्था भूमि पर ही होती है। धान का पुआल संपूर्ण खुले प्रांगण में फैला दिया जाता है, जिस पर दर्शक बैठते हैं। दर्शकों के सबसे पीछे वाली पंक्ति से कुछ दूरी पर चाय-पान खोंचे व चने-मुर्रे आदि की दुकानें लगी होती हैं।

नाट के दर्शक जिन जिन मार्गों से आते हैं, उन सभी मार्गों पर स्वागत-द्वार बनाए जाते हैं। इन स्वागत द्वारों को आम के पत्तों से सजाया जाता है। संपूर्ण मार्ग आम के पत्तों की बन्दनवारों से सजाए जाते हैं। गाँव के ही व्यक्ति संपूर्ण व्यवस्था करते हैं तथा कानून एवं व्यवस्था की कोई स्थिति आमतौर पर पैदा नहीं होती। यदि कभी कुछ छोटी-मोटी घटना हुई भी तो उसे गाँव के ही स्वयंसेवक संभाल लेते हैं यद्यपि समीप के पुलिस थाने के एक-दो सिपाही वहाँ उपस्थित अवश्य रहते हैं। नाट का आरंभ रात्रि के साढ़े नौ दस बजे आरंभ होता है, और सुबह तक चलता है।

नाट का आरंभ पूर्व रंग से होता है। सर्वप्रथम गणेश वंदना होती है। मुखौटा लगाए गणेशजी मंच पर आते हैं और मंच के बीचों बीच खड़े हो जाते हैं। नाटगुरु गणेश-वंदना करते हैं इसी बीच नट एवं नटी का भी प्रवेश होता है। वे दोनों भी गणेश-वंदना में सम्मिलित हो जाते हैं। गणेशजी से नाटगुरु एवं नट-नटी प्रार्थना करते हैं कि वे विघ्नकर्त्ताओं से नाट के आयोजन की रक्षा कर आयोजन को निर्विघ्न संपन्न होने का

आशीर्वाद प्रदान करें। गणपतिजी आशीर्वाद प्रदान करते हैं। नट-नटी उन्हें वापस पहुँचाकर आते हैं। इसके उपरान्त वीणा हाथ में धारण किए सरस्वती का आगमन होता है। नाटगुरु और नट-नटी उन्हें साथ मंच पर लेकर आते हैं। सरस्वती वंदना करने के उपरान्त उनसे भी आशीर्वाद प्राप्त किया जाता है। नाट के आयोजन के निर्विघ्न सपन्न होने का आशीर्वाद प्रदान करने के बाद नट-नटी उन्हें भी पहुँचाकर आते हैं।

गणेश एवं सरस्वती वदना के उपरान्त नट-नटी का पुन मंच पर पदार्पण होता है। नटी पूछती है कि आज यहाँ इतने लोग क्यों एकत्रित हुए हैं? नट बताता है कि आज यहाँ नाट का आयोजन प्रस्तावित है, उसे देखने के लिए ही ये लोग एकत्रित हुए हैं। 'आज कौन-सा नाट प्रस्तुत किया जायगा?' नटी पूछती है। नट एक नाटक का नाम लेता है, नटी नृत्य एवं अभिनय करते हुए उस नाटक के गुण-दोषों का विवेचन करते हुए उस नाटक को अस्वीकार कर देती है। नट इसी प्रकार एक-एक कर कई नाटकों को प्रस्तावित करता है किन्तु नटी उन सभी नाटकों के गुण दोषों का विवचन करते हुए उन्हें अस्वीकार कर देती है। अन्त मे नट खीज कर कहता है कि तुम ही कोई नाटक बताओ। नटी श्रेष्ठ नाटक के गुणों की व्याख्या करते हुए कहती है कि नट उन गुणो के अनुरूप कोई नाटक प्रदर्शित करें। नटी के संकेत को समझते हुए नट रावण वध नाट का प्रस्ताव रखता है जिसे नटी सहर्ष स्वीकार कर लेती है और रावण वध नाट की प्रस्तावना के साथ ही नाट आरंभ हो जाता है। नट-नटी के प्रस्तावना प्रसग म लगभग पौन घटे का समय लग जाता है।

नाट के पात्रों की वेषभूषा उड़ीसा मे प्रचलित पौराणिक नाटकों के सदृश्य ही होती है। साटिन एव मखमल के चमकदार वस्त्रों पर जरी व गोटे की कढ़ाई का काम किया होता है। गले मे काच के मणियों की मालाए, भुजबद, कमर मे कमर पटटा आदि पहने योद्धाओं को प्रस्तुत किया जाता है। राक्षसों, वानरों को, हनुमान एव जामवत आदि पात्रों को कागज की लुग्दी के बने मुखौटों में प्रस्तुत किया जाता है। कभी-कभी हनुमान को बिना मुखौटे के गहरे लाल रग से चेहरा रग कर प्रस्तुत किया जाता है। श्रृङ्गार मे परंपरागत प्रसाधनों का ही प्रयोग होता है। हल्दी, आल्ता, लाल, हरे व काले रंगों का प्रयोग पात्रों के चरित्र के अनुरूप किया जाता है। सतोगुणी पात्रों के चेहरो पर पीले या लाल रग का लेप किया जाता है जबकि, खल व दुगुण वाले पात्रो के चेहरों को हरे, नीले या काले रगों से रंगा जाता है। रगों में अभ्रक का चूर्ण मिला कर रंगों का लेप चेहरे पर किया जाता है।

पात्रों के प्रवेश हेतु लगभग दस-पद्रह फुट चौड़ा गलियारा छोड़ा जाता है। पात्रों के श्रृङ्गार हेतु लगभग डेढ दो सौ गज दूरी पर किसी मकान पर या किसी स्थान को बाँस के टट्टों से घेर कर व्यवस्था की जाती है। पात्र दर्शकों के बीच से प्रवेश करते हैं। दरअसल पात्रो के प्रवेश हेतु छोड़ा गया गलियारा भी रग प्रस्तुति हेतु मंच की भाति ही काम में आता है। पात्रों का इस स्थान से नृत्य करते हुए या, तलवार घुमाते हुए या अपने प्रतिद्वद्वी को ललकारते हुए प्रवेश होता है। सद्गुणी पात्रों का प्रवेश मध्यम-

स्वर पर मृदंग के संगीत के साथ होता है, जबकि खल पात्रों का या योद्धाओं का प्रवेश नगारों की ऊंची ध्वनि के साथ तीव्र गति से होता है।

अधिकांश युद्ध के दृश्यों की रंग प्रस्तुति में नगाड़ों के संगीत पर विशेष जोर दिया जाता है। युद्ध के प्रसंगों की प्रस्तुति में लगने वाला समय काफी लम्बा होता है। इन प्रसंगों को लोकरंजन की दृष्टि से आकर्षक बनाने हेतु उसमें अनेक तरह के युद्ध-कौशल (मार्शल आर्ट) समाविष्ट किये जाते हैं। मुष्टिका युद्ध, मल्ल युद्ध गदा युद्ध, तलवार युद्ध एवं धनुर्युद्ध आदि की रंग-प्रस्तुति अत्यंत मनोरंजक एवं नयनाभिराम होती है। दर्शक की मानसिकता सद्गुणी पात्रों के साथ एकाकार हो जाती है, और वे दुर्योधन कंस या रावण जैसे खल पात्रों का वध होने पर उत्साह एवं उल्लास के साथ ही सद्पात्रों का जय जयकार करने लगते हैं।

नाट के पात्रों की वेशभूषा अत्यंत आकर्षक होती है, जिस पर बहुत अधिक धन खर्च किया जाता है। योद्धाओं एवं राजाओं की वेशभूषा व आभूषण उत्कल की क्लासिकी शैली में बनते हैं।

नाट-प्रस्तुति दस बजे आरम्भ होकर प्रातःकाल तक चलती है, इसलिए अनेक प्रसंग बहुत अधिक लम्बे हो जाते हैं। बीच बीच में सूत्रधार कभी नटी के साथ नट के रूप में तो कभी विदूषक के रूप में आकर दर्शकों का मनोरंजन करते हैं। दो दृश्यों के बीच पात्रों की तैयारी हेतु समय देने के उद्देश्य से भी मनोरंजक प्रहसन या फरमाइशी गीत इस अन्तराल में प्रस्तुत किए जाते हैं। बीच-बीच में दर्शक एक, दो या कभी-कभी पाँच रुपये के नोट पात्रों के प्रदर्शन पर प्रसन्न होकर भेंट करते हैं। भेंट करने वाला दर्शक स्वयं उठकर रंगकर्मी के वस्त्रों में उस नोट को ऑलपिन से अटका देता है। पार्श्व में बैठी गायक-मंडली उसका नाम पूछकर घोषणा करती है 'कुम्हली के लखिम घर ने दो टका भारतीय मुद्रा अपनी खुशी से भेंट की। उनको कोटि कोटि धन्यवाद।' सुबह नाट समाप्त होते तक सभी पात्रों के वस्त्रों पर नोट ही नोट लटके हुए दिखाई पड़ते हैं। रावण, दुर्योधन हनुमान, कीचक, भीम व नचकारों को सर्वाधिक भेंटें मिलती हैं।

अधिकांश नाट खलनायकों के नाम पर उनके वध से सम्बंधित हैं। इन सभी नाटों में पौराणिक कथानकों के माध्यम से भगवद् धर्म की अच्छाइयों व उच्च नैतिक गुणों का संदेश लोकजीवन में पहुँचाया जाता है। भारतीय समाज में ऐसे नाटकों के माध्यम से सामाजिक मूल्यों के रक्षार्थ लड़ाई लड़ी गई। इन लोकनाटकों तथा रामलीला, रासलीला मंडलियों आदि ने गाथा-गायकों तथा भक्तिकाल के कवियों के साथ मिलकर हमारे नैतिक मूल्यों को बचाने में अहम भूमिका निभाई है।

जगदलपुर के भतरा क्षेत्र में जिन नाटों का पता चला वे हैं अभिमन्यु वध, लक्ष्मण शक्ति नाट, जरासंध वध नाट कीचक वध, हिरण्यकश्यप वध नाट, दुर्योधन वध नाट लक्ष्मी पुराण नाट। नाट ग्रीष्म ऋतु में अप्रेल, मई तथा जून महीनों में ही आयोजित किए जाते हैं। वैसे कभी-कभी किसी उत्सव या मड़ई व यात्रा के अवसरों पर भी नाट का आयोजन होता है।

भतरा नाट एक अत्यन्त ही लोकप्रिय रंग विधा है। अब परम्परागत नाट के साथ ही साथ आधुनिक भाव-बोध भी नाट का विषय बनने लगा है। श्रीमती इंदिरा गांधी की हत्या के पश्चात् हुए चुनाव म 'इंदिरागांधी नाट' ने बस्तर म धूम मचा दी थी। इस नाट की प्रतिक्रिया स्वरूप वहाँ एक अन्य नाट की रंग-प्रस्तुति भी अत्यन्त लोकप्रिय हुई। यह नाट था 'आदिवासी नाटक' जिसमे आदिवासियो के शोषण तथा प्रताड़ना की प्रभावशाली रंग प्रस्तुति साम्यवाद-समर्थक नाटगुरु एवं नाट मंडली ने की थी।

भतरा नाट का सम्पूर्ण सर्वेक्षण एवं डाकुमेन्शन किया जाना चाहिए। साथ ही उसके लोकजीवन पर प्रभाव का नृतत्वशास्त्रीय अध्ययन भी होना चाहिए, तब उसका सही जायजा संभव हो पायेगा। गत पांच छै शताब्दियो म नाट ने बस्तर के आदिवासियों को संस्कारित किया है। उसकी लोकऊर्जा को सुरक्षित रखते हुए भविष्य मे भी उसको सशक्त रंग-विधा के रूप मे सुरक्षित एवं जीवंत बनाये रखने हेतु सजग रहना आवश्यक है। नाट एवं नाट से जुडे नाटगुरु एवं रंगकर्मियो को बस्तर म अत्यन्त सम्मान दिया जाता है।



छत्तीसगढ की लोक-परम्परा और नई रचनाशीलता



प्रभाकर चौबे

अचलों की लोकपरम्पराए अपने बुनियादी चरित्र म समानधर्मी होत हुए भी किसी अचल विशेष की लोकपरम्परा अपनी विशिष्टता की पहचान अलग लिए हो सकती है। किसी अचल विशष की लोकपरम्परा के उद्भव, विकास और निरन्तरता को जानने-समझने के लिए उस अचल की भौगोलिक स्थिति, आर्थिक परिस्थिति तथा सामाजिक दबाव को ध्यान म रखना होगा। किसी अचल की लोकपरम्पराएँ केवल लोकगीतो, लोकनृत्यों, वाद्यों म ही दृष्टिगत नही होतीं वरन् उस अचल के निवासियो के लोक-व्यवहार, उठने-बैठने, पहनने-ओढने बात करने, चलने, हसने रोने तक से लोकपरम्परा सामने आती है। तुलसीदास जब मानस म राम के वनवास-काल म गिरिजनो द्वारा उनके सत्कार की कथा कहते हैं—

यह सुधि कोल किरातन्ह पाई, हरषे जनु नव निधि घर आई।
कद मूल फल भरि भरि दोना, चले रक जनु लूटन सोना।

गरीब गिरिजन कदमूल फल का दोना भर-भर कर राम का स्वागत करते हैं। लोकपरम्परा मे स्वागत की यह परम्परा आज भी विद्यमान है। छत्तीसगढ़ मे आज भी गांवों मे अतिथि को पहले लोटा भर पानी पैर धोने के लिए दिया जाता है। इसके बाद जो कुछ उपलब्ध हो वह खाने के लिए प्रस्तुत किया जाता है। इस लोकपरम्परा की अभिव्यक्ति विविध रूपों में होती है।

आदिम उत्पादन पद्धति, सामंती उत्पादन पद्धति और पूजीवादी तथा समाजवादी उत्पादन पद्धति लोकपरम्पराओं के निर्माण में और उसे पुख्ता बनाने तथा निरतरता प्रदान करने मे प्रभाव डालती हैं। इसीलिए जब अठोनी (देव उठनी एकादशी) पर गायों के गल म सुरही बांधते हुए राउत यह गाता है—

'धौंरी गाय के गोरस ला
भगवान भोग लगाए हो '

तब यह साफ पता चल जाता है कि सामंती व्यवस्था का यह प्रभाव रहा है कि समाज की सर्वोत्तम वस्तु राजा को भेंट में दी जाती थी। लोकपरम्परा मे भी इसका प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड जाता है। लोकपरम्परा के सूक्ष्म अध्ययन से उनकी सोच, चिन्तन और व्यवस्था को ग्रहण कर लने की या व्यवस्था को तिरस्कृत करने की उनकी जद्दोजहद

का भी परिचय मिलता है। उनकी सोच म विद्यमान प्रगतिशील तत्व और सामूहिक श्रम शक्ति के प्रति उनकी आस्था भी सामने आती है। मानस म पुन तुलसीदास इस लोक-परम्परा को सामने लाते हैं —

'हट हटें तुम्हहि अहेर खेलाउब'

यह सामूहिक उपक्रम के प्रति दृढ़ विश्वास है। लोकपरम्परा अपने बुनियादी आचरण म सब तरफ उपलब्ध है। उनके सोच म सामूहिक मुक्ति की कामना दिखाई देती है। व्यक्तिवाद से उनका रिश्ता नहीं है—

(१) हम सब धन्य सहित परिवारा
(२) हम सब भाँति करब सेवकाई

प्रसन्नता भी है तो सामूहिक प्रार्थना, विनय याचना सब सामूहिक। यह नहीं कि 'मुझे आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई।' यह पूँजीवादी व्यवस्था से उपजा व्यक्तिवाद है। अगर हम उत्पादन शक्तियों के विकास के स्तर पर उत्पादन सम्बन्धों की निर्भरता को बारीकी से देखें-परखें तो लोकपरम्परा म इनके क्रमिक स्तरण की अवस्था दिखाई पड जाती है। और यह भी साफ हो जाता है कि मनुष्य के भौतिक रिश्ते उनके सभी रिश्तों का आधार होते हैं।

इस आलेख का विषय है छत्तीसगढ़ की लोकपरम्परा और रचनाशीलता। अत छत्तीसगढ़ की लोकपरम्परा तक ही सीमित रहना होगा। किन्तु अध्ययन, विश्लेषण का आधार तो वही होगा। क्योंकि छत्तीसगढ़ की लोकपरम्परा आसमान से तो टपक नहीं पडी है। छत्तीसगढ़ के रीति रिवाजों, आदतों, व्यवहारों का अध्ययन इसकी जातीय विशिष्टता के आधार पर करें तो भी इसमें व्याप्त वर्गीय चरित्र को खोज पाना कठिन नहीं है। दुनिया भर के तमाम किसानो न जैसे सामंती शोषण के विरुद्ध संघर्ष किया। उन्होंने उत्पादन के साधनो पर सामन्ती स्वामित्व का विरोध भी किया पर तु उन्होंने पूँजीवादी सम्पत्ति तथा पूजीवादी उत्पादन-सम्बन्धों का समर्थन किया। इसलिए व्यवहार-रूप में उनके संघर्ष का परिणाम शोषण के दूसरे स्वरूप के उदय के रूप मे हुआ। छत्तीसगढ़ के सन्दर्भ मे भी यह बात लागू होती है और आश्चर्यजनक रूप मे छत्तीसगढ़ की लोकपरम्परा मे इसक तत्व विद्यमान दिखाई देते हैं।

छत्तीसगढ़ में सौंफ प्रथा इसका उदाहरण हो सकती है। सौंफ प्रथा भूस्वामी की हैसियत का भी परिचय देती है। अपनी भाभी को चूडी पहनाने की इजाजत होना सम्पत्ति के हाथ से न निकलने देने के कारण लागू है। उत्पादन के क्रम साधन के रूप में छत्तीसगढ़ की नारी का अधिकतम शोषण किया जाता रहा है और इसकी व्यथा यहाँ के लोकगीतों में मुखर हुई है। मेले, मडई, त्योहार आदि जितनी भी लोकपरम्पराएँ हैं उनमें उत्पादन शक्तियों के विकास-स्तर के साथ उत्पादन सम्बन्धो की अनुरूपता का नियम परिलक्षित होता है। छत्तीसगढ़ के लोकगायक ने उत्पादन के नए साधन के रूप में भी गीत गाकर अपनी विकासशील ग्रहणशीलता का परिचय दिया है। वह गाता है—

बिन बइला के गाड़ी चलाय दिए
हो अंगरेज बहादुर ।

वह इस गाड़ी का स्वागत करता है । आवागमन के साधन में सुधार होने से मंडी तक उसके माल को ले जाने और अपेक्षित अच्छा मूल्य पा जाने की उसकी आकांक्षा, आशा और उत्साह इसमें है । यह अंग्रेजों की स्तुति नहीं है । यह भारत भाग्य विधाता कहकर की गई रचना नहीं है।

छत्तीसगढ़ में तीजा के त्यौहार (भाद्र मास के शुक्ल पक्ष की तृतीया का त्यौहार) का बहुत महत्व है । इस दिन के लिए हर लड़की अपनी ससुराल से अपने मायके आती है । कभी कभी तो ऐसा देखने में आता है कि किसी घर में केवल लड़कियां ही रह जाती हैं क्योंकि भाभियां और लड़कियां तक अपने मायके चली गई होती हैं । जितने दिन लड़की मायके में रहती है उतने दिन वह अपने पिता या भाई के खेत में निंदाई करने जाती है । इस त्यौहार का यह भी एक महत्वपूर्ण पक्ष है । यह श्रमशक्ति के समुचित उपयोग की आदिम उत्पादन पद्धति का अवशेष है ।

मानव समाज के उदय की प्रारम्भिक अवस्थाओं में जब उत्पादन शक्तियाँ कमजोर व सीमित थीं तब मनुष्य के सामने एक ही उपाय था कि वह अपनी जीविका के लिए आवश्यक साधनों को सामूहिक प्रयास के द्वारा जुटाए । ये समस्त लोकपरम्पराएं लोकगीतों, लोकनृत्यों और अन्य व्यवहारों में उद्घाटित हुई हैं । यहाँ की लोककला की छवि भी आदिम समाज की उस कला की याद दिलाती है जहाँ कला प्रत्यक्ष रूप से आदि-मानव के दैनिक जीवन तथा उसके समाज के कार्यकलापों और उसकी श्रम क्रिया से जुड़ी हुई थी । दीपावली पर महिलाओं द्वारा मकान की बाहरी दीवारों पर विभिन्न रंग संयोजनों से बनाए जाने वाले चित्र इस श्रेणी में आते हैं । यहाँ की लोकपरम्पराओं के सार तत्वों एवं विकास की प्रवृत्तियों में आर्थिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तन बराबर परिलक्षित होते हैं ।

जैसे-जैसे वर्ग-समाज पुख्ता होता गया वैसे वैसे इसका असर स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगे । छत्तीसगढ़ की लोकपरम्पराओं में भी हर क्षेत्र में इसे देखा जा सकता है जो कुछ क्षेत्रों में विकास के साथ ही दूसरे क्षेत्रों में ह्रास और अवनति में प्रकट हो जाता है । कला साहित्य संस्कृति में ह्रास दिखाई दे रहा है । इस वर्ग असमानता के प्रारम्भ के साथ व्यक्ति और समाज में विरोध पैदा हो गया है । सच्ची सामूहिकता के स्थान पर काल्पनिक सामूहिकता आ गई है । आज के लेखन में यह बात साफ दिखाई पड़ जाती है । जहाँ पहले लोकगीतों में ये पंक्तियाँ सुनाई देती थीं—

भइया आवत होही आठें के रोटी धर के
बहिनी देखत होही लोटा म पानी भर के

वहाँ अब सेक्स और कामवासना को उद्वेलित करने वाले गीत नृत्य हैं । कामवासना एक ऐसा विषय है जिसे पूँजीवादी सिद्धान्त और व्यवहार में सबसे अधिक विकृत किया जाता है । यह व्यावसायिकता है जो मनुष्य को घृणित मानसिक बीमारी से ग्रस्त

कर पतन और बबरता की ओर ले जा रही है। आज के अधिकांश रचनाकार अवलाम मे पड़कर लेखकीय अभिव्यक्ति के मोहक नारे के शिकार इस तंत्र के जाल मे फस रहे हैं। और रचनाकार संस्कृति का उपभोग करने वाली आम जनता से दूर हो जाते हैं।

छत्तीसगढ़ की एक लोकपरम्परा है छेर छेरा पुनी। यह पूरी तरह कृषि पर आधारित उत्सव है। पौष मास की पूर्णिमा को गाँव के खेतिहर मजदूरों के बच्चे, अन्य गरीब तबके के बच्चे टोकनी लेकर किसानो के घर जाते हैं और धान मागते है—

छेरी क छेरा छेर बरकनिन घेर घेरा
माई कोठी के धान ला हर हेरा

किसान ने जो माई (मुख्य) कोठी मे धान अपने बियारा या कोठार से लाकर रख लिया है उसमे से गरीबो को भी हिस्सा दिया जावे। यह उस सामंती उत्पादन-पद्धति और उत्पादन सम्बन्धो की पैदाइश है जिसके तहत इस व्यवस्था ने शोषण को नए रूप मे जारी रखने का गुर सीख लिया था और मेहनतकश अवाम को उसके हिस्से से वचित रखने की जानकारी से उसे बचाने तथा अपने विरुद्ध विद्रोह से अपनी रक्षा करने का तरीका ईजाद कर लिया था। इसमे मुख्य बात यह है कि इन पंक्तियों के लोकगायक ने 'माई कोठी' कहकर वर्गभेद की अपनी समझ का परिचय दिया है। इसी तरह लोकपरम्पराओ मे वर्गीय समझ के तत्व विद्यमान हैं यद्यपि कार्य-कारण की व्याख्या या उसकी बारीक जानकारी भले ही न हो।

छत्तीसगढी लोकगीतो मे नदियाँ गायब हैं। हाँ, तरवा जरूर हैं। लोकगीतो मे नदियों का न होना कुछ सोचने पर विवश करता है। लोकजीवन म बड़ा उत्साह रहता है। जब कोई वस्तु उनके समग्र जीवन को प्रभावित करती है तब वे उस ललक के साथ स्वीकार करते हैं। नदियाँ जीवन को प्रभावित कर सकती हैं विनाश लीला के द्वारा और धरती को शस्यश्यामला बनाकर। लोकगीतो मे नदियों के न होने के पीछे आर्थिक और सामाजिक कारण हैं। छत्तीसगढ़ की नदियाँ यहाँ के लोकजीवन को किसी रूप म भी प्रभावित नही करती अत लोकमानस को उद्वेलित भी नही कर पाती और इसी कारण वे लोकगीतो से नही हैं। गगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा आदि नदियो का उल्लेख जो आयातित है जो बाद म आया तथा केवल धार्मिक सदर्भों मे ही आया है। महानदी छत्तीसगढ़ के लिए आर्थिक रूप से कभी भी उपयोग मे नही आ सकी। हाँ, उडीसा को महानदी प्रभावित करती रही है। कहने का तात्पर्य यह कि लोकगीतों के पीछे आर्थिक कारण होते हैं जो उन्हें सचालित करते हैं।

इधर जब नई रचनाशीलता की बात की जाती है तब नई रचनाए तो आ रही हैं। रेडियो टी० वी०, समाचारपत्रों के जरिये नई रचनाएँ आम लोगों तक पहुँचाई जा रही हैं। यद्यपि इन रचनाओं के द्वारा जनमानस मे क्रांतिकारी चेतना फैलाना दूर की बात है। इसके विपरीत प्रगतिशील चेतना को सुप्त करने के सारे प्रयासों को ही प्रमुखता से प्रसार मिल रहा है। और सरकारी माध्यम रेडियो और टी० वी० है जो सरकार के पूंजीवादी जनवादी चरित्र के तहत छुटपुट सुधारों को गैर-कलात्मक ढंग से

प्रसारित कर अपनी विश्वसनीयता खो रहे हैं और साथ ही इससे हटकर ऐसी रचनाएं भी दे रहे हैं जो कुछ रचनाकारों द्वारा जनता की सांस्कृतिक रुचि को विकृत करने में अपनी भूमिका अदा कर सकें। यह सब लोकपरम्परा के नाम पर हो रहा है। कुछ समाचार पत्र पत्रिकाएँ अवश्य ही लोकपरम्परा और लोकसाहित्य के प्रगतिशील तत्वों को सामने लाकर जनगण में जुझारूपन पैदा करने के काम में जनवादी बुद्धिजीवियों की मदद कर रही हैं। अतः जब हम नई रचनाशीलता की बात करते हैं तब हमारा आशय वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्द्वन्द्व को और इसकी विकृतियों एवं विसंगतियों को जनगण तक पहुँचा सकने वाली रचना से है। इसके लिए आवश्यक है कि हम ऐसी रचनाएँ करें जो पूंजीवाद की जनविरोधी नीतियों व क्रियाकलापों को उजागर करें तथा रचनाकारों के स्वयं के सामाजिक चरित्र में परिवर्तन हो जिससे रचनाकार मजदूर-वर्ग का पक्षधर हो और रचनाकार तथा जनता के बीच अधिकाधिक प्रगाढ़ तथा मजबूत सम्बन्धों को स्थापित करने में सहायक हों।



लोकशिल्प की छत्तीसगढ़ी परम्परा



डॉ० उमेश मिश्र

लोककला की जड़ें ग्रामीण परिवेश मे गहरी पैठ लिये होती हैं। परम्परा का आरम्भ मान्यताओं से हुआ अथवा धारणाओं से, कहना सम्भव नहीं किन्तु इतना अवश्य है कि उसने रचनाधर्मियों को प्रेरित किया सृजन के लिए। प्रारम्भिक स्थूल रूप धीरे-धीरे सूक्ष्म होता चला गया। अलंकरण और कौशल के तालमेल से उसका स्वरूप कहाँ से कहाँ तक पहुँच गया? यही है कहानी लोकशिल्प (कला) की परम्परा की। अकुशल और मौलिक कल्पना से उसकी नींव पड़ी। आवश्यकता एवं परिवेश ने उसे जमीन दी और निर्माण के बार-बार के चरण से वह परिपक्व होती गई। कहीं-कहीं यह अमरबेल परिवर्तन के स्वरूपों से गुजरती वटवृक्ष रूपी समाज पर फैलती चली गई और आंचलिक पहचान के रूप में उभर गई है।

आधुनिकता और परम्परागतता परस्पर-विरोधी तो नहीं किन्तु चोंच लड़ाने से दोनों बाज नहीं आते। जब आधुनिकता का नशा चढ़ता है तो फैलता हुआ वह कितना आगे बढ़ जायेगा कहना कठिन है। ऐसे में परम्परावादी रूढ़िवादी कहे जाते हैं और परम्परा उनके लिए अजायबघर का पसरा हुआ सुस्त कछुआ रह जाती है या फिर आधुनिक कक्ष का एक 'शो-पीस'। दूसरी ओर आधुनिकता, अंतर्राष्ट्रीयतावाद के कौशल और प्रयोग की भूल भुलैया में खो जाती है। लोककला लोक-जीवन की भावनाओं, रीति-रिवाजों, विश्वासों, धर्म, दर्शन, अनुष्ठानों एवं परम्पराओं से उपजी होती है अतः उसके स्वरूप में भले ही थोड़ा परिवर्तन हो जाये किन्तु अस्तित्व एवं निर्माण को उखाड़ फेंकना आसान नहीं। वह उन वास्तविकताओं की अभिव्यक्ति है जो समाज का एक आवश्यक अंग है। यहाँ कला कला के लिए नहीं जीवन के लिए होती है। सृजन का आधार मात्र रचनात्मकता नहीं उद्देश्य के हेतु है। वह उनकी खुशी, भय, दुःख-दर्द सभी से जुड़ी होती है। सही अर्थों में समाज का दर्पण है। समग्र की अभिव्यक्ति है।

संस्कृति के निर्माण एवं विकास में लोककला मील का पत्थर है। आदिम युग से सिन्धु युग और बीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक युग तक मातृ देवी के रूप में जो दर्शन भारतीय संस्कृति के रूप में सिमटता या उभरता रहा उसे शिल्प ने मूर्त रूप दिया। शिल्प के क्रमवार स्वरूपों से यह बात स्पष्ट होती है। उस दर्शन को युगों-युगों से प्रवाहित और संचित करने का गुरुतर दायित्व, परम्परा और लोककला ने निभाया है।

मध्यप्रदेश जिस प्रकार अपनी लोकसंस्कृति में अनूठा है उसी प्रकार इसकी लोक-

गाथाएँ और लोकशिल्पी भी अनूठे एवं सम्पन्न हैं। भारत के हृदय स्थल पर बसा यह प्रदेश विभिन्न अंचलों में अपनी बौसियों लोकपरम्पराओं का निर्वाह करता आ रहा है। लोकशिल्प के उसके विविध स्वरूप वर्षों से चल आ रहे है। अभी तक अपनी परम्परा में जीवित है। शिल्प के मृण्मय, धातु एवं काष्ठ स्वरूप लोककला के आंचलिक वैशिष्ट्य को प्रगट करते हैं। शैली एवं रचनात्मकता की दृष्टि से ये बेजोड है एवं लौकिक स्वरूपों में उच्चस्तरीय अभिव्यक्ति देते हैं।

छत्तीसगढ़ की लोकसंस्कृति के परिप्रेक्ष्य मे शिल्प के कतिपय लोक स्वरूपों की चर्चा इस संदर्भ मे महत्त्वपूर्ण है। शिल्प का निर्माण यहां प्राय अनुष्ठान अथवा देवी देवताओं की स्थापना या शक्ति की प्रतिष्ठा के रूप में ही अधिक होता है। कहीं कहीं इनका महत्व मनोरंजन अथवा सजावट के लिए भी होता है। सडक के किनारे, गांव के बाहर या बीचो बीच पेड के नीचे एक चबूतरे पर लोहे की छडें त्रिशूल आदि गाडकर उसके आस पास विभिन्न प्रकार के टैराकोटा अथवा विभिन्न आकार के पत्थरों को एकत्रित कर दिया जाता है। ये चबूतरे उनके लिए देवस्थान या शक्तिस्थल के रूप में होते हैं। कहीं-कहीं लकडी की बल्लियों को गाडकर उनके सामने भी त्रिशूल, नुकील तार जिन पर सूरजाकार लोहे के चक्र होते हैं अथवा साकल इत्यादि गाड दिये जाते है। कहीं-कहीं इनके साथ चबूतरों पर मिट्टी के घोडे, या अन्य देवी देवताओं को भी रख दिया जाता है। कलात्मक दृष्टि से यह सम्पूर्ण संयोजन एक कोलाज का रूप धारण कर लेता है। इनमे रचनात्मक संयोजन का विशिष्ट स्वरूप उभरता है। लोहे के त्रिशूल, नुकील गडे तार आदि सभी वहां शक्ति के प्रतीक होते हैं। कभी कभी पत्थरों की एक दो प्रतिमाएँ भी इनके साथ स्थापित की जाती हैं। प्राय शिलाफलक पर उत्कीर्ण इन मूर्तियों में योद्धा सती अथवा हनुमान या स्थानीय देवताओं के रूप देखने को मिलते हैं। योद्धा को तलवार ढाल आदि से युक्त खडे हुए अथवा घोडे पर सवार दर्शाते है। ये आकृतियाँ प्राय पार्श्व मुखी होती हैं। इस प्रस्तर शिल्प के पहनावे समकालीन जीवन का परिचय देते हैं। बडी बडी आंखें मोटे होंठ कानों में कुण्डल और हाथों में मोटे कडे दर्शाये जाते हैं।

मृण्मय शिल्प की परम्परा छत्तीसगढ़ के विस्तृत भाग में फैली हुई है। दशहरा, दिवाली पोला आदि पर्व इन शिल्पों के प्रमुख प्रेरणा स्रोत हैं। हाथी, घोडे, दीप मालिका, देवी देवताओं की प्रतिमाओं के ढेरों स्वरूप स्थानीय मौलिकता लिए हुए होते हैं। स्थूल आकार के ये शिल्प अपार शक्ति एवं रचनात्मकता से युक्त होते हैं। इन पर अलंकरण कम होता है सादगी एवं अभिव्यक्ति पर अधिक ध्यान दिया जाता है। इस क्षेत्र में 'बैला' की परम्परा ग्राम ग्राम में इतनी सशक्त है कि एक ही गांव में उसके ढेड डेकोरेशन एवं आकार में विविध शैलियों की झलक देख सकते हैं। इनके चारों पैरों में लकडी फसाकर, पहियों के माध्यम से दौडाते हुए बच्चों को प्राय देखा जा सकता है। छत्तीसगढ़ के मृण्मय शिल्प प्राय एक ही रंग (खांव के रंग) से रंगे होते हैं। विभिन्न रंगों से शिल्प की बारीकियों को उभारने की परम्परा का यहाँ अभाव है।

आदिवासी बहुल छत्तीसगढ़ में मृतक स्तम्भों का रिवाज भी महत्वपूर्ण है। इनके

पीछे मृतक की स्मृति को स्थापित करने की भावना प्रमुख है। राजा या सरई की लकड़ी के तख्तों पर मृतक के जीवन-काल से जुड़ी जीवन की झाँकी प्रस्तुत की जाती है। शिकार करते हुए, हल जोतते हुए अथवा सवारी करते हुए आकृति को दर्शाया जाता है। खाने के बर्तन, कंघी, चाकू, मछली आदि दैनिक उपयोग की वस्तुओं को भी इन स्तम्भों पर उत्कीर्ण किया जाता है। इन स्तम्भों को देखकर मिश्र के समाधि कक्षों पर बने चित्रों की याद ताज़ा हो जाती है। यहाँ घोटुल में भी काष्ठशिल्प के अद्भुत नमूने देखे जा सकते हैं।

छत्तीसगढ़ क्षेत्र में प्रचलित धातुशिल्प (बेल मैटल) की परम्परा बिहार उड़ीसा एवं दक्षिण भारतीय धातुशिल्प की परम्पराओं से एकदम भिन्न है। प्रारम्भ में गीली मिट्टी से शिल्प का एक ढाँचा बना लिया जाता है। इस ढाँचे को चारों ओर से मोम के तार-नुमा धागे से ढँका जाता है। मोम की इस आकृति पर मिट्टी का लेप चढ़ा दिया जाता है (नीचे की ओर केवल एक या दो छोर पर मोम के धागे को बाहर निकला रहने देते हैं।) और उसे भट्ठी में पकने के लिए रख दिया जाता है। आँच के कारण अन्दर का सारा मोम पिघलकर नीचे के छेद से निकल जाता है (अथवा जल जाता है)। बाद में नीचे के उसी छेद द्वारा तरल धातु को शिल्प के अन्दर प्रवाहित किया जाता है। पूर्व में निर्मित मोम की मूल आकृति का स्थान तरल धातु ले लेती है। ठंडा होने पर ऊपर की चढ़ी हुई मिट्टी के लेप को हटा दिया जाता है, अंदर के धातुशिल्प को निकाल लिया जाता है। यह प्रक्रिया जितनी दुरूह है शिल्प उतना ही विलक्षण होता है। छत्तीसगढ़ के इन धातुशिल्पों में, मादर बजाते हुए हाथी की सवारी करते हुए मानव आकृतियाँ, देवी-देवताओं और जानवरों की मूर्तियाँ अधिक प्रचलित हैं। देवी देवताओं को प्रायः ढाल एवं तलवार लिए हुए दर्शाया जाता है। नर्तक अथवा वादक आकृतियों के सिर पर जानवरों के सींगवाला अलंकरण भी प्रायः दर्शाया जाता है। अलंकरण इन शिल्पों पर प्रस्तर-शिल्प की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होता है। इन शिल्पों में समकालीन आभूषणों की झलक देखी जा सकती है।

लोकशिल्पों का रचना संसार स्थानीय सुलभ सामग्री पर निर्भर होता है। स्थानीय क्षेत्र से प्राप्त मिट्टी, पत्थर, लकड़ी एवं धातु पर ही ये शिल्प निर्भर होते हैं। इन शिल्पियों को यंत्रों के आयात करने की आवश्यकता नहीं होती। कुशल हाथों एवं परम्परागत औजारों से ही ये रूप सँवारते हैं। न इनकी प्रवृत्ति प्रयोगात्मक होती है न वे अधिक उत्पादन के प्रति सचेष्ट लगते हैं। गुणवत्ता से अधिक वे परम्परागत स्वरूप को बनाये रखने में रुचि रखते हैं। शिल्प का पहनावा एवं अलंकरण भी स्थानीय समाज के अनुरूप ही होता है। इसीलिए इनका स्वरूप विशुद्ध एवं मौलिक होता है। शिल्प का निर्माण उनकी निष्ठा एवं रचनाधर्मिता को प्रकट करता है। परिवर्तन को वे सहजता से स्वीकार नहीं करते। लोकप्रियता एवं प्रचार के आडम्बर से दूर कला के ये मौन साधक आज भी अपनी परम्परा का निर्वाह पूरी निष्ठा से कर रहे हैं। कला की दृष्टि से छत्तीसगढ़ के इन लोकशिल्पों का स्थान राष्ट्रीय संस्कृति की लोकधारा का एक महत्वपूर्ण अंग है। इन परम्पराओं का लोप न हो दूषित होने से इनका बचाव हो और संस्कृति के संरक्षक के रूप में इन्हें प्रतिष्ठित किया जाये, तभी लोककला और कलाकार का महत्व बढ़ सकता है।

*

लोकगीतों के परिमार्जन का प्रश्न

□

मुकुन्द कौशल

लोकगीत हमारी ग्रामीण संस्कृति का विभिन्न अंग है। नगर से दूर गांवों में पनपती विरह अथवा सान्निध्य, शृंगार या भक्ति सुख अथवा दुःख की गहनतम अनुभूति के कोमल क्षणों में जनमानस की गेय अभिव्यक्ति को हम लोकगीत की परिभाषा दे सकते हैं।

पारम्परिक संगीत के अनुरूप ही लोकगीत भी प्रत्येक स्थान की प्रकृति जलवायु रहन सहन, रीति रिवाज खान पान एवं आस्थाओं से रचा बसा हुआ होता है। अतः प्रकृति के अंक में खेलते मुस्कराते लोकगीत ग्रामीण जनजीवन की तरंगों के साथ ही झंकृत होते हैं। लोकसंस्कृति के साथ साथ साहित्य, संगीत एवं ललित कलाओं का भी अविभाज्य सामंजस्य है। जब हम इनमें से किसी एक की बात करते हैं तो अन्य सम्बंधित विषय भी अदृश्य रूप से साथ साथ चलते हैं।

लोकगीतों की मूल उत्पत्ति के विषय में भारतीय इतिहास के शास्त्रीय पक्ष की ओर जहां तक हमारी दृष्टि जाती है यदि हम वहीं से बात को प्रारम्भ करें तो हम कह सकते हैं कि वैदिक गीति काव्य की पद्धति को छोड़कर भिन्न भिन्न गाथाओं में तथा प्राकृत के काव्य में जो गेय पद्धति प्रचलित हुई, वह उस युग के लोकगीत थे। वस्तुतः प्रत्येक युग में अपने युगीन तत्वों को समाविष्ट करती हुई संगीत तथा गीतों की एक ऐसी धारा होती है जो पूर्ववर्ती प्रारम्भिक धारा से भिन्न होती है। हम भक्तिकाल की रचनाओं को ही लें तो हमें ज्ञात होगा कि कबीर, मीरा, सूर तुलसी आदि के बहुत से भक्ति गीत तत्कालीन लोकगीतों से प्रभावित लोकधुनों पर आधारित रहे हैं। उनमें लोकजीवन के स्पष्ट परिदृश्य भी हैं, और यही कारण है कि वे उस काल के नवीन और ताजगी से भरे गीतों के रूप में शीघ्र ही प्रचलित हो गये।

प्रत्येक पीढ़ी की परिकल्पनाएं दरअसल तभी लोकप्रिय हो पायेंगी जब अपने धरातल से जुड़कर उनका शिल्प लोकतत्वों को अपनाकर आगे बढ़ेगा। प्रत्येक प्रान्त के पर्वों, उत्सवों, त्यौहारों एवं जीवन के संवेदनशील क्षणों में लोकगीत निरंतर मुखरित होते रहते हैं। हर प्रान्त के लोकगीत अपनी लोचदार गायन शैली एवं विशिष्ट लोकतालों के आधार पर स्वयं की एक अलग पहचान बनाते हुए अपनी छवि अंकित करते हैं।

लोकगीतों की चर्चा करते समय हमारे जीवन के अभिन्न अंग, उत्सवों की चर्चा करना यहां पर प्रासंगिक ही होगा। प्रत्येक अंचल की अपनी परम्पराओं से जुड़े तीज-त्यौहार, विवाह, संस्कार, इष्ट-पूजन, तथा अनेक अवसरों पर गाये जाने वाले लोकगीत

आज जिस स्वरूप मे भी शेष हैं वह हमारी भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि हैं। भारतवर्ष के कुछ उत्सवादि सांस्कृतिक हैं तो कुछ धार्मिक। अपनी मूलभूत आस्थाओं से जुड़ी यहाँ की लोकसंस्कृति पसीने की गंध, रिश्तों की बुनियाद पर एवं उत्साह के स्तम्भों पर टिकी है। यहाँ के लोक-जीवन के कैनवास पर ऋतुएँ सदैव नए रंगों के चित्र अंकित करती हैं। शिशु जन्म से लेकर मनुष्य की अंत्येष्टि तक के समूचे चित्र हमारे लोकगीतों मे विद्यमान हैं।

शताब्दियों से चल रही लोकगीतों की इस पारम्परिक यात्रा के बीच कालान्तर मे लोकगीतों के तत्व तो वही रहे, किन्तु शिल्प मे परिवर्तन अवश्य हुआ। इसीलिये तो युगीन प्रभाव के बावजूद महाप्राण निराला ने भी प्रारम्भ में लोकगीत की कजरी शैली पर लिखा था कि 'कारे-कारे बादर आये, न आये बीर जवाहरलाल।' यह था लोक-शैली का प्रभाव, किन्तु यह बदरी तो विदेशी शासकों के रूप मे भारतीय इतिहास के प्रकाश पर युगों से घिरी रही जिसका दुष्परिणाम हमारी लोकसंस्कृति के मार्ग की बाधाएँ बनीं।

अपनी लोकसंस्कृति से विमुख हुई युवा पीढ़ी पुनः अपनी मूल धारा से जुड़े, इसके पूर्व उन पर विलायती संस्कृति के आकर्षण का ऐसा मुलम्मा चढ़ा कि समूचा पढ़ा लिखा वर्ग लोकगीत लोकसंगीत, लोकनृत्य तथा समूची लोकसंस्कृति को गवारों की संस्कृति कहकर हिकारत की नजर से देखने लगा। यह एक सुलक्षण ही है कि, हम अपनी मूल धारा के प्रति, अपने धरातल के प्रति अपनी अस्मिता की तलाश के प्रति विगत वर्षों से पुनः सजग हुये हैं।

लोक-जीवन से संपृक्त गीतों की पीढ़ी दर पीढ़ी यात्रा में यथार्थवादी स्थितियों के चित्रण के साथ जहाँ नये भावशिल्प उभर कर सामने आते रहे, वहीं कुछ परम्परागत भावबोधों एवं शब्दों का अपभ्रंश भी होता चला गया। आज आवश्यकता है ऐसे तमाम लोकगीतों के उसकी मूल शैली मे पुनर्लेखन की, जो जनमानस को अपनी ध्वन्यात्मक अनुभूतियों के साथ शाब्दिक रूप से भी आकर्षित कर सकें।

परिवर्तन, समय की माँग तथा युगीन धारा के अनिवार्य तत्व हैं। प्रकृति स्वयं मे परिवर्तनशील है। परिवर्तन ही जीवन की नीरसता को सरसता मे बदलता है और किसी भी शिल्प को मोनोटोनिक होने से बचाता चलता है और तभी वह ग्राह्य भी हो पाता है। नेचुरल्टी के नाम पर किसी भी शिल्प का ठेठ-पन उस शिल्प को मात्र शो केस की वस्तु बना देता है। निरन्तर प्रयोग में आने वाली कलापद्धतियों में आप और हम यदि न भी चाहें तो प्राकृतिक रूप से तो परिवर्तन होगा ही।

मेरा यह विश्वास है कि भारतीय लोकगीत आज भी इतने प्राणवान हैं कि यदि हम उनका उपयोग किंचित् समयानुसार संशोधनों के साथ करते हैं तो निश्चय ही अपने जनमानस को हम पाश्चात्य संस्कृति की जकड़न से मुक्त कराकर उनमें अपने मौलिक सांस्कृतिक स्रोतों का परिसिंचन कर पायेंगे।

लोकसाहित्य की भूमि और परम्परा के बहाने दो लोकगीतों का अध्ययन

रामनिहाल गुंजन

हिन्दी में लोकसाहित्य की परंपरा नहीं के बराबर है, कारण कि हिन्दी प्रायः शिक्षित जनों की भाषा है। वैसे जिन प्रदेशों में हिन्दी का प्रयोग बोल चाल की भाषा के रूप में किया जाता है, वहां लोकगीत की परंपरा हिन्दी में पायी जाती है फिर भी वहां की जनपदीय अथवा आंचलिक भाषा में ही लोकसाहित्य—गीत, कथा, लोकनाट्य आदि—की परंपरा मौजूद है। लोकसाहित्य प्रायः लोकभाषा में ही लिखा जाता रहा है, क्योंकि इस भाषा के शब्द लोकजीवन में इतने गहरे घुले मिले रहते हैं कि उनमें अशिक्षित-अर्द्धशिक्षित जनता अपने जन जीवन संबंधी भावों और विचारों को व्यक्त करना पसंद करती है यह इसलिए भी कि 'देसिल बयना सब जन मिट्ठा'। उस भाषा में व्यक्त उसके भाव और विचार, आशा आकांक्षा, हर्ष विषाद, निराशा और दुःख दैन्य, शोषण उत्पीडन आदि उसके निजी जीवन और सामाजिक जीवन की गहरी अनुभूति से छन कर आते हैं इसलिए इन भावों और विचारों में सामाजिक यथार्थ का सजीव चित्र देखा जा सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि लोकसाहित्य जीवन के विविध पक्षों को एक साथ व्यापक फलक पर प्रस्तुत कर देता है जिसमें किसी भी देश और समाज की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों तथा यथार्थ जीवनानुभवों को लक्षित किया जा सकता है।

ग्राम्य गीतों में अभी भी लोकगीतों की अजस्र धारा और अनुगूंज मौजूद है जो सदियों से भारतीय गांवों के जन जीवन में सुनाई पडती है। आज भी लोकगीतों की आधारभूमि भारत के गाँव ही हैं, जहां बुआई का गीत, कटनी का गीत, जतसार, झूला-गीत (कजरी), ढेका गीत, मजदूरिनों के गीत (जो इंट-पत्थर तोडते तथा छत पीटते समय गाये जाते हैं) नौका गीत, विवाह गीत, पर्व-त्योहार के गीत, जन्म गीत आदि गाये जाते हैं और इन गीतों के माध्यम से लोक संस्कृति और जीवन के विविध पक्ष उद्घाटित होते हैं। लोकजीवन में लोकनाटकों की परंपरा भी मिलती है जो ग्रामीण जन जीवन के लिए काफी उपयोगी और महत्वपूर्ण सिद्ध होती है। इन नाटकों के जरिये जीवन की यथार्थ और विसंगत स्थितियों का प्रदर्शन कर उन पर व्यंग्य प्रहार किया जाता है। विवाह शादी के अवसर पर खेले जानेवाले लोकनाटक—डोमकच, भाण आदि सिर्फ मनोरंजन के लिए ही नहीं होते। उनका उद्देश्य सामाजिक विसंगतियों की आलोचना

करना भी होता है, हालांकि हँसी मजाक की अतिशयता के कारण इनका वास्तविक उद्देश्य बाधित होता है। किंतु दूसरे अवसरों पर प्रदर्शित किये जानेवाले लोकनाटक इस अभिप्राय का निर्वाह करते हैं, इसमें संदेह नहीं। भोजपुरी के प्रसिद्ध लोककवि और नाटककार, भिखारी ठाकुर के नाटक— बेटी बेचवा', 'बिदेसिया,' 'भाई विरोध' नाटक आदि ऐसे ही नाटक हैं, जिनका उद्देश्य सामाजिक असंगतियों—बेमेल विवाह, परायी स्त्री के साथ संबंध स्थापित करने और भाई भाई के गृह-कलह की आलोचना करना है। यह बात भोजपुरी तथा अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के नाटकों में समान रूप से देखी जा सकती है।

ऊपर की बातों से स्पष्ट है कि लोकसाहित्य की भूमि व्यापक और गहरी तथा इसकी परंपरा लंबी है। इसका प्रभाव परवर्ती साहित्य पर किसी न किसी रूप में पड़ता है, जिसे हम गीतों के विश्लेषण क्रम में देखेंगे। यह तथ्यात्मक है कि किसी भी समय के साहित्य में उसके परम्परागत अथवा लोकसाहित्य से शब्द, मुहावरे, लोकोक्तियाँ तो गृहीत होते ही हैं, साथ ही उस समय के किसी कथा-नायक या काव्य-नायक के जीवन प्रसंग विकसित और नये संदर्भों में साहित्य में उपस्थित होते हैं। हालांकि इस तथ्य को साहित्य के क्षेत्र में नजरअंदाज करने की कोशिश की जाती है, फिर भी इसका प्रभाव साहित्य, संस्कृति और लोकजीवन की एकता पर भी पड़ता है, इसमें संदेह नहीं। यहाँ हम दो लोकगीतों के माध्यम से इस तथ्य को स्पष्ट करने की कोशिश करेंगे कि लोकजीवन में व्याप्त वर्गीय संस्कृति और वर्ग विरोध का प्रतिफलन किस रूप में होता है।

प्रस्तुत दोनों गीत भोजपुरी भाषा के हैं तथा दोनों पूर्व प्रकाशित हैं। एक गीत, जिसका शीर्षक है, 'अछूत की शिकायत' और जिसके लेखक हैं पटना के हीरा डोम, सितम्बर १९१४ की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था। यह शायद प्रथम नाव सर्वहारा लोककवि की प्रथम रचना है जिसमें भारतीय समाज में अछूत जाति (सर्वहारा-वर्ग) की जो स्थिति है उसका बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया गया है। दूसरा गीत एक अज्ञात लोककवि की भोजपुरी रचना है, जो पूर्व प्रकाशित है तथा जिसका पुन प्रकाशन, पिछले दिनों, 'बहस' के दूसरे अंक, अर्थात् नवम्बर ४२ में प्रकाशित अंक में हुआ है। इस गीत में सामंती संस्कृति और शोषण उत्पीड़न का चित्र अंकित है। हम यहाँ दोनों गीतों पर अलग-अलग विचार करेंगे।

'अछूत की शिकायत' का कवि जो स्वयं एक अछूत जाति का होने के कारण उन सामाजिक स्थितियों और विसंगतियों का शिकार है, जिन्हें वह अपनी भाषा में व्यक्त कर एक साहसिक रचना-कार्य करता है जिसे उस समय अर्थात् १९१४ की अवधि में, जबकि समाज में ब्राह्मणवाद, जातिवाद और धार्मिक अंधविश्वास का पूर्ण आधिपत्य था तथा अछूत जातियों के प्रति सवर्ण जातियों में तीव्र घृणा भाव मौजूद था, एक क्रांतिकारी कार्य भी कहा जा सकता है। उसके बहुत पूर्व सिद्ध कवियों और कबीर ने अपनी रचनाओं द्वारा जाति-पाँति पर तेज व्यंग्य प्रहार किया था किन्तु वे 'अछूत की शिकायत' के कवि की स्थिति में नहीं थे, जो सीधे सामाजिक विसंगतियों का शिकार था। अतः

यहाँ हम इस गीत के अलग-अलग खंडों में व्यक्त भावों का अध्ययन विश्लेषण करेंगे।

गीत की प्रारंभिक आठ पंक्तियों में कवि अपनी पूरी जाति का प्रतिनिधित्व करते हुए उसकी ओर से शिकायत पेश करता है, जिसमें अछूतों की दुखपूर्ण ज़िन्दगी की बात कही गई है तथा उस दयनीय स्थिति में ईश्वर भी तटस्थ दिखाई पड़ता है। अतः उसके लिए एक ही रास्ता अब शेष बच गया है और वह है पादरी के दरबार में जाकर ईसाई धर्म में दीक्षित हो जाना। लेकिन चूँकि वह उस हिंदू धर्म में आस्था रखता है (जो उसके भरपेट भोजन की व्यवस्था भी नहीं कर सकता) इसलिए वह इस द्वन्द्व से गुजरता है कि धर्म का त्याग वह कैसे करे और 'बेधरम' होकर वह कैसे मुँह दिखायेगा—

हमनी के राति दिन दुखवा भोगत बानी,
हमनी के सहेब से मिनती सुनाइबि।
हमनी के दुख भगवन्ओं न देखताजे
हमनी के कबले कलेसवा उठाइबि।
पदरी सहेब के कचहरी में जाइबिजा।
बेधरम होके रंगरेज बनि जाइबि।
हाय राम! धरम न छोड़त बनत बाजे।
बे धरम होके कैसे मुहवा दखाइबि।। १।।

दूसरे चरण में अर्थात् अगली आठ पंक्तियों में कवि को ईश्वर के कई मिथकीय रूप याद आते हैं, जिन्होंने प्रह्लाद, गजराज, द्रोपदी और विभीषण की रक्षा की तथा अत्याचारियों का विनाश किया, लेकिन वह उस ईश्वर में भी अपने जैसे अछूतों के उद्धार की सामर्थ्य का अभाव पाता है। उसे लगता है जैसे भगवान् भी उन्हें अस्पृश्य समझकर छूने से डरता है—

खमवा के फारि प्रह्लाद के बचवले जो
ग्राह के मुँह से गजराज के बचवले।
धोती जुरजोधना कै भइया छोरत रहै
परगट होके तहां कपड़ा बढ़वले।
मरले खनवा के पलले भभिखना के
कानी अगुरी पै धैके पथरा उठवले।
कहवां सुतल बाटे सुनत न बारे अब
डोम जानि हमनी के छुए से डेरइले।। २।।

सर्वहारा समुदाय, जो दिनरात श्रम करके अपनी जीविका अर्जित करता है,

हमनी के रात-दिन मेहनत करीले जा,
दुइगो रुपयवा दरमहा में पाइबि।
ठाकुरे के सुख सेत घर में सुतल बानी,
हमनी के जोति जोति खेतिया कमाइबि।
हकिमे के लसकरि उतरल बाती,
जेत उहओ बेगरिया में पकरल जाइबि,
मुँह बान्हि ऐसन नोकरिया करत बाती
ई कुलि खबरि सरकार के सुनाइबि॥ ३॥

सर्वहारा जनता को अपने श्रम की मर्यादा के लिए गौरव का बोध होता है। वह ब्राह्मण की तरह भीख माँगने, क्षत्रिय की तरह लाठी चलाने, बनिया की तरह डाँडी मारने तथा ग्वालों द्वारा गाय चुराने, भाट की तरह कविता जोड़ने तथा पगड़ी बाँधकर कचहरी जाने की अपेक्षा पसीने से पैसे कमाना ज्यादा अच्छा समझता है, जिससे वह परिवार में मिल-बाँट कर खा सके—

बभने के लेखे हम भिखिया न मांगब जा,
ठकुरे के लेखे नहिं लउरि चलाइबि।
सहुआ के लेखे नहिं डांडी हम मारब जा,
अहिरा के लखे नहिं गइया चोराइबि।
भटऊ के लखे न कवित हम जोरब जा
पगड़ी न बान्हि के कचहरी में जाइबि॥
अपने पसिनवा के पइसा कमाइबि,
घर भर मिलि जुलि बांटि चोंटि खाइबि॥ ४॥

और अंत में वह समाज के नंगे यथार्थ की ओर संकेत करते हुए, उन अध्यात्म वादियों के गाल पर भी प्रहार करता है, जो ईश्वर को सभी जीवों में समान रूप में व्याप्त मानते हैं तथा आत्मा को 'ईश्वर अंश' तथा 'सहज अमल गुनराशि' मानकर सर्वात्मवाद की घोषणा करते हैं। लेकिन व्यावहारिक जगत् में उन्हें यथार्थ भिन्न दिखाई पड़ता है। कवि इस अभेद में भेद भाव की ओर संकेत करते हुए कहता है कि हाड़-मांस की देह तो ब्राह्मण और अछूत दोनों की है, किन्तु क्या कारण है कि ब्राह्मण की घर-घर पूजा होती है और पूरे इलाके में उसकी जजमानी चलती है। इसके विपरीत तथ्य यह है कि मनुष्य होने के बावजूद हम कुएं के नजदीक भी नहीं जा सकते। पानी पीने की बात तो अलग है। लिहाजा हम कीचड़ का पानी पीना पड़ता है। और तो और, हमें जूतों से मार मार कर हमारे हाथ पैर तोड़ दिये जाते हैं। इस तरह की परेशानी का जीवन भी क्या कोई जीवन है?

हड़वा मसुइया के देहिया है हमनी के,
ओकरे के देहिया बभनओं के बानी।

यहाँ हम इस गीत के अलग-अलग खडो म व्यक्त भावो का अ ययन-विश्लेषण करेंगे ।

गीत की प्रारभिक आठ पक्तियों मे कवि अपनी पूरी जाति का प्रतिनिधित्व करते हुए उसकी ओर से शिकायत पेश करता है जिसम अछूतो की दु खपूण जिन्दगी की बात कही गई है तथा उसे तथाकथित ईश्वर भी तटस्थ दिखाई पडता है । अत उसके लिए एक ही रास्ता अब शेष बच गया है और वह है पादरी के दरबार मे जाकर ईसाई धम मे दीक्षित हो जाना । लेकिन चूकि वह उस हिंदु धम म आस्था रखता है (जो उसके भरपेट भोजन की "यवस्था भी नही कर सकता) इसलिए वह इस द्वन्द्व से गुजरता है कि धर्म का त्याग वह कैसे करे और 'बेधरम होकर वह कैसे मुँह दिखायेगा—

हमनी के राति दिन दुखवा भोगत बानी,
हमनी क सहेबे से मिनती सुनाइबि ।
हमनी के दुख भगवान्ओ न देखताजे
हमनी के कबले कलेसवा उठाइबि ।
पदरी सहेब के कचहरी मे जाइबिजा ।
बेधरम होक रगरेज बनि जाइबि ।
हाय राम ! धरम न छोड्त बनत बाजे ।
बे धरम होके कैसे मुहवा देखाइबि ॥ १ ॥

दूसरे चरण म अर्थात् अगली आठ पक्तियो म कवि को ईश्वर के कई मिथकीय रूप याद आते हैं, जि होन प्रह्लाद, गजराज, द्रौपदी और विभीषण की रक्षा की तथा अत्याचारियों का विनाश किया, लेकिन वह उस ईश्वर म भी अपने जैसे अछूतो के उद्धार की सामथ्य का अभाव पाता है । उस लगता है जैस भगवान् भी उ हे अस्पृश्य समझकर छूने से डरता है—

खमवा के फारि प्रह्लाद के बचवले जो
ग्राह के मुँह से गजराज क बचवल ।
धोती जुरजोधना कै भइया छोरत रहे
परगट होके तहाँ कपडा बढवले ।
मरल रवनवा क पलले भभिखना के,
कानी अगुरी पै धैके पथरा उठवल ।
कहवा सुतल बाटे सुनत न बाटे अब
डोम जानि हमनी के छुए से डेरइले ॥ २ ॥

सर्वहारा समुदाय, जो दिनरात श्रम करके अपनी जीविका अर्जित करता है, उसकी दयनीयता का इससे बडा कारण क्या हो सकता है कि वह कडी मेहनत करने के बावजूद कम-से-कम पैसे पाता है । सामंत वग घर मे आराम से सोता है और उसे खेत जोतना पडता है । दूसरी ओर उसे अफसरों की बेगारी भी करनी पडती है, जिसके लिए उसे खाने-पीने को भी कुछ नही मिलता । ऐसी स्थिति म वह इसकी शिकायत अंग्रेज सरकार के दरबार मे पहुँचाना चाहता है—

हमनी के रात्ति-दिन मेहनत करीले जा,
दुइगो रुपयवा दरमहा मे पाइबि।
ठकुरे के सुख सेत घर में सुतल बानी,
हमनी के जोति जोति खेतिया कमाइबि।
हकिमे के लसकरि उतरल बानी,
जेत उहवों बेगरिया म पकरस जाइबि,
मुँह बान्हि ऐसन नोकरिया करत बानी
ई कुलि खबरि सरकार क सुनाइबि॥ ३॥

सर्वहारा जनता को अपने श्रम की मर्यादा के लिए गौरव का बोध होता है। वह ब्राह्मण की तरह भीख माँगने, क्षत्रिय की तरह लाठी चलाने, बनिया की तरह डाँडी मारने तथा ग्वालों द्वारा गाय चुराने, भाट की तरह कविता जोड़ने तथा पगडी बाँधकर कचहरी जाने की अपेक्षा पसीने से पैसा कमाना ज्यादा अच्छा समझता है, जिससे वह परिवार में मिल-बाँट कर खा सके—

बभने के लेखे हम भिखिया न मागब जा,
ठकुरे के लेख नहिं लउरि चलाइबि।
सहुआ के लेखे नहिं डाँडी हम मारब जा,
अहिरा के लघे नहिं गइया चोराइबि।
भटऊ के लेखे न कवित हम जोरब जा
पगडी न बान्हि के कचहरी म जाइबि॥
अपने पसिनवा मै पइसा कमाइबि,
घर भर मिलि जुलि बाटि चोंटि खाइबि॥ ४॥

और अंत म वह समाज के नगे यथार्थ की ओर सकेत करते हुए, उन अध्यात्मवादियों के ज्ञान पर भी प्रहार करता है, जो ईश्वर को सभी जीवों म समान रूप म व्याप्त पाते हैं तथा आत्मा को 'ईश्वर-अंश तथा 'सहज अमल गुनराशि' मानकर सर्वात्मवाद की घोषणा करते हैं। लेकिन व्यावहारिक जगत् म उन्हें यथार्थ भिन्न दिखाई पड़ता है। कवि इस अभेद म भेद भाव की ओर सकेत करते हुए कहता है कि हाड-मांस की देह तो ब्राह्मण और अछूत दोनों की है, किन्तु क्या कारण है कि ब्राह्मण की घर-घर पूजा होती है और पूरे इलाके म उसकी जजमानी चलती है। इसके विपरीत तथ्य यह है कि मनुष्य होने के बावजूद हम कुएँ के नजदीक भी नहीं जा सकते। पानी पीने की बात तो अलग है। लिहाजा हम कीचड का पानी पीना पड़ता है। और तो और हमे जूतों से मार मार कर हमारे हाथ-पैर तोड़ दिये जाते हैं। इस तरह की परेशानी का जीवन भी क्या कोई जीवन है?

हड्वा मसुइया के देहिया है हमनी कै,
ओकरे के दहिया बमनओं के बानी।

ओकरा के घरे-घर पुजवा होखत बाजे,
सगरे इसकवा भइले जजमानी।
हमनी के इनरा क निगिचे न जाइलजा,
पांके मे से भरि-भरि पियतानी पानी।
पनही से पिटि-पिटि हाथ गोड़ तुरि देलें,
हमनी के एतनी काही क हलकानी? ॥ ५ ॥

ऊपर की पूरी कविता में एक अछूत कवि ने जिस सामंती शोषण-चक्र और जाति व्यवस्था के भीतरी यथार्थ की परतों को खोलने की कोशिश की है उसे देखकर य समझा जा सकता है कि वह समाज की उस विसंगत अधतान्त्रिक प्रणाली से पूरी तर परिचित है, जिसकी उपज ये सारे के सारे अंतर्विरोध हैं। दरअसल श्रम पर आधारि जीवन जीनेवालों का महत्त्व इसी बात में निहित है कि वे समाज की बुनियादी ताक हैं और जो समाज या देश के निर्माण रूपांतरण तथा ध्वंस के कारगर माध्यम ब सकते हैं।

दूसरा गीत सोहर छंद में है, जिसमें प्रतीक-कथा के रूप में सामंती व्यवस्था क चित्र अंकित है। जैसा कि परंपरित गीतों में प्रायः होता है कि राजा दशरथ और रान कौशल्या तथा उनके लड़के राम के बहाने से कोई कथा कही जाती है, वही लोकगी की शैली यहाँ भी है जिसके जरिये अज्ञात-नाम कवि सामंती शोषण-उत्पीड़न का चि प्रस्तुत करता है। पूरा गीत इस प्रकार है—

छापक पेड़ छिउलिया त पतवन गहवर हो
ललना ताही तर ठाढ हिरनिया त मन अति अनमन हो।
चरत-चरत हिरना हिरनी से पूछेले ऽ हो
हिरनी किआ तोहरो चरहा झुरान कि पानी बिना मुरझहु हो
नाही मोर चरहा झुरान न पानी बिना मुरझेंहु हो
ललना काल्हि हुई राजा की छठिया तोहइ मारि डरिहनि हो।
मचिया हि बइठलि कोसिला रानी हिरनी अरज करे हो
रानी मसुआ त झुरिहें रसोइयां खलरिया हमके देतिहु हो।
पेड़क प टंगती खलरिया त हेरि फेरि देखतिऊ हो।
ललना देखि देखि जियरा बुझौतिऊ मनहुँ हिरना जीयत हो।
जाहु हिरनी जाहु घर अपने खलरिया नाहि देइबि हो
हिरनी खलरी क खजरी मढ़इबो, सन्न मोर खेलिहनि हो।
जब-जब बाजई खजरिया सबद सुनि अनकइ हो
ललना छिहुली तर ठाढ़ हिरनियां हिरन के बिसूरेली हो।

इस गीत में एक प्रतीक कथा वर्णित है, जैसा कि ऊपर कहा गया है। वैसे तो गीत का शाब्दिक अर्थ यह है कि हिरणी अपने हिरण के संभावित वध की आशंका से दुखी है, क्योंकि राजा के लड़के की छठी है, जिसमें हिरण को मार कर उसका मांस

पकाया जायेगा। अन्ततः हिरणी की शंका सच साबित होती है। इस पर भी वह चाहती है कि हिरण की खाल उसे मिल जाय जिसे वह पेड़ पर लटका देगी तथा घूम फिर कर उसे देखकर ही संतोष कर लेगी और समझेगी कि हरिण अभी जिन्दा है। इस आशा से वह कौशल्या रानी के पास जाती है लेकिन रानी उसे देने से इन्कार कर देती है। रानी कहती है कि उसकी खाल की खंजरी से उसका लड़का खेलेगा। हरिणी उदास होकर लौट आती है। अब जब-जब खजड़ी बजती है तब तब उसकी आवाज सुनकर हरिणी खिहुली के पेड़ के नीचे खड़ी होकर हिरण को विसूरती है।

इस प्रतीक कथा की जो अन्तर्कथा है, वह इसके भीतरी अर्थ को उद्घाटित करती है। सामंती व्यवस्था में श्रमजीवी-वर्ग का इस हद तक आर्थिक शोषण और उत्पीड़न होता है कि वह उस व्यवस्था द्वारा पूरी तरह उपभुक्त (Consumed) कर लिया जाता है। इसके फलस्वरूप उसके अवशेष अर्थात् शोषण उत्पीड़न की निरंतर मार पड़ते रहने के कारण उसका शरीर कंकाल मात्र रह जाता है, जो सामंत और पूंजीपति वर्ग के हास्य और मनोरंजन का अवलंबन बन कर रह जाता है। इस यथार्थ पर टिकी रचनाएं लोकसाहित्य के अंतर्गत काफी बड़ी मात्रा में छिपी पड़ी हैं जिनकी खोज की जानी चाहिये। वैसे पता नहीं, इस दिशा में अब तक कितना काम किया जा चुका है।

इस प्रकार कहना न होगा कि पहले और दूसरे गीत की भूमि, जो उनके उप-जीव्य से जुड़ी है, लगभग सामंती व्यवस्था पर आधारित है। दोनों गीतों में सामंती शोषण उत्पीड़न की बात समान रूप से देखी जा सकती है। पहले गीत में बेगार-प्रथा और जाति प्रथा की जो विसंगति है, वह सामंती और धार्मिक व्यवस्था की देन है और जाति प्रथा पर आधारित भेद भाव का प्रतिफलन कभी कभी धर्म-परिवर्तन में भी होता है। दूसरे गीत का परिवेश बिल्कुल सामंती है इसमें सन्देह नहीं। अतः इस कथा के जरिये, जो सामाजिक यथार्थ सामने आता है, उसका आधार सामंती व्यवस्था ही है, किन्तु वह यथार्थ पूंजीवादी युग में भी साक्षात्कृत होता है, जो सामंती व्यवस्था का ही विकसित रूप है, जो आगे की कविता की व्याख्या से स्पष्ट होगा।

वैसे यदि दोनों गीतों को एक साथ रखकर देखा जाय तो उनकी संरचना में स्पष्ट फर्क दिखाई पड़ सकता है, लेकिन दोनों को अन्तर्वस्तु समान दूरी पर स्थित बिन्दुओं से टक-राती हैं जो किसी न-किसी रूप में सामंती व्यवस्था के खिलाफ खड़ी होती हैं। दोनों का उद्देश्य भी इसी अर्थ में समान है। लेकिन दोनों गीतों में एक अन्तर भी है वह यह कि पहले गीत का लेखक स्वयं अपनी व्यथा कथा कहता है और इस अर्थ में उसकी संवेदना, चेतना और जीवन दृष्टि दूसरे गीत की संवेदना और चेतना से अलग है अर्थात् दूसरे गीत की रचना एक तटस्थ कवि ने की है जिसने अपने जीवन की कथा न कहकर प्रतीक कथा के रूप में इस कथा को आधार बनाया है और इसी के जरिये वह अपने जीवन यथार्थ को भी सामने प्रस्तुत कर देता है। इस गीत का लेखक सर्वहारा वर्ग का नहीं भी होगा तो भी वह उसके आसपास ही कहीं स्थित होगा क्योंकि रचना की जो परिस्थिति है और उसमें रचनाकार की जिस संलग्नता (Involvement) की सूचना मिलती है, उसके

आधार पर इसे प्रमाणित किया जा सकता है। दूसरे, उसने सर्वहारा वर्ग को ध्यान में रखकर ही इसकी रचना की होगी, यह जानना आवश्यक न होते हुए यह जरूर कहा जा सकता है कि उसकी पक्षधरता कमजोर वर्ग के प्रति रही है। इस तरह उसका इससे रचना अभिप्राय भी स्पष्ट हो जाता है।

इस प्रकार ऐसे गीतों के अध्ययन विश्लेषण से जनवादी लोकसाहित्य के स्रोतों का पता चलता है। हिन्दी में लोकसाहित्य पर बहुत कम काम हुआ है और हुआ भी है तो उसमें मूल रचनाओं तथा उनकी पाठ-प्रक्रिया से गुजरकर उसके मार्क्सीय दृष्टि से विवेचन-विश्लेषण की आवश्यकता है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उन गीतों, नाटकों और कथाओं पर प्रामाणिक कार्य करने की आवश्यकता अभी भी बनी हुई है। धीरे धीरे इसकी ओर सजग लेखकों समीक्षकों का ध्यान जा रहा है और इस आधार पर इसके ऐतिहासिक अध्ययन विश्लेषण की संभावना व्यक्त की जा सकती है।

*

लोकगीत एवं लोकसंस्कृति के अध्ययन का महत्व



लेखक—इन्द्रदेव

अनुवाद—जमुनाप्रसाद कसार 'विदेह'

जहाँ तक तीसरी दुनिया उसके उत्थान एवं विकास का प्रश्न है, उसके लिए लोकगीत एवं लोकसंस्कृति का विशेष महत्व है। पश्चिम के वे कतिपय देश, जहाँ अब लोकसंस्कृति के अवशेष मात्र ही रह गए हैं, उनको यदि हम छोड़ दें, तो यह कहा जा सकता है कि ये देश लोकगीत एवं लोकसंस्कृति के जीवंत एवं विकासशील हिस्से हैं।

सामान्यतः लोकगीतों के स्वयं के महत्व, उनकी सामाजिक प्रक्रिया एवं सभ्यता के महत्वपूर्ण अंग होने के कारण लोकगीतों का अध्ययन किया जाना चाहिए किन्तु इसके परे यह भी सत्य है कि इनके व्यवस्थित विश्लेषण से हमें कतिपय अकल्पनीय सामाजिक सम्बन्धों, प्रवृत्तियों, प्रभावकारी विश्वासों एवं मानव मूल्यों का ज्ञान हो सकता है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी उद्देश्य से इनका अध्ययन करना कठिन एवं व्यर्थ होगा। सामान्य जनजीवन के चित्रों को प्रस्तुत करने एवं प्रसारित करने वाले परम्परागत माध्यम के रूप में लोकगीतों का अध्ययन विशेष सतर्कता के साथ किया जाना वांछनीय होगा। जीवन के प्रयोगात्मक दृष्टिकोण से भी इस प्रकार का अध्ययन बहुत मूल्यवान सिद्ध हो सकता है। यदि विचार प्रसारण के वर्तमान माध्यम को इसके परम्परागत प्राचीन माध्यम से जोड़ दिया जाय तो उसका प्रभाव-क्षेत्र कई गुना अधिक बढ़ सकता है।

योजनाबद्ध सांस्कृतिक परिवर्तन की रूपरेखा तैयार करने के लिए भी लोकगीत एवं लोकसंस्कृति का अध्ययन महत्वपूर्ण है। अठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी की आधुनिकता के प्रादुर्भाव काल में लोकजीवन के मूल्य तिरस्कार एवं घृणा की दृष्टि से देखे जाने लगे थे। प्राचीन शिल्प युग के आधुनिकीकरण ने लोकजीवन की जड़ों को हिला दिया था। इस आधुनिकीकरण ने ग्रामीण जीवन के संस्कारों को जानबूझ कर कुचल डाला था। उन दिनों का, मनुष्य का व्यक्तिवाद अर्थात् उसकी असीमित इच्छायें, उसका लोभ और प्रतिस्पर्धा, जिन्हें आधुनिक समझा जाता था, उसकी सीमाओं को आज का प्रबुद्ध जन अब स्पष्ट रूप से समझ रहा है। आज के विचारशील व्यक्ति इस बात से चिन्तित हैं कि अब जीवन से कर्म पृथक् होता जा रहा है। उपयोगिता एवं सौन्दर्यबोध एक दूसरे से अलग माना जा रहा है। साथ ही ग्रामों का बेलगाम शहरीकरण हो रहा है एवं शहरों में मानव आबादी कीड़ों मकोड़ों की तरह, अनगिन समस्याओं के साथ बढ़ रही है। इसका परिणाम यह हुआ है कि अत्यधिक बड़े-बड़े औद्योगिक देश आज पुनः पीछे मुड़कर प्राचीन लोकमूल्यों एवं लोकसंस्कृति की ओर बड़ी आशा से देख रहे हैं। किन्तु यह भी सत्य है

कि उनका यह आकर्षण काल्पनिक ही अधिक सिद्ध हो रहा है क्योंकि इन समुदायों का एक बहुत बड़ा हिस्सा, लम्बी अवधि से मृतप्राय सा पड़ा हुआ है तथा इसमें सन्देह है कि उसे पुनर्जीवित किया जा सकेगा। फिर भी तीसरी दुनिया के देशों में आज भी लोक संस्कृति बड़ी प्रबल है। वह आज भी विकासशील है एवं नये नये तथ्यों को अपने में समाहित करने की क्षमता रखता है। आज तकनीकी एवं आधुनिकीकरण का अन्य तत्त्वों के कारण जो परिवर्तन हो रहा है उससे यह असम्भव प्रतीत नहीं होता कि लोकसंस्कृति की यह शक्तिशाली धारा जिसकी मधुरता में कुछ न्यूनता आ गई है, आधुनिकीकरण की कला से मिलकर नई ऊँचाइयों तक पहुँचे। जिस समय कोयला ही शक्ति का एकमात्र साधन था तब सारे बृहद् उद्योग कोयले की खानों के चतुर्दिक् ही केंद्रित हुए थे। परिणामतः ग्रामों के लोग इन उद्योगों में काम करने के लिए ग्रामों को छोड़कर चले गए। आज विद्युत् ग्रामों तक ले जाई जा रही है। उन्नत तकनीकी ज्ञान के द्वारा बृहद् मशीनों को छोटा आकार देना सम्भव हो गया है। इससे औद्योगिक इकाइयों के विस्तार के साथ उद्योग का विकेन्द्रीकरण सम्भव हो गया है। अब विकास की परिभाषा बदल गई है और ऐसा नहीं समझा जाता कि हमारी ग्रामीण जीवन पद्धति का नष्ट होना ही विकास की एक आवश्यक शर्त है। किन्तु यह सच है कि इन नई सम्भावनाओं की खोज खबर सतर्कता एवं गम्भीरता से लेनी है।

लोक गीतों के अध्ययन के लिए दिये गए उपर्युक्त तर्कों से तीन उद्देश्य स्पष्ट रूप से हमारे सामने आते हैं —

(अ) समाज एवं संस्कृति के विभिन्न पहलुओं के सम्बन्ध में गहराई से विचार करना

(ब) विचार प्रवाह (प्रचार) के परम्परागत साधनों एवं आदर्शों की खोज खबर लेना।

और (स) उन सम्भावनाओं का पता लगाना जिनसे प्राचीन संस्कृति एवं वर्तमान सभ्यता का एकीकरण सम्भव हो सके। यह सब सामाजिक विज्ञान के अध्ययन के माध्यम से हो सकेगा।

दक्षिण एवं दक्षिण-पूर्व एशिया के अधिकांश भागों में लोकगीतों के गहन अध्ययन का प्रारम्भ भाषा एवं साहित्य के विद्वानों द्वारा किया गया है। इस प्रकार के अध्ययन ने सामान्य जीवन की संस्कृति एवं उसकी समृद्धि का चित्र बड़े स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है। इसने राष्ट्रीय भावना एवं राष्ट्रीय गौरव एवं स्वाभिमान को उस समय प्रगाढ़ता प्रदान की जब हम स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ रहे थे और जब हमें इसकी बड़ी आवश्यकता थी। किन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अभी बहुत कुछ करना शेष है। वर्तमान में लोक संस्कृति सम्बन्धी एकत्र की गई सामग्री अपर्याप्त एवं अनिश्चित है। इसका कारण यह है कि इस सामग्री के एकत्रीकरण का कार्य मूलतः व्यक्तिगत प्रयत्नों पर निर्भर रहा है और इसमें किसी समूह या संस्था का सहयोग नहीं लिया गया। इसके अतिरिक्त साहित्य के विद्यार्थी के लिए सौन्दर्य बोध की भावना सर्वाधिक महत्त्व की रही है इसलिए एकत्र

की जानेवाली सामग्री के वे अंश और वे तथ्य, जो सौन्दर्य-बोध एवं नैतिक मूल्यों के मानदण्डों में फिट नहीं होते उनका छूट जाना स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए समाज के अश्लील तथ्य साहित्य के विद्यार्थी के द्वारा पूर्णरूप से अंधेरे में रखे गए हैं जब कि समाज विज्ञान के दृष्टिकोण से, लोक-परम्पराओं के प्रसार के अध्ययन एवं ग्रामीणजन तथा नगर-वासियों के आपसी संबंधों को समझने के लिए वे अत्यन्त आवश्यक एवं उपयोगी हैं। प्रस्तुत तथ्यों के विश्लेषण एवं प्रस्थापित सिद्धान्तों की व्याख्या के तरीकों में अपूर्णता रहने की स्थिति में गम्भीर कमियाँ एवं विकृतियाँ रह गई हैं।

इसलिए लोकगीत एवं लोकसंस्कृति का अध्ययन स्थिरचित्त, दृढ़ता एवं गम्भीरता से किया जाना चाहिए। यह बिलकुल स्पष्ट है कि लोकगीतों का अध्ययन ग्रामीण समाज एवं ग्रामीण संस्कृति को छोड़कर नहीं किया जा सकता। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि लोकसंस्कृति एवं नागरिक सभ्यता तथा संस्कृति की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया सतत होती रहती है। इन दोनों संस्कृतियों में आदान-प्रदान की यह क्रिया निरंतर चलती रही है और इसी के द्वारा दोनों संस्कृतियों का निर्माण हुआ है। इन दोनों धाराओं का एक साथ अध्ययन तथा इनकी एक दूसरे पर हुई क्रिया प्रतिक्रिया की व्यवस्थित खोज स्वाभाविक रूप से अति लाभकारी सिद्ध होगी। इसलिए परम्परागत संस्कृति की गतिशीलता का अध्ययन निष्पक्षता एवं प्राथमिकता के आधार पर किया जाना चाहिए।

किसी भी प्रकार के संकीर्ण दृष्टिकोण से लोकगीतों का अध्ययन उपयुक्त नहीं हो सकता। लोकगीत एवं लोकसंस्कृति का अर्थ, उनके मूल्य व उनके निर्माण के आदर्श आदि को ठीक तरह से समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उन्हें विकसित संस्कृति एवं सभ्यता के एक अंग के रूप में ही देखें क्योंकि विस्तृत संस्कृति से अलग इनका कोई अस्तित्व नहीं है। परम्परागत संस्कृति के अध्ययन एवं लोकगीतों पर की जानेवाली कोई भी शोध ऐसे विस्तृत दृष्टिकोण से ही सम्भव है। लोक गीत एवं लोकसंस्कृति को मात्र प्राचीन अवशेष न माना जाकर, उन्हें समाज, सभ्यता एवं संस्कृति के अति आवश्यक एवं गतिशील तत्व मानना होगा। लोकगीतों के अध्ययन की दिशा में विकास अपने आप में एक उपलब्धि होगी। इससे केवल समाज विज्ञान एवं मानवशास्त्र के अध्ययन की उन्नति ही नहीं होगी वरन् वह अनेक दिशाओं में मूल्यवान सिद्ध होगा। उदाहरण के लिये ज्यों-ज्यों दूरदर्शन का प्रचार एवं प्रसार होता जायगा त्यों त्यों लोक व्यवहार, लोक-संस्कार एवं लोक-सौन्दर्य के व्यक्तीकरण की आवश्यकता का अनुभव होना स्वाभाविक है। इसकी पूर्ति लोकगीत एवं लोकसंस्कृति के अध्ययन से ही हो सकेगी। ज्यों ज्यों हमारे परम्परागत संचार-साधनों के तरीकों एवं आदर्शों का ज्ञान सूक्ष्म, निश्चित एवं विश्वसनीय होता जायगा त्यों-त्यों हमारे विकास के लक्ष्य की प्राप्ति के लिये, जो लोकप्रिय एवं नैतिक आधार हमारे समक्ष स्पष्ट होंगे, वे अकल्पनीय मूल्यवान सिद्ध होंगे। यदि हम लोकसंस्कृति को मात्र प्राचीनता की वस्तु न मानें और हम उसे तकनीकी शक्ति एवं सामर्थ्य के साधन के रूप में स्वीकार करें तो हम लोक शिल्प को नये आयाम देकर उसे उन्नति के नूतन स्तरों तक उठा सकते हैं।

दक्षिण एवं दक्षिणपूर्व एशिया के देशों की विशेषता है कि वहाँ का सामाजिक ढाँचा एवं वहाँ की संस्कृति का स्वरूप ग्रामीण कृषकों के जीवन पर आधारित है। यद्यपि इतिहास के उषाकाल से ग्रामीण समाज ही मानवता का एक बड़ा भाग रहा है और आज भी विश्व की अधिकांश आबादी इस ही समाज में रहती है तथापि इसकी ओर समाज-विज्ञान के ज्ञाताओं का उतना ध्यान नहीं गया है, जितना कि वह समाज उसका पात्र है।

उदाहरण के लिये समाजशास्त्र का सम्बन्ध प्रमुख रूप से वर्तमान औद्योगिक समाज से रहा है और मानवशास्त्र में मूलतः आदिवासी संस्कृति का अध्ययन किया जाता रहा है। कृषक समाज की संस्कृति के क्रमबद्ध अध्ययन की हमेशा अवहेलना हुई है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् उन ग्रामों ने, जहाँ कृषक संस्कृति का बोलबाला था, या तो युद्ध की दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के कारण या अन्य किसी कारण से समाजशास्त्रियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया और कृषक बहुल ग्रामों के अध्ययन के प्रयास किये गए। यह अध्ययन भी भावनात्मक एवं विधिसगत रहा। इस पद्धति का प्रादुर्भाव वास्तव में इन समुदायों की उस संस्कृति के अध्ययन हेतु हुआ था जो तार्किक दृष्टि से भिन्न प्रकार की थी। इसलिये आगे चलकर यह अध्ययन बाद के कृषक समाज की अपनी विचित्रता, उसके विचित्र गठन, उसकी गतिशीलता एवं परम्परागत कृषक संस्कृति के अध्ययन में असफल हो गया। परम्परागत कृषक संस्कृति और उसके सामाजिक रूप का अच्छा ज्ञान और उसका वर्तमान पर प्रभाव काल्पनिक एवं व्यावहारिक रूप से बड़ा मूल्यवान सिद्ध होगा। कृषक सभ्यता का अस्तित्व पिछले दो हजार से भी अधिक वर्षों से वर्तमान समय के आगमन तक अचल एवं अटल रहा है। कृषक समाज के परम्परागत सांस्कृतिक रूप ने इस प्रकार एक दीर्घ अवधि के बाद ठोस आदर्शों को जन्म दिया। इन सब को स्पष्ट रूप से समझने से *निश्चित ही हमारे मानव समाज और उसकी संस्कृति के ज्ञान में वृद्धि* होगी। हमारी राष्ट्रीय सीमाओं के परे भी ऐसे व्यक्ति बसते हैं जिनके जीवन का आधार आज भी हल द्वारा की गई कृषि है। यदि हम इनकी सभ्यता और संस्कृति पर तुलनात्मक शोध करें तो सम्भव है कि दोनों के सांस्कृतिक आदर्शों में अनेक मौलिक समानतायें हम मिलें। यदि हम इसे उचित महत्व प्रदान करें तो यह शोध हमारे राष्ट्रीय ज्ञान को तो समृद्ध करेगा ही साथ ही समस्त विश्व के लिए भी नीति निर्धारण में सहायक सिद्ध होगा।

यदि हमारा उद्देश्य परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन करने का है फिर भी हम इस परिवर्तन के लिये उन परिस्थितियों का सूक्ष्म एवं निश्चित ज्ञान तो अपरिहार्य होगा ही। ऐसे ज्ञान के बिना हमारे सारे प्रयत्न निष्प्रभावकारी एवं निष्फल होने का अंदेशा है और कभी कभी तो वे विनाशकारी भी हो सकते हैं। प्रस्तुत समस्याओं में गहरी पैठ से अनेक संस्थाओं का विकास के मार्ग पर चलने के लिये प्रोत्साहित किया जा सकता है। प्रचार के परम्परागत स्रोतों का तिरस्कार करना नवीन ज्ञान के प्रचार एवं प्रसार के महत्वपूर्ण एवं विशाल कार्य में अज्ञानता का ही द्योतक होगा।

★

लोक में शामिल एक कवि



शकील सिद्दीकी

आगरा जाकर नज़ीर अकबराबादी का मकान और उनकी मज़ार देखने की बड़ी इच्छा थी। एक जन कवि किन लोगों के बीच रहता था, कहाँ सोता था और किन रास्तों से होकर वह लोकजीवन और लोकसंस्कृति के उस उज्ज्वल स्वरूप को देखता था जो उसे ज्यादा गहराई और ज्यादा आत्मीयता से उनसे जुड़ रहने हेतु प्रेरित करते थे। बेला, गुलाब, चमेली और नर्गिस के नम ओ-नाज़ुक फूलों की मादक सुगन्ध की अपेक्षा जंगली फूलों की कसीली रसीली गन्ध के बाहुपाश इतने सबल क्यों हो गये थे कि नज़ीर जैसे फ़ारसी दा शायर तबियत आदमी की ज़िन्दगी उनसे बंधा रहा। और इस बन्धन से उन्हें चार सौ साला उर्दू शायरी के इतिहास में ऐसी अनूठी हैसियत प्राप्त हुई जो न तो उनसे पहले किसी को हासिल थी और न उनके बाद किसी को हासिल हुई। मुझे फ़िराक गोरखपुरी की इन पंक्तियों का उल्लेख ज़रूरी लग रहा है।

'नज़ीर की चेतना अपने समय से बहुत आगे बढ़ी हुई थी, जिसे उनके समकालीनों ने बहुत पीछे की चीज़ समझा और उसको कोई महत्व नहीं दिया। नज़ीर के समय का भारत का सामंतवादी भारत था, जिसमें या तो धर्म और दर्शन के आधार पर साहित्य सृजन किया जाता था या फिर सौन्दर्य के बोध का ऐसा आधार ढूंढ़ा जाता था जो सामंत वर्ग के जीवन में मिल सके। इसके विरुद्ध नज़ीर बिल्कुल जनसाधारण के कवि थे जो सारे जीवन को जनसाधारण की दृष्टि से देखा करते थे।' फ़िराक ने माना है कि वह जन-संस्कृति के कवि थे। लेकिन फ़िराक के मानने से क्या होता है, माना तो अन्य विद्वानों ने भी है परन्तु बाद में। समकालीन और परम्परावादी समालोचना को 'नज़ीर का निषेध करना' था उसने किया। परन्तु मेरी जिज्ञासा यह थी कि उनके बीच जाऊँ, आगरा में नज़ीर ने जिन लोगों के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया, जिन्हें अपनी शायरी का ध्येय बनाया और जिनके लिये ऐसे मारवाण साबित हुये कि लखनऊ व भरतपुर के राजदरबारों का निमन्त्रण-वस्त्र आभूषण ठुकरा दिया और मुफ़लिसी में ज़िन्दगी बिताते हुये गाते रहे—

जब आदमी के हाल पे आती है मुफ़लिसी
किस किस तरह से उसको सताती है मुफ़लिसी
प्यासा तमाम रोज़ बिठाती है मुफ़लिसी
भूखा तमाम रात सुलाती है मुफ़लिसी
वह दुख वो जाने जिसपे आती है मुफ़लिसी

नज़ीर अपने को आगरे या अकबराबादी जरूर कहते थे लेकिन पैदा वह दिल्ली में हुये थे। आगरा उनका ननिहाल था। उनकी पत्नी यहीं के एक किलेदार की सुपुत्री थी। इधर नज़ीर पैदा हुये (१७१३) ई०, उधर दिल्ली पर जैसे मुसीबतों के पहाड़ टूट पड़े। आक्रमण पर आक्रमण—खून, हत्या, लूट। नज़ीर इन्हीं बुरे दिनों में माँ और नानी के साथ दिल्ली से आगरा चले आये और नूरी दर्वाजे में रहने लगे। सन्तोषी स्वभाव के आदमी थे इसलिए ज्यादा की हाजत न था। फिर भी जीने के लिए कुछ तो करना ही था। नज़ीर विद्वान् तो न थे लेकिन कई भाषाएँ जानते थे जैसे अरबी, फारसी, उर्दू पंजाबी, मारवाड़ी वगैरा। ब्रज से खास लगाव था। कविता ज्यादातर फारसी लिपि वाली खड़ी बोली यानी उर्दू में की। लेकिन संस्कृत लिपि का भी ज्ञान उन्हें था। सो जब रोजगार की समस्या आयी तो बच्चों को पढ़ाने लगे। सत्रह रुपया मासिक वेतन मिलता था। उसी में दिन गुज़रते थे। फिराक ने लिखा है नज़ीर अपने समय से सौ-डेढ़ सौ साल पहले पैदा हो गये थे। आज जिस भोगे हुए यथार्थ की बात होती है नज़ीर ने इसकी मिसाल बहुत पहले पेश कर दी थी—

> जो अहले फज्ल आलिम-ओ फ़ाज़िल कहाते हैं
> मुफ़लिस हुये तो कलमा तक भूल जाते हैं
> पूछे कोई 'अलिफ तो उस बे' बताते हैं
> वो जो ग़रीब गुरबा के लड़के पढ़ाते हैं
> उनकी तो उम्र भर नहीं जाती है मुफ़लिसी
>
> बेटे का ब्याह हो तो न भाई न साथी है
> न रोशनी न बाजे की आवाज आती है
> माँ पीछे एक मैली चादर ओढ़े जाती है
> बेटा बना है दूल्हा तो बाबा बराती है
> मुफ़लिसी की यह बरात चढ़ाती है मुफ़लिसी
>
> मुफ़लिस किसी का लड़का जो ले प्यार से उठा
> बाप उसका देखे हाथ का और पाँव का कड़ा
> कहता है कोई जूती न लेवे कहीं चुरा
> नटखट उचक्का चोर दग़ाबाज़ घटकटा
> सौ - सौ तरह के ऐब लगाती है मुफ़लिसी

नज़ीर के छात्रों में मारवाड़ियों, खत्रियों और लालाओं के बच्चे भी थे। कुछ दिन वह मथुरा में भी अध्यापन-कार्य कर चुके थे। आगरा में मेरे जानने वाले कई लोग हैं लेकिन प्रत्यक्ष परिचय नहीं के बराबर था। अतः मैंने अपनी बहन की सास से जिनके यहाँ मैं ठहरा हुआ था नज़ीर अकबराबादी की मजार और मकान देखने की इच्छा प्रकट की। उस समय उनकी आयु पचास पचपन साल की रही होगी। वह उर्दू बहुत अच्छी बोलती थीं। फारसी का भी ज्ञान था। लेकिन नज़ीर अकबराबादी के बारे में

वह जानती हैं, इसमें मुझे शक था। नज़ीर की मज़ार पर जाने की मेरी इच्छा सुनकर पहले तो उन्होंने सिर्फ़ इतना कहा—'मियां नज़ीर...?'

मैं थोड़ा चौंका। उनके लहजे में नज़ीर के लिए साफ़ तौर पर सम्मान झलक रहा था। कुछ क्षणों में मेरा आश्चर्य सुख में बदल गया। वह नज़ीर की मशहूर नज़्म 'बुढ़ापा' का पहला बन्द पढ़ रही थीं—

क्या क़हर है यारो जिसे आ जाये बुढ़ापा
और ऐसे जवानी में तेईं खाये बुढ़ापा
इशरत को मिला ख़ाक में ग़म लाये बुढ़ापा
हर काम को हर बात को तरसाये बुढ़ापा
सब चीज़ को होता है बुरा हाय बुढ़ापा
आशिक़ को तो अल्लाह न दिखलाये बुढ़ापा

'अब शकील मियां, मैं क्या कहूँ, बरसों पहले दो-एक बार गयी थी उनकी मज़ार पर। बसन्त के महीने में मेला लगता है वहाँ। बड़ी भीड़ होती है। सुनती हूँ, नूरी दर्वाज़े में रहते थे किसी मकान में। मैं तो कई बार उधर से गुज़री, मुझे तो मकान दिखा नहीं। टूट-फूट गया होगा। कोई बताये था कि मियां नज़ीर की नवासी रहती थी वहाँ। अब तो उसकी भी ख़बर नहीं। हाँ, मज़ार तो पक्का है, ताजमहल के पीछे। ताजगंज का टांगा कर लीजियो, पहुँचा देवेगा।'

नूरी दर्वाज़े पर सरसरी नज़र डालते हुए मैं सीधा फोर्ट पहुँचा। फोर्ट के सामने कई टांगे खड़े थे। उनमें से एक आवाज़ लगा रहा था, 'ताजगंज चलना कोई...?'

मैं उस टांगे में जाकर बैठ गया। क़िले की लाल दीवारों को पार करने के बाद ताजमहल के सामने से होते हुए वह एक चौराहे पर रुक गया। यही ताजगंज का चौराहा था। लेकिन यहाँ नज़ीर की मज़ार होने का कोई संकेत नहीं दिख रहा था। तब मैंने टांगे वाले से पूछा, 'यहाँ नज़ीर की मज़ार कहाँ पर है?' टांगे वाले ने सवारियों द्वारा दिये गये पैसों को गिनते हुए मेरी तरफ़ देखा और फिर कहा—

'नज़ीर मियां की मज़ार...?'

'जी... जी हाँ...' मैंने कहा तो टांगे वाले ने बायीं तरफ़ जाती एक सड़क की तरफ़ इशारा करते हुए कहा 'सीधे चले जाइये।'

मैं सीधा चलता गया लेकिन जब कुछ दूर चलने के बाद मज़ार दिखायी नहीं दी तो मैंने सामने दिखती बिना ग्राहक की एक दुकान से पान खाने और मज़ार की बाबत पूछने का फ़ैसला किया। मैंने पान खाये, पैसे दिये और चलते-चलते पूछा 'यह नज़ीर की मज़ार कहाँ है...?' पान वाले ने भी मुझे टांगे वाले ही की तरह देखा और कहा, 'नज़ीर साहब की मज़ार...?'

मैं एक बार फिर बुरी तरह चौंक पड़ा। मैं तो यह सोच कर आया था कि नज़ीर को लोग जानते न होंगे लेकिन यहाँ मामला बिल्कुल उल्टा था। मेरी बहन की सास हों, टांगेवाला हो या पानवाला, सभी उनका नाम बड़े आदर से ले रहे थे।

तो पढ रखा था कि नज़ीर का उठना बैठना दुकानदारो, फेरा वालो, तमाशा दिखाने और कुश्ती अखाड मे रुचि रखने वालों म था और वो सब उनका बडा आदर करते थे। लेकिन ढाई सौ साल बाद भी उन्हे वही सम्मानपूर्ण जन स्वीकृति हासिल है, इसका अनुमान मुझे नहा था। नज़ीर सूफी सन्त नही थ, पीर औलिया भी नही थ कि धार्मिक परम्परा वाली श्रद्धा लोगो क मन म उनक प्रति हो। यह नितान्त आत्मीय श्रद्धा थी जिसका आधार कोई नसर्गिक विश्वास न होकर वह चेतना थी कि नज़ीर उ ही म स थे और उन्ही के थे। नज़ीर की मज़ार पर बसत म जमने वाला उत्सव इस जन-श्रद्धा का ही बडा रूप है। सिर्फ श्रद्धा ही पीढी दर पीढी यात्रा करती आज भी अक्षुण्ण है बल्कि नज़ीर का बहुत सी रचनाए इसी रास्त उपल ध हो सकी और उ हे सगृहीत किया जा सका। लोकगीत और लोकगीत अपने अस्तित्व क लिए जीवन क लिए कभी प्रेस के मोहताज नही रह। व मात्र सुनने सुनाने की प्रक्रिया के सहारे पीढी दर पी ी यात्रा करते हुए विलुप्त होन स बच रह। नज़ीर न लम्बी उम्र पी और बहुत कहा। शायद ही किसी शायर का रचना भण्डार इतना विशाल हो। हालांकि सबका सब सुरक्षित नहा रखा जा सका। नज़ीर ने स्वयम् अपनी रचनाओ को सकलित करने की ओर कोई ध्यान नही दिया। वह मस्त जीव थे कहते थे और सुनाते थ और सुनने वाल भी ज्यादातर ऐस जि हे न लिपि का ज्ञान न अक्षर की पहचान। दरबारो का निमन्त्रण ठुकरा चुके थ, समकालीन मा यता नही दत ये उठना बैठना ऐसे लोगो म था कि अपने को शिक्षित समझने वाला वग उनके सामीप्य को पस द न करता था। नज़ीर भी उन्हें मह व न लगाते थ। तब भला रचनाए कैसे सकलित व सुरक्षित रहती? ऐसी विषम स्थिति म नज़ीर क साथ उठने बैठने वालो और शिष्यों ने बडा काम किया। जो अनपढ थे उ होन बहुत सी रचनाए कण्ठ और मस्तिष्क के कोषा म छिपा ली। जो लिखना-पढ़ना जानत थ और जो निश्चय ही नज़ीर क छात्र शिष्य रह चुके थे उ होने कागजो पर लिख कर सुरक्षित कर लिया। इनमे लाला बिलासराम क पुत्रो का विशेष योगदान है। कहा जाता है कि आगरा क मुशी दुर्गाप्रसाद और सहारनपुर के बाबू रामगोपाल एडवोकेट के पास अभी भी नज़ीर की बहुत सी अप्रकाशित रचनाए मौजूद हैं। बाबू राम गोपाल का सम्ब ध भी आगरा क एक खत्री परिवार से है जहा नज़ीर का आना जाना था। वृ दावन के एक हलवाई के यहा भी नज़ीर की रचनाओ के सकलित होने का ज़िक्र मिलता है। नज़ीर की इस हलवाई से ज़रूर दोस्ती रही होगी।

किसी जन कवि की रचनाओ को अपनी थाती समझकर जनता द्वारा सकलित व सुरक्षित रखने का यह एक प्रेरणा प्रद उदाहरण है। जो लोक म शामिल है, लोक उसके साथ है। लकिन नज़ीर लोक म किस तरह शामिल थ? किस तरह की रचना-प्रक्रिया म गुज़र कर उन्होने लोककवि या जन कवि की विशिष्ट हैसियत प्राप्त की? आज जिन सन्दर्भों म बाबा नागार्जुन को जनकवि कहा जाता है, क्या नज़ीर भी इन्हीं सन्दर्भों के कवि थे? नागार्जुन अपनी चेतना, अपनी दृष्टि के बल पर जनता के साथ हैं। नज़ीर भी अपनी ही चेतना के बल पर लोक में शामिल थे लेकिन उन्होने एक बड़ा अर्थात् एक बड़ा हुआ

काम यह किया था कि उन्होंने लोक की चेतना और दृष्टि को अपनी चेतना और दृष्टि में समाहित कर लिया ।

फिराक ने जो यह कहा कि नज़ीर सारे जीवन को जन-साधारण की दृष्टि से देखते थे तो इसी आधार पर कहा ।

प्रेमचन्द ने प्रगतिशील लेखकों के प्रथम सम्मेलन अप्रैल १९३६ में कहा था, 'साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है—उसका दर्जा इतना न गिराइये' और नज़ीर ने १८वीं सदी में ही ऐसा करके दिखा दिया। नज़ीर ने रोटी पर, गरीबी और भूख पर कविता लिखी, समानता की बात कही और व्यवस्था का निषेध किया । यहाँ 'रोटी नामा' नज्म की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

जब आदमी के पेट में आती हैं रोटियाँ
फूली नहीं बदन में समाती हैं रोटियाँ
आँखें परी रुखों से लड़ाती हैं रोटियाँ
सीने ऊपर भी हाथ चलाती हैं रोटियाँ
जितने मज़े हैं सब ये दिखाती हैं रोटियाँ
रोटी न पेट में हो तो फिर कुछ जतन न हो
मेले की सैर, ख्वाहिशे बाग़ो चमन न हो
भूखे गरीब दिल से खुदा की लगन न हो
सच है कहा किसी ने भूखे पेट भजन न हो
अल्लाह की भी याद दिलाती हैं रोटियाँ
कपड़े किसी के लाल हैं रोटी के वास्ते
सीने किसी के लाल हैं रोटी के वास्ते
बाँधे कोई इमान हैं रोटी के वास्ते
सब कश्फ और कमाल हैं रोटी के वास्ते
जितने रूप सब ये दिखाती हैं रोटियाँ
नौकर, नफर, गुलाम बनाती हैं रोटियाँ

यह सिर्फ़ रोटी की नहीं जीवन की विविधता की भी कविता है ।

'आदमी नामा' भी नज़ीर की बहुप्रसिद्ध नज्म है । सामन्तवाद की रोगग्रस्त मानसिकता के लिए यह नज्म किस हद तक अप्रिय हो सकती थी, इसका अनुमान इन पंक्तियों से लगाया जा सकता है—

सामन्तवादी सोच पर प्रहार करने वाली नज्मों में लोकचेतना के बिम्ब किस कौशल्य से उभरते हैं—इसका अनुमान भी इन पंक्तियों से लगाया जा सकता है—

दुनिया में बादशाह है सो है वह भी आदमी
और मुफलिसो गदा है सो है वह भी आदमी
ज़रदार बे नवा है सो है वह भी आदमी
नेमत जो खा रहा है सो है वह भी आदमी
टुकड़े जो माँगता है सो है वह भी आदमी

मा आदमी नकीब है बोले है बार-बार
और आदमी ही प्यादे हैं और आदमी सवार
हुक्का सुराही जूतियाँ दौड़े बग़ल में मार
काँधे पे रख के पालकी हैं आदमी कहार
और इसपे जो चढ़ा है सो है वह भी आदमी

नज़ीर की नज्मों की एक प्रमुख विशेषता उनकी चित्रात्मकता है। बड़ी बात यह है कि ये चित्र भी लोकजीवन पर आधारित हैं और इनके रंग भी वहीं से लिये गये हैं। भाषा के मामले में भी वह लोक में प्रचलित शब्दों को ही प्राथमिकता देते हैं।

भाषा के मामले में उन्होंने अद्भुत उदारता और लोकोन्मुखता का परिचय दिया—

फूल पात कहीं शाख कहीं फूल कहीं बेल
नरगिस कहीं सोसन कहीं, बेला कहीं रावेल
आज़ाद कोई सबसे, किसी का कहीं मेल
मलता है कोई दाख चमेली का कोई तेल
करता है कोई जुल्म को, सेता है कोई भेल
बाँधे कहीं तलवार, उठाता है कोई सेल
अदना कोई, आला कोई, सूखा कोई डंड पेल
जब ग़ौर से देखा तो उसी के हैं ये सब खेल
हर आन में, हर बात में हर ढंग में पहचान
आशिक़ है तो दिलबर को हर एक रंग में पहचान

(आशिक़ नामा)

गर तू है लक्खी बंजारा और खेप भी तेरी भारी है
ऐ ग़ाफ़िल तुझसे भी चतुर इक और बड़ा ब्योपारी है
क्या शक्कर, मिसरी, कन्द गरी, क्या साँभर मीठा खारी है
क्या दाख मुनक्का, सोंठ मिर्च क्या केसर लौंग सुपारी है
सब ठाठ पड़ा रह जावेगा जब लाद चलेगा बंजारा

तू बधिया लादे बैल भरे जो पूरब पच्छिम जावेगा
या सूद बढ़ाकर लावेगा या टूटा घाटा पावेगा
क़ज़्ज़ाक़ अजल का जब रस्ते में भाला मार गिरावेगा
धन दौलत नाती पोता क्या एक कुंबा काम न आवेगा
सब ठाठ पड़ा रह जावेगा जब लाद चलेगा बंजारा

बीसवीं सदी में एक नये सौंदर्यशास्त्र के निर्माण और नयी सौन्दर्य-दृष्टि के विकास की चेतना ने जैसे साहित्य का कायाकल्प ही कर दिया। प्रेमचन्द जो इस चेतना के विश्वसनीय उन्नायक थे उन्होंने भी अप्रैल १९३६ में नयी सौन्दर्य-दृष्टि के

ाद की बात कही थी। कल्पना और पारम्परिक भाव-भूमि के विरुद्ध यथार्थ साहित्य
न का मुख्य आधार बना।

१९वीं सदी समाप्त होते-होते उर्दू म साहित्य की सोद्देश्यता तथा उसकी सामा-
क उपयोगिता की चर्चा आरम्भ हो गयी थी। मुक्ति, परिवर्तन और जनवाद के प्रति
ती होती ललक के इन्हीं महत्वपूर्ण दिनों में शायरी की पारम्परिक व अत्यन्त लोकप्रिय
ा समय विधा ग़ज़ल का निषेध करते हुए नज़्म कहने की प्रवृत्ति का विस्तार हुआ।
ीर अकबराबादी के महत्व और योगदान की पहचान इसी काल में हुई। वरना इससे
ले तो उन्हें बाज़ारू, घटिया और अश्लील शायर माना जाता था। कुछ लोग तो उन्हें
यर की मान्यता ही नहीं देते थे। शायद इसी कारण कुछ इतिहासों, संस्मरणों मे उनका
ल्लेख नहीं मिलता। ये सब इस कारण था, क्योंकि नज़ीर लोककवि थे। ऐसा नहीं है कि
ज़ीर का साहित्यिक योगदान कम महत्वपूर्ण है या यह कि उर्दू शायरी के विकास मे
नकी कोई देन न हो। लेकिन नज़ीर ने लोक से अपनी प्रतिबद्धता या इससे भी आगे
ढ़कर लोकजीवन और लोकसंस्कृति को अपनी चेतना का अविभाज्य हिस्सा बना लेने
 कारण जिस तरह की ग़ज़लें और नज़्में कहीं वो सामन्ती, एकांगी और परम्परावादी
ोच वाले लोगों को या तो कला कृति ही न प्रतीत हुई या फिर उन्हें ये सब महत्वपूर्ण
 लगा। एक वर्ग को नज़ीर की बहुत सी रचनाएँ कला विरोधी, ग़ैर ज़रूरी और नष्ट
कर देने लायक भी लग सकती थीं। नज़ीर ने मौसमों, त्यौहारों, फलों, सब्जियों, खेल-
तमाशा, जानवरों तथा लोक रुचि के अन्य विषयों पर भी नज़्में लिखीं। जैसे कि तैराकी,
रीछ का बच्चा बलदेव जी का मेला, जन्म कन्हैया जी, तन्दुरुस्ती, मौत, बाँसुरी और
सलीमचिश्ती के बारे में कही गयीं नज़्में।

इलाही नामा, आशिक नामा, आदमी नामा, बचपन, जवानी, बुढ़ापा व मौत
इत्यादि नज़्में भी इसी श्रेणी मे आती हैं। उन्होंने लोक मे प्रचलित कथाओं किंवदंतियो,
विश्वासों को भी अपनी नज़्मों का विषय बनाया। 'हंस नामा, 'कन्या नामा, 'कव्वा और
हिरन का बच्चा तथा मोजज़ा हज़रत अली इत्यादि इसी तरह की नज़्में हैं। उन्होंने
वेश्याओं के विभिन्न रूपों का चित्रण भी अपनी कई नज़्मों में किया है। एक वेश्या
मोतीबाई से उनके विशेष सम्बन्धों का उल्लेख मिलता है। यह याद रखने की बात है
कि हमारे समाज में लम्बे काल तक वेश्या लोकजिज्ञासा की वस्तु रही है। वेश्या हो,
बरसात की बहारें हों, होली, जवानी या बुढ़ापे का जिक्र हो, नज़ीर शब्दों और स्थितियों
का चयन करते हुए उनकी साहित्यिक मान्यता तथा सम्भ्रान्त वर्ग की नाराज़गी-खुशी
की चिन्ता नहीं करते बल्कि स्थितियों के वास्तविक चित्रण शब्दों की सम्प्रेषणीयता तथा
लोकरुचि को ही प्रमुखता देते हैं।

लोकरुचि को प्रमुखता देने का अर्थ यह नहीं है कि नज़ीर लोक को रोगप्रस्त,
ाजलिजी, धर्मोन्मुखी, पुरातनपन्थी घटिया रुचि के निर्माण की ओर ले जा रहे थे।
हत्वपूर्ण बात यह है कि लोक से उनका सान्निध्य तत्कालीन व्यवस्था से असहमति का
क साधन भी था परन्तु व्यवस्था से असहमत तथा स्थितियों से असंतुष्ट

ने विराग और विरक्ति का रास्ता नहीं अपनाया, न ही भक्तिकाल के कवियों के समान निर्गुण या सगुण भगवान् की आराधना में मुक्ति या फिर संतोष की, सुख की, संभावना देखी।

नज़ीर ने लोककल्याण और दुःखों से मुक्ति भक्ति या विरक्ति में नहीं देखी बल्कि उन्होंने जीवन को उसकी पूरी समग्रता में जीने और इस आह्लादकारी प्रक्रिया में कभी लोक के साथ तो कभी लोक को अपने साथ शामिल करने का प्रयास किया। जिन लोगों ने हबीब तनवीर का 'आगरा बाज़ार' पढ़ा है या उसे मंच पर देखा है, वे इस स्थिति को आसानी से समझ सकते हैं। अपने समय के घटना-क्रम से और लोकजीवन से नज़ीर की संलग्नता कितनी जीवन्त थी, इसके कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

पिछले पहर से उठकर नहाने की धूम है
शीरो-शक्कर सिवय्याँ पकाने की धूम है
पीर-ओ-जवां को नेमतें खाने की धूम है
लड़कों को ईदगाह के जाने की धूम है
ऐसी न शबबरात न बकरीद की खुशी
जैसी हर एक दिल में है ईद की खुशी

इस दम तो मियाँ हम तुम इस ऐश की ठहरावें
फिर रंग से हाथों में पिचकारियाँ चमकावें
कपड़ों को भिगो डालें और ढंग कई लावें
भीगे हुए कपड़ों से आपस में लिपट जावें
होली में यही धूमें लगती हैं बहुत भलियाँ

आगरा नज़ीर और लोक, एक ऐसा समीकरण है जिसने लोकजीवन के चित्रण में उत्तेजना और मादकता दोनों प्रदान की है—

नाच और राग के खड़ाके हैं
घुँघरू और ताल के झनाके हैं
नक़लें किस्से, कहानी साके हैं
छन्द, दोहरे, कवित कथाएँ हैं
कहीं आग़ोश के लपाके हैं
कहीं बोसों के भी झपाके हैं
चरपरी, दाँत पर कड़ाके हैं
तिस पर जाड़े के भी भड़ाके हैं
रंग है रूप है झमेला है
ज़ोर बलदेव जी का मेला है।

और यह है तिल के लड्डू' की महिमा—

कल यार से जो अपने मिलने गई गये हम
कुछ पेड़े उसकी खातिर खाने को ले गये हम
महबूब हँस के बोला, हैरत मे हो रहे हैं हम
पेड़ों को देखके दिल मे ऐसे खुश हुए हम
गोया हमारी खातिर तुम लाये तिल के लड्डू

लोकजीवन में पक्षियों का विशिष्ट महत्व होता है। कुछ आस्थाएँ, कुछ किंवदन्तियाँ उनसे जुड़ी होती हैं। परम्परा से चली आ रही लोककथाओं में पक्षियों के माध्यम से बहुत सी सारगर्भित-उपदेशात्मक बातें कही गयी हैं—जातक कथाओं में पशु पक्षी ही मुख्य पात्र हैं। नज़ीर ने लोक से अपनी संलग्नता में पशुओं पक्षियों का सान्निध्य और प्यार भी पाया। इस तरह उन्होंने पशु पक्षियों के विभिन्न रूपों और रुचियों का ज्ञान भी हासिल किया। नज़ीर ने खुद भी पक्षी पाले। उनकी प्रसिद्ध नज़्म 'हंस नामा' का निम्न अंश पक्षियों के बारे मे उनकी जानकारी का उदाहरण प्रस्तुत करता है—

चंडूल, अगन, अबलके, छप्पा, बने, ढेंयर
मैना व बये, किलकिले, बगुले भी समन-बर
तोते भी कई तौर के टुइयाँ कोई लहबर
रहते थे बहुत जानवर उस पेड़ के ऊपर
उसने भी किसी शाख पे घर अपना सवारा
उस हंस पे उन सबने दिलो जान को वारा

लोकजीवन मे बन्दर के बाद रीछ (भालू) के नर्तक रूप की सर्वाधिक प्रचलित पहचान है। नज़ीर की नज़्म 'रीछ का बच्चा' भालू के इसी प्रचलित रूप का कुशल चित्रण है। 'कव्वा और हिरन' लोकजीवन से निकटता रखने वाले दो अन्य जानवरों की रोचक काव्य कथा है। परन्तु उनकी अत्यन्त प्रसिद्ध नज़्म 'बरसात की बहारें' मे जीवन के जितने विश्वसनीय चित्र उभरे हैं उसकी मिसाल अन्यत्र मिलना कठिन है—

जो इस हवा मे यारो दौलत मे कुछ बड़े हैं
है उनके सर पे छतरी हाथी ऊपर चढ़े हैं
हमसे गरीब गुरबा कीचड़ मे गिर पड़े हैं
हाथों में जूतियाँ हैं और पायँचे चढ़े हैं
क्या-क्या मची हैं यारों बरसात की बहारें

जरदार की तो इनमे बिछ रही पलगड़ी
दिलबर परी सी बैठी झुमकाये चोटी बगड़ी
मुफलिस को टूटी पट्टी या टाट की फलंगड़ी
रंडी मिली तो कानी या गंजी लूली लंगड़ी
क्या-क्या मची हैं यारों बरसात की बहारें

इस नज्म को नज़ीर की प्रखर वर्ग चेतना का भी उत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता है। नज़ीर लोकसंस्कृति के कुशल चितेरा, दक्ष गायक थे। उन्होंने लोकसंस्कृति और लोकजीवन को उसकी सम्पूर्णता में समझने और बरतने की कोशिश की है। एक क्षण के लिए भी वह मुग़लों के सामन्ती वैभव से प्रभावित होते नहीं दीखते। जबकि लोकजीवन और उसकी संस्कृति के प्रति एक आराध्य भाव उनकी काव्य-प्रक्रिया में निरंतर गतिशील प्रतीत होता है। हाँ, ताजमहल की वह अवश्य प्रशंसा करते हैं। तब बहुत दिन हुए थे ताजमहल को बने हुए। उसकी चमक-दमक उस समय क्या होगी इसका अनुमान लगा पाना कठिन नहीं है। पर नज़ीर ताजमहल को एक मक़बरे के रूप में देखते हैं और प्रेम की निशानी या उपहार के रूप में नहीं बल्कि वास्तुकला के अद्भुत शिल्प के रूप में उसकी प्रशंसा करते हैं।

वास्तुकला के इसी अद्भुत शानदार शिल्प (ताजमहल) के ठीक पीछे नज़ीर की क़ब्र है, जो लोक में लोककवि की प्रतिष्ठा की प्रतीक मात्र है।



भगनौलिया के जोड़ सदा बेजोड़



डा० त्रिलोचन पाण्डेय

कुमाऊँ और गढ़वाल के लोकगीतों को सुनते समय यदि मुझसे कोई पूछे कि कौन से गीत वहाँ अधिक मार्मिक हैं तो मैं उत्तर दूँगा कि कुमाऊ की ओर जाने पर 'झोड़ा', 'चाचरि', 'भगनौल' और 'न्योली' गीतों को अवश्य सुनिए और गढ़वाल की ओर जाने पर 'छोपती', 'सामण', खुदेड़' और 'छूड़ा' जैसे गीतों पर अवश्य ध्यान दीजिये। इसके बाद यदि लोकगीतों का कोई प्रेमी मुझसे यह प्रश्न करे कि इन गीतों के विधान का केन्द्रीय तत्व कौन-सा है ? तो मैं उत्तर दूँगा कि इनका केन्द्रीय तत्व लोकगायकों की वे सूक्तियाँ हैं जो दो दो पंक्तियों के जोड़ों के रूप में लक्षित होती हैं। ये जोड़ सचमुच बेजोड़ होते हैं।

वैसे तो ये जोड़ सभी प्रकार के लोकगीतों के आधार होते हैं किन्तु 'भगनौल' नामक गीत में पद विन्यास की दृष्टि से इनका विशेष महत्व रहा करता है। इन गीत-कारों को, जिन्हें स्थानीय बोलचाल में 'भगनौलिया' कहते हैं, दो-दो पंक्तियों के जोड़ में अपना अनुभव प्रकट करते समय बड़ी आसानी रहती है। और जैसा कि हम उदाहरणों से देखेंगे ये गीतकार बड़ी मार्मिक से मार्मिक बात इन जोड़ों के माध्यम से कह जाते हैं। ये गीतकार सामान्य लोकगायकों से कुछ ऊँचे कलाकार मालूम होते है क्योंकि ये केवल गायक ही नहीं हैं। ये उन सूक्तियों की स्वयं रचना करते हैं और हुड़के की थाप पर उन्हें गाते भी हैं। इसलिये इन लोककलाकारों को गीतकार कहना अधिक उचित प्रतीत होता है। 'गीतकार' अर्थात् गीतों की रचना करने वाला।

उत्तर प्रदेश के पहाड़ी इलाकों में जब कहीं मेले और त्यौहार आयोजित किये जाते हैं अथवा सामाजिक उत्सव मनाये जाते हैं तो 'भगनौलिया' आपको अवश्य मिल जायेंगे। कुमाऊँ में चाहे बागेश्वर का मेला हो या जासेजीवी का मेला नन्दाष्टमी का पर्व हो या शिवरात्रि का पर्व नदियों के किनारे या मन्दिरों के आँगन में सैकड़ों स्त्री-पुरुष एकत्र हो जाते हैं। उन्हीं के बीच से हाथों में रंगीन रूमाल लिये स्त्री-पुरुष उठ खड़े होते हैं और भावों के उल्लास में उनके पैर थिरकने लगते हैं। तब समय और सुविधा के अनुसार उनके गीत तथा नृत्य प्रारम्भ हो जाते हैं जो रात-रात भर चलते हैं। गीत नृत्यकारों की मंडलियाँ बन जाती हैं जो अपनी ताल और लय से, ध्वनि और गायन से, रंगीन वेश भूषा और अंग-संचालन से, देश तथा काल को मानो कुछ देर के लिये थाम लेती हैं।

इन गीत नृत्यकारों के बीच म 'भगनौलिया का स्थान कुछ अलग-सा होता है। एक तो वह सामूहिक नृत्य की अपेक्षा एकल अभिनय पर विशेष ध्यान देता है। दूसरे उसकी भावाभिव्यक्ति सूक्तियों के रूप मे कुछ टिप्पणियो के रूप म होती है जिनसे उसके गहरे अनुभवों पर प्रकाश पडता है। 'भगनौल' की विशेषता यही है कि उसम प्रधानता भाव सौष्ठव की होती है। अनुभूति की गहराई उसम प्रमुख है नृत्य किया जाना आवश्यक नहीं है। यदि भगनौलिया बीच-बीच मे अग प्रत्यगो के सचालन द्वारा भाव प्रकट भी करता है तो यह नृत्य की भांति निश्चित क्रमबद्ध नही होता। वह एक प्रकार स सौन्दर्य और प्रेम का निराला गायक होता है। वह सौन्दर्य और प्रेम सबधी चुनी हुई मार्मिक पक्तियाँ सुनाता है। वह अपनी अनेक उक्तियों को एक केन्द्रीय उक्ति से मिला देता है जिसकी पुनरावृत्ति दूसरे गायक करते हैं। अन्य प्रकार के गीत नृत्यों से 'भगनौल का यह प्रमुख अन्तर है।

'भगनौल एक प्रकार से सबोधनपरक गीत है जो खडे होकर आलम्बन की ओर मुह करके गाये जात हैं। इनका प्रमुख गायक भगनौलिया' पुरुष ही होता है जो हुडके पर थाप देकर आलाप भरता हुआ टेक प्रारभ करता है जिसे उसक साथी गायक होवार' विस्तार दत हैं। प्रमुख गायक के स्वरो का विस्तार करना उ हे दुहराना जोड की पक्तियों को अधिक से अधिक विस्तारपूर्वक गाना ये काय साथी गायको के हैं जि हे यहाँ होवार' कहते हैं। जब प्रमुख गायक अपने स्वरों को लघु कर लता है और गीत को मूल पक्ति पर उतरने लगता है तो भगनौल का एक चरण समाप्त मान लिया जाता है।

अब देखना चाहिये कि भगनौलिया के जोड बेजोड किस प्रकार होते हैं ? एक तो 'भगनौल' शब्द ही बेजोड प्रतीत होता है क्योंकि 'भग शब्द का अथ एक दृष्टि स ऐश्वर्य है और 'नौल' शब्द का अर्थ है नवल—नया। अर्थात् जिस उक्ति स निरतर नवीन ऐश्वय-सौ दर्य निखरता रहे उसे भगनौल कहेंगे। दूसरी दृष्टि स यदि 'भग' श द को 'भाग शब्द का लघु रूप मानें तो इसका अर्थ होगा भाग लगाना, अर्थात् किसी के स्वर मे स्वर मिलाना। यहाँ साथी गायक प्रमुख भगनौलिया के स्वर मे स्वर मिलाते हैं। वे कभी अपनी ओर से भी थोडा-बहुत जोडकर मूल गायक की उक्ति को सु दर कर देते हैं, उसे बेजोड बना दते हैं।

'भगनौल के कुछ उदाहरण भी हम बजोड मालूम पडते हैं जिनकी यहाँ पर व्याख्या की जा सकती है। इस गीत म दो-दो पक्तियों के जोड की प्रमुखता रहती है जैसा कि पहले कहा जा चुका है। कही पर तो दोनो पक्तियाँ सायक होती हैं और गीत की मुख्य टेक बनायी जाती हैं। उनके बाद अ य पक्तियों क जोड लगाकर गायन का विस्तार किया जाता है। जैसे एक भगनौल का आरम्भ इन पक्तियों से होता है— *'जागेस्वर धुरा बुरशी फुली गे, मैं कैहूं टिप्‌ फूला मेरी हसा रिसै रे'* अर्थात् जोगेश्वर के पर्वत शिखरो पर बुरश नाम का फूल खिल गया है। कि तु मैं किसके लिये फूल तोडू ? मेरी हसा तो रूठी हुई है। कहना न होगा कि यहाँ हसा कोई प्रेमिका है जिस प्रेमी बुरश का लाल पुष्प अर्पित करने की कामना करता है। अब उसकी प्रेमिका ही रूठी

हुई है तो प्रेम के प्रतीक लाल फूल को चढ़ाने से भी कोई लाभ नहीं होगा। प्रत्येक क्षेत्र के लोकगीतों में कुछ स्थानीय रंग होते हैं जिनसे श्रोता पहले से ही परिचित रहते हैं। इसलिये गीतों का तुरंत बिम्ब ग्रहण होता है जो उन्हें बनाता है। कुमाऊंनी लोकगीतों में 'जागेश्वर', 'बुरुंश', 'हिसालू' इसी प्रकार के बिम्ब ग्राही शब्द हैं जो चिर-परिचित होने के कारण पहले भगनौलिये के मानस में उभरते हैं, और उसके बाद गीतों द्वारा विस्तार पाकर अपने श्रोताओं को प्रभावित कर लेते हैं।

इन दो मूल पंक्तियों के बाद मुख्य गायक समयानुसार कोई भी जोड़ बांध सकता है। जैसे स्वर खींचते हुए वह गा सकता है—'ओ हवै लाया काकड़ी मुखड़ी खिलै रे, मडुवा हरियाला लागी, रिटोना भुली मे।' अर्थात् हवा लगने में जिस प्रकार ककड़ी खिल भी न हो जाती है उसी प्रकार तुम्हारा मुखमण्डल खिलिया गया है। मडुवा की बालियां हरी-भरी हो गई हैं किन्तु तुम मेरे प्रेम की भूल गई हो। इसके अतिरिक्त वह दूसरे प्रकार से भी नया जोड़ बांध सकता है—'ओ, पूस का पालंगा कसी है रे छ हरियाली, पाकिया दाड़िम कसी मुख में की लाली।' अर्थात् पूस के महीने जैसे पालंग की सब्जी हरी भरी रहती है वैसी ही तुम सुन्दर हो। तुम्हारे प्रफुल्ल मुख-मंडल की लालिमा पके हुए दाड़िम-अनार की तरह है। इन दोनों जोड़ों के अतिरिक्त वह कोई तीसरा या चौथा जोड़ भी लगा सकता है जिसका चुनाव करना उसकी मनोवृत्ति और तत्कालीन वातावरण पर निर्भर करेगा।

इस शैली के द्वारा गायक नये नये उपमानों का प्रयोग करते हुये नये-नये सन्दर्भों का विस्तार करते हुए अपनी प्रेमिका के सौन्दर्य का वर्णन करता है। इसी के साथ वह अपने प्रेम का उसकी कठोरता का संकेत भी करता चलता है। जोड़ों के बीच बीच में वह मूल पंक्तियों की—'जागेश्वर धरा बुरुंशी फूली मे' आदि की पुनरावृत्ति भी करता रहता है। चूंकि गायक को प्रत्येक पंक्ति में उक्ति की नवीनता रहती है, उसकी भाव-भंगिमा में विशेषता रहती है, इसलिये ये जोड़ बड़े आकर्षक बन जाते हैं। यही इनके बेजोड़ होने का रहस्य है।

इस प्रकार के जितने भगनौल पहाड़ों पर, विशेषकर कुमाऊं के विभिन्न स्थानों पर गाये जाते हैं, वे सभी नारी सौन्दर्य पर आधारित होते हैं। अल्मोड़ा, बागेश्वर, द्वारा-हाट, देवीधुरा स्यालदे, थल पिथौरागढ़ तथा अन्य स्थानों पर जहाँ कहीं इनका आयोजन होता है इनकी यही विशेषताएं लक्षित होती हैं। नायिका की सुन्दरता का सर्वांगपूर्ण वर्णन करने के कारण इन्हें लोककलाकारों द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला नखशिख वर्णन भी कहा जा सकता है। कहीं उसके उभरते हुए यौवन का वर्णन होता है तो कहीं उसके हिलते हुए कर्णफूलों का। कहीं पर कहा जाता है कि तुम योगिनि जैसी हो और मैं तुम्हारा भक्त बन गया हूँ। कहीं पर कहा जाता है कि तुम शहद की मक्खी के भांति चिपक गयी हो। कहीं यह कहा जाता है कि तुम बया की फ़ुनी की भांति आती-जाती रहना। कहीं पर रूखा सूखा मडुवा खाकर उसे मलाई खाने का प्रलोभन दिया जाता है। तात्पर्य यह है कि इसी प्रकार की अनेकाधिक भावनायें एक टेक पद लेकर गीत बद्ध कर दी जाती हैं।

'भगनौल' के एक दूसरे प्रकार में दो-दो पंक्तियों के जोड़ तो बंधे रहते हैं किन्तु पंक्तियों के अंतिम शब्द तुकान्त बना दिये जाते हैं। तब यह गीत तुकान्त गीत जैसा बन जाता है। कभी इनमें बीच की पंक्तियां गद्य की भाँति जल्दी-जल्दी बोली जाती हैं, फिर गायक मूल गीत की धीमी लय पकड़ लेता है। *हमें समझना चाहिये कि ये इस गीत की* केवल शैलीगत नवीनताएँ हैं जिनसे गायन की एकरसता दूर की जाती है। 'भगनौल' की विषयवस्तु में इससे *कोई अन्तर नहीं पड़ता। एक गीत में प्रेयसी से अपने घर आकर* बस जाने का निवेदन किया गया है। प्रेमी कहता है कि मेरा घर दो मंजिल ऊँचा है। मेरी माँ नयी बहू मानकर तेरा स्वागत करेगी। घर की ताला चाबी तेरे हाथ में रहेगी। काम करने को कुछ है नहीं, ज्वाण की चाय पीकर मस्त पड़ी रहना। बहती हुई गंगा में स्नान करना उत्तम है। इसके कुछ जोड़ इस प्रकार हैं —

'दो माणियां तौली, के है रे छै भोली।
दो मजाला घर म्यरो, छाजा म मैं रौली।
औनी गंगा नैई ल्हीये, उनै जै कै रौली।
बुड़िया मायेड़ी मेरी मौली ब्वारी कौली।
बगरै की ताई कुन्वी त्यारै हाथै रौली।
काम धन्दा के न्हातन नट्टवा चै रौली।
ज्वाण की घुटुकी खाली उताण है रौली।'

मुझे कुछ ऐसा लगता है कि न केवल 'भगनौल' का, बल्कि सारे लोकगीतों का ढाँचा जोड़ों पर ही आधारित होता है। ये जोड़ ही वस्तुतः गीतों के मूल और स्वच्छंद रूप हैं जहाँ गायक की कल्पना को, उसकी प्रतिभा को यथेष्ट विस्तार मिल जाता है। वह जो कुछ कहना चाहता है, जिस प्रकार कहना चाहता है उसे यहाँ छूट जैसी मिल जाती है। अब इन गीतों की एक एक पंक्ति, एक-एक जोड़ उसके हृदय के तारों से झंकृत होकर बाहर निकलते हैं। यही कारण है कि भगनौल गायन में मनुष्य के सारे जीवन का, उसके सारे समाज का रूप झलकने लगता है। कुमाऊँ में 'भगनौल, बैर' और 'न्योली' कुछ ऐसे गीत हैं जिनके गायन का निर्वाह करना सचमुच कठिन होता है। इसलिये इनके गायकों की संख्या अब कम होती जा रही है।

'भगनौल' के कुछ और जोड़ों की व्याख्या करने से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जायगी कि गायक की उड़ान की वास्तविक कसौटी यही गीत हैं। एक स्थान पर जब कोई सुन्दरी अपने एकान्त यौवन का विकास देखकर स्वयं अपने ऊपर मुग्ध होने लगती है तो भगनौलिया उस पर जोड़ बांधता है—'बाकरै की खुटी, आपुणा जोवन देखी आफी रै छै टुटी।' वह मान लेता है कि सब कुछ भूला जा सकता है किन्तु नायिका की मुस्कराहट नहीं भुलाई जा सकती—'दोलकी कसण, सबै चीज भुली जूंलो, ना भूलूं हंसण।' इसलिये हे सुन्दरी, तुम परदेश जाने पर चिट्ठी-पत्री के द्वारा अपनी कुशल-मंगल भेजना और हिचकी लगाकर उसके द्वारा अपने प्रेम का स्मरण करा देना— वाटिका पाया, चिट्ठी में खबर भेजिए बाडुली म माया।' यहाँ प्रचलित लोकविश्वास है कि किसी प्रेमी

के द्वारा स्मरण करने पर हमें हिचकी आती है और उसका नाम लेने पर बन्द हो जाती है। माया प्रेम का ही दूसरा रूप है।

हमारी धारणा है कि इन जोड़ों के बेजोड़ होने का एक और कारण भी हो सकता है। परिनिष्ठित साहित्य म उपमाएं तथा सूक्तियाँ बार-बार दुहराई जाकर रूढ़ हो जाती हैं, वे फिर बासी पड़ जाती हैं। आंख के लिये कमल, नासिका के लिये शुक, भौंह के लिये भ्रमर जैसे उपमान इसी कारण अब हमें विशेष आकर्षित नहीं करते। किन्तु लोकगीत चूंकि नित्य बनते हैं, अपने भूगोल और इतिहास से जुड़े रहते हैं, इस कारण उनकी सूक्तियाँ प्रवाहित स्रोतस्विनी के समान नित्य स्वच्छ और ताजी बनी रहती हैं। 'भगतोल' की पंक्तियाँ इसी कारण बेजोड़ लगती हैं। प्रकारांतर से यही बात सारे लोक-साहित्य के लिये कही जा सकती है। परिनिष्ठित साहित्य की अपेक्षा यह साहित्य हमेशा हमारा ध्यान आकर्षित करता है।



सिन्ध देश का लोकसाहित्य[1]



कुमारी कमला भम्मानी बी० ए०

सिंध देश की भाषा सिंधी कहलाती है। इसकी माता संस्कृत तथा पिता प्राकृत भाषा है। इसके मूल धातु तद्धित तथा कृदन्त सब संस्कृत व्याकरण की प्रणाली पर रचे गये हैं। संस्कृत व्याकरण के सिद्धान्तों से इसका कलेवर बना है। सिंधी भाषा संस्कृत भाषा के ब्राह्मवश चाल-ढाल इत्यादि से अधिक प्रभावित हुई है। सिंध भी विजेताओं का देश है। अनेक संस्कृतियों का अनुभव सिंध को हो चुका है। सिंधी भाषा इन संस्कृतियों से थोड़ी या बहुत प्रभावित हुई है। उसमें भी तीन सौ वर्ष के दीर्घ समय के अरब आधिपत्य ने इस भाषा में अरबी लिपि का संचार किया। इसके पश्चात् मुगल साम्राज्य तथा बलूची आधिपत्य ने सिंधी भाषा में अनेक विदेशी शब्द मिलाए। बलूची अमीरों ने सिंधी को मातृभाषा के रूप में स्वीकार तो किया परन्तु उसमें अनेक विदेशी शब्दों को भी स्थान दिया। इस भाषा ने अरबी लिपि को स्वीकार किया है परन्तु शुद्ध उच्चारण की दृष्टि से संस्कृत की पुत्री के योग्य यह लिपि न थी। इसी कारण उर्दू-लिपि में से बहुत से प्रयोग यहाँ स्वीकार किये गए हैं। अब अंगरेजी प्रभाव के कारण इस भाषा का सुन्दर विकास हो रहा है।

इस समय सिंध का प्राचीन साहित्य थोड़ा सा ही उपलब्ध है। कदाचित् बारम्बार विदेशी आक्रमण होने के कारण मूल प्रजा सुन्दर साहित्य रचने में असमर्थ हुई होगी। इस देश में बुद्ध-संस्कृति से पहले और पीछे अनेक संस्कृतियों ने एक के बाद दूसरे ने अपना आधिपत्य जमाया। अरब संस्कृति तथा पठान संस्कृति के पश्चात् मुगल संस्कृति का समय आता है। अन्त में बलोची संस्कृति आती है। बीच के समय में ईरान के नादिरशाह तथा अफगानशाह की सत्ता भी सिंध पर फैली थी। बेचारी प्रजा सर्वदा सम्पूर्ण व्यवस्था सहित शांति दीर्घ काल पर्यन्त अनुभव न कर सकने के कारण सुन्दर साहित्य रचना न कर सकी होगी। यदि हुई भी होगी तो वह साहित्य लुप्त हो गया है। आधुनिक सिंधी साहित्य के सर्जकों में दीवान मोधुमल दीवान कौड़ोमल तथा कुलीच बेग साहिब अग्रगण्य हैं। दीवान नवलराय के कुटुम्बियों का साहित्य भी सुन्दर है।

सिंध में व्यवस्थित साहित्य प्रवृत्ति मंद होगी परन्तु लोकसाहित्य के लिए तो सिंध में अमूल्य कोष भरा पड़ा है। सिंधी भाषा तथा कच्छी भाषा लगभग एक ही प्रकार की हैं। कच्छी भाषा की उत्पत्ति सिंधी में से हुई है। इसी कारण कच्छ के लोकसाहित्य पर

१ ऊर्मि के एक गुजराती लेख के आधार पर।

भी सिंधी भाषा का दीर्घ प्रभाव पड़ा है। सिंध का लोकसाहित्य विशाल तथा अमूल्य है। यह लोकसाहित्य सारे सिंध में उपलब्ध हो सकता है। कराची में तो उस साहित्य का नाम मात्र ही सुनने में आता है। यदि आपको शुद्ध सिंधी या सिंधी काफ़ियों का आनन्द प्राप्त करना हो तो ज़रा सिंध के ग्रामों में पदार्पण कीजिए। वहीं स्फूलराय, बड़े पगड़ तथा घोरे पजाम पहने हुए ग्रामीण सिंधवासी आपको अपनी सिंधी काफ़ियां के घूँट पिला सकेंगे, परन्तु भाषा तथा भावार्थ समझने की तथा उन पदों को गाते होना थोड़ासों में आवश्यक है।

अब इस प्रकार के प्रश्न उठने स्वाभाविक ही हैं कि ऐसा साहित्य किस स्थान में तथा किस प्रकार प्राप्त हो तथा उस साहित्य को हम किस स्थान में सुन सकते हैं? 'बाइबिल' के कथनानुसार तो यह बात लोकप्रसिद्ध है कि 'दरवाज़ा खटखटाओ और तुम्हारे लिए खोला जायेगा।' यदि ज्ञानमान जिज्ञासा के साथ अनुसंधान करें तो अवश्य आप अब भी पर्याप्त परिमाण में मिलेगा। उसमें भक्तों का प्रसाद, ईश्वर-भक्ति के चमत्कार, राजा रानियों के प्रेम प्रसंग, राजकुँवरों की पराक्रम कथाएँ, रावकन्याओं की कठिन कसौटियां, सुख, दुःख, वैभव, दरिद्रता, ग्राम्य जीवन इत्यादि इस प्रकार के अनेक वर्णन मिलेंगे। उसमें भी सिंध की वाणी में सूफ़ीवाद का प्राधान्य स्वयं दिखाई देगा।

सिंधी का लोकसाहित्य विशाल है। अभी तक उसमें से बहुत थोड़ा सा ही लिपि-बद्ध हुआ है। उस साहित्य के पीछे योगी बनकर उसका संग्रहकर्ता इस समय तक तो कोई मिला नहीं है। रामगुप्त अथवा मेधार्थि जैसे याचक उसे नहीं मिले हैं। सिंधी लोक-साहित्य में इश्क़ से भरे दोहों का बड़ा संग्रह हो सकता है। सूफ़ी कवियों ने तो प्रेम से भरी भक्ति के भण्डार तक खाली कर दिये हैं। यहाँ एक बात को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। प्राचीन सिंधी तथा आधुनिक सिंधी की रचना तथा भाषा एक ही ढर्रे पर होते हुए भी प्राचीन सिंधी में कितने ही नवीन शब्द दिखाई देते हैं। श्री ज्ञानेश्वर की मराठी तथा आधुनिक मराठी में आकाश पाताल का अन्तर है, इसी प्रकार आजकल के सिंधी भाषा भाषियों को प्राचीन सिंधी सरलता से समझ में नहीं आती। प्राचीन सिंधी में संस्कृत के शब्द किसी एक विशेष परिमाण में मिलते हैं, परन्तु आधुनिक समय में अरबी फ़ारसी शब्द अधिक प्रयोग में लाये जाते हैं।

मि० किनकेड ने सिंधी लोककथा का एक बड़ा संग्रह किया था। यदि सिंधी भाषा का यह काव्य ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है तो हमारे दृष्टिपथ में नहीं आया परन्तु मि० किन-केड ने उसका अंगरेज़ी अनुवाद प्रकाशित किया है। सम्भवतः डा० गुरबखशाणी ने शाह लतीफ़ का 'शाह जो रसालो' नामक पुस्तक टीका सहित प्रकाशित की है। श्री जेठमल परसुराम ने भी सिंधी सूफ़ी साहित्य पर सिंधी भाषा में एक ग्रन्थ लिखा है। इसके अति-रिक्त कदाचित् कोई और भी साहित्य प्रकाशित हुआ हो, जिसका मुझे ज्ञान नहीं।

देखिये रात्रि के नौ बजे हैं। गाँव के मैदान में ज़मीन पर बिना कुछ बिछाए सैकड़ों मनुष्यों का समूह इकट्ठा हुआ है। स्थान स्थान पर टिमटिमाते हुए दीपक रख दिये गये हैं। सिंधी भक्त दो लड़कों को लेकर बीच में खड़ा है। वे लोग

इक्क के—दोहे बोलते हैं। मुंह पर एक विशेष प्रकार से हाथ रखकर अपने ही ढंग से दोहे अलापते हैं। दो लड़के, पैर में घुंघरू पहन कर इधर उधर नाचते फिरते, उन दोहों को मीठे सुर में गाते हैं। बीच-बीच में सिंधी काफ़ियाँ भी गाई जाती हैं। भक्त, भक्तिरस में श्रोताओं को डुबो देते हैं।

ग्रामवासियों में बहुत सी स्त्रियाँ तो अनपढ़ होती हैं। वे गृह-कार्य में ही लगी रहती हैं, पर तु लोकगीतों का उनके पास भण्डार होता है। त्यौहारों तथा उत्सवों में इन महिलाओं का समूह किसी के घर इकट्ठा होता है। एक स्त्री के हाथ में ढोलक होती है। ढोलक बजती है तथा स्त्रियाँ मीठे सुर से लोकगीत गाने लगती हैं। सरल भाषा में कोई भजन अथवा किसी शूरवीर के शौर्य-गीत गाए जाते हैं। लुटेरों के हाथ से विजय पाकर आए हुए किसी बलवान पुरुष की यशगाथा गाई जाती है। कोई सादे ग्राम्य गीत भी गाए जाते हैं। विवाह के समय गाने योग्य गीत भी स्त्रियाँ सिंधी भाषा में ही बड़ी सख्या में गाती हैं। मृत्यु समय के गीत भी ढेरों गाये जाते हैं। सिंध की ग्राम्य-रमणियों के पास लोकगीतों का बड़ा सग्रह है परन्तु सग्रहकर्त्ता कहाँ हैं ?

सिंध के ग्रामों में लोग अपने हाथ में मोटे मोटे एकतारे लेकर गाँव गाँव फिरते हैं। ये लोग मधुर सुर में गाना जानते हैं। इनके पास बहुत सी सूफी प्रेम-कथाओं का भडार है। ये लोग अपनी जीविका लोककथा गान से चलाते हैं। प्रत्येक गाँव के मैदान में इनके पीछे मनुष्यों की भीड़ इकट्ठी होती है। यहाँ ये लोग किसी एक वीर का कीर्ति-कथा छेड़ देते हैं।

सिंध के पुराने सतों पर सूफ़ीवाद का बड़ा गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा था। शाह लतीफ़, मियाँ अब्दुल वहाब (सचल), रोहिल तथा सामि—ये चार सज्जन लोकगीतों के मुख्य गायक हो गए हैं। सिंध के कोने-कोने में उनके नाम अमर हैं। सिंध के दूर-सुदूर गाँवों में नीर भरने वाली बलूची सुदरियाँ अपने सुरीले कंठ से शाह लतीफ के सुन्दर 'बैत' गाती सुनाई देती हैं। ग्राम के बुड्ढे लोगों की मंडली में भी सचल के 'दोहिरे' उतने ही प्रसिद्ध हैं। उन पर पजाब के सूफी कवियों की प्रतिभा का प्रभाव अवश्य पड़ा है। ये सूफी कवि संसार से उदासीन, अपने 'अनलहक़' के ध्यान में मस्त रहने वाले सच्चे भक्त थे। वे हिन्दू-मुसलमानों में भेद नहीं जानते थे, इसी कारण उनका दोनों ओर से आदर-सत्कार होता था।

ये भक्त प्रिया अर्थात् ईश्वर के प्रेम में दीवाने थे तथा उसके पीछे प्राण देने वाले आशिक थे। इश्के हकीकी उनका धर्म था। प्रिया अथवा ईश्वर के पीछे दर्द-भरे गीत गाने के अतिरिक्त उन्हें कुछ भी न सूझता था। उनकी कविता उनके पूर्ण आवेश में स्वय ही प्रकट होती थी। उनकी वाणी सच्ची तथा संसार से उदासीन थी। वेदान्त का गेरुआ रग उनके हृदय पर रग गया था। वैराग्य तथा प्रभु-प्रेम उनके ध्येय थे। ये लोग फकीरी के सच्चे भोगी थे। शाह कहते हैं—

'सूरत जा सोहडजी साजे डिट्या
हूंदन पलेसा मशा सम महा खणी'

अर्थात् मेरे प्रिय की सूरत ब मुझे दर्शन हुए। अब आप उस प्रिय मुखारविन्द का दर्शन करेंगे तब आपके नयनों से निद्रा उड़ जायगी। तब आप घड़े लेकर सिंध नदी में स्नान करने जायेंगे। उसे भी मीराबाई की भांति 'अन्न न भावे लेणे निद्रा न आव, सेजे पधारो मारा श्याम' अर्थात् उसे अन्न नहीं अच्छा लगता, नींद नहीं आती है। श्याम, सेज पर आओ.. ऐसा अनुभव हुआ था। शाह कहते हैं—

'बाहड़ वहन नवा अजा वह अगे थ्यो
घर वेठ्यू पिणा वर्यो सल्यू सग सिवा।'

अर्थात् अभी तो प्रेम नदी के बहाव का आरम्भ ही हुआ है पानी की प्रचण्ड लहरें तुम्हें नाद में झकझोरेंगी। घर में बैठे-बैठे चाहे जैसा भी वार्तालाप करो।

शाह लतीफ़ का आशीर्वाद पाया हुआ सचल भी सच्चा भक्त था। उसके दोहों में उन्माद तथा प्रेम की लहरें दीखती हैं। उसमें शाह का गंभीर तत्वज्ञान नहीं है। रहस्यपूर्ण तथा गंभीर चिन्तन भी नहीं है। फिर भी आप शब्द-शब्द में उन्माद भर देते हैं। संसार की बातें भूल कर आकाश में उड़ते हैं। आपके मन में सौंदर्य तथा प्रेम-योग ही सर्वस्व है। आप अनोखे आवेश के साथ उन्नत पवित्रता के पुजारी हैं। आप कहते हैं—

'आहे जेको जले, तिखो ताव हुस्न जो
विने थ्याजे विरह जे वावु थ्या से भले।'

अर्थात् कोई ऐसा विरही है जो सूरत के सौंदर्य का ताप सहन कर सके? विरही जीवों के लिए तो वैराग्य अमृत के समान है। भागवत के पुरखा की भांति उन्हें शुद्ध वैराग्य रूपी भक्ति मिली है। शाह कहते हैं—

'उशाकिन थाडाहु में पसमो तिजारो
गाहु राणीम में ईयं गर्या बफ़जो जीम पारो
नानक कोनारो जले रब्रब छीयजो।'

अर्थात् आशिकों (प्रेमियों) की महफ़िल (सभा) में एक आश्चर्यजनक दृश्य देखा। आशिक दारू की भांति पिघल रहे थे। ईश्वर रूपी माशूक उन्हें पिघला रहा था। मीराबाई के निम्नलिखित भजन में भी यही भाव दीखता है—'शाह कू देखकर मेरो बदन सारो बह गयो'। सचल तो प्राण की आहुति देने को कहते हैं—

'सचल साइ सुहणानसां, वस न कहजो हुने
जन जीसा जीऊ जले अशकिन न अडाह में।'

अर्थात् प्रेम तथा सौंदर्य की मूर्ति माशूक के आगे किसी का कुछ वश नहीं चलता। प्रेमियों की सभा में तो शरीर तथा प्राण की आहुति देनी होती है।

तू माहि थोड़ब सूरत जो हे थोड़ गुलाम तुहिंजो
थोड़ जोर शौक गुदिशा मुखे मदाम तुहिंजो

जे आहिन असुल अवाजो, सेला विसारजो मियाँ
मूंते आहे मुकरर राहि सलाम तुहिंजो
रात्यूं वहि सबस म हिमरो उदास हियरो
राहबर आणे रसायो प्रेम पयाम तुहिंजो।'

अर्थात् सूरत के तुम स्वामी हो, मैं तो तुम्हारा तुच्छ दास हूँ। तुम्हारे ही कारण असावधान हो गया हूँ। तुम ही मेरे आराम के स्थान हो। जो तुम्हारे प्रिय हैं उन्हें मत भूलना। मेरा कर्त्तव्य तो आपके चरणों मे पड़ना है। आपको मेरा नमस्कार है। रात्रि दिवस अश्रु गिराने म व्यतीत होते हैं। इस हृदय मे आग सुलग रही है। तुम राह बताने वाले हो। अपने प्रेम की प्याली मुझे पिलाओ।

इस छोटे से लेख म सबका कितना प्रसाद दिया जा सकता है? पर एक शब्द रोंगटे खड़े कर देता है।

शिकारपुर (सिंध) में चैनराय बूँह नामक गृहस्थ हो गए हैं। उनका जन्म धनवान तथा कुलीन कुटुम्ब म हुआ था। फिर भी उन्हें साधुओं की संगति बड़ी प्रिय लगती थी। उनके हृदय मे शुद्ध वैराग्य प्रकट हुआ। उन्होंने स्वामी के श्लोक बनाए जो भाव तथा अध्यात्मवाद से भरे हैं। अपने श्लोकों म उन्होंने वेदान्त की विशाल भावनाओं को ज्वलंत कर दिया है। उदाहरणार्थ—

'डिसी मुँह महबूब जो राम् हींइ ठरे
मुँहजो यार तो लहर, व लोने छोन से।'

अर्थात् अपने माशूक की झाँकी करके मेरा मन उल्लसित होता है। जो पानी म डुबकी मार कर तैरता है उसे घनी लहरें भी हैरान नहीं कर सकती।

'आशिक भयी मस्त रहन महरान म
सीमा सुगारल कीन तिनखे लोक चर्या।

अर्थात् आशिक इश्क के दुःख म मस्त रहते हैं। सयाने मनुष्य उन्हें कहाँ से पहचान सकते हैं? इसम भी गीताजी के द्वितीय अध्याय के श्लोक 'या निशा सर्वभूतानाम्' का सार है।

'प्रेम बिना प्रिय पद कहूं पायो कौनकी
बजी पुख तिनखूं जिन पीतो मोहब्बत मद।

अर्थात् यह उच्च स्थान प्रेम के सिवा किसी को भी नहीं मिला है। जिसने इश्क का मद्य पान किया है वही इसे जानता है।

दलपत के भजन भी प्रशंसा करने योग्य हैं। सिंध म ऐसे ऐसे रत्न तो बहुत से पड़े हैं। हमारी यही प्रार्थना है कि हमारे हिन्दी भाई इस विषय म रस लेकर इस मधुर प्रसाद को हिन्दी प्रजा के सामने रक्खें।

★

कुरमाली वैवाहिक पद्धति एव गीत



डॉ० सन्तोषकुमारी जैन

कुरमाली भाषी कुर्मी बिहार के साधारण कुर्मियो से भिन्न हैं और इसलिए उनके सस्कार भी भिन्न हैं। इनकी शारीरिक आकृति कुछ कुछ द्रविडो से मिलती जुलती है। सामान्य हिन्दुओं की भाँति इनके प्रत्येक सस्कार को सम्पन्न कराने के लिए ब्राह्मण-पुरोहित की आवश्यकता नही है लेकिन इनके गीतो पर रामायण और महाभारत की कथाओ का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इनमें कृष्ण की लीलाओं का वर्णन अधिकता से प्राप्त होता है। कुर्मी समुदाय म यज्ञोपवीत सस्कार एवं मुण्डन इत्यादि का प्रचलन नही है। अत इनसे सबधित गीतो का प्रश्न ही नही उठता है। कुर्मियों मे अन्य जातियो म प्रचलित जन्मोत्सव एव मृत्यु स सबधित गीत भी नहीं मिलते हैं।

इस प्रकार कुरमाली सस्कार गीतो के अन्तर्गत मात्र विवाह गीत ही हैं। सच पूछा जाये तो सख्या म अधिक होने के कारण कुरमाली विवाह-गीत कुरमाली लोक-साहित्य मे अपना एक स्थान रखते हैं।

विवाह तय होने के समय से वधू के स्वागत तक गीतो का अविराम क्रम जारी रहता है।

कुर्मियो को वैवाहिक पद्धति न तो सम्पूर्णत हिन्दुओं की ही भाँति है और न छोटानागपुर की अन्य जनजातियो की तरह ही, बल्कि इन दोनो से कतिपय समानताएँ रखते हुए भी अपने ढग की है। इनके कुछ नेग दस्तूरों पर वन्य सस्कृति की स्पष्ट छाप अकित है, उदाहरण के लिए विवाह-हेतु कन्या क बहनोई द्वारा कन्या को बाँस की टोकरी मे बिठलाकर विवाह-मण्डप मे लाया जाना या वर पक्ष के द्वारा कन्या के वस्त्राभूषण बाँस की टोकरी मे लाया जाना।

छोटा नागपुर क आदिवासियों की भाँति कुर्मियों में भी लडकी या वधू ढूढने की ही प्रथा प्रचलित है। उत्तर भारत की अधिकाश जातियों की भाँति कन्या के पिता को वर खोजने के लिए परेशान नहीं होना पडता है। लडके का पिता ही पहले लडकी देखने जाता है। कन्या ढूँढने की इनम एक बडी ही मनोरंजक प्रथा प्रचलित है। जब लडका एवं उसके परिवार वाले कन्या के घर के दरवाजे पर पहुँचते हैं तो वहाँ उनसे अपरिचित व्यक्तियों के जैसा व्यवहार होता है।[1] कन्या के परिवार के सदस्य उनसे पूछते हैं—

१ डिस्क्रिप्टिव इथनालाजी ऑव बेंगाल डाल्टन पृष्ठ ३०७।

आप कौन हैं और यहाँ क्यों आये हैं ? इसका उत्तर देते हुए लड़के के परिवार वाले कहते हैं कि वे शिकार के लिए आये हुए थे और आँधी-तूफान में रास्ता भटक गये हैं। अतः शरण चाहते हैं। शरण दिये जाने पर वे कहते हैं कि वे प्यासे हैं। प्रत्युत्तर में विवाह योग्य कन्या स्वयं पानी लेकर उपस्थित होती है। कन्या को देख कर लड़के के परिवार के सदस्यों में से एक कह उठता है कि 'जिसकी खोज में हम परेशान हैं, वह वस्तु अनायास ही आपके यहाँ मिल गयी।' इसके बाद विवाह संबंधी बातें तय होने लगती हैं। अगर दोनों पक्ष पूर्णरूपेण सन्तुष्ट हो जाते हैं तो कन्या को वर-पक्ष की ओर से एक आभूषण देकर विवाह की बात पक्की कर ली जाती है अथवा इस कार्य के लिए एक अलग दिन भी निश्चित किया जाता है। डाल्टन महोदय ने इस प्रथा का उल्लेख करते हुए बताया है कि जब विवाह की बात पक्की हो जाती है तब वर-पक्ष के सदस्य कन्या-पक्ष के यहाँ सगाई की रस्म के लिए जाते हैं और उनसे अपरिचितों के जैसा व्यवहार होता है, लेकिन बात ऐसी नहीं है। लड़के के परिवार वालों का प्रथम आगमन ही इस सयोगात्मक ढंग से लिया जाता है। साथ ही मेहमानों को विभिन्न उपनामों से विभूषित करके पुकारा जाता है। इसके अलावा डाल्टन महोदय ने यह भी उल्लेखित किया है कि 'शरण लेने के बहाने आये हुए वर-पक्ष के लोग जब वापस लौटने लगते हैं, तब वे कहते हैं कि हमने आपकी एक कन्या के सौन्दर्य की चर्चा सुनी है, इसलिए उसे देखना चाहते हैं।' इसके विपरीत मुझे प्राप्त सूचना के अनुसार कन्या स्वयं ही मेहमानों के समक्ष पानी लेकर उपस्थित हो जाती है। हाँ, अगर कन्या के परिवार वालों को विवाह की बात मंजूर नहीं होती है तो कन्या के अलावा कोई अन्य व्यक्ति पानी लाता है। इससे लड़का एवं उसके परिवार वालों को नामंजूरी का संकेत मिल जाता है। इस प्रकार क्षेत्रीय सूत्रों द्वारा मुझे प्राप्त सूचना एवं डाल्टन द्वारा उल्लखित तथ्य में कतिपय अन्तर अवश्य हैं। फिर भी, इस बात में दो मत नहीं हैं कि भले ही आज शहरों में रहने वाले कूर्मियों ने इस प्रथा को छोड़ दिया हो लेकिन एक समय यह प्रथा रही होगी और आज भी गाँवों में पायी जाती है।

पुराने जमाने में कन्या के लिए लड़के के पिता को वधू मूल्य देना पड़ता था। दी गयी वस्तु एवं धनराशि को 'पण' कहा जाता था। इस मूल्य के रूप में नकद रुपयों की अपेक्षा एक जोड़ी बैल अथवा एक गाय देने का प्रचलन अधिक था। आज यह प्रथा लगभग तिरोहित हो गयी है। हाँ, कन्या को उसके माता-पिता के द्वारा भोजन बनाने के सारे बर्तन अवश्य दिये जाते हैं।

कन्या पक्ष की ओर से वर-पक्ष के यहाँ वर को देखने के लिए जाने को रस्म 'वर देखा' कहलाती है। वर की ओर से कन्या को आभूषण, वस्त्र एवं अन्य शृङ्गार-प्रसाधन देकर सगाई पक्की करने की रस्म को 'पानचन्दन' कहा जाता है। इस नाम का कारण सम्भवतः इस रस्म में पान और चन्दन का महत्व ही रहा होगा। कहीं-कहीं इस रस्म को 'दुवारजोता' या 'दुवार छुदा' भी कहा जाता है। जिस प्रकार वर-पक्ष की ओर से कन्या को विविध वस्तुएँ दी जाती हैं उसी प्रकार कन्या-पक्ष की ओर से भी

लड़के को घड़ी इत्यादि दैनिक उपयोग की वस्तुएं सगाई के समय दी जाती हैं।

विवाह के तीन दिन, पांच दिन, सात दिन या नौ दिन पहले लगन की रस्म होती है। लगन की रस्म में मुख्य हल्दी की गांठें होती हैं। विवाह के जितने दिन पहले लगन बांधी जाती है उतनी ही हल्दी की गांठें सन की रस्सी में बांधी जाती हैं। इसी दिन से वर और कन्या को हल्दी और सरसों तेल लगाया जाता है। लगन की रस्म के बाद वर या कन्या अपने घर से बाहर नहीं निकल सकती हैं और उन्हें सुरक्षा के दृष्टिकोण से अपने हाथ में लोहे की कोई वस्तु बराबर रखनी होती है। साधारणतः वर के हाथ में सुपारी काटने का सरौता रहता है और कन्या के हाथ में काजल की 'कजरौटी'। लगन की रस्म के बाद प्रत्येक दिन, हल्दी की गांठों में से एक को खोल दिया जाता है। इस प्रकार जिस दिन सभी गांठें खुल जाती हैं वह दिन विवाह का दिन समझा जाता है। प्राचीन काल से सम्भवतः यह प्रथा विवाह के दिन की अच्छी तरह गणना के लिए चली आ रही है।

विवाह के दिन ही मण्डप छाया जाता है। इस दिन कन्या और वर की माँ का उपवास रहता है। विवाह हो जाने के पश्चात् ही वे भोजन ग्रहण करती हैं। 'वर' सज धज कर, बारात लेकर जाने की तैयारी करता है। जाने के पूर्व 'वर' का 'आम्र-विवाह' होता है। आम्र वृक्ष को कच्चे धागों से लपेट कर विवाह सम्पन्न कराया जाता है। इस वृक्ष की छांह में खड़ा होकर वर आम की एक छोटी शाखा को चबाकर उसका रस गुड़ में थूक देता है, और उसी गुड़ को लड़के की चाची, माँ, ताई और भाभियाँ इत्यादि खाती हैं। इस विचित्र रस्म को 'अम्ल खाने की रस्म' कहा जाता है और अम्ल खाने के पूर्व उपवास रखने की प्रथा है। आम्र-विवाह के उपरान्त वर बारात लेकर चलने लगता है। इसके पहले वर की मां पूछती है—बेटा, तुम कहाँ जा रहे हो? वर उत्तर देता है—'माँ तुम्हारी सेवा टहल के लिए दासी लाने।' ऐसा माना जाता है कि बारात लेकर जाने के बाद अगर किसी कारणवश विवाह सम्पन्न नहीं हो पाता है, तो वर का प्रवेश अपने घर में तब तक नहीं हो सकता है जब तक कि वह किसी दूसरे परिवार में कन्या खोज कर विवाह न कर ले। विवाह की लग्न के समाप्त होने के पहले ही विवाह करने की कोशिश की जाती है।

बारात चले जाने के बाद वर के घर में मात्र स्त्रियाँ ही रह जाती हैं। पुरुषविहीन घर में स्त्रियों के नाचने गाने की प्रथा है। इसका एक उद्देश्य सुरक्षा भी हुआ करता है। कुर्मियों में 'डमकच' गीतों के साथ नृत्य की प्रथा प्रचलित है। जबकि उत्तर भारत की अन्य कई जातियों में इस प्रकार के गीतों के साथ अभिनय एवं अश्लील परिहास प्रचलित है। डमकच गीत छोटे-छोटे होते हैं, लेकिन लय और नृत्य की पिरकन इन्हें लम्बा बना देती है। इन गीतों के वर्ण्य विषय विविध हुआ करते हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है

सागा छोडे जाइरहि कोइरी का बाड़ी हो।
खोइछा भेला भारी न छिन गेला साड़ी।
सुई आना सूत आना हो कपड़ा सिलाब हो।

साग तोड़ने के लिए कोयरी (एक जाति विशेष का नाम) आंगनबाड़ी में गयी तो इतना अधिक साग तोड़कर आंचल में ले लिया कि साड़ी फट गयी। सूई ला दो, सूत ला दो, साड़ी को सिलूंगी।

कन्या के यहाँ जब बारात पहुँचती है, तो रास्ते में दिखावा युद्ध किया जाता है। इसके बाद द्वार पर स्त्रियों द्वारा विभिन्न गीतों से 'वर' एवं बारातियों का स्वागत होता है। इन गीतों द्वारा 'वर' की परीक्षा के लिए उससे विभिन्न प्रश्न पूछे जाते हैं और उनका सम्भावित उत्तर भी दिया जाता है। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के स्वागत-सत्कार के बाद बारातियों को घर के आंगन में अच्छी तरह बिठलाया जाता है। वर-पक्ष द्वारा कन्या को पीतल का कोई आभूषण दिया जाता है। इसे 'पितरपिंधान' कहा जाता है। 'पितरपिंधान' के बाद कन्या 'महुआ विवाह' के लिए चली जाती है। महुआ वृक्ष के तने को कच्चे धागों से लपेट कर (उसके साथ) कन्या का विवाह सम्पन्न कराया जाता है। साथ ही, महुए की पत्तियों एवं नरम शाखाओं का कंगन बना कर कन्या को बहनोई द्वारा कन्या को पहनाया जाता है। इसे 'कांगना बांधना' कहा जाता है। महुए के पेड़ की छाँव में कन्या महुए की शाखा को चबा कर उसका रस गुड़ में थूक देती है और इसे कन्या की माँ, चाची, दाई एवं भाभियाँ इत्यादि खाती हैं। इसे भी 'अग खाना' कहा जाता है।

महुआ विवाह के बाद जब कन्या वापस आ जाती है, तो वर एवं बराती की उपस्थिति में ही आंगन में अल्पना बनायी जाती है। इसे 'चौक पूरना' कहा जाता है। इसके बाद बाँस की दो टोकरियों में लायी गयी विविध सामग्री रखी जाती है। इन टोकरियों में कन्या के लिए विविध प्रकार के आभूषण 'गोहुमा'[1] साड़ी, अन्य शृंगार प्रसाधन के अतिरिक्त कुछ अन्य वस्तुएँ ले जाने की भी प्रथा है। जैसे—खप्पर का टुकड़ा, मछली सरसों तेल इत्यादि। इनमें प्रमुख गहना होता है। अतः यह रस्म 'गहना लेने की रस्म' कहलाती है। इन विभिन्न वस्तुओं से सुसज्जित टोकरियों को कन्धे पर रख कर लाया जाता है और उन्हें ढोकर लाने वाला व्यक्ति या तो कुर्मी होता है या मुण्डा। अन्य जाति का व्यक्ति इन्हें नहीं छू सकता है। यह प्रथा मुण्डा जनजाति से इनकी निकटता का बोध कराती है।

वैसे भी 'मुण्डा कुर्मी भाई-भाई' का नारा पुराना नहीं है।

उपर्युक्त सभी रस्मों का चरम 'सिन्दरादान' की रस्म है। जब वर-पक्ष की ओर से कन्या को विभिन्न वस्त्राभूषण दे दिये जाते हैं, तो कन्या इन्हें पहन लेती है। तदुपरांत सुसज्जित कन्या को उसके बहनोई बाँस की टोकरी में बिठलाकर मण्डप में ले जाते हैं। वर का बाँया हाथ कन्या के दाहिने हाथ के साथ कच्चे धागे से बाँध दिया जाता है। इस धागे का एक छोर कन्या की माँ के कक्ष तक खिड़की के रास्ते पहुँचाया जाता है। वहाँ वह एक विशेष प्रकार की अल्पना दीवार में बनाकर उसके सामने बैठी रहती है।

---

१ 'गोहुमा' साड़ी विशेष रूप से विवाह के लिए ही उपयोग में लायी जाती है।

कन्या की माँ को विवाह देखने का निषेध है। वह उस कच्चे धागे का छोर हाथ में थामे तब तक वहाँ बैठी रहती है जब तक कि विवाह सम्पन्न नहीं हो जाता है।

कुर्मियों में 'हांडी विवाह' की प्रथा है। दो कोरी हांडियाँ कन्या के भाई के दोनों कन्धों पर होती हैं। एक हांडी पर कन्या के द्वारा और एक हांडी पर वर के द्वारा सिंदूर के तीन टीके किये जाते हैं। इसके बाद कन्या और वर के परिवार के विभिन्न सदस्यों के बीच कन्या के द्वारा वर को माला पहनायी जाती है और वर के द्वारा कन्या को। इसके बाद कन्या की मांग में सिंदूर डाल वर उसे अपनी पत्नी बना लेता है। इस अवसर पर सभी लोग जोर से 'हरि बोल सिंदरादान' कहते हैं। इस प्रकार 'सिंदरादान' के साथ ही बिना किसी वेद-मंत्र की सहायता एवं बाह्याडम्बर के विवाह सम्पन्न हो जाता है। सिंदूरदान के बाद वर और वधू की चादरों को गाँठ बाँध कर जोड़ दिया जाता है। अन्य जातियों की भाँति कुर्मियों में विवाह के लिए अग्नि के सात फेरे देने की प्रथा का प्रचलन नहीं है।

विवाह के बाद 'घुमावन' होता है। रेंडी अथवा केंद के पेड़ के तने की ढेंकी बनायी जाती है। लड़की की मां इसे वर और वधू के ऊपर तीन या पांच या सात बार घुमाती है। इसके बाद इस तने को घर की छत पर रख दिया जाता है। विदाई के समय यह ढेंकी भी वर के घर जाती है और वहाँ सबसे पहले वर-वधू को इस ढेंकी द्वारा परखा जाता है। सम्भवतः किन्हीं अदृश्य बाधाओं से रक्षा के लिए यह टोना किया जाता है। इसके बाद वर वधू को भेंटें दी जाती हैं। सर्वप्रथम वर-पक्ष का कोई वयोवृद्ध पुरुष उन्हें भेंट-स्वरूप कोई बर्तन इत्यादि देता है, इसके बाद कन्या की माँ देती है। तदनन्तर कुटुम्बियों एवं मित्रों के द्वारा भी दैनिक उपयोग की वस्तुएँ विशेषकर बर्तन ही दिये जाते हैं।

इसके बाद एक बड़ी ही मनोरंजक रस्म होती है। 'वर' धोती एवं नयी पगड़ी पहन कर अपने साले के साथ युद्ध के लिए तैयार हो आंगन में उपस्थित हो जाता है। साले साहब भी नयी पगड़ी में सुसज्जित होते हैं। तब कन्या का बहनोई कन्या के भाई को तथा वर का बहनोई वर के भाई को बगल में लेकर उन्हें आपस में लड़ने के लिए प्रेरित करते हैं। इस अवसर पर हास-परिहास का वातावरण बना रहता है। आपस में साले बहनोई एक-दूसरे को धक्का मुक्की करते हुए कभी एक-दूसरे पर पान का कुल्ला भी कर देते हैं। इस मौके पर इन बातों का कोई बुरा नहीं मानता है। इस धमाचौकड़ी के बाद साले बहनोई अपनी पगड़ियाँ एक दूसरे से बदलते हैं। इस पूरी रस्म को 'सारा धोती लुटा' कहा जाता है।

इसके बाद वर और कन्या को एक कमरे में बैठाकर खीर खिलायी जाती है। इस अवसर पर वर अपनी इच्छित वस्तु पाने के लिए रूठ जाता है और वह वस्तु प्राप्त होने पर ही खीर खाता है। यह रस्म 'खीर खावा' कही जाती है।

खीर खिलाने के बाद 'घर भरना' होता है। लड़की की माँ की गोद में वर और कन्या बैठते हैं तथा कन्या के द्वारा एक छोटे सूप में धान का लावा लेकर अपनी पीठ के

पीछे फेंकती है । वर भी इस सूप को पकड़ने में सहयोग करता है। ऐसा करते समय एक स्त्री कन्या से पूछती है—'किसका घर भर रही हो?' कन्या कहती है—'अपने भाई का' और ऐसा कहकर वह सूप का लावा फेंक देती है । इस रस्म का उद्देश्य कन्या के द्वारा उसके माता-पिता एवं भाई के घर में धन-सम्पत्ति रहने का आशीर्वाद प्राप्त करना है । वास्तव में, कन्या को भारतीय संस्कृति में घर की लक्ष्मी माना जाता है । अत कहीं उसकी विदाई के साथ घर की लक्ष्मी ही नहीं चली जाये, इस डर से इस प्रकार की रस्मों का आश्रय लिया जाता है । इनकी प्रथा अन्य जातियों में भी प्रचलित है । विवाह के दूसरे दिन प्रात काल विदाई होती है । विदाई के गीतों में हृदय की करुणा सजीव हो उठती है —

जेहु खँचिलाय बेटी गोबर बिछले,
सेहु खँचिलाय बेटी देले समझाय ।
आगुअना देले बेटी पेछुहु ना देले बेटी,
जायेका समये बेटी देले समझाय ।

[जिस टोकरी में बेटी गोबर चुनती थी, उसी टोकरी से उसने हमें (अपना महत्व) समझा दिया । आगे भी उसने कुछ न कहा, पीछे भी कुछ न कहा, लेकिन जाते वक्त सब कुछ समझा दिया ।]

कारुणिक गीतों के साथ घर और गाँव की स्त्रियाँ कन्या को घर से कुछ दूर तक पहुँचाने जाती हैं। वहाँ वे एक मिट्टी के बर्तन के नीचे रेंड़ी के तीन या पाँच पत्ते भी रखे रहती हैं।

वर-वधू को विदा कर जाने से पहले स्त्रियाँ सरसों के कुछ दाने इस आग में डाल कर उसका धुआँ कन्या को लगाती हैं। यह भी विघ्न-बाधाएँ हटाने के लिए एक प्रकार का टोटका है । आग की राख को वहीं रास्ते में डाल दिया जाता है ।

इस प्रकार एक घर की कन्या दूसरे घर की वधू बन चल देती है । गाँव की सीमा तक कन्या की सखियाँ उसे छोड़ने आती हैं और वर से कुछ रुपये पा लेने पर वर-वधू को चादरों की गाँठें खोल उन्हें जाने का रास्ता दे देती हैं । इस रस्म को 'संगी छाड़ा' कहा जाता है । सखियों की हृदय की व्यथा गीत बन फूट पड़ती है

जावाईं संग छाड़ा, पैसा जावाईं देये दाचा
संगति हामर लेले जावा रे ।

[दामाद ने साथ छोड़ दिया है । उसने हमें रुपये देकर फुसला दिया और हमारी सखि को ले गया है।]

कन्या के घर में हर्ष-विषाद मिश्रित वातावरण रह जाता है । गीत के बोल समाप्त हो जाते हैं। रह जाता है तो, बस, कन्या को वधू बना देने का मीठा सुख और उसके चले जाने का दर्द । दूसरी ओर वर का घर वर-वधू के आगमन का समाचार पा चहक उठता है और घर एवं गाँव की स्त्रियाँ गीत गाती हुई वर के घर से कुछ दूरी पर रास्ते में ही उनका आदर-सत्कार करने लगती हैं । कन्या के घर से लायी हुई रेंड़ी के

पेड़ की ढेंकी उन पर तीन या पाँच या सात बार घुमायी जाती है एवं उन्हें गुड़ और शहद खिलाया जाता है। इस प्रकार 'वर वधू-परछन' की रस्म पूरी की जाती है।

गुड़ खिलाने के बाद सुहाग का प्रतीक—एक लोहे की चूड़ी, जिसे 'खाड़ू' कहा जाता है, वर के द्वारा वधू को पहनायी जाती है। इस खाड़ू का कुर्मी संस्कृति में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक विवाहित कुर्मी स्त्री अपने पति के जीवनकाल तक इसे धारण करती है। अगर संयोगवश यह चूड़ी टूट गयी, तो अतिशीघ्र इसे फिर बना लिया जाता है और जब तक फिर से वह स्त्री इस चूड़ी को नहीं पहन लेती है, तब तक उसे उपवास रखना होता है।

'खाड़ू' पहनाने के बाद वर और वधू अपने घर में प्रवेश करना चाहते हैं लेकिन वर की बहनें भैया और भाभी का रास्ता रोक कर खड़ी हो जाती हैं। कुछ रुपये प्राप्त कर ही उन्हें अन्दर जाने देती हैं। घर के भीतर ले जाकर वर और वधू को खीर खिलायी जाती है। तदुपरान्त वधू की बुद्धि-परीक्षा हेतु घटी लुका रस्म होती है। एक लोटा तालाब में छुपा दिया जाता है और वर एवं वधू दोनों को उसे खोजना होता है, उनमें से जिसको लोटा मिल जाता है उसे विजयी माना जाता है। शहरों में घर के पिछवाड़े में एक गड्ढा खोदकर उसमें पानी भर दिया जाता है और एक सुपारी छिपा दी जाती है। इस सुपारी को ही वर वधू को ढूंढना पड़ता है। इसे 'गुआ लुका' कहते हैं। तालाब की सुविधा नहीं रहने पर ऐसा किया जाता है।

इस प्रकार विवाह की रस्म पूरी हो जाता है। जैसा कि वर्णन से स्पष्ट होता है, कुर्मियों की वैवाहिक पद्धति बहुत कुछ अपने ढंग की है। आजकल कुर्मियों के विवाह सनातनी हिन्दू पद्धति से होने लगे हैं। इस प्रकार का विवाह 'ब्राह्मण विवाह' कहलाता है। इस विवाह में 'धृतढारी' एवं 'जल सहना' इत्यादि रस्में होती हैं। इस प्रकार के विवाह में कन्यादान भी प्रचलित है।

कुर्मियों के विवाह से संबंधित एक अन्य प्रथा अत्यन्त महत्वपूर्ण है और वह है—'साघा'। साघा विवाह विधवा अथवा परित्यक्ता स्त्री का विवाह है। यह कुर्मी संस्कृति की अपनी पहचान है। साधारणतः विधवा या परित्यक्ता का विवाह विधुर से होता है लेकिन अगर संयोगवश अविवाहित पुरुष से साघा हो तो पहले उसका विवाह पेड़ के वृक्ष के साथ सम्पन्न कराया जाता है। साघा विवाह में साधारण विवाह की-सी धूम नहीं होती है। साथ ही, इस विवाह में 'सिन्दूरदान' के समय 'वर' अपनी भावी वधू की माँग में अपने हाथ से सिंदूर नहीं डालता है, वरन् बड़ी ही उदारता से मात्र सिंदूर की डिबी को अपने पैर के अंगूठे से छू भर देता है और वधू उसे स्वयं अपनी माँग में डाल लेती है।

★

प्रांतीय लोक-गीत



अनुवादक—श्री शङ्करदेव विद्यालङ्कार

श्रीयुत देवेन्द्र सत्यार्थी ने भारतभूमि के प्रान्त-प्रान्त में घूम-घूम कर राष्ट्र के लोकसाहित्य को एकत्र करने के लिए अविश्रान्त प्रयत्न किया है। उनके इस सुन्दर प्रयत्न का कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर सदृश मनीषीजनों ने भी अच्छा स्वागत किया है। 'मॉडर्न रिव्यू' और 'विशाल-भारत' जैसे उत्कृष्ट पत्रों में श्रीयुत सत्यार्थीजी ने अनेक प्रान्तों के लोक-गीतों का परिचय कराया है। भारतीय लोकसाहित्य के विषय में वे एक बड़ा ग्रन्थ तैयार कर रहे हैं जो हमारे साहित्य में अवश्य ही एक विशिष्ट स्थान प्राप्त करेगा। गत ग्रीष्मकाल में बम्बई की पी० ई० एन० परिषद् में कुछ एक लोक-गीतों का श्री सत्यार्थीजी ने गान किया था। वे गीत परिषद् की पत्रिका में भी प्रकट हुए थे। उनमें से कतिपय रसपूर्ण लोक-गीतों का भाषान्तर यहाँ पर प्रस्तुत किया जाता है।

× × ×

(१) नेपाली कृषक गीत—पृथ्वी मेरी माता है और धरती ही मेरा बाप है। यह धरती ही मुझे स्तनपान कराती है, धान खिलाती है। ऐसी प्यारी पृथ्वी मैया को मैं नमस्कार करता हूँ, और प्यार करता हूँ।

(२) बिहारी अहीर का गीत—'यह हमारा विरह गीत है। भैया, यह खेतों में नहीं उगता, वृक्ष पर नहीं लगता, इसका निवास तो प्रत्येक कलेजे में है। जब कलेजे काम करते हैं तभी हम अपना यह विरह गीत गाते हैं।'

(३) काश्मीरी लोक-गीत—प्यारे ग्वाले, तू मेरी जेहलम नदी के तीर पर आना और यहाँ अपनी प्यासी गायों को पानी पिलाने के लिए लाना।

तेरे अभिनन्दन के लिए मैं नाव-नाव पर दीये सजाऊँगा। मेरे प्यारे ग्वाले, जेहलम के तीर पर अपनी गायें लाना। तेरे लिए मैंने हरी-हरी बढ़िया घास रखी है। अपनी भेड़-बकरियों को चराने के लिए जेहलम के किनारे आना।

(४) ब्रह्मदेश का नाविक गीत—हीरे से मढ़ी हुई मेरी नैया, इरावती नदी के मोड़ पर तू तो एक नर्तकी की तरह सरकती जा रही है। इरावती की लहरें तेरे पीछे-पीछे घूम रही हैं।

(५) पठान माता की लोरी—मेरा मुन्ना अल्लाह के बगीचे में से भेंट में मिला हुआ अंगूर है। मानो, अल्लाह द्वारा आसमान से मेरी गोद में डाला हुआ तारा है।

(६) बिहारी विवाह-गीत —'बापू, हे बापू' मैं बार-बार पुकारती हूँ पर बापू सुनते ही नही। मेरे प्यारे बापू, देखो तो सही, यह तुम्हारा जमाई बलात् मेरी माँग म सिंदूर लगा रहा है! कितना कीमती है यह मेरा सिंदूर। पर उससे भी महगी है मेरी घूँघट-चुनरी।

बापू, माँग मे लगाया जाता हुआ यह सिंदूर हम दोनों की जुदाई बोल रहा है! प्यारे दादा, तुम्हारे आँगन से मैं विदा लेती हूँ।'

(७) बगाली प्रणय गीत—तेरे पान बीडे नहीं लूँगी। तेरी सुपारी मुझे नहीं चाहिये। तुम राही का क्या विश्वास? प्यारे, तू तो सदा का यात्री है। राहगीर का प्रेम तो कच्चे घड़े जैसा होता है। एक बार टूट कर फिर नहीं जुड़ता। इसलिए प्यारे, तेरे पान बीडे नही लूँगी।

(८) राजपूत का युद्ध-गीत—'तलवारों के झटक से कटा हुआ यह प्रियतम पड़ा है। इसके घाव पर अपार टाँके लगे हुए हैं।

'ठहर जा, ओ चारण भैया, ठहर जा, मेरा दिल फटा जाता है, तू और अधिक कीर्तिगान गायेगा तो यह पुन उठकर केसरिया सज लेगा।'

(९) आसाम का पर्वत-गीत—हे मेरे पर्वतीय प्रदेश, प्यारे पहाडी प्रान्त, तेरे शीश पै न्यौछावर हो जाने को दिल कहता है। तूने हमारे पूर्वजों को पालने मे झुलाया है। वे तो चले गये, पर तु उनकी स्मृतियाँ दिल मे ताजा हैं। मौत के तीख तीर भी न बींध सके, ऐसी है वह याद।

★

लोकवार्ता-साहित्य—तुलनात्मक अनुशीलन एव शोध की दिशाएँ

□

विद्याबिन्दु सिंह

लोकसाहित्य की आलोचना और शोध के क्षेत्र मे हिन्दी मे लोकवार्ता के महत्व की पहचान कैसे शुरू हुई यह चर्चा करके लोकवार्ता की शोध की नयी दिशाओं की संभावनाओ पर कुछ कहना अधिक समीचीन होगा—

हिन्दी साहित्य के इतिहास को सर्वप्रथम शास्त्रीय रूप देने का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को है और उन्होंने ही हिन्दी साहित्य के अध्ययन म लोकवार्ता के महत्व को स्वीकार करते हुए कहा कि भारतीय हृदय का सामान्य रूप पहचानने के लिए पुराने परिचित ग्रामगीतों का महत्व स्वीकार करना होगा। केवल पडितों द्वारा प्रवर्तित काव्य-परम्परा का अनुशीलन ही पर्याप्त नही है। 'सूरसागर' को भी उन्होने किसी मौखिक गीत काव्य परम्परा का पूर्ण विकास माना है और जायसी के 'पद्मावत' को अवधी मे प्रचलित किसी कहानी के सूक्ष्म तत्वो की कल्पना का विकास माना है।

स्व० महापडित राहुल सांस्कृत्यायन और स्व० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने तथा प० बनारसीदास चतुर्वेदी ने संस्कृति तथा इतिहास के जनपदीय स्रोतो की ओर ध्यान आकृष्ट किया तथा इस पर बल दिया कि संस्कृति की समूची पहचान तब तक संभव नहीं है जब तक कि उनके लोकवात्रिक स्रोतो की सही पहचान और वार्ता मे निहित व्यापक मानवीय सवेदना की सही परख न हो।

पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता पर विचार करते समय उसके मौखिक स्रोतो की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रासो की कथानक-रूढ़ियों के अध्ययन के आधार पर रासो के मूलरूप की कल्पना करने की बात की।

'लोकवार्ता' शब्द मे, लोकसाहित्य की समस्त विधाएँ, लोककलाए, लोकविश्वास और लोकपरम्परा आदि सभी कुछ समाहित है। इसीलिए 'लोकवार्ता' शब्द का ही प्रयोग अधिक समीचीन होगा। लोकवार्ता के अध्ययन से एक बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि हिन्दी का परिनिष्ठित, साहित्य संस्कृत प्राकृत परम्परा का ज्यों का त्यों अनुसरण नहीं है, उसमे लोकतत्वो का समावेश स्पष्ट है। साहित्य का 'आदिकाल' इसका उदाहरण है।

इसमे सन्देह नहीं कि साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी बदली। साहित्य की प्रवृत्तियों के अध्ययन मे शास्त्रीय ज्ञान से अधिक लोकवार्ता का महत्व स्वीकार किया गया। प्रारम्भिक साहित्य का आधार जनपदीय बोलियाँ तो थी ही इसलिये उस साहित्य

के अध्ययन में उस बोली के लोकसाहित्य और लोकविश्वास का प्रभाव स्वाभाविक ही था।

लोकसाहित्य का अध्ययन हिन्दी में प्रारम्भ में सर्वेक्षण के रूप में हुआ और यह सर्वेक्षण प्रायः प्रत्येक बोली के क्षेत्र में अलग-अलग हुआ, जो सबसे पहला सर्वेक्षणात्मक संकलन था। स्व० रामनरेश त्रिपाठी के लोकसाहित्य, गीतों के संकलन ने लोकसाहित्य का महत्व प्रतिपादित किया। इसके बाद भोजपुरी में महाराजकुमार दुर्गाशंकर सिंह, डा० कृष्णदेव उपाध्याय, डा० हंसकुमार तिवारी, अवधी में स्व० श्रीकृष्णदास, सत्यव्रत अवस्थी, इन्दुप्रकाश पाण्डेय, ब्रज में डॉ० सत्येन्द्र, बुन्देली में कृष्णानन्द गुप्त, मालवी में डा० श्याम परमार, गढ़वाली में डॉ० गोविन्द चातक, रमाप्रसाद घिल्डियाल पहाड़ी, शिवानन्द नौटियाल, कुमाऊनी में मोहन उप्रेती, त्रिलोचन पाण्डेय, कौरवी में कृष्णानन्द, राजस्थानी में नरोत्तम नागर, देवीलाल सामर, डॉ० महेन्द्र भानावत, मराठी में डॉ० प्रभाकर माचवे आदि के कार्य ने मार्गदर्शक भूमिका निभायी।

ये सभी प्रारम्भिक अध्ययन क्षेत्रीय परिधि में सीमित रहे और कहीं-कहीं इनके साथ एक अतिरिक्त भावावेश भी जुड़ा हुआ है। कुछ समाजशास्त्रियों ने एक अलग सांस्कृतिक भूमिका समझने की कोशिश की परन्तु एक समग्रता की दृष्टि से लोकवार्ता का तुलनात्मक अध्ययन अभी भी शैशवावस्था में है और इस क्षेत्र में संभावनाएँ बहुत हैं। इनमें से कुछ को रेखांकित करने का प्रयत्न यहाँ किया जायेगा।

विभिन्न लोकवार्ताओं में समान और सदृश बिन्दुओं को ढूंढकर उनका मूल रूप क्या हो सकता है? इसका प्रत्याकलन या रिकान्स्ट्रक्शन किया जाय तो सांस्कृतिक विकास-यात्रा की दिशाओं और प्रारम्भिक बिन्दुओं को समझने में कुछ सुविधा होगी।

उदाहरण के लिए इस प्रकार के कार्य से ये बातें जाँची जा सकती हैं। आदिम मनुष्य प्रकृति के साथ किस प्रकार जुड़ा था और अपने आस-पास के जीवन के साक्षात्कार की उसकी क्या प्रतिक्रिया थी? उसकी मूल आदिम वृत्तियों (भय, भूख, काम) में से कौन सी वृत्ति प्रबल थी और वृत्ति की अभिव्यक्ति के लिए किस प्रकार के कलात्मक माध्यम का वह प्रयोग करता था इसकी जाँच हो। इसके साथ ही जिस प्रकार ऐतिहासिक भाषाविज्ञान में मूल रूप के प्रत्याकलन से न केवल भाषा की निरन्तरता और परिवर्तनशीलता की जाँच होती है प्रत्युत उसकी उस संस्कृति की भी और उस संस्कृति में निहित वैचारिक प्रक्रिया की विकास यात्रा की भी जाँच आसान हो जाती है, क्योंकि प्रत्येक ऐसी जाँच के लिये प्रारम्भिक बिन्दु चाहिये। उसी प्रकार लोकवार्ता के क्षेत्र में मूलरूप के प्रत्याकलन से (चाहे वह मूल रूप अभिप्राय के रूप में हो, 'प्रतीक रूप में हो 'लय' रूप में हो, शब्द-रूप में हो या रचाव के रूप में हो) लोकमन के क्षेत्र के विस्तार की जाँच सुगम हो जाती है और उसमें मनुष्य की यात्रा की दिशा को पहचानना सुगम हो जाता है।

एक उदाहरण से यह बात और स्पष्ट होगी कि विभिन्न लोकसाहित्यों में मातृ-शक्ति की अवधारणा भयावह और वत्सल दोनों रूपों में की जाती है। वही महामारी पैदा करती है, वही माँ की तरह पोषण भी करती है। चूंकि यह द्वैत एक ही तरह कई क्षेत्रीय लोकवार्ताओं में मिलता है इसलिये यह कल्पना की जा सकती है कि आदिम

रूप में भय और आदर एक ही मनोवृत्ति के दो पहलू रहे होंगे।

लोकवार्ता के तुलनात्मक अध्ययन की दूसरी संभावना वाली दिशा भारतीय संदर्भ में यह है कि लोकसंस्कृति और शास्त्रीय संस्कृति में कैसे विनिमय हुआ, कितना और कहाँ हुआ? इससे पता चलेगा कि उस क्षेत्र में सार्वजनिक जीवन का स्तर कैसा रहा, कितनी सामाजिकता थी, कितना सामाजिक विघटन था? यदि दोनों में परस्पर विनिमय नहीं हुआ तो निश्चित ही दूरी बढ़ी और दो वर्ग हुए। कारण यह कि दोनों में परस्पर विनिमय नहीं हुआ, संवाद नहीं हुआ। पर दो सामाजिक स्तर होते हुए भी यदि परस्पर संवाद है तो निश्चय ही विनिमय हुआ। इतिहास की दृष्टि से इस प्रकार के सामाजिक विनिमय के अध्ययन से बात स्पष्ट हो सकती है।

यह अध्ययन भी अपेक्षित है कि कौन सी चीज शास्त्र में नहीं मिलती पर लोक में मिलती है। या कुछ समय पहले शास्त्र में थी अब नहीं है अब केवल लोक में है। जैसे आज भी लोकगीतों में प्रश्नोत्तर शैली मिलती है, जिसका एक उदाहरण देना चाहूँगी—

काहे बिन सून दुअरवा ए बाबा, काहे बिन सून सखरांव,
काहे बिनु सून अँगनवाँ ए बाबा, काहे बिनु पोखरा सुहार।
पूत बिनु सून दुअरवा ए बेटी, कोइलरि बिनु सखरांव,
धिया बिनु सून अँगनवाँ ऐ बेटी, हंस बिनु पोखरा हमार।

× × ×

कभी यह प्रश्नोत्तर-शैली वैदिक साहित्य में थी, फिर साहित्य में छूट गयी पर अभी लोकसाहित्य में है। फिर इसे साहित्य में लने का प्रयोग किया जा रहा है। भाषा व्यवहार के स्तर पर एक उदाहरण लें—

पाणिनि के व्याकरण में दुबारा जोतने को 'शम्बा करोति' कहते हैं। जनभाषा भोजपुरी, अवधी में इसे 'सोमरा करना' कहते हैं। संस्कृत में तीन बार करने के लिए 'त्रि कृत्वं करोति' कहते हैं। भोजपुरी में तिखरा करना तीसरी बार खेत जोतने को कहते हैं। अवधी में तिखारना बात को स्पष्ट करने के लिए, फिर दुहराने को कहते हैं। तीन तिरवाचा भरवाना वचनबद्धता के लिये कहते हैं। संस्कृत में 'बीजा करोति' बीजा मिलाने के लिये कहते हैं, लोकभाषा में 'बीया मेरना' कहते हैं।

लोक और शास्त्र के विनिमय के अध्ययन का एक पक्ष यह भी है कि पौराणिक मिथकों का लोकभाषा में किस प्रकार रूपान्तर हुआ है? इसका अध्ययन किया जाय और जाँचने की कोशिश की जाय कि स्वयं पौराणिक मिथकों के आधार वे मिथक हैं, जो लोकवार्ता में सुरक्षित हैं। उनका विभेदीकरण या नये ढंग से सश्लेषीकरण कहीं बाद में पुराणों में तो नहीं हुआ है? उदाहरण के लिए 'कुवार (आश्विन) में हस्त नक्षत्र में चौदह दिन तक हथिया की 'कहानी' एक अनुष्ठान के रूप में कही जाती है। इस पर्व लोक-कथा का रूप बहुत कुछ आनुष्ठानिक मंत्र की तरह स्थिर है। इस कथा में कुल इतनी बात है कि शिव पार्वती विवाह या महाभारत की कथाओं को एक दूसरे पर कुछ हद तक आरोपित किया गया है और कुछ एक दूसरे में अनुस्यूत किया गया है। इसके दो कारण हो

सकते हैं। 'हथिया' की 'कहानी' वाला रूप ही मूल प्रारूप हो सकता है या दूसरा विकल्प यह है कि पौराणिक कथाओं का एक विपर्यस्त रूप लोककथा मे परिवर्तित होकर स्थिर हो गया है। अकेले इस कथा मात्र से निष्कर्ष निकालना सम्भव न होगा। इसी तरह और कथाओं को समानान्तर पौराणिक कथाओं के आमने-सामने रखकर देखना होगा। तब यात्रि के आधार पर कोई विकास का नियम निकाला जा सकता है। यह बात पश्चिम के बेन्फी जैसे विद्वानो ने स्वीकार की है कि विश्व मात्र मे लोककथाओं का स्रोत भारत की लोककथा है। इसी से मिथकों की सृष्टि हुई, गाथाओ (बैलेड्स) का उद्भव हुआ। इसी से अनुप्राणित होकर काव्य लिखे गये, पशु कथाए रची गयी, प्रेम-कथाएँ और प्रेम-गाथाएं विकसित हुईं। यही ईरान, अरब, मिश्र होते हुए भूमध्यसागर देशों मे पहुँची, योरोप मे फैली और दूर भारतीय जिप्सियों के साथ यात्रा करते करते मैक्सिको तक इसका प्रसार हुआ। प्रसार के इन सभी पड़ावों का तुलनात्मक अध्ययन न केवल रोचक होगा, वह संस्कृति की विकसन-प्रक्रिया और समुदाय की अन्तर्भूत एकता का निदर्शन भी होगा। स्वय भारत में कथा-सरित्सागर जातक, पञ्चतन्त्र हितोपदेश को एक ओर रखें और दूसरी ओर देश भर मे फैले हुए लोककथाओं के वितान को रखें तो परस्पर प्रभाव का परीक्षण हो सकता है और सिद्धान्त की पुष्टि मे नये प्रमाण मिल सकते हैं कि भारत मे आदिम 'आखेटक संस्कृति से 'गोपालन', गोपालन से कृषि कृषि से नगर संस्कृति तक की यात्रा सीधी एक रेखा मे नही हुई है बल्कि एक वृत्त के रूप मे है। नगर संस्कृति, जिसे महा संस्कृति कहते हैं, ग्राम संस्कृति (छोटी या क्षेत्रीय संस्कृति) से प्रभावित हुई है और ग्राम संस्कृति भी नगर संस्कृति से प्रभावित हुई है। इस देश मे लोक और शास्त्र के आदान-प्रदान के प्रमाण वैदिक वाङ्मय से ही मिलने लगते हैं।

इस दृष्टि से लोकवार्ता के विविध पक्षो और विधाओं के बीच भी यह अन्वेषणीय है कि कौन सा पक्ष या कौन सी विधा इतना प्राचीनतम रूप संजोए हुए है। उदाहरण के लिए संस्कार गीत शैली और कथ्य की गरिमा दोनो स्तरो पर वैदिक मत्रो की गहन छाप लिए हुए हैं। उनमे परिवर्तन भी बहुत कम हुआ। यही कारण है कि संस्कार-गीतो मे और या सभा जगाने वाले आवाहन गीत अधिक प्राचीन रूप मे है जब कि ऋतु पर्व के गीतों मे समकालीनता का दबाव स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ेगा। इन गीतों में मुगलो का उल्लेख मिलेगा अंग्रेजो का उल्लेख मिलेगा। बैरी रेलिया जहजिया' का उल्लेख मिलेगा, इन दोनों प्रकार के गीतों की शैलियों मे भी बहुत अन्तर दिखेगा और इस अन्तर को समझने से साहित्यिक अभिव्यक्ति की यात्रा को भी समझना अधिक आसान हो जायेगा।

प्रो० वेरियर एल्विन के अनुसार भारतीय लोककथा और *लोकगाथा साहित्य को* समस्त एशियाई देशों के लोकसाहित्य के साथ मिलाकर देखा जाय तो यही पता चलेगा कि वस्तुत शैली तथा योजना, अभिप्राय और फलश्रुति इन सभी मे अद्भुत समानता दृष्टिगोचर होती है। अतएव तुलनात्मक अध्ययन का एशियाई पक्ष भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि समानता जहाँ मिलती है वहीं सूक्ष्म भेदो और

रुपों की पहचान भी की जा सकती है। अनुमान के बीच ठीक ठीक क्षेत्र के आधार पर विभेदक लक्षण ढूँढना कुछ अधिक मुश्किल होता है। जिस तरह से राम-कथा की यात्रा के ऊपर अनुसंधान हुए हैं और हो रहे हैं या जातक कथाओं के विभिन्न रूपान्तरों के ऊपर कार्य हो रहे हैं उसी प्रकार वर्तमान काल में उपलब्ध लोकवार्ताओं की यात्रा के विकास-क्रम भी निर्धारित किये जा सकते हैं और इस निर्धारण में लिखित साहित्य का अवलम्ब लेने की आवश्यकता बढ़ सकती है।

लोकवार्ता शोध का एक और लगभग अल्प समीक्षित क्षेत्र है लोकनाट्य व लोक-मंच। भरत के नाट्य शास्त्र में नाट्यधर्मी और लोकधर्मी, मार्गी और देशी दो परम्पराओं का उल्लेख है और भरत की रंग प्रस्तुति में दोनों की भूमिका स्वीकार की गयी है। नाट्यधर्मी का अर्थ है शास्त्र में संहिताबद्ध (कोडीफाइड) विधान नाट्यधर्मियों के हैं। जो लोक-व्यवहार से सीधे लिए जाय वे लोकधर्मी होते हैं। दोनों में से किसी भी एक के बिना काम नहीं चलता। परम्परागत नाट्य पर डा० कपिला वात्स्यायन ने एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी है जिसमें उन्होंने प्रतिपादित किया है कि भरत के शास्त्र का यदि कहीं भी प्रयोग अवशेष है तो वह लोकनाट्य रूपों में है या लोकवाचन रूपों में क्योंकि बहुत से क्षेत्रीय वाचन ऐसे हैं जिनमें आंगिक अभिनय और सात्विक अभिनय साथ साथ चलते रहते हैं। छत्तीसगढ़ के 'पंडवानी गायक या मिर्जापुर के 'लोरिकायन गायन, अवधी के 'चनैनी गायक या परम्परागत 'आल्हा गायक हो, इन सब में गायन के साथ-साथ किंचित अभिनय भी चलता रहता है। इन विविध दृश्य-श्रव्य प्रस्तुतियों को भरत के नाट्यशास्त्र के साथ रख कर देखें तो संस्कृत नाटकों में प्रस्तुति विधान के कई पक्ष बोधगम्य हो सकेंगे। सही तो यह है कि संस्कृत नाट्यशास्त्रधर्मी संकेत भी या तो मंदिरों के शिल्पों में मिलते हैं या तो कुछ-कुछ जन जीवन में प्रस्तुत होने वाले 'जात्रा 'रास', आंकिये नाटय' (असम का) की प्रस्तुतियों में साक्षात् देखने को मिलते हैं। लोकनाट्य ने सही माने में नाटयधर्मी और लोकधर्मी दोनों परम्पराओं की धरोहर न केवल सुरक्षित रखी है, बल्कि उन्हें नयी-नयी धाराओं से विकसित भी किया है।

डॉ० सुरेश अवस्थी और डॉ० इन्दुजा अवस्थी ने रामलीला प्रस्तुतियों का गहन अध्ययन करके यह प्रतिपादित किया है कि रामलीला की विभिन्न प्रकार की प्रस्तुतियों में नाट्य प्रस्तुति से एक विशेषता दिखाई पड़ती है कि वहाँ देश काल का प्रत्यय एक दूसरे प्रकार से कराया जाता है। वहाँ प्रेक्षक लीला में स्वयं प्रतिभागी होता है, नाट्य के प्रेक्षक की तरह अचल बैठा नहीं रहता। वह लीला के देशकाल में अपने को स्थापित कर देता है इसलिए रामलीला के मैदान में स्थान अलग-अलग निर्धारित हो जाते हैं अयोध्या, चित्रकूट, अशोकवाटिका, लंका राम का शिविर—यह सभी अलग अलग स्थापित हो जाते हैं।

यह तो परम्परागत प्रभाव के अन्वेषण की बात हुई। पारसी थियेटर के माध्यम से पश्चिमी रंगमंच का जो प्रभाव नौटंकी जैसे नाट्य मंच पर पड़ा है उसको भी अन्य रूपों के साथ तुलनात्मक दृष्टि से जाँचने की आवश्यकता है। केवल उनकी सूची इकट्ठी

कर देने से विशेष बात नहीं बनती। इन नाट्य-रूपों के सामाजिक प्रभाव का भी आकलन करने की आवश्यकता है। विदेसिया', स्वांग, 'भगत, 'नौटंकी' इन सभी ने समसामयिक समस्याओं के यथार्थ का साथ पर सहज ढंग में व्यक्त किया है और उसका कितना प्रभाव और उसकी कितनी भूमिका समाज के उद्वेलन और परिवर्तन में रही है इसकी खोज अलग अलग क्षेत्रों में की जानी है।

सामाजिक कुरीतियों और अन्यायपूर्ण व्यवस्था के विरुद्ध व्यंग्य प्रस्तुत करते हुए अवधी क्षेत्र में कहिंरा नाच होता है। यहाँ कुछ ही संभावनाओं के संकेत दिये गये हैं, वैसे और भी संभावनाएँ हो सकती हैं पर तुलनात्मक शोध की नयी संभावनाओं के अन्वेषण का तथ्य एक माँग करता है कि लोकवार्ता के सम्बन्ध में एक व्यापक और सम्पूर्ण मानसिकता जिसके पास नहीं वह तुलनात्मक विश्लेषण के साथ न्याय नहीं कर सकता। इस मानसिकता के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि अपनी परम्परा का सम्यक बोध हो, उसे समझे बिना अस्वीकार करने का दुराग्रह न हो।

एक बात और है कि लोकवार्ता की प्रामाणिकता भी सुरक्षित रहनी चाहिए। अपने मन से उसमें कोई परिवर्तन करने की छूट नहीं होनी चाहिये।

इसका अर्थ यही है कि अपने प्रयोजन से उसमें जोड़ने-घटाने की मनोवृत्ति हमारी नहीं होनी चाहिए। मूल रूप के कई-कई पाठों का संकलन ठेठ ग्रामीण क्षेत्रों से करना चाहिए।

इसके लिए लोकवार्ता के एक राष्ट्रीय अभिलेखागार (आरकाइव) की स्थापना अत्यन्त आवश्यक है। कुछ क्षेत्रों में तो प्रशंसनीय कार्य हुआ भी है जैसे उदयपुर (राजस्थान) में स्वर्गीय देवीलाल सामर ने किया है। आदिवासी क्षेत्रों के लिए इस प्रकार का काम राँची में हुआ है, भोपाल में 'भारत भवन' में भी एक खण्ड में लोकचित्रों का लोकशिल्पों का संकलन है जो प्रसिद्ध कलाकार स्वामीनाथन के कल्पनाशील मस्तिष्क से व्यवस्थित किया गया है।

केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी नई दिल्ली और उ० प्र० संगीत नाटक अकादमी, लखनऊ ने तथा दिल्ली के राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ने लोकनाट्य परम्परा को रंगमंच से जोड़ा है और कई प्रयोग किये हैं। इस दिशा में श्री इब्राहीम, अल्का जी, श्री बी० वी० कारंत आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। लोकमंच से जुड़ी कई प्रतिभाएँ आज इस क्षेत्र में साधनारत हैं।

परन्तु राष्ट्रीय स्तर पर यह कार्य होना अभी शेष है और इसके लिए समस्त लोकवार्ता क्षेत्र के अध्येताओं को एक स्वर से माँग करनी चाहिये कि इस प्रकार के अभिलेखागार शीघ्र बनवाये जायें और लोकवार्ता के विविध रूपों के प्रामाणिक अभिलेख टेपों, चित्रों, फोटोग्राफों और लिपिबद्ध रूप में समाकलित करके सुरक्षित कर लिये जायें।

भोजपुरी लोकगीत और सामाजिक चेतना



ब्रजमोहन सिंह

लोकसाहित्य में लोकगीत की अपनी महत्वपूर्ण भूमिका है। आज का साहित्य अपनी सभ्यता का चाहे जितना ढोल पीटे परन्तु लोकगीतों के महत्व को नकारा नहीं जा सकता है। जहाँ तक भोजपुरी लोकगीत का सवाल है उसकी अपनी जमीन है, अपनी गंध है और विशेष प्रकृति है। जन-जीवन से जुड़कर उसकी सार्थकता सिद्ध होती है। यदि लोकगीत लोकधर्मी नहीं है, जन-जीवन को व्यापक रूप से संवेदित नहीं करता है तो वह सच्चे अर्थों में लोकगीत नहीं है। क्योंकि उसकी लय जीवन की लय होती है और वह गहरे रूप से लोक-व्यापार एवं लोकरुचि से जुड़ा होता है। लोकगीत का उद्‌भव भले ही 'श्रम परिहरण सिद्धांत' से जुड़ा हो, प्रकृति-प्रेरित हो या मन के आकुल कंठ से फूटा हो पर उसे व्यापक सामूहिक जीवन से जुड़ा होना चाहिए।

लोकगीतों की एक लम्बी परम्परा है। कुछ लोकगीत सदियों से जन मानस के कंठ से जुड़े हुए आज भी आ रहे हैं और कुछ विस्मृति के गर्त में सदा के लिए दब गए हैं। सामाजिक चेतना एवं व्यवहार के परिवर्तन के साथ-साथ लोकगीत भी बदलते रहे हैं। अगर विवाह के पारम्परिक उत्सव और रूप समाप्त हो जाएँ तो उनसे जुड़े लोकगीत भी धीरे-धीरे समाप्त हो जायेंगे। डॉ॰ नामवर जी का कहना सही लगता है कि 'इसमें कोई शक नहीं कि मशीनी युग ने लोकसाहित्य विशेषतः लोकगीतों की रचना को गहरा धक्का पहुँचाया है जहाजरानी और रेल ने हमारे देश के मध्ययुगीन नौका-व्यापार को इतनी गहरी ठेस पहुँचाई कि अब नावों की लम्बी यात्रा भी समाप्त हो गई और उनके साथ साथ उन यात्राओं की कहानियाँ और गीत भी चले गए आधुनिक युग की मशीनों से हमारा रागात्मक सम्बन्ध इतना गहरा नहीं हो सका है कि वे लोकगीतों के प्रेरक बन सकें। बिजली की रोशनी फैल चुकी है फिर भी मिट्टी का दीया ही हमारी कल्पनाओं और भावों का सम्बल है।' (इतिहास और आलोचना, पृ० १२७) उनका इशारा है कि ऐसी परिस्थिति में यह भी संभव है कि बदलते हालात में लोकगीत नए रूप धारण कर लें। मशीनों के प्रतिक्रिया स्वरूप जन्मे लोकगीतों में रेल को सौत और बैरी तक कहा गया है। इस तरह हम देखते हैं कि जन जीवन में परिवर्तन के साथ-साथ लोकगीत में भी परिवर्तन हो सकता है। किन्तु केवल जन जीवन से लोकगीत प्रभावित होता हो और जन-जीवन को प्रभावित नहीं करता हो—ऐसी बात नहीं है। लोकगीत जीवन को सम्पूर्णता के साथ देखता है और ऐसी टिप्पणी या परामर्श भी देता है जिससे मानव अपने संघर्ष

ए सहम हो एवं विभिन्न किसी रूप में मानवीय शोषण के विरुद्ध प्रतिक्रिया का भाव भी जगाता है।

लोकगीत निबद्ध भी होते हैं और परम्परा से लोकमानस की जिह्वा पर बसते भी जाते हैं। कबीर की सारी रचनाएँ रागमयादाबद्धिनी हैं जिनमें लोकगीत भी हैं। लोकगीतों के बारे में यह धारणा है कि वे लोकसमूह द्वारा रचित होते हैं। तब सवाल यह भी उठता है कि लोकगीत व्यक्ति रचित है या समूह रचित। वस्तुतः जब हम लोकगीत को जनता द्वारा रचित कहते हैं तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि एक समूह बैठ कर उन गीतों की रचना करता है। निश्चित रूप से लोकगीतों का रचयिता कोई-न-कोई व्यक्ति ही होता है पर उसका व्यक्तिपरक अस्तित्व सामूहिक अस्तित्व में बदल जाता है। लोक-साहित्य में रचयिता का व्यक्तित्व लोकभाव में तिरोहित होकर लोकस्वरूपी हो जाता है। जहाँ भी लोकगीत में व्यक्ति व प्रमुख हो और समूह गौण हो उस लोकगीत को गरिमा प्राप्त नहीं होगी। व्यक्ति की वाणी धीरे धीरे लोकवाणी बन जाती है। भोजपुरी लोक-साहित्य में भिखारी ठाकुर का ऐसा ही स्थान है जिन्हें राहुल सांकृत्यायन ने भोजपुरी का शेक्सपीयर माना है। इस लोकवाणी में क्रमशः नए अंश जुड़ते हैं और संशोधन भी होते हैं। इस तरह किसी गीत का सृजन एक व्यक्ति ही करता है पर उसमें लोकतत्व इतने प्रभावी होते हैं कि कालान्तर में वह सर्जक के नाम से जुड़ा न रहकर लोक का बन जाता है। इस तरह लोकगीत में सामूहिक संवेग की अभिव्यक्ति होती है। यह तथ्य है कि मनुष्य ने अपने मूल भावों की अभिव्यक्ति सदैव ही सामूहिक गीतों में की है। प्रकृति को अपने अनुकूल बनाने और प्रकृति के अनुकूल स्वयं बनने की प्रक्रिया में गीतों का उद्भव हुआ। आदिम काल में फसल की कटाई हो या शिकार के लिए प्रयाण—सारी प्रक्रियाएँ सामूहिक नृत्य गान के द्वारा पहले ही दुहरा ली जाती थीं और तब दूने जोश के साथ उस काम में लोग लग जाते थे। फलतः श्रम का बोझ हल्का हो जाता था। इस तरह गीतों की अभिव्यक्ति सामूहिक संवेग के रूप में हुई। मनुष्य शुरू से ही समूह में रहता आया है। फलतः सामूहिक अभिव्यक्ति होना स्वाभाविक ही है। पर यह सावधानी रखनी चाहिए कि लोकगीत को आदिम मानव, आदिम प्रवृत्ति या आदिम मानस का पर्याय नहीं माना जाए। लोकगीत आदिम गीत की अपेक्षा विकसित समाज व्यवस्था की उपज है। यह बात दूसरी है कि लोकसाहित्य ने आदिम साहित्य की विरासत संभाली है।

सामूहिक अभिव्यक्ति से सम्बद्ध होने के कारण लोकगीत में सामाजिक चेतना के विकास को देखा जा सकता है। अभी तक भोजपुरी लोकगीतों का अध्ययन मनोरंजन गीत, उत्सव गीत या संस्कार गीत के रूप में ही प्रचुर मात्रा में हुआ है। भोजपुरी से सम्बद्ध विद्वज्जनों की अधिकांश संख्या उसे 'ननदी भउजी' का ही गीत मानती रही है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि भोजपुरी के वर्तमान आंदोलनकर्ता व्यवस्था-समर्थक रहे हैं। उन्हें अपने समय और समाज के यथार्थ से क्या लेना देना? यह भोजपुरी लोक-गीतों के अध्ययन की वर्तमान सीमाएँ हैं। शुरू के दौर में राहुल सांकृत्यायन, पं० राम-नरेश चतुर्वेदी, आचार्य ह० प्र० द्विवेदी उदयनारायण तिवारी, कृष्णदेव उपाध्याय ने

अपने ढंग से बहुत अच्छे काम किए जिससे आज आगे जाने की जरूरत है। आखिर यह सामाजिक चेतना है क्या ? हमारा आशय चेतना के दार्शनिक या मनोवैज्ञानिक रूप से नहीं है जैसा कि बहुत भाववादी विचारकों ने इस्तेमाल किया है। मेरी दृष्टि में चेतना का सीधा और स्पष्ट सम्बन्ध पदार्थ से है। चेतना के द्वारा ही मनुष्य अपने चतुर्दिक जीवन जगत् का ज्ञान प्राप्त करता है और अपने व्यावहारिक क्रिया-कलाप को सोद्देश्य बनाता है। मनुष्य की सामाजिक चेतना का मतलब है—जीवन जगत् के साथ उसका संपर्क। जैसे जैसे जीवन जगत् के साथ यह संपर्क विकसित होता है वैसे-वैसे मनुष्य की सामाजिक चेतना का विकास होता है। सामाजिक चेतना तथा मनुष्य के बौद्धिक जीवन का स्वरूप समाज की आर्थिक भौतिक परिस्थितियों द्वारा निर्मित होता है और दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। राजनीति, धर्म, टेक्नोलोजी, विज्ञान, कला, दर्शन, धर्म सभी सामाजिक चेतना के अंतर्गत आते हैं। सामूहिक जीवन की जटिलता के साथ साथ सामाजिक चेतना का स्वरूप भी नानारूपी और जटिल है। जब हम सामाजिक चेतना के किसी भी रूप का वर्णन करते हैं तो उसका आधार भौतिक जीवन ही होता है। अतः सामाजिक चेतना वर्ग समाज में चलने वाले वर्ग-संघर्ष को प्रभावित भी करती है। साहित्य समाज से प्रभावित होता है तो वह समाज को भी प्रभावित करता है। इस द्वंद्वात्मक प्रक्रिया के चलते साहित्य केवल मनुष्य की चेतना की उपज नहीं है बरन् वह मनुष्य की चेतना का निर्माण और विकास भी करता है। इस संदर्भ में साहित्य मनुष्य की सामाजिक चेतना की उपज है तो सामाजिक चेतना को उभारने वाला भी। लोकसाहित्य व्यक्ति को उसकी वैयक्तिक चेतना से मुक्त कर उसकी सामाजिक चेतना को जगाता है और सामूहिक चेतना को व्यापक तथा गहरा बना जा है। यह व्यापकता और गहराई समाज में चल रहे जन संघर्षों के दौरान स्पष्ट रूप से देखा जा सकती है। आज हम जिस युग परिवर्तन और संकटमय समय में जहाँ खड़े हैं वहाँ लोकगीतों के सामाजिक आशय की खोज प्रासंगिक है।

जिस तरह हिन्दी साहित्य का स्वच्छंदतावादी आन्दोलन सामंतवाद एवं साम्राज्यवाद विरोध के रूप में चलता है उसी तरह भोजपुरी का लोकसाहित्य भी विरोध का स्वर बुलन्द करता है। मेरे लिए भोजपुरी के लोकगीतों का इतिहास प्रस्तुत करना उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि उनके सामाजिक चेतना के बिन्दुओं को उभारना। भोजपुरी लोकगीतों मे १८५७ के विद्रोह और स्वाधीनता संग्राम के प्रथम उन्मेष की झंकरित लय सुनाई पड़ेगी। भोजपुरी क्षेत्र में कुंवर सिंह एवं रानी लक्ष्मीबाई स्वाधीनता आंदोलन के प्रतीक थे। आज भी भोजपुरी गाँवों में फागुन के महीने में यह 'फाग' गाया जाता है— 'बाबू कुंअर सिंह तोहरे राज बिना अब ना रंगइबो केसरिया।' जिस १८५७ के गदर में गाय और सूअर की चर्बी की बात की जाती है उसकी एक झलक आप नीचे देखें—

लिखि लिखि पतिया के भेजलन कुंवर सिंह
ए सुनु अमर सिंह भाय हो राम

चमड़ा में टाँटवा दाँत से हो काटे कि
धरती में धरम नसाय हो राम।

लोकगीतों में किस तरह इतिहास सुरक्षित रहता है उसका उदाहरण है ये। साम्राज्यवादी शोषण के खिलाफ जब महात्मा गाधी चपारण म निलहे साहबो के खिलाफ आंदोलन चलाते हैं तो उसकी मार्मिक अभिव्यक्ति इन लोकगीतों मे होती है—

'भइल निलहवन के राज
अब कइसे जीयबू बकरियो।'

कहा जाता है कि नील की खेती में शोषण के विरुद्ध आवाज उठाने वाले स्थानीय जनता की बकरियों को लेकर ये अंग्रेज उस अलगडा मवेशियों के फाटक म बद कर देते थे। आज हमें आज़ादी मिल चुकी है। भारतीय जनता ने इस खोखली आज़ादी को कितना सटीक लोकोक्ति के माध्यम से व्यक्त किया है जिसमे सामाजिक चेतना की प्रतिक्रिया सुरक्षित है—'लाचारी का नाम महात्मा गाधी, जबर्दस्ती का नाम जयप्रकाश।' गाधी और जयप्रकाश की राजनीति का अर्तविरोध इसमे आपको मिल जायेगा। आज जब सत्ताधन द्वारा वोटों की खरीद, बिक्री होती है तब उन हालात म भोजपुरिया जनता को अपनी आवाज सत्ताखोर नेताओं की कलई खोल देती है। वह कहता है कि पैसा ल लो, उसकी बात भी सुनो पर काम वही करो जो तुम चाहते हो—

'खा लेना, पी लेना, सुन लेना जी
कोठरिया मे जाके बदल जाना जी।'

जब हम सुनते हैं कि बिलाई भइलि भगतिन छो चूहा खा के तो लोकमानस की यथार्थ भरी दृष्टि सामने आ जाती है जो किसी भी ढोंग, पाखंड को बेनकाब कर सकती है।

गरीबी और भूख की मार ने, पूँजीवादी शोषण ने भारतीय श्रमिक जनता के जीवन को अमानवीय बनाना भी शुरू कर दिया है। अमानुषीकरण की प्रवृत्ति हमारे जीवन म इतनी बढ़ती जा रही है कि हम न बिरहा के गीतों पर सवेदित हो सकते है न कजरी की थाप पर उल्लसित। गरीबी और शोषण हमारे समस्त जीवन मूल्यों को विनष्ट करती जा रही है—

'महगी के मारे बिरहा बिसरि गइले
भूली गइले कजरी कबीर
देखि के गोरिया के उभरल जोबनवा
उठे ना करेजवा म पीर।'

मनुष्य का सारा सृजन सौन्दर्यात्मक मूल्यों से ही परिचालित होता है। सौन्दर्य की आराधना व्यापक जीवन से फाटकर नही की जा सकती है और यदि होती है तो हम सराह करती है। युगों से इस गरीबी की मार ने भोजपुरिया जनता के जीवन को अस्त-व्यस्त कर डाला है। वह ग्रामीण जनता जानती है कि उसका शोषण कौन कर

रहा है । भूख से तड़पते बच्चे की क्षुधा अब भगवान् नहीं बुझा सकते । समाज के सामंती-महाजनी चेहरे अब पहचान में आने लगे हैं—

'साझ बिहान के खरची नइखे मेहरी मारे तान
अन्न बिना मोरा लड़िका रोवे, का करि हे भगवान
करजा काढ़ि काढ़ि खेती कइली खेत पै सूखन धान
बैल बेंचि जिमदरवा के देलीं, सहुआ कहे बेइमान।

भारतीय लोकमानस लम्बे अरसों से रूढ़ियों से जकड़ा रहा है । धार्मिक रूढ़िवादी प्रवृत्तियां आज भी उसे पंगु बनाए हुए हैं जहाँ कि वह हर परिस्थिति में अपनी तड़पती गरीबी भरी जिंदगी के लिए अपने भाग्य को ही दोषी मानता है—

बाबा कासवा पोखर सब बदली
करम कइसे बदली ए राम

पर धीरे धीरे वैज्ञानिक प्रगति जन-चेतना में हो रहे बदलाव से वस्तुस्थिति भी बदल रही है । गाँव का वह आदमी अब बीमार पड़ने पर देवी दुर्गा के मन्दिर की देहरी पर, संत बाबाओं की पाखंडी कुटिया पर सर पटकने नहीं जाता वरन् डाक्टर के यहाँ दौड़ा जाता है । धीरे धीरे रूढ़ियाँ समाप्त हो रही है और नयी युग चेतना का संचार हो रहा है—

'हमार सजनी हो हमार सजनी
नसबंदी कराव हो हमार सजनी ।

भोजपुरी लोकगीतों में परदेश भागता गोबर, संघर्ष करती नारियां और दहेज की विभीषिका से सम्बन्धित अनेक मार्मिक लोकगीत मिलेंगे । उसके साथ ही आर्थिक सामाजिक-राजनीतिक अन्तर्विरोधों के बीच पिसती भोजपुरिया जनता की अंधेरी जिन्दगी में यह सवाल आग की तरह सुलग रहा है—

सभे केहु कहे रामा देशवा आजाद भइल
हमहूँ त जनतो कि होने का अजदिया

पर उस भोजपुरिया जनता को वह संगठित क्रान्ति अभी तक नहीं मिली है जो उसके जीवन में नयी आजादी की किरण ला सके । उसे उस संगठित आजादी की प्रतीक्षा है जो उसके जीवन में नया सूर्योदय ला सके । लोकगीतों की परम्परा जीवन की सच्चाई खोजने की परम्परा है जो न जाने कितने युगों से आ रही है और न जाने कितने हजार युगों तक जायेगी । जब तक जीवनधारा प्रवाहित होती रहेगी लोकगीत भी प्रभावित होते रहेंगे एवं सामाजिक चेतना से प्रभावित भी होंगे और उसे करेंगे भी ।

चित्र-कथा की विशिष्ट लोकशैली फड-चित्रण



रामकुमार

राजस्थान लोककलाओं का विपुल भण्डार है। लोक-शैलियों की लम्बी परम्परा के विविध रूप एवं रंग यहां मौजूद हैं। जहां एक ओर आधुनिकता की पकड़ राजस्थान की कलाओं में मजबूत होती जा रही है वहां परम्परागत कला शैलियों की निरन्तरता के लिए भी प्रयास कम नहीं है।

द्वारों पर लोक रूपांकन, घर के आंगन एवं दिवारों पर माडणा विवाह त्यौहार आदि मंगल-अवसरों पर चित्रांकन की प्रवृत्ति, खिलौनों पर चित्र, गणगौर पर माडणा, कावड, कठपुतलियों का प्रदर्शन इत्यादि विविध कलाएँ राजस्थान के सांस्कृतिक जीवन के अंग हैं। लोगों की स्वाभाविक कला रुचि एवं अभिव्यक्ति की ललक के परिणामस्वरूप रंगों-रेखाओं का एक विविध एवं रोचक संसार राजस्थान के जनजीवन में जीवंत रूप में झलकता है।

विविध लघु चित्र शैलियों के लिए सुपरिचित राजस्थान की अपनी एक अलग कला विधा भी है। चित्रों के माध्यम से कथा कहने की प्रवृत्ति के संदर्भ में पड़ चित्रण या पड चित्रण की लोकशैली अपने रंग संयोजन एवं कथा शिल्प के कारण अति लोकप्रिय लोककला शैली मानी जाती है।

फड चित्रण कपड़े या कैनवास पर किया जाता है। राजस्थान के लोक-देवताओं जैसे पाबूजी तेजाजी, रामदेवजी, आदि की जीवन गाथाएं इन चित्रों का विषय वस्तु होती है। राजस्थान के जनजीवन में इन लोक देवताओं की पूजा इसलिए होती है कि उन्होंने त्याग और शौर्य के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए शोषित एवं दलित ग्रामीणों के लिए अपने जीवन को न्यौछावर कर दिया। सदियों से इन लोक देवताओं का चमत्कारपूर्ण एवं त्यागमय जीवन राजस्थान के ग्रामीणों की प्रेरणा एवं श्रद्धा का स्रोत रहा है। फड बचवाना एक धार्मिक एवं पवित्र कार्य समझा जाता है।

राजस्थान के फड चित्रण में पाबूजी की पड अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। पाबूजी एक बहादुर एवं जनता की रक्षा के लिए बलिदान करने वाला महान् व्यक्ति समझा जाता है। स्वयं पाबूजी एक राजपूत एवं शासक परिवार में पैदा हुए लेकिन उन्होंने राजपरिवारों द्वारा गरीब जनता पर किये जा रहे अत्याचारों का विरोध किया। उन्होंने अपने जीवन की बलि गरीबों की रक्षा करते हुए युद्ध में दी।

पड चित्रण की बात करते समय किसी न किसी लोक-देवता के जीवन-[illegible] चर्चा जरूरी है। पाबूजी के जीवन पर प्रकाश डालें तो एक तथ्य उभरकर [illegible]

है कि जिस प्रकार पाबूजी आम ग्रामीण के छोटे से छोटे दु ख मे विफल जात थे कथा मे अनुसार एक गरीब ग्रामीण महिला देवली ने पाबूजी राठोड को एक काली घोडी भेंट दी और उनसे यह निवेदन किया कि उसका गव उसके पशुओं का जीवन जायला के राजा देवल के प्रकोप स बचाया जाये। राजा देवल की नजर उस काली घोडी को पाने पर थी। इसलिए उसने काली घोडी पाबूजी को भेंट कर दी। देवली ने यह भी कहा कि जब कभी उस पर सकट आयेगा, यह काली घोडी हिनहिनाकर आपको इस सकट की सूचना दे देगी। पाबूजी राठोड ने सकट के समय देवली की रक्षा का वचन दे दिया।

लम्बे समय तक पाबूजी को देवली की कोई सूचना नहीं मिली। इसी बीच पाबूजी राठोड की सगाई उमरकोट की राजकुमारी से तय हो गयी और विवाह का दिन भी निश्चित हो गया।

पाबूजी राठोड के विवाह के दिन जब वे मडप मे विवाह की रस्म पूरी कर रहे थे, काली घोडी ने हिनहिनाना शुरू कर दिया। पाबूजी ने विवाह स्थल से तुरत खडे होकर देवली को दिये वचन को निभाने के लिए उसके गाँव की तरफ अपने सहयोगियों के साथ कूच कर दिया।

पाबूजी का राजा देवल से युद्ध हुआ। देवली की गायें एव अन्य पशु पाबूजी ने छुडा दिये लेकिन उनके कई सहयोगी युद्ध में मारे गये और वे स्वय भी मारे गये। यद्यपि राजा देवल को भी भयकर हार का मुँह देखना पडा।

पाबूजी की पड पाबूजी के इस त्याग, शौर्य एवं बलिदान के अतिरिक्त उनके जीवन के अनेक सदर्भों को उजागर करती है जो उन्होने ग्रामीणो की जीवन रक्षा एवं उन्हे अत्याचारो से बचाने के लिए किये।

राजस्थान म गाँव गाँव और जंगलो तक मे पाबूजी के स्थान (पूजा स्थल) मिलेंगे। पाबूजी की पड को एक विशेष जाति के गायक (भोपा) बाचते हैं। रात्रि के समय सब लोग वहाँ एकत्रित हो जाते हैं जहाँ पड बाची जाती है।

गायक के हाथ मे छडी होती है जिससे वह कथा के दौरान उन दृश्यो की ओर सकेत करता जाता है जो पड पर चित्रित होते हैं। उसके साथ वह लोक वाद्य भी बजाता है। गायक की पत्नी या सहयोगी महिला लकडी पर लटकता दीपक लिए पड चित्रण को रोशन रखती है। यह युगल मधुर-स्वरो मे पाबूजी की कथा गाते हैं एव श्रोता एव दर्शक को फड चित्रण के माध्यम से कथा के प्रसंगो से जोडे रखते हैं। फड चित्रो की आमतौर से लंबाई ३६ फीट एवं चौडाई ४ फीट होती है।

पीले, लाल, भूरे एव तेज हरे रगो का इन चित्रो मे अधिक प्रयोग होता है। आकृतियो का अकन टेम्परा शैली मे होता है। बैकग्राउण्ड मे रग होते हैं। प्रसगो एव घटनाओ का अलग-अलग स्वरूप रेखाओ के माध्यम से उद्घाटित किया जाता है। रेखाओं स विभाजित हर प्रसग एव घटना अपने मे पूर्णता लिए होता है। चित्रो के किनारों को फूलों आदि के अकन से सजाया जाता है।

फड़ चित्रों की माँग न केवल परम्परागत इन गायकों द्वारा ही होती है बल्कि अब काफी संख्या में चित्र प्रेमियो द्वारा ये चित्र अधिक खरीदे जाते हैं।

परिणामस्वरूप व्यावसायिक रूप में फड़ चित्रो का निर्माण होने लगा है। व्यावसायिकता के कारण परंपरागत शैली में कुछ संशोधन भी हुए हैं। इस प्रकार कला-सामग्री विक्रेताओं एवं कला-प्रेमियों के लिए तैयार किये जाने वाले चित्रों की साइज छोटी होने लगी है अर्थात् परंपरागत लंबाई और चौड़ाई में परिवर्तन किये गये हैं। साथ ही मूल कथा के अनेक प्रसंग एवं घटनाएं भी छोड़ दी जाती हैं।

कुल मिलाकर फड़ चित्रों की तकनीक तो वही है परंतु कथा पर कम बल दिया जाता है। शैलीगत विशिष्टताओं पर अधिक जोर है। आकृतियाँ, रंग योजना एवं रूपांकन को वहीं परंपरागत शैली इन चित्रों में पायी जाती है। मूल तत्व सभी मौजूद हैं। लेकिन कथा जो कि प्रेरणा स्रोत रही है—गौण होती जा रही है। इसका कारण शायद चित्रों को पसंद करने वालों की आवश्यकता है।

गत कुछ वर्षों में कला-संसार में परिवर्तनों के कारण राजस्थान की लोकशैली फड़ चित्रण ने लोककलाओं में अपना विशिष्ट स्थान बनाया है।

४३-सी, इन्स्ट्रूमेण्टेशन टाउनशिप
कोटा-३२४००५ (राजस्थान)

★

नीलगिरि की वादियों में जनजातियाँ

□

डॉ० मधु धवन

भारत के दक्षिण में तथा तमिलनाड की उत्तरी सीमा पर स्थित नीलगिरि पर्वत अपनी अनेक विशेषताओं से युक्त है। नीलगिरि के पर्वतांचल में कई छोटे छोटे पहाड़ी इलाके हैं जिनमें नीलगिरि पर्वतमाला के हृदय में स्थित ऊटाकमंड', 'उदगमंडलम्' या उटकमंड अर्थात् ऊटी प्रमुख है।

नीलगिरि की रम्य वादियों में पलने वाली मुख्य तीन जातियाँ पायी जाती हैं। प्रथम उटकमंड अर्थात् ऊटी के टोडा, दूसरा ऊटी से उन्नीस किलो० मीटर दूर 'कुडकोटागिरि अर्थात् कुनूर के कोटा और तीसरी मिनोला के बारगास या बाडगास। 'टोडा और 'कोटा नीलगिरि की आदि जनजातियाँ हैं किन्तु 'बाडगास जाति बाद में आकर यहीं बस गयी।

'टोडा के निवास स्थान जो कि मुंड' या 'मंड' कहलाते हैं उटाकमंड अर्थात् ऊटी में ही पाये जाते हैं। कई सूत्र बटोरने पर हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि इसका नाम राजकीय वानस्पतिक उद्यान के टोडा गाव 'उथकामेतु' (जिसका अर्थ होता है 'एक प्रस्तरीय गाव) के नाम पर पड़ा। ऊटाकमंड का मंड शब्द भी इन्हीं के निवास स्थान मंड से निकला (पड़ा) है। गाव में केवल तीन-चार घर होते हैं जिन्हें मुंड कहते हैं। 'टोडा नाम के लिए भी मत मतान्तर है। कहा जाता है कि 'टोडा नाम 'कोडा का अपभ्रंश है। कोडावर का अर्थ पहाड़ों पर बसने वाला होता है। इतना ही नहीं तमिलनाड में इन्हें 'तूडा भी कहा जाता है क्योंकि इस प्रदेश में 'तूड वृक्ष होते हैं और इन्हें पवित्र माना जाता है।

ऊटी से २६ किलोमीटर की दूरी पर स्थित कुडकोटागिरि अर्थात् कुनूर के कोटा अपने नाम की उत्पत्ति इस प्रकार बताते हैं। 'कोटा शब्द 'को से उत्पन्न हुआ है। को या 'गो का अर्थ होता है गाय। कोटा अपने नाम की उत्पत्ति इसी से मानते हैं। बाडगास के बारे में यह कहा जाता है कि कर्नाटक प्रदेश की जन जाति है जो किसी समय वहाँ से खदेड़ी गयी थी।

नीलगिरि के 'टोडा' आज भी अपनी पारम्परिक पद्धति को अपनाये हुये हैं। इनका मुख्य पेशा भैंस पालन है अर्थात् चरवाहे हैं। बड़े-बड़े सींगोंवाली भैंसों को पालते हैं। सभी भैंसों को पवित्र पूजनीय माना जाता है किन्तु जिस भैंस का रंग भूरा, सींग बड़े और नीचे की ओर हों उस भैंस को विशेष श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। दुग्धशालाओं या यों कहें भैंसबाड़ा अर्थात् भैंसों के बांधने के स्थान को भी पवित्र-पूजनीय

माना जाता है। भैंसों को पालने का काम केवल पुरुष ही करते हैं। स्त्रियों को अपवित्र समझ उन्हें इन स्थानों में आने नहीं दिया जाता। अब दूध दुहने का कार्य भी पुरुष ही करते हैं। इस प्रकार पेशा पिता से पुत्र को मिलता है। आज भी यदि इन्हें पूछा जाये तो अपने ही पेशे को करना चाहते हैं।

'टोडा' लोगों की ही भांति ही 'कोटा' भी हैं। इनका मुख्य पेशा टोकरी बुनना है। ये अच्छे कलाकार और शिल्पी हैं। लुहार और कुम्हार का कार्य बड़ी निपुणता से करते हैं। स्त्रियाँ बच्चों का पालन पोषण करती हैं। नृत्य-संगीत इनके जीवन का अभिन्न अंग है। कोटा के संगीतकार उत्तम कोटि के बढ़ई भी होते हैं। अपने वाद्य स्वयं बनाते हैं। धातु पर कई कलाकृतियाँ बनाते हैं। कोई कोई कलाकृति बेजोड़ मास्टर पीस भी होती है। आज भी उनके पास अपना प्राचीनतम वाद्य मौजूद है जिसे बड़े यत्नपूर्वक रखा हुआ है। आजकल खेती बाड़ी भी करने लग गये हैं।

मिलोना व बाडगास का मुख्य पेशा कृषि है। बाडगास पुरुष गाँव से बाहर जीविकोपार्जन के लिए भी जाते हैं। गाँव का मुखिया गाँव के बुजुर्गों के साथ जाति-बिरादरी का पथ प्रदर्शन करता है। मुखिया की पत्नी भी नारियों को सलाह मशवरा देती है।

आज भी खान पान, रहन सहन तथा वस्त्राभूषणों में इनकी संस्कृति और परम्परा की पूर्ण झलक मिलती है। टोडा नर नारी आज भी सफेद धोती पहनते हैं। एक उत्तरीय रखते हैं जिसे पुटुकुली या 'पुत्तुकुली' कहा जाता है। यह पुतुकुली लाल किनारे की सफेद धोती होती है जिस पर टोडा स्त्रियाँ काले और नीले धागे से कढ़ाई करती हैं। 'कोटा' लोगों का पहनावा भी कुछ ऐसा ही है। 'कोटा' की स्त्रियाँ दो सफेद धोतियाँ अपनी कमर में बांधती हैं। एक पेटीकोट का काम करती है। ब्लाउज पहनने की प्रथा इनमें भी नहीं है। एक उत्तरीय वस्त्र लेती हैं जो वरद कहलाता है। 'वरद छोटी जरी की किनारी वाली सफेद धोती होती है जिसे पुरुष भी इस्तेमाल करते हैं। 'कोटा' लोग योइलव' वृक्ष के धागे से बुनकर कपड़ा पहनते हैं। 'बाडगास' नारियाँ भी कमर पर टुंडु और उत्तरीय 'मुंडु' पहनती हैं। ब्लाउज का चलन नहीं है। एक सफेद छोटा 'पट्टू सिर पर बांधती हैं। नर सफेद धोती पहनते हैं और जरी की किनारी वाला उत्तरीय वस्त्र 'सीलाए' का उपयोग करते हैं।

आभूषणों में टोडा-आभूषण विशेष स्थान रखते हैं। टोडा सुहागनें चाँदी के आभूषण—हार 'काउट', चूड़ी 'पालू', कलई पर उटस' आदि पहनती हैं और विधवायें सोने के आभूषण पहनती हैं। 'कोटा' लोग लोहे के आभूषण पहनना पसन्द करते हैं। अब चांदी और सोने के आभूषण भी पहनते हैं। इनमें जिस दिन पति की मृत्यु होती है उसी दिन भिन्न आभूषणों का सेट स्त्री पहनती है। बाडगास' कानों में बालियाँ 'सिना', नत्थनी 'मुकुत्ति' ये सोने के पहनते हैं और नेकलस 'सीरनगी', कुहनी पर 'बे' चांदी के आभूषण पहनती हैं। विधवाओं के लिए भिन्न प्रकार के सेट होते हैं।

टोडा लोगों के समस्त पात्र मिट्टी के बने होते हैं। ये छोकों का इस्तेमाल करते

हैं जिन्हें 'पूरी' कहा जाता है। मिट्टी के बर्तनों की लम्बी कतार होती है जहाँ दूध, मक्खन आदि सुरक्षित रखा जाता है। 'कोटा' और 'बाडगास' लोगों के बर्तन भी मिट्टी के होते हैं। 'बाडगास' अनाज सुरक्षित रखने या लंबे पानी संचित रखने के लिए 'हावारी' तक बनाते हैं। पेय पदार्थों का सेवन बाँस के गिलास में करते हैं जिसे 'वानि' कहते हैं। ये दूध और दूध से बनी चीजें बेचते नहीं। सामई और तिन्ह अनाज खाते और उगाते हैं। बाडगास' और 'कोटा' लोगों के घर 'टोडा' की अपेक्षा ज्यादा अच्छे होते हैं। 'बाडगास' का घर बाँस से बना होता है जो पाँच भागों में बँटा होता है—बरामदा 'बाइलु' जिसके दोनों ओर 'तिन्नाई' होती है। हाल 'इडामनाय', रसोई 'उगामानाय', स्टोर जो बरामदे के साथ सटा होता है 'इदामनाय' तथा स्नानघर 'सिलाव' कहलाता है। 'सिलाव' दो भागों में बटा होता है। एक ओर पानी रखने का प्रबन्ध तो दूसरी ओर स्नान करने का। कोटा लोग बांस का घर बना चिकनी मिट्टी का पलस्तर कर देते हैं। इसमें एक बरामदा तिनवाल हाल नडुली रसोई 'उली' और स्नानघर कालीमाल होता है। 'टोडा' लोगों के घर अर्धचन्द्राकार होते है। प्रवेश-द्वार केवल बांस इंच का होता है। हाथों के बल रेंग कर जाना पड़ता है। खिड़की और रोशनदान भी नहीं होते। ये बाहर की ठंड और जंगली जानवरों से सुरक्षित रखते हैं।

भौगोलिक वातावरण के कारण शरीर का भी गठन होता है। टोडा लोगों का शरीर गठा हुआ, आँखें और दाँतों में विशेष चमक मिलती है। बाल घने और काले होते हैं। बालों को कटवाने तथा मुंडवाने का प्रचलन न होने के कारण पुरुषों की दाढ़ी और मूँछें होती हैं। स्त्रियाँ अपने बालों के छोर पर मक्खन लगाती हैं और अच्छी तरह रच जाने पर अंगुलियों से घुंघराले बनाती हैं। टोडा स्त्रियाँ बाहर कहीं जीविकोपार्जन के लिये नहीं जातीं। कताई करती हैं।

टोडा युवक तथा युवतियों को विवाह से पूर्व मिलने की छूट होती है। यहाँ भ्रातृत्व बहुपति की प्रथा है। विवाह के उपरान्त स्त्री सभी भाइयों की पत्नी समझी जाती है। इसका कारण वहाँ के लोग पंच पाण्डव और द्रौपदी का दृष्टांत देते हैं किन्तु समाजशास्त्रियों ने इसका कारण लड़कियों की कमी माना है। प्राचीनकाल में एक से ज्यादा लड़की रखने की प्रथा टोडा परिवारों में नहीं थी अतः लड़कियों की कमी ही संगत प्रतीत होता है। समस्त बच्चों के पिता सब भाई होते हैं। सबसे बड़ा भाई बच्चे के जन्म के समय धनुष और बाण का अनुष्ठान पूर्ण कर वैध पिता बन जाता है। 'टोडा' लोगों में भी वर्ग होते हैं पीकि पन्तान, केन्ना कुतान और टुडी। इनमें सबसे ऊँचा वर्ग पीकि माना जाता है। इस वर्ग के टोडा लोग अन्तर्जाति विवाह नहीं कर सकते हैं। अन्तर्जातीय वैवाहिक सम्बन्ध निषेध है। यदि कोई भी युवक ऐसा वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ता है तो मुंड में रहने वाले समस्त परिवार 'मुंड' छोड़कर चले जाते हैं।

टोडा 'मुंड' बनाकर रहते हैं। प्रत्येक 'मुंड' का एक प्रतिनिधि होता है। उच्च चरित्र और पढ़ा लिखा एक विशेष उम्र का व्यक्ति ही प्रतिनिधि हो सकता है। वोट द्वारा चुनाव जीता जाता है। आजकल पंचायत का मुखिया सरकार की ओर से चुना

जाता है। इसका चुनाव उसकी शिक्षा गुण, स्तर और सम्पत्ति के अनुसार होता है। (सम्पत्ति को कम महत्व दिया जाता है) यह मुखिया मणिकर या 'मानिकर' कहलाता है। मन्दिर के आंगन में पंचायत बैठती है। दोनों दलों को बुलाया जाता है। यदि मणिकर महसूस करता है कि दोनों को गवाह की आवश्यकता है तो वह वही करता है। यदि दोनों दलों को पुनः उपस्थित होना पड़ता है तो उपस्थित लोगों को दोनों दल मिलकर खाना देते हैं। जिसे अपराधी ठहराया जाए उसे जुर्माना भरना पड़ता है कम से कम पांच भैंसे और ज्यादा से ज्यादा अठारह भैंस।

नारियों को भी अपनी समस्या पंचायत के सम्मुख रखने का पूर्ण अधिकार है किन्तु पंचायत में उपस्थित होने की आज्ञा नहीं है। पति के द्वारा ही केस दर्ज कराया जाता है। यदि नारी विधवा है तो विशेष ध्यान दिया जाता है और मामला निपटा दिया जाता है।

टोडा जनजातियों में नारी का स्थान अत्यन्त पिछड़ा हुआ है। सम्पत्ति पर नारी का कोई अधिकार नहीं माना जाता। शादी के समय दहेज भी नहीं दिया जाता। विवाह के एक वर्ष बाद माता पिता चाहे तो लड़की को दो-तीन भैंसें दी जाती है। टोडा स्त्रियों को पवित्र स्थलों में जाना वर्जित है। अपवित्र मानी जाती हैं। एक औरत को घर के समस्त पुरुषों के साथ रहना पड़ता है। 'कोटा' लोगों में भी नारी का स्तर सतोषप्रद नहीं है। धार्मिक अनुष्ठानों में उसे कोई स्थान नहीं दिया जाता। पुजारी की पत्नी मात्र का स्तर अच्छा है। पुजारी को स्थान और सम्मान उसकी पत्नी के जीवित होने तक मिलता है। बाडगास में भी यही प्रथा है किन्तु पवित्र स्थानों पर भी उसे स्थान प्राप्त है।

टोडा लोग दो प्रकार से मृतक संस्कार करते हैं। एक में तुरन्त कर देते हैं तथा दूसरे में शव जलाकर भैंस की बलि चढ़ाई जाती है। सफेद कपड़े से शव ढँककर मंदिर ले जाते हैं। वहाँ मृतक के मुँह में पत्ते से दूध पुजारी डालता है। वहाँ से उसकी अर्थी श्मशान ले जायी जाती है। मृतक के बाल काटकर संभाल कर रखते हैं। श्मशान घाट पर पहुँचते ही मृतक का पुत्र बांस की छड़ी से धरती कुरेदता है। परिवार के समस्त सदस्य यही काम करते हैं। इसके बाद मृतक के परिवार का सदस्य तीन बार मुखिया से पूछता है—'मिट्टी डालूँ'? 'डालो' कहने पर वह कुरेद हुए स्थान की ओर मिट्टी उठाकर फेंकता है। इसके उपरान्त मृतक की समस्त वस्तुएं भी चिता पर रख आग लगा देते हैं। इसको हरा संस्कार कहा जाता है। एक वर्ष के बाद ज्यादा भैंसों की बलि चढ़ाई जाती है और कोटा', 'बाडगास लोगों को भी बुलाया जाता है। यह सूखा संस्कार कहलाता है।

आज भी इनके निवास स्थानों पर जाकर जब हम मिलते हैं तो इनके हाव भाव से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। अपनी संस्कृति और परम्परा के प्रति गर्व दृढ़ता और एक निष्ठा की भावना जो इनमें विद्यमान है वह अन्य कहीं दृष्टिगत नहीं होती। प्रेम एकता तथा अतिथि-सत्कार तो कोई इनसे सीखे। अनपढ़ होने के बावजूद भी मानवता का पाठ जानते हैं।



मुण्डा जनजाति की कहावतें



फादर पी० पोनेट, एस० जे०

मुण्डा जनजाति छोटा नागपुर की तीन विशेष जनजातियों मे एक है। संरचना के विचार से इसकी भाषा अर्थात् मुण्डारी की तुलना संसार की सिर्फ चार दूसरी भाषाओं से की जा सकती है। ये भाषाएँ हैं—जापानी, तुर्की, बास्क (स्पेन) और फ्रिनोउग्रिन भाषा समूह। ये सभी भाषाए अश्लिष्ट योगात्मक हैं।

मुण्डारी भाषा मे लिखित साहित्य का परिमाण बहुत कम है। जो मुण्डारी पुस्तकें छपी हैं, उनमे गीतों और भजनो की प्रधानता है। इसका गद्य साहित्य भी पिछले दस वर्षों से नियमित रूप से मुद्रित हो रहा है। लेकिन इस भाषा का लोक साहित्य विस्तृत है। इसके लोकगीतों और लोककथाओ के कई छोटे बडे संग्रह छपे हैं, लेकिन इसकी कहावतो का आज तक किसी ने संग्रह नहीं किया है। आवश्यकता है—भारत की जनजातियों की भाषाओं और संस्कृतियों के गहरे अध्ययन और उनकी आत्मिक विभूतियों के साक्षात्कार की।

मुण्डा जनजाति जगलो के बीच बसे हुए गाँवों मे रहती है। इसके आवास क्षेत्र मे जगल और गाव एक-दूसर से कहीं मिले हुए हैं और कहीं निकट हैं। यह जीवनयापन के लिए किसानी करती है लेकिन जगलों के साथ भी इसके कई तरह के सम्बन्ध हैं। जगलो से इसे लकडी और फल मिलते हैं और शिकार से पशुओं का मास मिलता है लेकिन वहाँ बाघ और भालू जैसे दुश्मन भी मिलते हैं। बाघ कई मुण्डारी कहावतों का केन्द्र है, जहाँ वह हिंस्र पशु होने के साथ-साथ प्रतीक भी है। जैसे वह किसी कहावत मे सीधे सीधे मानव भक्षी पशु है और किसी कहावत म शक्ति और शौर्य का प्रतीक है। यहाँ बाघ सम्बन्धी कुछ कहावतें प्रस्तुत की जा रही हैं—

(१) बाघ का मुँह या ओझे का पेट ?
(कुला मोचा चि देवोंडा लइ ?)

यहाँ यह कहा गया है कि बाघ और ओझा, दोनो समान रूप से पट्ट हैं। दोनों की भूख कभी नहीं मिटती—चाहे उन्हे कितना ही क्यों न मिल जाये।

(२) गरजता बाघ काटता नहीं है।
(रा कुला काए जोजोम)

यह कहावत व्यंग्यात्मक है। इसम यह कहा गया है कि जो शोर मचाते है, वे बहुत कम काम करते हैं। इसकी तुलना हिन्दी की एक कहावत से की जा सकती है—जो गरजता है वह बरसता नहीं।

(४) कुल्हाडी चलाना जब बाघ भाग गया है।
(कुला निरजमुने कपि हुरला।)

यह कहावत उन लोगो के विषय मे कही जाती है, जो खतरे से बचकर साहस दिखाना चाहते हैं।

किसानी की पृष्ठभूमि से सम्बन्ध रखने वाली कहावतो मे खेती, अनाज और मवेशी के महत्व की चर्चा मिलती है। मुण्डा-समाज में सम्मानित व्यक्ति वह है, जिसके पास खेत और मवेशी हैं। इसलिए एक कहावत मे यह कहा गया है—उसका न गाँव है न चाक (इनिख हतु ना कलु)। दूसरे शब्दो मे, वह घुमन्तू आदमी है, आवारा है। उसका कोई भरोसा नही है। एक दूसरी कहावत बतलाती है—पूछ-रहित, सीग-रहित आदमियो के साथ सौदा करना संकटपूर्ण है, व यदि भाग जाते हैं, तो भागते रहेंगे। (बडा बुचा होडो को लो करबार बोरोगेअ। निररेओको निरदेना।) पूछ-रहित और सीग रहित आदमी वह है जिसके पास पूछ और सीग वाले प्राणी अर्थात् मवेशी नहीं हैं। ऐसे आदमी के साथ कारोबार किया जाये, तो वह ऋण नही चुका सकेगा। पास मे मवेशी रहे, तो उसे देकर ऋण चुकाया जा सकता है।

मुण्डा जनजाति मे बहुविवाह को अच्छा नही माना जाता है। एकपत्नीव्रत होना मुण्डा आदर्श ही नही, सामान्य व्यवहार भी है। कोई व्यक्ति दूसरा विवाह तभी करता है जब उसकी पत्नी नि सन्तान या बाँझ होती है। इस परिस्थिति मे पुरुष अपनी पत्नी, पत्नी के परिवार और गाँव के पचो की अनुमति मिलने पर ही दूसरा विवाह कर सकता है। लेकिन जिस पुरुष के दो पत्नियाँ हो जाती हैं, उसका जीवन अशान्त रहता है। इसलिए एक कहावत मे कहा गया है—द्विपत्नीक आदमी कुत्ता है एक विवाही आदमी राजा। (बर ओन्ड तेनि सेता, मियद् ओडा तेनि रजा।)

प्राकृतिक परिवेश को आधार बनाकर बहुत सी कहावतो मे मुण्डा जनजाति ने अपने जीवन विश्वासो और सामाजिक अवस्था के तीखे और मधुर अनुभवो को प्रकट किया है।

जहा मुण्डा जनजाति की समाज-व्यवस्था अपने आप मे न्यायपूर्ण और मानवीय है, वहा यह भी सच है कि पिछली कई सदियो से उसे जमींदारो और भूपतियो, बनियो और सूदखोरो का शिकार होना पड रहा है। इस सरल और अपढ समाज को बाहरी लोगो ने बहुत सताया और तग किया है। इसलिए एक कहावत मे यह कहा गया है—मुण्डा आदमी या दूब? (मुडा होन चि दुबिला तमद?) जैसे जानवर दूब पसन्द करते हैं, वैसे ही गैर जनजातीय मुण्डा लोगों को खाना चाहते हैं। दूसरे शब्दो मे, जैसे जानवरो के लिए दूब वैसे दिकुओ के लिए मुण्डा। मुण्डा लगातार शोषक और जमींदार से तबाह है। उसकी कहावतो मे जमींदार दो पैर वाला बाघ है। वह चार पैर वाले बाघ से और दो पैर वाले बाघ से समान रूप से परेशान है। गाव मे दो पैर वाला बाघ परेशान करता है और उससे बचने के लिए वह जगल भागता है तो वहाँ चार वाला

बाघ उसे खाता है । सदियों से यही इस जाति की नियति है । एक लम्बी मुण्डा कहावत है—

यदि तुम दो पैर वाले बाघ के डर से वन मे भागते हो,
तो वन म चार पैर वाला बाघ तुमको खा जायेगा।
और यदि चार पैर वाले बाघ के डर से तुम भाग जाते हो,
तो उच्च भूमि म दो पैर वाला बाघ तुमको खा जायेगा।

(बरिअ कटानेन कुला बोरोते बिरतेम निररेदो,
बिररे उपुनिआ कटातेन कुला जोम मेअ,
अद् उपुनिअ कटातेन कुला बोरोनेम बिररेदो
दिडिरेन बरिअ कटातेन कुला जोम मे आ।)

O

छत्तीसगढी कविता

दूर दराज गाँव-कस्बो म भी ऐसे ऊर्जावान रचनाकार हैं, जो कबीर की तरह—'मसि कागद' गहि नही कलम गही नहिं हाथ हैं और कबीर की तरह सगतियो विसगतियो स न केवल वाकिफ हैं, वरन् सगतियों पर आस्था रखते हुए विसगतियों पर प्रहार भी करते हैं। किसान दैनिक मजदूर बढाइ, लुहार आदि के पशो से जुडे रचनाकारो मे सहज वग चेतना है। ये गुमनामी के अधेरे म रहते हुए जिन स्थितियो मे जीवनगत और रचनात्मक सघ र्ष कर रहे हैं वहा आज के जमाने म रचना का प्रकाशन मुश्किल ही ह। साथ ही वे अपनी रचनाओ के प्रकाशन और प्रचार के प्रति भी उतने सजग नही ह जितने कि युगीन चिन्ताओ और रचनात्मकता के प्रति।

'सापेक्ष' की यही कोशिश रही है कि इम गुमनाम ऊर्जा-सम्पन्न और कबीरी परम्परा के रचनाकारों को तलाश कर सामने लाया जाए। इस नीति के तहत 'सापेक्ष' ने अक ३+४ म छत्तीसगढ अचल क युवा चन्देनी गायक, जो पशे स दैनिक मजदूर हैं—श्री ललमार दास को छापा था। उसी परम्परा म, इस बार वयोवृद्ध रचनाकार श्री बिसम्भर यादव 'मरहा को प्रकाशित किया जा रहा है।

बिसम्भर यादव मरहा (बघरा दुग) पेश स बढई और कृषक-मजदूर हैं। इनकी रचनाशीलता के आगे इनकी निरक्षरता कभी आड नहा आई। ये अपनी रचना म राजनैतिक सामाजिक आथिक विसगतियो पर प्रहार करते हैं। इनके पास तेज-तरार भाषा ही नही युवको सा उत्साह भी है। ये आज भी लोकनाटयों म जीवत अभिनय करत हैं।

—सपादक

चारा अउ मछरी के गोठ-बात



बिसम्भर यादव 'मरहा

ये चारा अउ मछरी क गोठ बात हे।
चारा बोलिस मछरी स—
मोला मारे हवय तोर खातिर
सेंहा भन मर मार खातिर
तें कहूँ मरे मोर खातिर
त बाहिर म बइठे हवय तोर खातिर—
हाथ म डगनी,

राजा की मुहर

(बुंदेली लोककथा पर आधारित नाटक)



अजित पुष्कल

'राजा की मुहर' बुन्देली लोककथा पर आधारित एक परिष्कृत लोकनाटक है। विशेष रूप से मंच सज्जा रहित अपनी शैली में। दर्शकों के समक्ष उपस्थित कुछ अभिनेता स्थितियों के अनुसार कई पात्रों का अभिनय कर लेते हैं। उपलब्ध सामान तथा सांकेतिक अभिनय से वे दृश्य बंध को साकार करते हैं। गीत तथा नृत्य के माध्यम से उन्हें उन्मुक्त अभिनय का अवसर मिलता है जो लोकनाटकों की अभिनय शैली की विशेषता है।

इस नाटक में लोककथा के माध्यम से इतिहास को रेखांकित कर लेखक ने ऐसे यथार्थ को उजागर करने की कोशिश की है जो आज भी दिखलाई पड़ जाता है। अंग्रेजों ने साम्राज्यवादी व्यवस्था के लिए भारतीय व्यवस्था में किस प्रकार दखलंदाजी की? राजाओं को निष्क्रिय किया। जमींदारों का आतंक बढ़ा। जनता के घरेलू उद्योग धन्धों को उजाड़ा गया। उसके श्रम को अपने हित में लगाने के लिए उस पर अत्याचार शुरू हुए। नौकरशाही निरंकुश हो गयी। जनता की जमीन छिनने लगी। टैक्स और बेगार से उसका शोषण होने लगा। वह भुखमरी और गरीबी का शिकार हुई। फिर भी उसने अपने ढंग से अपनी मुक्ति के लिए सामूहिक संघर्ष किया। ये ही इस नाटक के मूल भाव हैं।

संपादक

शामिल पात्र

सात पुरुष।

एक स्त्री।

(तमाशा शैली के अनुसार एक पात्र कई पात्रों का अभिनय करता है। जिसका निर्देश आलेख में है।)

प्रस्तावना

(जंगल का चारागाह तीन चरवाहे बैठकर आपस में बातें कर रहे हैं।)

पहला चरवाहा लगता है इस साल चरवाहे अपने जानवर लेकर यहाँ नहीं आयेंगे। जमींदार घाटा उठा रहा है। वह रोज यहाँ उनके बारे में पूछ-ताँछ करने आता है।

दूसरा चरवाहा बेईमान है। आता अपने रोजगार के लिए है और मेरी गाय का गाढ़ा दूध ढकोस जाता है। मटका बराबर पेट है उसका।

तीसरा चरवाहा उसके मटके को दूध से मत भरो।

दूसरा चरवाहा कैसे न भरूँ! उसकी जमीन में झोपड़ी बना ली है। उजाड़ नहीं देगा। दुनिया जानती है कि पहाड़ी के उस पार के डाकुओं से उसकी साँठ गाँठ है। उसके इशारे से हमारे जानवर उस पार हो जायेंगे। हड्डी-पसली टूटेंगी अलग।

पहला चरवाहा जानते हो डाकुओं को कम्पनी की तरफ से फिरंगियों ने खेती के लिए जमीन भी दी है। वे जब चाहते हैं शहर लूट लेते हैं। मार-पीट करते हैं अलग।

दूसरा चरवाहा एस में राजा क्या कर रहा है? बोलो।

तीसरा चरवाहा राजा तो छह महीने के लिए सो गया है। सुना कि कम्पनी ने राज की हिफाजत के लिए सेना तैनात कर दी है।

पहला चरवाहा (हँसते हुए) लूटपाट और हिफाजत साथ साथ। यहाँ के जमींदार से कह दिया जाय कि रोज-रोज खुरखुन जोतने न आया कर। अब उसे दमड़ी नहीं मिलने वाली। क्योंकि भूरी सेना के घोड़े मुफ्त में इस बंजर की घास चरेंगे। किसान के चउवा भूखों मरेंगे। बाल बच्चे बूँद-बूँद घी दूध के लिए तरसेंगे।

दूसरा चरवाहा ऐसा हुआ तो अब न कोई अखाड़े में जायेगा न कोई पहलवानी करेगा। वीर भूमि की नस्ल कमजोर पड़ जायेगी।

तीसरा चरवाहा लक्षण यही हैं। राज में रमना का खेल बंद हो गया। लगता है हाथियों को घी पिलाने के लिए खजाने में रकम नहीं है।

पहला चरवाहा और जो शराब हाथियों को पिलाई जाती थी?

दूसरा चरवाहा वह हाकिम हुक्कामों के बाल बच्चों के काम आ रही है। वे सब मस्त होकर सड़कों में नाचते हैं और सेन के लोगों से दोस्ती करते हैं।

पहला चरवाहा तब तो इससे भी खराब दिन आने वाले हैं। (मुँह बनाकर) राजा छह महीने के लिए सो जो जाता है।

तीसरा चरवाहा तुम बार-बार इसी बात की रट लगाये हो। यही म राजा कुभकरन हो गया?

पहला चरवाहा (घूमकर) सेना की बात अगर यही है तो अच्छी बात नहीं हुई। शैतान का राज होगा। (सोचते हुए) फिर जब राज म तबाही हो। मारा मारी हो। हाकिम मनमानी करें। औरतो की बेइज्जती हो। डाकू गुडो की ताकत बढे। टैक्स बढ़ें। इस पर राजा न कुछ देखे न सुने तब तो उसे कुभकरन की तरह सोया ही समझो।

तीसरा चरवाहा यह सब होता रहा तो रिआया का कलेजा भुन जायेगा।

दूसरा चरवाहा रिआया का कलेजा इतना कमजोर नहीं होता कि जरा सी आच म भुन जाय। कलेजा तो कठोर काठी के अ दर रहता है। सोचना यह है कि हम ऐसी हालत म कर क्या सकते हैं?

तीसरा चरवाहा करने पर आ जायें तो बहुत कुछ कर सकते हैं। पर अपने बीच के लोग भी जाहिल हैं। सुना भाडो ने कम्पनी वालों के सामने तमाशा किया। उन्होने अपने राजा की जी भर बुराई की। चापलूसी की हद हो गयी। उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि गोरों ने परजा के बाल खडे कर दिए। सोच रहे होंगे मिलकियत मिल जायेगी।

पहला चरवाहा तमाशा तो हम लोग भी कर सकते है। चार गांव के लोगों को इकट्ठा कर लेंगे। तमाशा करने वाल कुछ कलाकार हमारे खेल म शामिल हो ही जायेंगे।

दूसरा चरवाहा नामी ख्याल है। मगर कौन सा तमाशा करोगे? मोरध्वज, हरिश्चन्द्र इन्दर सभा।

पहला चरवाहा न् न् ये सब नहीं। खेलेंगे 'राजा की मुहर।' यह कहानी मैंने ऐसे आदमी से सुनी जिसने छावनी के सिपाहियों के बाल बनाने से इन्कार कर दिया तो उसे बागी समझ कर उसका रोजगार खतम करने की कोशिश की गयी। पर वाह! जब वह कहानी सुनाना शुरू करता तो लोग भोहे बैठे रहते। लगता अपनी बातो से वह उन्हें जगा रहा है।

तीसरा चरवाहा ठीक है, मैं सराजाम जुटाता हू। हम लोग तमाशा खेलेंगे। लोग इसी घास के मैदान म बैठकर देखेंगे।

प्रथम अक

(मच के बीचो बीच मुखी, सिपाही तथा पोरा के साथ तीनों चरवाहे गोलाकार रूप में घूमकर कोरस गाते हैं।)

गोरो की चतुराई देखो,
बजें ढोल बेताल।
राजा जू की नीद न टूटे,

ठगुए करें कमाल ।
हाकिम, अमला बिछा रहे हैं
तरह-तरह के जाल ।
मुशी के घर मुहर आ गई
चले दुलत्ती चाल ।
रोजगार का पटरा बैठा
कगालो हो चली बहाल ।
घर-घर म घुस गयी गरीबी
रोटी हुई मुहाल ।
राजा जी की नींद न टूटे
जनता है बेहाल ।

(तीन चरवाहे मंच के एक कोने मे बैठ जाते हैं। पोरा दायीं ओर जाकर तालाब में कपड़े धोने का अभिनय करने लगती है। मुशी और सिपाही दूसरे छोर स उसकी ओर दबे पाँव बढते आते हैं।)

पोरा बहे पसीना सच्चा काम
छियो राम छियो राम ।
गदा पानी जी उकताये
कपडा छांटू, दम घुल आये
भूख लगे तो खा न पाऊ
करम सिपाही नजर लगाये
मुशी से तो राम बचाये ।

मुशी (पास आकर) पोरा, हमारे आने से डर तो नहीं गइ ?

पोरा न हुजूर। डर तो भूत परेत से लगे। ढाई बिता के आदमी से काहे डरू ? हुजूर, मेरा गधा दूसरे का खेत न चरे तो उसका पेट ही नही भरता। थोडी जमीन हमे भी दिला दते।

मुशी लगान भरने म मर जाओगी।

पोरा आर लोगों के कपडे धोते धोते मर गई। इत्ती सी जमीन भी न मिली। सोचें हुजूर, जमीन तो किसान मजूर की जिन्दगी होती है।

सिपाही मुशीजी, अब भी यह जमीन का सपना देख रही है। अच्छा यही है कि कपडे धोती रह।

पोरा ये तो खानदानी काम है। कर ही रही हूँ। जरा तालाब का पानी तो सूँघो।

मुशी क्यों सूँघूं ? क्या खास बात है ?

पोरा अरे, बडके मनई क कपडों म इतना इत्र रहता है कि यहाँ की बिसाइध मछलियाँ भी महकने लगी हैं।

सिपाही महकुआ मछली कभी दिखाई नही।

पोपा मझली तो ढोमर खिलाता है। जान तो उसके पास है। मगर हुजूर वह घूसखोरों स ब त चिढ़ता है।

सिपाही बहुत बोलती है। मतलब कि हम घूसखोर हैं। रियाया हमारे स्वागत म डाली लगाती है और ये हम घूसखोर कहती है। राड कहीं की !

पोपा राड को रा" क्या कहते हो ? जानते हो सेना के बिगडैल घोडे ने ही मेरे घरवाले की पसली २ लात मारी थी। किल की दीवार के पास मरा था वह। किसी ने मुआवज़े तक क लिए नहीं पूछा।

सिपाही मुंशीजी यह तो सेना के घोडे की बुराई करती है।

पोपा कम्पनी की सना हो या घोडे। ये अपने राज म घुस "से ?

मुंशी जो सवाल महाराज नहीं क र सके, तू करती है।

पोपा मैं रियाया हूँ। सारा कहर तो हम पर ढहता है। हजार बार पूछूगी।

सिपाही पूछ कर ही क्या लोगी ?

पोपा मानो न मानो, तुम लोग भी गद्दार हो गये हो।

सिपाही रिआया क पास बकने के लिए दो अगुल का मुह होता है। बक लेती है और बर्फ की तरह ठ"ी हो जाती है।

पोपा हुजूर, रिआया के पास तो बहुत कुछ होता है। तुम्हारे तो उम्दा चर्बी के अलावा कुछ भी नहीं है।

मुंशीजी सिपाहीजी चुप रहो। बेचारी को खसम की मौत का मुआवजा नहीं मिला तो फुलझडी की तरह फूट रही है। इसे पता ही नहीं कि हम लोग इसी काम के लिए आये हैं।

पोपा मुंशीजी तुम्हारी बातो स दोख टपकता है। मुझ मुआवजा-उवावजा नहीं चाहिए।

सिपाही तो क्या आदमी के बदले आदमी चाहिए ?

पोपा मुझे आदमी की जरूरत होगी तो ढूँढ लूगी। तुम्हारी मेहरबानी की जरूरत नहीं है।

मुंशी क्यो इसके मुँह लगते हो ? कहेगी कुछ, करेगी कुछ। औरत तो स्वभाव से आरामतलब होती है।

पोपा झूठ। कोई मरद औरत को पसना नहीं भुलाता। उसका जागर और चाम ही उसे जिन्दा रखते है।

मुंशी चाम ! (सोचत हुए) गोरे सिपाही यहाँ की औरतो के चाम की बडी तारीफ करते हैं। चाँद के माफिक समझते हैं।

पोपा वाह ! वाह उनकी इस समझ पर बडा गुमान है। मगर उनकी हरकतों से जो औरतों म दहशत है उसकी चिंता नहीं है। जाओ यहाँ से मेरे पास फालतू समय नहीं है। अब मैं कपडे धोऊगी।

मुंशी जाते हैं। जरा सा काम है। (जेब से कागज निकालता है।) ये हुकुमनामा

है। इसमें राजा की मुहर लगी है।

सिपाही अरे, पढ़कर सुना दो।

पोपा हाँ, बिना पढ़े मुझे क्या समझ में आयेगा? हमारे लिए तो काला अक्षर भैंस बराबर है।

मुंशी बड़ी देर लगेगी। ल वो लबाब बताये देता हूँ। सुनो यह तालाब तुमसे छीन लिया गया है। इसे पुराकर सेना के घोड़ों के लिए चारागाह बनाया जायेगा। छावनी के पास कपड़े धोने के लिए नया तालाब खुदना शुरू हो गया है।

सिपाही समझी कुछ। अब कपड़े धोने के लिए तुम्हें नये तालाब में जाना होगा। लो न कबूतरवाली बावली के पास।

पोपा बहुत दूर है तालाब। मैं उस जंगल में कपड़े धोने नहीं जाऊंगी। छावनी के गोरे बदमाश हैं।

सिपाही अरे ढाई बित्ता के आदमियों से क्या डर?

पोपा वो हमारे दुश्मन है। कह देती हूं, मैं कपड़े धोना बंद कर दूँगी पर वहाँ नहीं जाऊंगी। बंदूक की आवाज सुनकर वहां के मोर तक भाग गये।

मुंशी महाराज का हुकुम है समझ लो।

पोपा मैं महाराज की ड्योढ़ी में जाकर गुहार मारूंगी। छावनी के सिपाही बदमाश हैं। उनकी औरतें उनके साथ नहीं रहती।

मुंशी सारस की तरह क्या चीखती हो? तुम्हारे चिल्लाने से राजा की नींद नहीं टूटनेवाली। वह न जाने उसका मुहर तो राज कर ही रही है। बहरहाल अब इस तालाब में तुम्हारा गुजारा नहीं। समझो। कल से दिखाई न देना यहां? (सिपाही और मुंशी वापस चले जाते हैं।)

पोपा हाय बचाओ, दौड़ के आओ --
गोरे दे गये धमकी।
जी ऐसा जी रह न पाये
नीचे नीचे धँसता जाये
पेट मार अब राज चलाए
कुत्ते नोचें, कौअे खाय
हाय बचाओ, दौड़ के आओ—
गोरे दे गये धमकी !
(चरवाहों में से एक पात्र भागकर पोपा के पास जाता है।)

इउवा भौजी मैंने तुम्हें इस तरह कभी रोते-कलपते नहीं देखा। क्या हुआ?

पोपा अरे लाला मैं तो लुट गयी। क्या खाऊंगी और क्या अपने गधे को खिलाऊंगी? मुआ कभी कभी खेत के खेत कर देता है।

इउवा दख गधा तो ठहरा जानवर। दूसरे का खेत चरकर पेट भर लेगा। उसे

कहीं न मिलेगी तो न मिले। सारी हुक्काकानी तो आदमी के पेट के लिए है।

पोपा राज मे धांधागर्दी मची है। मरा तालाब छिन गया।

डउवा तो गाज तुम्हारे ऊपर भी गिर गयी?

पोपा साला, अब ये हरी हरी पुरइन देखने को न मिलेगी। कमलगट्टे खाने को तरस जाऊंगी। वो देख चारो तरफ सेना व घोड़े ही घोड़े चर रहे हैं। तालाब तो बजर बन गया!

डउवा न घोड़े न सोड़े। लगता है तेरा दिमाग फिर गया। उधर सिर्फ तेरा गधा मुंह लटकाये खड़ा है।

पोपा मुए को अब घास भी न मिलेगी। यहां का राजा सो गया है। (चौंककर) भला मैं यहां कपड़े धोने क्यों जाने लगी? मरा चाम चांद जैसा गोरा है।

डउवा यहां कपड़े धोने न जाओगी?

पोपा छावनी के नये तालाब म। मैं मुंशी की चाल समझ रही हूँ।

डउवा मुंशी ने तो चार दिन पहले मेरा जाल छिनवा लिया। जो मछली पकड़ो सीधे छावनी भिजवा दो। बोला, मछली मारने मत आना, अब कप्तान मम के साथ यहां विहार करने आयगा। वह तुम जैसे गंदे लोगों को पसद नहीं करता।

पोपा ऐसी तैसी उसकी। यहां की औरतें पसद हैं उसे। और मर्दों से नफरत! झाड़ू मारो।

डउवा मगर वो औंधी खोपड़ीवाला मुंशी तो उसके घर की झाड़ू लगाता है। उन लोगों से मिल गया है। फुदक-फुदककर गुलामी करता है।

पोपा दख लेना मुंशी तो धीरे-धीरे सारा मुलुक उन्हें सौंप देगा। सोचो तो सही, तालाब नहीं रहेंगे तो हम तुम क्या करेंगे? हमें अपनी जिन्दगी इसीलिए अच्छी लगती है कि ये तालाब हमारे हैं।

डउवा देख न जुलुम। मैं तीन दिनों से भूखा प्यासा घूम रहा हूं। मछली बाजार मे फाटक बद है और तालाब तक जाने की सख्त मनाही है। बोझा ढोने की मजूरी भी नहीं मिलती। मैं तो सपने मे मछलियां पकड़ने का इन्तजार करता हूँ।

पोपा भूखे आदमी को सपना नहीं दखना चाहिए। और फिर जिसके बीवी-बच्चे न हों। दो रोटियों का जुगाड़ कहीं कर ले।

डउवा तुम्हारे पास रोटियां हैं क्या? (बैठ जाता है।)

पोपा हैं। घर की मटकी की पेंदी मे थोड़ा पिसान भी पड़ा है। दो-चार दिन कट जायेंगे। मगर फिर क्या होगा? मजूरी तो मिलती नहीं।

डउवा (उत्साह से) गली-गली भीख मांगेंगे।

पोपा (डपटकर) चल हट, मेरे सामने से। भरोसा उठ गया तुझ पर से।

डउवा मुझ पर कौन भरोसा करेगा? दलिद्दर कर दिया गया हूँ।

पोपा मैं तो सोच रही थी तुम भले आदमी हो। मेहनती हो। मेरे घरवाले के साथी रहे हो। मेरे खाने-पीने का तुम्ही सराजाम करोगे।

डउवा इतना विश्वास है तो जरूर करूगा। गधे को जगल मे घूमने दो और तुम चलो मेरे साथ।

पोपा घर खाने को नही अम्मा चली भुनाने। मैं क्यों चलू तुम्हारे साथ ? तुम चलो मेरे साथ। पिसान तो मेरे घर मे है।

डउवा पिसान है तो थोडी मसूर की दाल भी होगी ?

पोपा नही है। चने का सूखा साग बनाऊँगी।

डउवा चलेगा। वैसे थोडा सा महुवा मेरे घर मे भी पडा है।

पोपा खा डाल। फिर न मिलेगा। जगल की पैमाइश शुरू होने वाली है। भट्ठियों म महुए की शराब उतारी जायेगी। कम्पनी यहाँ के लोगो को शराब पिलायेगी और उल्टे उनसे महसूल वसूलेगी।

डउवा तुम तो अखबारनवीस की तरह बेपर की उडाती हो।

पोपा अरे, मैं उडती चिडिया पहचानती हूँ। मेरा मन बोलता है कि ये होके रहेगा। परजा को बरबाद करने का नया तरीका है। लाला, अगर तुम शराब पीकर नाली मे गिरे तो तेरी मेरी नहीं पटेगी।

डहवा शराब पानी स सस्ती मिलेगी तभी पिऊँगा।

पोपा पिओगे जरूर! फिर मैं तुम्हें अपने साथ नही रखूगी। तुमसे अच्छा मेरा गधा जो घास और कनी के सिवा अमृत म भी मुह न डाले।

डउवा रामदुहाई, कान पकडता हूँ। तुम्हारे गधे से शिक्षा ले ली। प्यास से मर जाऊगा फिर भी शराब नही पिऊगा। घर चलो, जोर की भूख लगी है।

पोपा (मुस्कराकर) किसने किसे बचाया ?
देवर जू किसने किसे बचाया ?

डउवा भौजी तुमने मुझे बचाया।
भूख के कारन खुशी खुशी से।
मैंने ओढा तेरा साया।

पोपा फिर इसी खुशी मे बन जा घोडा।

डउवा (झुककर) अरे, लाद दो गट्ठर घोडा।
बन जाऊगा खच्चर घोडा॥

(पोपा कपडो का गट्ठर उसकी पीठ पर लादती है। फिर उसे हाँकने का अभिनय करती है)

पोपा चल मेरे संग टिक टिक घोडे।
नहीं तो मारूँगी दो कोडे॥

डहवा (पीठ मटका कर) गजब न ढाओ, मर जाऊँगा।
गधा न समझो काम आऊँगा।

जब संवरेगी किस्मत खोटी
घर मे तुम्ही पकाना रोटी।
आधी आधी ही खायेंगे,
तान तोड गाना गायेंगे।

पोपा न न न, ऐसा मत बोलो,
अपने मन की परत न खोलो।
इश्क का गाना तब भायेगा
जब राजा की आखें खोलो॥

डउवा (साहस बटोरते हुए) नमक नही कि गल जाऊगा।
तूफानो स हरदम खेला
मैं गबरू जवान बुन्ला
जहाँ कहू गी मिल जाऊगा।

(पोपा और डउवा मच क एक कोने म लग होने ह। तभी गीत गाता हुआ साहू मच पर टुमकता हुआ आता है। इस पात्र का अभिनय दूसरा चरवाहा करता है। पगडी बाधकर तथा पर ऊचा कर के।)

अब तो यही रहनि रहौंगो
राम कृपा कर डांडी मारौं
खत्ती खान भरौंगो।
हृदय कपट रख मीठा बोलू
गांठ-गांठ कतरौंगो।
नृपत सुअक्कड़, मंत्री फक्कड
सोना काट धरौंगो।

(डउवा और पोपा उसके पीछे लग जाते हैं।)

साहू अरे वाह! वाह!! भैंस से बडी अक्ल। मुशी ने राजा की मुहर हथिया ली और ठप्पे पर ठप्पे मारे जा रहा है। मैं अपनी पीठ ठोकता हू कि उसस अपने कागज पर ठप्पा लगवा लिया और छावनी की रसद का ठेका हथिया लिया। उन गोरो म रुपये की आठ अठन्नियाँ न भुनाइ तो भग्ली साहू काहे का। किसानो की फसल लूटकर सिपाही मेरा गोदाम भरेंगे। छि छि बडा खराब काम है। किसान जब गर्दिश म होता है तो मिट्टी बाझ हो जाती है। मगर मेरा गोदाम तो भर ही जायेगा।

पोपा सच कहत हो साहू जी। अब इस मुलुक की मिट्टी गोहार मारेगी। यहाँ का किसान मज़र तबाह हो रहा है।

साहू चुप साहू की नाना। तू राजनीति क्या जाने? सुन, रियासत को गोरो की पलटन तबाह कर रही है और मुझे चूहों की पलटन तबाह कर रही है। उन्हे कैसे समझाऊँ कि तबाही के लिए एक ही पलटन काफी है।

पोपा जो परजा पलटन का मुकाबिला कर सकती है उसे तो भूखों मारा जा रहा है। उनसे तालाब और जमीन छीनी जा रही है।

साहू अभी तो तगडा लगान भी वसूला जायेगा। मगर देख, यह राजनीति है, किसी से कुछ कहना ना। आइन्दा बीच मे बोलना नहीं। हाँ, ये चूहे सारे अन्न खाते हैं और गोदाम भर म टट्टी फिरते हैं। मुझे ऐसे नौकर की तलाश है जो बोरे गिन सके और चूहे मार सके। मदद के लिए दो बिल्लियाँ साथ कर दूँगा।

पोपा मैं तुम्हें ऐसा नौकर दूँगी।

साहू बोले जाओ। मैं तुम्हारी कोइ बात नही सुन रहा। हाँ तो (स्वकों से) लोग अपने नाम के लिए मदिर और शिवाला बनवाते हैं। कुआँ, बावली खुदवाते हैं। मैं मैं चूहों का कब्रिस्तान बनवाऊगा। वह भी नगर बन मे। कब्रिस्तान देखकर लोग मेरे गोदाम की तारीफ करेंगे। इतना माल है—इतना माल है कि सात दिन तक सारा हिदुस्तान खा ले। मुझे एक बहादुर किसिम का नौकर चाहिए।

डउवा साहू जो, मुझे नौकर रख लीजिए।

साहू क्यों रख लू ? चूहे मारने का अनुभव है तेरे पास ?

डउवा है तो नहीं, पर मार लूगा।

साहू सुन, चूहे मच्छर नही होते कि हर आदमी मार ले।

डउवा चूहे शेर भी तो नहीं होते।

साहू शेर अर, शर क्या चीज है उनके सामने। चूहा कहने को बडा डरपोक होता है मगर जब माल खाकर मोटा हो जाता है तो चीते की तरह फुलान धरकर आँखों मे आखें डालकर चढ़ाई तक करने का हौसला रखता है। देख, तुझे चूहो से ज्यादा चालाक होना चाहिए। मगर तू निरा बुद्धू दिखाई देता है।

डउवा मौसम खराब होने के कारण सुस्ती है जरा सी। फिर शहर मे तो भूख की महामारी फलाई जा रही है। उसका भी असर है थोडा सा।

साहू (सिमट कर) बाप रे। राजनीति तू भी समझने लगा। मुझे भूख की महामारी से क्या मतलब ? (अगुलियाँ नचाते हुए) बात तो चूहो की ह। वही महामारी फैलाते हैं।

डउवा (बात काटकर) चूहे तो मैं मार ही सकता हूँ। दखो, मछलियाँ पानी के अन्दर रहती हैं कि नही ?

साहू बराबर रहती हैं।

डउवा जब मैं पानी म डूबी मछलियों को पकड सकता हूँ तो चूहे तो जमीन मे होते हैं। दोनों आखों से देख जा सकत हैं। फिर चूहा मछली स ज्यादा चिकना नही होता कि हाथ से फिसल जाय।

पोपा साहू जो इसके घर मे एक भी चूहा नही है।

साह न होंगे । शर्तिया न होंगे । इतनी तगडी वसूली हुई है कि इसक घर मे अनाज का एक दाना तो बचा न होगा ।

पोपा साह जी, तब तो इसे नौकर रख ही लो । गऊ आदमी है । चूहे बिल्ली के साथ रहकर शायद चलाकी सीख जाय ।

साह मुझे चालाक नौकर नहीं चाहिए।

डउवा भौजी तो ठिठलगी कर रही है । मुझे चालाकी कभी नही आयगी । एक बार चूहे कान कुतर लें तो भी नही ।

पोपा तब तो इसकी नौकरी पक्की कर दो, साह जो । ये चूहो स बोरो की जगह अपने कान कुतरा लेगा ।

साह चलो रख लेता हू । आज है सोमवार । कल स तरी नौकरी पक्की । हनुमान जी सहाय रहे ताकि अपने रोजगार म बट्टा न लगे ।
(पोपा और डउवा मच के एक ओर बैठ जाते हैं । सिपाही और मुशी का प्रवेश)

साह वाह वाह आप लोगो के दशन से ही जीवन स्वारथ हो गया ।

मुशी मैंने तुम्हारे गोदाम को शाही गोदाम बनवा दिया । जीवन तो स्वारथ हो ही गया । क्यो भाई करम सिपाही ?

सिपाही कुछ भी हो, जब किसानो स जबरदस्ती ग ल्ला वसूला गया तो वे बिगड गये । मैंने कहा, सह लो जितनी तकलीफ मिल । कम्पनी ने अगर जमीन छीनकर लुटेरो को द दी तो टापते रह जाओगे ।

साह अरे भइया ! कम्पनी को ये न करने दना वर्ना अपना धधा बैठ जायगा ।

मशी बस, हरा हरा फाँकते हो । अब जरा हमारा तुम्हारा हिसाब हो जाय । छावनी म सौ सौ सिपाही हैं । मैंने तुम्हे तीन हजार लोगो की रसद दी । बाकी रसद की चौथाई रकम मुझे दो ।

साह अरे बाप रे, तब फिर मुझे क्या बचेगा ? चवन्नी नहीं इकन्नी ।

मुशी चकलादार दीवान और हाकिमो का भी तो मुह बन्द करना है । उनकी औरतें भी पटरानियों की तरह रहना चाहती हैं । गुसलखाने म गुलाब जल से नहाना चाहती हैं ।

साह वो तो सही है । चलो, चवन्नी सही । सस्ते भाव पाँच हजार सिपाहियों की रसद और दिला दो । पूछोगे क्यों ? तो बताता हू । सौ सिपाहियों की रसद रोज चूहे खा जाते हैं ।

मुशी ठीक है ! ठीक है !! दफ्तर मे आ जाना । कागज पर मुहर मार दूगा ।
(दोनो वापस चले जाते हैं ।)

साह राज के लोग मदद करें तो काला धधा करने का मजा है । अब तो गनेशवन में चूहा का सगमरमरी कब्रिस्तान बनवाऊँगा ।
(पीछे से डउवा आता है ।)

डउवा साहू जी, नौकरी। नहा धोकर आ गया। काम बताए।

साहू मुझे तो नहाने की फुरसत ही नहीं मिली। चलो, मेरे साथ तुझे गोदाम तक ले चलूं। (कूद-कूदकर वह चलता है। पीछे-पीछे डउवा भी भाग रहा है।) हनुमान जी सहाय हों (रुकते हुए) देख, ये रहा मेरा गोदाम। इसके अन्दर एक डंडा, एक लालटेन और दो बिल्लियाँ हैं। (ढकेलता है) बस, बस, अब तू घुस जा अन्दर। मैं ताला लगा देता हूँ। सुबह आऊंगा तो देखूंगा कि तूने कितने चूहे मारे? बोरे पूरे हैं कि नहीं?

डउवा मैं अन्दर खाऊँगा क्या?

साहू कचौड़ियाँ! चली जा रही हैं अन्दर खा लेना। उल्लू, तुझे घर से खाकर आना था। ये सिपाहियों की खुराक है, तू कैसे खायेगा?

डउवा ऐसी शिक्षा मुझे मत दो। खाना हर आदमी एक ही ढंग से खाता है।

साहू अंग्रेज चक्कू-छुरी से खाता है, समझे।

डउवा खबर है कि बुंदेलखण्ड में कई राजा-रानी इनके खिलाफ हैं। अगर हैं तो ठीक ही है। जब से इनकी शकल दिखी, मरही आ गयी रियासत में।

साहू बक बक मत कर, नहीं तो घास दिये जाओगे। ये राजनीत हमारे-तुम्हारे बस की बात नहीं है। भूखा रहकर काम करने का मन हो तो बोल।

डउवा है मंजूर। घुसू गोदाम में।

साहू घुस जा, घुस जा। मैं बाहर से गुजराती ताला लगाये देता हूं।

(डउवा नाक बन्द करके अन्दर घुसता है। ताला बन्द करके साहू मंच से बाहर हो जाता है।)

डउवा बाप रे, किसका कान काटा था जो यह सजा मिली। ठाठ्ट्ट अंधेरा। कंजूस ने एक भी रोशनदान नहीं लगाया। अनाज की उमस से दम घुट रहा है। (चारों ओर देखकर) बोरे ही बोरे। बाहर भुखमरी। न यहाँ बिल्लियों का पता है न चूहों का। (डंडा संभालता है।) कोई चूहा दिख भर जाय चित। कर दूं। (आगे भागते हुए) अरे वो रहा, मार जल्दी मार (डंडा पटकता है) भाग गया साला। चलो, उधर छिपकर बैठ जाता हूं। चूं चूं बोलेंगे तो हमला कर दूंगा। (आगे बढ़कर) अच्छा, आई आवाज लगता है, चूहा चुहिया को कराह कराहकर बुला रहा है ये साले ऐसे ही प्रेम करते हैं। (डंडा पटकता है।) बेट्टो इश्कबाजी भूल गयी कि नहीं? (पास जाकर) अरे, एक भी न मरा। कैसे मरेंगे, बोरों के मारे वार ही नहीं हो पाता। लगता है उधर बिल है (जाते हुए) अबकी दांव न कर दिया तो डउवा नहीं। (पार्श्व से आवाज आती है। जागते रहो) जाग रहा हूँ। पहरेदार की आवाज है। हाय, आधी रात बीत गयी! अभी एक भी चूहा नहीं मरा। उल्टा मैं ही मरा जा रहा हूं (कान लगाकर) आवाजें बंद। जरूर दो चार चूहे पायन

हो गये होंगे । कुछ मर भी गये होंगे । उनकी लाशें ढूढने के लिए बोरे उठाऊँ नही तो मजूरी न मिलेगी । बाप रे, इस कोने मे ढेर सा गेहूँ । मौजी के लिए बाध लू । (गमछे म गेहू बाधता है ।) चूहे मरे तो जरूर है । बोरे उठाने ही पडेंगे । (इधर का बोरा उधर । उधर का बोरा इधर करने का अभिनय करता है । शिथिल होता जाता है । सहसा बेहोश हो जाता है । महलों मे गजर का घटा बजता है । थोडी देर मे साहू का प्रवेश ।)

साहू गजर का घटा बजा नहीं कि नीद खुल गयी । देखू तो डउवा ने चूहों को मारा कि चूहो ने उसे मारा । (ताला खोलता है ।) अरे र, ये तो कटे आम की तरह पडा है । (मुह के सामने हाथ हिलाकर) ये तो बेहोश है । गनीमत है कि ग दी हवा म मर नही गया । (अनाज की गठरी देखता है) अरे, ये अनाज की गठरी । साला चोर निकला । न न, अब इसकी नौकरी बरखास्त । (उस हिलाता है) अब भी बेहोश है । ऐसा न हो, बेहोश ही रहे । चलो घसीटकर बाहर कर देता हू । (घसीटता है ।) जा, जैसा आया था वैसे ही चला जा ।

डउवा (उठकर बैठते हुए) चला जाऊगा । मगर मेरे गेहू ?

साहू चोरी करता है ? घर का नौकर होकर चोरी करता है ?

डउवा साहू जी, बोरे उठाने म बडी मेहनत की है । मेरा गेहू मुझे द दो ।

साहू गेहू लगा क्यो बे, गेहू तेरे बाप का है न ? चोरी और ऊपर मे सीना जोरी । अपनी जान बचाकर भाग, नही तो जल म ब द करवा दूगा । वहा तेरी ऐसी तैसी हो जायेगी ।

डउवा भूखे पेट मुझे अपनी ऐसी-तैसी नही करवानी । (गठरी फेंककर) लो अपना गेहू । मैं चला ।
(डउवा जान छोडकर वहाँ से भागता है ।)

गीत

कागज झूठा, दसखत जाली
छीन रहे हैं । परसी थाली
लग्गू भग्गू अफसर भारी
न्याय जुलुम का करते जारी
मुलुक बेंचने की तैयारी
जनता पर लादे हैं ख्वारी
तोड़-छोड कर श्रम का कधा
भटक रहे हैं रोजी धंधा ।

(मच पर मुशी का प्रवेश । वह बडी सी मुहर हाथ म लिए है ।)

मुशी (स्वगत) कमाल राजा की मुहर का । और करम कागजी था । एक कागज

पर ठप्पा मारता हूँ तो लक्ष्मी घुटने टेककर हाजिर हो जाती है। मेरी संपत्ति भोगने के लिये कम से कम एक दर्जन बच्चे चाहिये। पहली बीवी चार बच्चों के बाद बोल गयी। दूसरी ठोंक बजा के की वो पीलिया की शिकार हो गयी। सिर्फ दो बच्चों के बाद गुर्राना सीख गयी है। इस पर भी गोरे कहते हैं, हम बेवकूफ हैं। अपनी औरतों की कद्र नहीं करते। उनकी नियत देखकर यहां के हर आदमी को चार चार दस दस शादियाँ कर लेनी चाहिये। वैसे मैंने तो अपनी सपत्ति बचाने के लिए ऐसा इरादा बनाया है। मैंने देखा हराम का धन बटोरने वाले कभी न कभी निःसंतान हो जाते हैं। मैं निसंतान न होने के इंतजाम में हूँ।

सिपाही (प्रवेश करते हुए) मुंशी जी! मुंशी जी!! कचहरी आपका इंतजार कर रही है।

मुंशी कचहरी इंतजार कर रही है या कोई फरियादी?

सिपाही मेरा मतलब फरियादी से ही था। मास की जबान थोड़ी उलट गयी थी।

मुंशी फरियादियों के बैठने के लिए मोढ़े तो नहीं लगवा दिये? जानते हो, उन्हें मेरे सामने फर्श में भी नहीं बैठना चाहिए।

सिपाही सिर्फ आपकी मखमली गद्दी के अलावा कुछ भी नहीं है वहाँ। फर्श में झाड़ू भी नहीं लगी। गंदगी में गंदा कानून चले तो अच्छा रहता है।

मुंशी (झोंक में) सही कहा। (मुंशी ठुमक कर गद्दी में उल्टा मुंह करके बैठ जाता है। पार्श्व से पुरुषों का शोर उभरता है।)

सिपाही (कागज रखते हुए) मुंशी जी, कागज संभालिए। रेला आ रहा है।

मुंशी (चौंकर) ठेला आ रहा है? कहाँ से आ रहा है ठेला?

सिपाही ठेला नहीं। आदमियों का रेला।

मुंशी बहुत शोर कर रहे हैं। कौन हैं ये लोग?

सिपाही अरे वो क्या नाम ठुबक ठुबक, ठांय ठांय।

मुंशी (पलटकर) ठांय! ठांय!! इन्हें बंदूक कहाँ से मिल गयी?

सिपाही अपनी सेना मे आधे से ज्यादा सिपाही जुलाहे हैं।

मुंशी क्या मतलब? सेना ने बगावत कर दी?

सिपाही अपनी सेना में किसान भी काफी हैं। वे बंदूक और तुपक चला लेते हैं।

मुंशी (घबडाकर) अरे, मेरा जी धक धक कर रहा है। आजकल जगह जगह पर बगावतें हो रही हैं। हमारी सेना के लोग तो नहीं हैं ये?

सिपाही नहीं। सेना तो अभी आपके काबू में है। ये फरियादी हैं। बुलाऊं उन्हें?

मुंशी अभी रुको। मुझे जरा अपने कान खुजला लेने दो। मैल ऊपर तक आ गया है इसलिए सुनने में बड़ी अड़चन होती है। अगर गलत सुन गया तो? (कान खोदता है।) अच्छा, पुकार करो।

सिपाही फरियादी अन्दर आ जायँ। मुंशी जी के कान साफ हैं इसलिए आहिस्ता बोलें। रोना तो कतई मना है।

(जुलाहे अन्दर घुसते हैं।)

सिपाही बस बस, यही रुको। आदमी होकर भेडों की तरह चलते हो?

पहला जुलाहा जब हमें आदमी रहने दिया जाय तब तो?

मुंशी मैं पूछता हूँ यह इल्जाम किस पर लगा रहे हो?

पहला जुलाहा अपने राजा की काहिली और तुम्हारी गद्दारी पर।

दूसरा जुलाहा क्योंकि अब आप लोगों को हमारी तकलीफें समझ में नही आती।

सिपाही आयेंगी कहो अभी कान साफ किये हैं।

तीसरा जुलाहा असर तो तब हो जब दिल साफ हो। मगर आप लोग तो अपने दिल की पहचान ही भूल गये हैं।

मुंशी ऐसा कहोगे तो हम फरियाद नही सुनेंगे।

पहला जुलाहा सुनेंगे क्यों नहीं? हम लोग तपती धूप म कोसों चलकर यहा आये हैं।

सिपाही सुनेंगे जरा मैं तुम लोगो की जेबें टटोल लू। (सब की जेबें टटोलता है।) जेबें ठीक हैं साब।

मुंशी कचहरी के कानून कायदे को ध्यान मे रखते हुए बोलो जो बोलना हो।

पहला जुलाहा कम्पनी की नीति हमारे राज म क्यो चलाई जा रही है?

मुंशी कपनी वाले जानें। मगर हुआ क्या?

दूसरा जुलाहा हमारे घरो के सारे करघे उजाड दिये गये हैं।

मुंशी बस इतनी सी बात। तुम ठुक ठुक करके कितना कमा लेते हो?

दूसरा जुलाहा हम इतना कमा लेते है कि हमारे कुटुम्ब आराम से रहते हैं।

मुंशी कम्पनी का काम करोगे तो धनी बनोगे। वह यही तो चाहती है कि उसके काम का ठेका लो और ज्यादा पैसे कमाओ।

तीसरा जुलाहा यह कोई जरूरी नही। ये देश का माल विदेश भेजते। आज नही तो कल गरीबी बढेगी ही। इसलिए हम अपना पेशा नही छोडना चाहते।

दूसरा जुलाहा इस काम के लिए हमें मजबूर न किया जाय। सूरत की कम्पनी बहुत फायदा उठा रही है।

मुंशी फायदा उठाती है तो अपनी हिक्मत से।

तीसरा जुलाहा मगर उसके मुनाफे म हमारी मेहनत लगती है।

मुंशी तुम मेहनत नही करोगे तो क्या राजा करेगा? ऐसी बात करोगे तो सेना के सिपाही भी न बन पाओगे। मेरा कहना मानो और अंग्रेजी दलालों के लिए काम करो। वर्ना करघे चल नही पावेंगे।

दूसरा जुलाहा हम ये सब नहीं करेंगे। सिर्फ निजी धधा करेंगे। हमारे ग्राहकों को हमारे हाथ का बना कपडा पसद है। वह मजबूत होता है। उनके शरीर को रास आता है।

मुंशी तो तुम अपना धधा करोगे?

सभी जुलाहा हाँ हम अपना ही धंधा करेंगे।

मुंशी (व्यंग्य से) जरा फिर से तो कहो।

सभी हम कम्पनी का हुकुम कतई नहीं मानेंगे। अपना धंधा करेंगे।

मुंशी (व्यंग्य से) जरा फिर से तो कहो।

सभी हम कम्पनी का हुकुम कतई नहीं मानेंगे।

मुंशी सिपाही ले जाओ इन्हें। दारोगा से कहना कि ऐसा मारे कि इनकी रीढ़ की हड्डी टेढ़ी हो जाय। पैर भले सलामत रहे पर हाथ बेकार हो जाँय।

पहला जुलाहा कम्पनी के अंधे दलाल! गजब न करो। प्रजा को सूखे कुए में मत ढकेलो। गोरों का राज हम बर्दाश्त नहीं करेंगे।

मुंशी बागियों की दुम! मैं जानता हूँ कि तुम्हारे कितनी ताकत है। टिटहरी की तरह आसमान उठाने का दावा बेकार है। जेल जाओ। खाने के साथ सुबह-शाम कोड़े भी खाओ। तुम्हारे कपड़े वहीं भिजवा दिये जायेंगे।

(सिपाही सबको हाँककर मंच से बाहर कर देता है। फिर वापस आ जाता है।)

मुंशी ठीक किया न मैंने? हमारी रिआया तब तक तरक्की नहीं कर सकती, जब तक इसे अपनी जमीन और अपने धंधा से लगाव रहेगा।

सिपाही बजा फरमाया आपने। आपकी बुद्धि देखकर तो राजा ने अपनी मुहर आपको सौंप दी।

मुंशी उन्हें तो बस अमन-चैन का भरोसा चाहिए। सो है। मगर एक समस्या बड़ी टेढ़ी आन पड़ा है। उसी के सुलझाने के चक्कर में हूँ। बड़ी रानी छोड़ो बाहर रक्खो कोई फरियादी है।

सिपाही अभी तो कोई नहीं दिखाई देता।

मुंशी लगान वसूली का काम ठीक से हो रहा है न?

सिपाही जमींदारों का जुल्म जारी है। छानी-टपरा हो रहे हैं। खेत छिन रहे हैं। भाड़ बर्तन नीलाम हो रहे हैं। इससे ज्यादा अब होगा क्या? यह सब हो रहा है जिसका यहाँ का किसान आदी न था। फिर भी कमिश्नर साहब कहते हैं कि यहाँ की प्रजा की जान माल की हिफाजत नहीं होती। (पीछे से औरत के रोने की आवाज उभरती है।) लो साँब, अगर हुकुम हो तो औरत को पकड़ लाऊं। बीमार गाय की तरह रंभा रही है। बोलिए, कार्यवाही करना चाहेंगे?

मुंशी जरूर करना चाहूँगा। औरतों का रोना हरदम अच्छा नहीं लगता। अरे, तुम जाओ (सिपाही जाता है।) देखो मैं ज्यादा से फर्जी हुआ हूँ। किसमत और हिकमत की बात है। राजा की मुहर मेरे अलावा किसी के पास नहीं है। इसीलिए मैं हाकिमों का हाकिम और वजीरों का वजीर हूँ। यहाँ की जनता कहती है कि गद्दी पर बैठते ही मेरी योग्यता ऐसी उभरती है जैसे पानी में

गू। अगर ऐसा है तो यह मुझसे छिपती है। दो-एक नेक काम करके मैं उसकी उदारता ज्ञात कर लूँगा।

(दोनों सिपाहियों से घिर कर औरत कचहरी में पेश होती है।)

कचहरी में आना क्यों छिपाकर की तरह फिर रही थी। इसलिए तुम मेरे सामने सिर ढके खड़ी हो। हाथ-पैर की गोराई देखकर मैं जान गया कि तुम्हारा मुँह चाँद के टुकड़े जैसा होगा। (मुस्कराकर) अच्छा बताओ घूँघट के भीतर से मैं तुम्हें दिखाई दे रहा हूँ कि नहीं? (सहसा औरत रोना शुरू कर देती है।) अरे रे, रोती ही चली जाती हो। क्या मेरी तरही में कोई हो? अपनी बात कहो। (औरत सिपाही के कान में फुसफुस करती है।)

सिपाही हुजूर, यह कहती है कि इसका घरवाला मर गया है।

मुंशी इस साल देखा तो ऐसा नहीं। फिर कैसे मरा? (औरत बड़ी तेजी से खिल खिला कर हँसती है। सिपाही के कान में कुछ कहती है।) अरे रे तुम्हारा घरवाला मर गया और तुम हँसती हो?

सिपाही हुजूर, यह इस बात पर हँसती है कि आपको यह भी पता नहीं है कि गरीब कितने ढंग से मरता है।

मुंशी नहीं जी। यह दूसरी बात करना चाहती है। (रुककर) बताओ कि तुम हँसी क्यों? (औरत फिर रोने लगती है।) यह क्या बकवास है? सिपाही मुझे ठीक न समझाओ। क्या इससे कहो कि मुझसे खुल कर बात करे।

सिपाही रोते रोते हँसना, हँसते हँसते रोना यह पागलपन की निशानी है। पर हुजूर यह औरत पागल नहीं है। यह सोचती है कि इस गाँव में बैठे ही बार कितने नये हो जाते हैं।

मुंशी (उठकर अपने चारों ओर देखता है।) नहीं नहीं ऐसी कोई बात नहीं है। मेरी बाँह काफी मजबूत है। मेरे मन में है कि मैं नेक काम कर डालूँ ताकि प्रजा मेरा मजाक न उड़ाय। इससे कहो डर नहीं मुँह खोल दे और बेधड़क होकर बात करे।

सिपाही सारे आम मुँह मत खुलवायें। यहाँ के लोग औरत की इज्जत के लिए प्राण ले लेते हैं। यह बात छावनी के सिपाहियों को भी बता दीजिएगा।

मुंशी अच्छा, मुँह ढके ढके अपने दिल का दुखड़ा कहे! पर ख्याल रहे अब न यह रोये न हँसे।

सिपाही बोलो भाई, मैं कब तक तुम्हारी वकालत करूँ?

औरत (हिचकते हुए) हुजूर किसी तरह मैं आदमी का दुख भूल गयी। मगर गजब यह हुआ कि लगान के लिए मैंने अपने इकलौते बेटे को पाँच रुपये में बेंच दिया। मेरा बेटा मुझे दिलाया जाय। अकेले में मुझे उसकी बहुत याद आती है। मेरा प्रेम उमड़ता है तो रोने लगती हूँ। अत्याचार के बारे में सोचती हूँ तो हँसी आती है।

मुशी किसने खरीदा तुम्हारे लल्ल को ?

औरत जमीदार ने। अब वह उसकी बकरियाँ चराता है। खाने मे उसे बासी महेरी मिलती है। वह बीमार पड जायेगा।

मुशी बीमार तो वह तुम्हारे घर में भी पड जायेगा।

औरत मैं अपने प्यार स उसे ठीक कर लूंगी। उसमे मेरा खून बहता है। मैं जानती हूँ कि उसके शरीर के लिए कौन सी दवा मुफीद है।

मुशी बडी अच्छी मां हो।

औरत बचपन तो यही है। पालन-पोषण के लिए मेरे बच्चे को मेरे पास रहना चाहिए। उसे बधुआ बना लिया गया है। न हो तो उस घर म मुझे भी बधुआ बना दिया जाय।

मुशी इस खुशी म मैं तुम्हे राजमहल म भेज दूँ तो ?

औरत राजमहल जाकर क्या करगी ? वहाँ मेरा बच्चा नही है। बडा होगा तो मैं उसकी शादी करूगी। महनती बहुआ सी सुन्दर बहू लाऊँगी। वह काम-काज म मेरा हाथ बटायगी।

सिपाही गलत गलत गलत जब बेटा बिक गया तो बहू पर भी तुम्हारा अधिकार नही रहेगा। कानून भी नही समझती।

औरत यह अन्याय है। जमीदार को सजा दो।

मुशी नही दूगा। सजा देनी होगी तो तुम्हे ही दूगा।

औरत तुम्हे नाक छिडकने की तो तमीज नही है। तुम क्या सजा दोगे।

मुशी (उचककर) क्या कहा ? मेरे नाक नही है। है।

औरत नही है। गौर से देखो नही है।

मुशी तुम्हारे कहने स। मेरी नाक किसी ने नही काटी।

सिपाही मगर एक बात है कि राजा हो या हाकिम उसकी नाक का फैसला जनता ही करती है।

मुशी ये बात है। तब तो मुझे अपनी नाक की फिक्र करनी पडेगी। (सोचकर) इस ऊँचे पद मे बिठा दूँ तो यह खुशी-खुशी स मेरी नाक की तारीफ करने लगेगी।

सिपाही फिर शुभ काम म देर काहे की ?

मुशी लो, कागज म ठप्पा लगाकर लिख देता हूँ। तुमको छोटी राजरानी बना देता हूँ।

(कागज पर लिखने लगता है।)

औरत ऐसा कुछ मत लिखो। मुझे राजरानी नही बनना। उनकी जिन्दगी मुझसे अच्छी नही है।

मुशी अरी बेवकूफ औरत ! बचपन से हर लडकी रानी बनने का ख्वाब देखती है। मैं तुझे सचमुच राजरानी बना रहा हूँ और तू उसे ठुकरा रही है।

औरत — इसमें कोई चाल तो नहीं है?

मुंशी — है। ऐसा है कि बड़ी रानी का झुकाव कप्तानी की तरफ हो गया है। महाराज को शक है कि यह उन्हें जहर देकर मार डालेगी। मुझे लगता है, राजा के दिल से तुम यह डर मिटा सकती हो।

औरत — तो कप्तानी राजमहल के अन्दर भी पहुँच गयी। मुंशी जी मुझे राजमहल में पहुँचा दो। मैं तैयार हूँ।

मुंशी — पर सुनो, राजा को खुश करके कोई वरदान न माँग लेना।

औरत — नहीं माँगूगी। दो जून की रोटी के अलावा मुझे चाहिए ही क्या?

मुंशी — रोटी? मैं कहता हूँ मालपुआ खाना। मगर बड़ी रानी की सिफारिश न करना वरना समझ लो मुहर मेरे पास है।

औरत — नहीं करूँगी। राजा से वरदान नहीं माँगूगी।

सिपाही — अलबत्ता औरतनुमा हुकूमत झाड़ सको तो झाड़ लेना। राजा औरतों से बहुत जल्द प्रसन्न हो जाते हैं।

(अंधकार)

द्वितीय अंक

(कतार बद्ध सारे पात्र खड़े हैं। पोपा सज धजकर ठुमुक-ठुमुक चलती हुई राजमहल में जाने का अभिनय करती है।)

गीत

अब तो पकड़ी राह हरम की।
इत्ता पानी उत्ता पानी
पोपा बन गयी यूँ ही रानी
जिसका खून गरीब का पानी
कब तक रह पायेगी रानी
अंधे के हाथ, बटेर लगी है
राज जोग की रेख जगी है
ये मेहरबानी मुहर की
अब तो ।

(पंक्ति से डउवा दौड़कर पोपा का पीछा करता है)

डउवा — भौजी, तुम भी मुहर के चक्कर में पड़ गयी। यह धोखा है। तुम मुझे छोड़कर राजमहल मत जाओ।

पोपा — मुहर बगैर कोई बादशाह अपनी बादशाहत नहीं साबित कर सकता इसीलिए उसकी ताकत का कमाल चारों तरफ दिखाई दे रहा है। मेरी तकदीर खुल गयी। मैं तो जाऊगी।

डउवा भौजी, गाढे दिनो म मैंने तुम्हे चोरी कर करके खिलाया है। अब भी चोरी करके तुम्हारा पेट भरूगा। सोचो तुम्हारे बगर मैं तो गुलाम भी नही रह जाऊगा।

पोपा सुन, पोपा तुम्हे कभी नही भूल सकती। मैं जानती हूँ तुम चोर नही हो। नेक इनसान हो।

डउवा कठी-माला वाला उपदश मत दो। मेरा पेट कोठिला है और मुझे अन्न के सिवा कुछ नहीं सुझायी दता। सुना है राजा की रसोई मे छावनी के सिपाहियो के लिए ढेर सारा खाना बनता है। न हो, चूल्हा फूकने का नौकरी ही दिलवा दो। पेट की आच से चूल्हे की आच कमजोर होती है।

पोपा मगर मैं तुम्ह अन्दर कैसे ले चलू ? ड्योढी पर पौरियो की मूछें देखकर तो मैं भी सहम जाती हूँ।

डउवा अब तुमको काहे का डर ! वे तो तुम्हें झुककर सलाम करेंगे। मुझे साथ ले लो। काम ही आऊगा तुम्हारे। राजमहल के नौकर भी गरूरी होते हैं। बोल भौजी अब तो ड्योढ़ी दिखने लगी।

(दो पात्र पक्ति से बाहर आ ड्योढ़ीवान बन जाते हैं)

पोपा आ हो तुम, समझते हो जैसे मैं बद्रीनाथ की यात्रा म जा रही हूँ।

डउवा समझ लो अगर तुम नरक मे जा रही हो तो भी मैं चलूंगा।

पोपा नही मानते तो चलो। मेरे पीछे-पीछे सिर झुकाकर चले आना।

डउवा अरे इस तरह तो पौरिए मुझे धक्का मारकर किले के नीचे ढकेल देंगे। शरीर का मास तो खतम हो गया है। कम से कम हड्डियाँ तो बची रहने दो।

पोपा फिर सोचती हूँ कुछ। (साडी देती है।) लो, यह साडी लपट कर मुह ढक लो। बस, मेरे पीछ लगे रहना। न रुकना, न किसी से बात करना। मैं कह दूँगी कि यह मेरी बादी है।

डउवा बदा से बादी बना ही दिया तुमने। लाओ मैं धोती पहन लेता हूँ। (साडी लपेटता है।) चलो तैयार हो गया।

पहला दरवान कौन हो तुम लोग ?

पोपा कैसे हो तुम लोग ? यह भी नही जानते कि सरकार स कैसे बात की जाती है। मैं छोटी राजरानी हूँ।

दूसरा दरवान सुबह स तो कोई रानी बाहर नही निकली। वैसे बीस बीस रानियों को पहचान पाना भी बडा मुश्किल काम होता है।

पहला दरवान अगर आप सरकार है तो आपका नम्बर क्या है।

पोपा (जल्दबाजी मे) आखिरी नम्बर आखिरी। आज परदोस का सोमवार है कि नहीं ?

दूसरा दरवान परदोस है कि नही ? पर सोमवार तो है।

पोपा नदी स्नान कर के शिवजी की मूर्ति म बेलपत्ती चढ़ानी थी। सुबह सुबह

नहीं तो गयी थी।

दूसरा दरवान कैसे मानूं ? जाते तो मैंने देखा ही नहीं।

पोपा अदालत में हाजिर कर दूंगी। जिस समय मैं गयी थी, तुम दोनों सुबह की ठंडी हवा में ऊंघ रहे थे। (कागज दिखाती है।) फिर भी ये देखो, मेरा कागज।

पहला द्वारपाल गलती छिमा हो सरकार, बेधड़क जाइए। मगर ये (अपने मन समझ में नहीं आता कि यह मर्द है कि औरत। (जोर से) ये मर्दनुमा औरत कौन है ?

पोपा अरे, मेरी खास बांदी है।

दूसरा द्वारपाल अच्छा। लगता है यह बांदी आपके मायके से आई है।

पहला द्वारपाल चुप, पुरा-पड़ोस की लगती है।

पोपा तुम लोग नशा-पत्ती तो नहीं करते जो बहकी-बहकी बातें कर रहे हो।

पहला द्वारपाल क्षमा करें सरकार। हम क्या करें। आजकल राजमहल में किसी के साथ कोई न कोई रहता ही है। बड़ी सरकार के साथ भूरी अंग्रेज मेम

दूसरा द्वारपाल अबे बतूनी अपनी नौकरी बचा और सरकार को अंदर जाने दे। वो मेम नहीं घुस है घुस । किले की नींव खोद रही है।

(पोपा और डउवा राजमहल के अन्दर प्रवेश करते हैं। दोनों दरबान हट जाते हैं। दोनों राजमहल के वैभव को चकाचौंध होकर देख रहे हैं।)

डउवा कितनी डरावनी दीवारें हैं इस किले की ! भौजी क्या तुम्हें नहीं लगता कि हम जैसे मगरमच्छ के जबड़े में चल रहे हैं !

पोपा मगरमच्छ के जबड़े में तो पूरी रियासत जानेवाली है। छि, जल्दी चलो यहाँ चमगादड़ों की बदबू आ रही है।

डउवा उधर ढाल वाले मैदान की तरफ चलें। देखो देखो, लोहे की तोपें रखी हैं! मगर तोपची तो चबूतरे में बैठकर शराब पी रहे हैं।

पोपा उधर चलना ठीक नहीं। अब इनकी बहादुरी खत्म होती जा रही है। जब से महुआ से शराब उतरने लगी तब से ये शराबी होते जा रहे हैं। एक दिन होली में मैंने देखा था कि पच्चीस शराबियों ने शराब पी और आपस में सिरफुटौवल की। एक सिपाही ने उनकी जेब के पैसे निकाल लिए। और नशाखोरी के दफ्तर में जमा कर दिये।

डउवा तो फिर उधर चलो। वो देखो शीशे के महल में भूरी मेमें।

पोपा बड़ी सरकार ने इन्हें अपने घर में घुसाकर ठीक नहीं किया। शहर की औरतों की इज्जत खतरे में है और ये राजकुमारियों से भी ज्यादा सुरक्षित हैं।

डउवा उधर मत चलो। वे खिड़कियों से झांक-झांककर देख रही हैं। सुना यहीं कहीं कमिश्नर कचेहरी भी लगाता है।

पोपा सारी जानकारी तो हो गयी। मगर मुझे यह पता नहीं कि मेरी कोठी कहाँ है ? लगता है यहाँ के नौकर चाकर भी गड़बड़ हैं।

डउवा चलो उधर। रजवाड़े में लोग उधर ही रहते हैं। मुझे तो इस जगह डर लग रहा है।

पोपा अब तो तुम जिंदगी भर डरते ही रह जाओगे।

डउवा मगर मैं कहाँ जाऊं? रसोई घर का अता पता हूं नहीं है।

पोपा बावन की खुशबू या सब्जी का बघार सूंघने की आदत न छूटी होगी तो रसोईघर तक पहुँच ही जाओगे।

डउवा मुझे किसी तरह रसोईघर में नौकरी चाहिये। गुजर तो मैं कंडा-लकड़ी की कोठरी में कर लूंगा।

पोपा जाओ फिर। पर ध्यान रखो अगर जीना है तो थोड़ा झूठ बोलना भी सीख लो। रसोइए भी बड़े लोगों की चाल सीखकर चालाक हो गये होंगे। वे तुम्हें रसोई से बाहर भी रख सकते हैं। अच्छा, अपना राह पूछो। जो होयगा देखा जायेगा।

(दोनों अलग दिशा में चलकर मंच से बाहर हो जाते हैं।)

(एक कुर्सी रखी है। राजा बेचैनी के साथ टहल रहा है। पोपा दूर से झाँककर उसे देखती है।)

पोपा यह क्या? शहर में तो खबर है कि राजा छह महीने के लिए सो गया। देखने से तो लगता है कि इन्हें छह महीने से नींद ही नहीं आई। बहुत परेशान दिखते हैं।

राजा कौन है इधर? मेरी आजादी छिन रही है। मैं ठंडा सूरज हूं।

पोपा (झुककर) मेरा ठंडे सूरज को जुहार।

राजा तुम्हें बड़ी रानी ने जहर देकर तो नहीं भेजा।

पोपा महराज डरें नहीं। मैं बड़ी रानी को जानती भी नहीं।

राजा लगता है। तुम मंझली रानी हो।

पोपा नहीं महराज मैं रानी नहीं, बांदी हूँ।

राजा झूठ मत बोलो। तुम राजरानी हो। समझ में नहीं आता, अपने को बांदी क्यों कहती हो?

पोपा महराज, औरत तो बांदी होती ही है चाहे वह राजमहल की रानी हो या गली की भिखारिन। मगर आपकी रियासत में तो हर मरा गया मर्द राजा हो गया है।

राजा लगता है तुम मेरे राज्य के बारे में बहुत जानती हो। मैं कहता हूं कि राजा का दिमाग काम न करे तो रानियों को आगे आना चाहिए।

पोपा मैं रानी नहीं बांदी महराज!

राजा मुझे लगता है कि तुम्हें रानी होना चाहिए! मुझे ऐसा भी महसूस होता है कि मैं तुमसे बातें कर सकता हूं। मगर सच-सच बताओ तुम जहर लेकर तो नहीं आई?

पोपा महराज, मुझे लगता है कि आपको जहर दिया जा चुका है।

राजा बड़ी जानकार हो। ऐसा मेरे साथ हुआ है और मैं कई दिन तक बेहोश भी रहा हूँ।

पोपा शहर म तो खबर फैली है कि आप छह महीने तक सोते हैं।

राजा (उतावलापन) तुम शहर कब गई थीं ? अब का जाना तो मुझे भी ले चलना।

पोपा आप अपने स चलिए। फौज फाटा के साथ हाथी म बैठकर घूमिए।

राजा (मुह लटकाकर) नहीं चल सकता। मैं किसी को हुकुम नहीं द सकता। मेरी मुहर किसी ने चुरा ली है। वैसे दुनियाँ म कोई गरीब नहीं होना चाहता पर मेरी इच्छा होती है कि मैं गरीब बन जाऊ।

पोपा ऐसा न कहिए महराज। आपके मुह से यह बात अच्छी नहीं लगती। गरीबों की जिन्दगी भी कोई जिन्दगी होती है।

राजा देखो, गरीब चिथडा पहनने और मोटा-झोटा पहनने म संकोच नहीं करता। वह अपनी दुदशा पर हसता है तब भी जिन्दगी का मजा लता रहता है। सच मानो, मरा मन होता है कि मैं ताशा बजाकर लोगो के बीच नाचू।

पोपा मगर जनता आपके साथ नहीं नाचगी महराज! वह आपसे अब नफरत करने लगी है।

राजा अर, मेरी प्यारी जनता मुझसे नफरत करने लगी। तुम मुझे समझाओ तो, ऐसा क्यो हुआ ?

पोपा यह तो बाद म बताऊगी! मगर इसके पहले वचन दीजिए।

राजा मैं तुम्हे हीरे की अगूठी दूँगा मुझे बताओ।

पोपा हीरे की अँगूठी, छि। वह किसी नखरीली रानी को दीजिएगा। मुझे वचन दीजिए।

राजा दिया। आँख मूद के दिया। मुझे बताओ तो सही।

पोपा तो सुनिए। आपके राज मे हरबोले आजादी का गीत गाते-गाते छावनी की तरफ गये तो उनकी सारगी तोड़ दी गयी और उनकी दाढ़ियाँ उखाड़ने की कोशिश की गयी।

राजा ऐं हमारे राज मे हरबोलों के साथ ऐसी हरकत! ये हमारी आनबान पर हमला है।

पोपा गोरों ने तो न जाने कब से आपकी आनबान पर हमले शुरू कर दिये हैं।

राजा कुछ और भी हुआ क्या ?

पोपा अब औरतें सजधज कर बाजार हाट जाने मे हिचकती हैं। कजलियों के मेले जवारा नहीं उठातीं। न गीत गाती हैं। उन्हे डर लगा रहता है कि कहीं तबुओ मे न भेज दिया जाय।

राजा (कड़ककर) कौन भेजता है ? नाम बताओ।

पोपा नाम भी बता दूगी। जरा धीरज से काम लें। तालाब बजर बन रहे हैं।

सोचिए न उनमें कमल खिलेंगे, न कुमुदनी। जनता दशहरे के दिन भी मछलियों के दर्शन न कर पायेगी। ढीमर पनाह माग गये। रियासत से मछली मारने का रोजगार खतम हो रहा।

राजा यह सब क्या हो रहा है? मैंने तो कुछ किया नहीं।

पोपा करें या न करें। अपराधी तो आप ही जाने जायेंगे। सोचिए जमीनें छिन रही हैं। लोग लगान नहीं दे पाते तो उन्हें पीटा जाता है। महराज, एक किसान औरत ने जमीन बचाने के लिए गभुआर बच्चे को बेच दिया। अब जब वह उस खेत का अन्न खाती है तो उसे कै हो जाती है। और सुनिए, रियासत के पूरब में अकाल पड़ा है। मगर जनता पानी पीने के लिए कुआ नहीं खोद सकती।

राजा (माथा ठोकता है।)

पोपा माथा मत ठोकिए महराज। रियासत के जुलाहे बेकारी के कारण भूखों मर रहे हैं। उनका सूत मुफ्त में छीन लिया जाता है और करघे तोड़ दिये जाते हैं। वे बहुत नाराज हैं।

राजा बस बस मेरे कान फट जायेंगे। ये सब कौन कर रहा है?

पोपा आपकी मुहर। (कागज दिखाती है।) ये देखिए, आपकी मुहर ने मुझे राजरानी बना दिया। जबकि महराज मैं गरीब कपड़ा धोनेवाली औरत हूँ। और जो भी कह रही हूँ आंखों देखी कह रही हूँ। मुझे राजरानी बनने का कोई शौक नहीं है। मुझे तो लगता है कि एक दिन आपकी मुहर आपको कैदखाने में डाल देगी।

राजा ऐसा न कहो मुझे डर लग रहा है। किसी तरह मेरी मुहर मुझे दिला दो। मैंने कैदियों की जिंदगी कभी नहीं जी। मैं चक्की की मूठ भी नहीं पकड़ सकता।

पोपा आप मर्द नहीं हैं क्या? आपकी जेल में तो सैकड़ों बेगुनाह चक्की पीस रहे हैं।

राजा जिन्दगी भर मैं राजा जी रहा हूँ। मखमल की गद्दी में बैठकर सजा देता रहा हूँ। मुझे असली दुख की पहचान कभी नहीं रही। मैं अकेले में तुम्हारे हाथ जोड़ता हूँ। मेरी मुहर मुझे दिलवा ही दो।

पोपा एक शर्त पर महराज!

राजा राजा होने के नाते मैं उदार भी बहुत हूँ। मैं आंख मूंदकर तुम्हारी शर्तें मंजूर करता हूँ।

पोपा तो किले की मना में भर्ती मैं करूंगी। छावनी की रसद मेरे हाथ से जायेगी और मुहर के बूते मनमानी करने वालों को मैं सजा दूंगी।

राजा अभी तो तीन ही शर्तें हुई। दो और कहो।

पोपा महराज दो शर्तें उधार रहीं।

(राजा तथा पोपा मंच से बाहर चले जाते है। प्रसन्न मुद्रा में डउवा मंच पर आता है।)

डउवा (दर्शकों से) रसोइया की जी हुजूरी करने में बड़ा मजा है। तारीफ सुनकर वह फुकने की तरह फूलता है और मैं चतुर बिल्ली की तरह दूध मलाई झाड़ता हूँ। काना सुदास और विश्वंभर के चावल खाते खाते मेरे पेट की ओझरी बढ गयी। सूखी नसें हरी हो गया।

पोपा (प्रवेश करते हुए) तुम जैसे लोग जरा से में जाग की तरह फूलकर मस्त हो जाते है।

डउवा राम जुहार भौजी। आजकल मैं परम सुखी इंसान हूँ। चाहे तो शादी कर लूं।

पोपा रजवाड़े का नमक खाया हो तो कीमत भी चुकाओ।

डउवा सचमुच तुम तो अब रानी की तरह झिड़कने लगी हो।

पोपा क्यों न झिड़कूं? भूल गये वायदा। पेटू की तरह बस आते ही खाने में छिपने लगे। गरीब होने का मतलब कायर होना नहीं होना।

डउवा न न। तुम हुकुम तो करो। मैं कायर नहीं हूं।

पोपा सुनो, मैं राजा से मिलकर आ रही हूं।

डउवा उन्हें कैसे जगाया तुमने?

पोपा (हसकर) जगाने की जरूरत नहीं पड़ी। उसे तो रात में भी नींद नहीं आती। उसके सोने की अफवाह गलत है। मुंशी ने राजा की मुहर चुराई है।

डउवा कहो तो मैं मुंशी से उस मुहर को चुरा लाऊं।

पोपा तब तो राजा तुम्हें मालामाल कर देंगे। वे अपनी मुहर के लिए बेचैन हैं। उन तक कोई खबर भी नहीं पहुँचाई जाती।

डउवा खूब याद दिलाई। वो कमिश्नर की कचहरी के पीछे एक दिन मैं जगल जलेबी खा रहा था। दीवार फांदकर एक हरकारा आया। बोला राजा तक यह पैगाम पहुँचा दो कि अंग्रेजो का डटकर मुकाबला करें और कुछ सेना झाँसी भिजवा दें। (जेब से लिफाफा निकालकर) उसने मुझे यह लिफाफा दिया। कहा महारानी का पैगाम है। यहां के अफसर बेईमान है। इसलिए यह काम तुम करो। बस, फिर वह उल्टे पाँव लौट गया। जैसे बड़ी जल्दी में हो।

पोपा लाओ कागज। तुम नहीं जानते रानी के लिए रियाया के लोग काम कर रहे हैं। हम भी कुछ करना चाहिए।

डउवा चलो मैं चोरी से ही अपना काम शुरू करता हूं। चिंता मत करो, दो चार दिनों में ही मुहर तुम्हारे हाथ में होगी। मुझे लगता है। नेक नियती से चोरी की जा सकती है।

पोपा क्यों नहीं? अब तो तुम्हारे शरीर में हिरना की सी फुर्ती आ गयी है।

(पोपा मच के एक कोने म बैठ जाती है । डउवा फुदकता हुआ मच मे चक्कर काटता है ।)

नमक चोर के घर मे पैठू
इलम दिखाऊ चोरी का
चोरी का मुह जोरी का
मुहर उठाऊ मन्तर मारूँ
तान भूत ऊपर से झाड़ू
कागज पत्तर झट स काढूँ
ढक्कन खोल तिजोरी का
इलम दिखाऊँ चोरी का ।

(जैस ही मुशी अपनी उधेड-बुन म मच पर आता है । डउवा चुप होकर उस ताकने लगता है ।)

मुशी (स्वगत) मुझे क्या पता था कि सात समुद्र पार से आये ये व्यापारी भी दरिद्र होते हैं । रियासत से एक लाख रुपया कर्ज मांगते हैं । वह भी चाँदी का रुपया । बोरों म लदेगा तो जनता जान जायेगी और मेरी भी जान चली जायेगी । इन्ह क्या मालूम कि हमार खजाने मे काले साँपों का पहरा रहता है । लक्ष्मी बाहर क उजाले स डरती है । (डउवा झपटकर मुशी से लिपट जाता है ।)

डउवा अरे मुशी । मुद्दत के बाद मिले हो ?

मशी अबे छोड कौन है तू ?

डउवा गले लग लेने दो मुशी, कलजा ठडा गया मिलकर ।

मुशी तू कहा का सगा निकल आया ! आजकल तो मेरे रिश्तेदार भी मुझसे पिनके हैं ।

डउवा (मुशी की जेब म हाथ डालकर मुहर निकालता है ।) वे तरक्की देखकर जलत होंगे । मैं तो तुम्हारी हरकतों का कायल हूँ ।

मुशी अच्छा छोड । हो चुका । (बाह पकडकर सामने करता है ।) अबे तू । गधे, शर्म नहीं लगी गल मिलते ।

डउवा ऐसा बोलते हो जैसे मैंने तुम्हारा गला काट लिया हो । अब इतने बडे आदमी हो गये इतने बडे आदमी हो गये कि हमारा प्यार भी अच्छा नही लगता ।

मुशी चुप कर । तुम क्या खाकर मेरा गला काटोगे ?

डउवा चिरायर और तुलसी भोग के चावल खाकर । नही नही, मेरा मतलब ये कि ये कि । तुम्हारे रुतबे के आगे तो अपना मतलब ही भूल गया । (मुहर अपनी जेब मे रखता है ।)

मुशी अबे डउवा तू ?

डउवा हा मैं डउवा !

मुंशी तुझे कितना खोजा गया ? कहाँ मर गया था ?

डउवा यही खराब बात करते हो मुंशी । पता नहीं मेरी मौत से तुम्हारा क्या सरोकार है ?

मुंशी तेरे जिन्दा रहने से भी मुझे क्या ? मगर तू था कहाँ ?

डउवा देखते नहीं शरीर की खुशी । महमानी चरने गया था ।
मुझे जरूर बेगार के लिए बुलवाया होगा तुमने ।

मुंशी बेगार के लिए नहीं तेरी खाल उधेड़ने के लिए बुलवाया था ।

डउवा खाल उधेड़ने के लिए ? अरे, मेरी खाल से तो पनही भी नहीं बनेगी । कुछ और बात होगी ।

मुंशी तेरे घर में खूंटे से बंधा बंधा एक गधा मर गया । पास पड़ोस के लोग गंध से सड़ गये ।

डउवा (चीखकर) अरे, गजब रे । बिना कढ़ी खाये भौजी का गधा मर गया । अब तो मैं तुम्हें छोड़कर उसी से मिलूगा । (जाते जाते रोता है ।) अरे मेरे साथी, तू बिना घास खाये मर गया । और मैं चिनावर चावल खाता रहा । मैं अब तेरी तरह अनाथ होकर नहीं मरूगा । (प्रसन्न) *मुंशी जी की जै जै जै*

मुंशी जै करने के लहजे में क्यों जै बोल रहा है ?

डउवा (रोता है) अरे मुंशी जी, भौजी का गधा अगर काबुल में होता तो बढ़िया घोड़ा होकर मरा होता । तुम्हारे राज में तो हाथी भी मूस होकर मरता है । जैसा काम वैसी जै । (इतना कहकर मंच में बैठे कलाकारों के बीच में बैठ जाता है । मुंशी भी मंच से बाहर निकल जाता है । संगीत के बाद राजा पुन मंच पर आता है । जैसे ही वह कुर्सी में बैठता है, पोपा के साथ सारे पात्र ताली बजा बजाकर गाते हैं ।)

राजा तोर राज मा टहलैं सियार
फेकरैं सियार हो उछलैं सियार
सभही से तोहे लागे निंदिया पियार
हो निंदिया पियार ।
दियना के तरे-तर बसै अंधियार
चोरी से लुटी जाय तोरी बजार ।

राजा चुप रहो । लाओ मेरी तलवार । मैं सियारों से डरता थोड़े ही हू । (सब पात्र जाते है ।) नहीं नहीं पहले मुझे मेरी मुहर चाहिए ।

पोपा वाह महराज ! आप तो एक ही साथ कायर और बहादुर हो जाते हैं ।

राजा कौन थे ये लोग ?

पोपा *आप अपनी जनता को भी नहीं पहचानते ? यह उसी की आवाज थी जो* आपको आगाह कर रही थी ।

राजा क्या चाहती है आवाज ?

पोपा यही तो आपकी खासियत है कि जिस जनता पर राज करते है उसकी सही आवाज भी नहीं सुनते (रुककर) इस आवाज मे मुजरे का मजा नही होता ? है न महराज !

राजा तुम्हारी बात मेरे दिमाग से फिसलकर निकल गयी । मेरी मुहर । हीरे की अगूठी दूँगा ।

पोपा आपने वचन हारा है । मैं हीरे की अगूठी से बात की कीमत ज्यादा आकती हूँ ।

राजा मागो मागो, क्या चाहिए ? मुझे तो अपनी मुहर चाहिए ।

पोपा आप तो भगवान् की तरह वरदान देना चाहते है । राजा की तरह बोलिए ।

राजा आज पता चला कि भगवान् मेरी तरह बोलते हैं ।

पोपा चलिए, एक वचन यह कि मुझे आज रानी की तरह बोलने दीजिए ।

राजा बोलो बोलो । रानिया तो वैसे ही बोलने मे कजूसी करती है ।

पोपा रियासत को खतरे से बचाने के लिए जरूरी है कि अपनी सेना मजबूत की जाय । मै राजा की ओर से हुकुम देती हू कि जिन जुलाहो का रोजगार खतम हो गया है उन्हे तुरत फौज मे भर्ती कर लिया जाय ।

राजा (लिखता है) लिख लिया । कोई उजुर नही ।

पोपा किसानो की खेती के लिए चारागाह जोते जाय और उनसे कम से कम पांच साल तक लगान न लिया जाय ।

राजा (लिखता है) लिख लिया । मजूर ।

पोपा फिर लिखिए । रसद का हाकिम डउवा बनाया जाय । मगर उसे यह हुकुम दिया जाता है कि अन्न का एक दाना छावनी नही जायेगा ।

राजा अब सिर्फ एक बात और ।

पोपा जब गोरो की सेना झासी की तरफ बढे तो हमारी सेना महेश्वर मैदान मे उसका मुकाबला करेगी । अग्रेजो की मदद का इकरारनामा रद्द किया जाता है ।

राजा मजूर ।

पोपा (उदासी होकर) महराज ! यह तो मैंने रियासत को बचाने के लिए किया । मगर मै कितनी दुखी हूँ कोई नही जानता !

राजा हम तुम्हारे दुख के लिए एक वचन और देंगे । बोलो तो सही ।

पोपा महाराज मेरा एक ही भाई था । दुख सुख मे मेरा साथ देता । वह भूख से मर गया । मैं इस महल से बाहर जाकर उसका मुँह भी नही देख सकी । हाय मेरा भइया ।

राजा रोओ मत । कहो तो उसका खूबसूरत सा मकबरा बनवा दें ।

पोपा अरे भइया, सुन सको तो सुनो । तुम्हारा मकबरा बन रहा है । तुम्हे शहीद बनाने की कोशिश हो रही है जब कि तुम सिर्फ भूख से मरे हो । तुम्हे कहो

कितनी अच्छी लगती थी। परसों तुम्हारा दसवा है।

राजा किले के अंदर बेसन और मठा की कमी नहीं है। कड़ाह भर कढ़ी बनवा दी जायेगी ताकि उसकी आत्मा तृप्त हो जाय।

पोपा नहीं महराज। ऐसे आत्मा तृप्त नहीं होगी। लिखिए।

राजा बोलो। हम उसकी आत्मा के लिए सब कुछ कर सकते हैं।

पोपा महाराज की तरफ से हुकुम दिया जाता है कि परसों दसवां के दिन नदी किनारे मुंशी जी अपना सिर घुटवायेंगे।

राजा लिख लिया।

पोपा लाइए महाराज सारे कागजात। (कागजों पर मुहर लगाती है। फिर मुहर देती है।) महाराज, ये रखिए अपनी मुहर।

राजा तुम पर मैं बहुत खुश हुआ। अब मैं शराब पीने जाऊंगा। (रुककर) और तुम क्या करोगी?

पोपा मुहर पाने की खुशी में डंका बजवाऊंगी।

(राजा जैसे बिना सुने ही लड़खड़ाता हुआ मंच से बाहर चला जाता है। पोपा भी मंच से हट जाती है।)

(उउवा मंच के बीच में खड़ा होकर डुगडुगी पीटता है।)

उउवा रियासत की रिआया सुनो कान खोलकर सुनो। मुझे वह नहीं कहना जो आप सुनते आये हैं। ये हुकुम है पोपा रानी का और कमाल मुहर का, कि बेगार ढोने वाले लोग बेगारी बंद कर दें। बच्चे बेचकर लगान देने वाली औरतें अपने आंसू पोंछ लें और रसोई छोड़कर सड़क पर आ जाय। सेना में जवानों की भर्ती जारी है। (फिर डुग्गी पीटता है।) हो सकता है कि कुछ दिनों में छावनी के सारे घोड़े घायल हो जांय और चारा खाना छोड़ दें। बंजर हम वापस मिल जाय और उनमें खेती होने लगे। ऐसे मौके में बूढ़ी औरतों की जरूरत होगी जो खुशी के गीत गाना जानती हैं। ऐसी औरतें भी बाहर आ जाय। उनकी बहुओं को घास काटने की छूट मिलने वाली है। (फिर डुग्गी पीटता है।) मगर दुख की बात है कि पोपा रानी का गधा बिना घास के मर गया। उसका आज दसवां है। नदी के किनारे मुंशी जी अपना मुंडन करायेंगे। हम इस दुख के जश्न में जरूर शामिल होना है। पर गौर करने की बात यह है कि वहां हम रोना नहीं हंसना है। ही ही करने के लिए बच्चों से अच्छा और कौन हो सकता है? अपने बच्चों को साथ जरूर लायें ताकि वे देखें कि जो मुहर उनके दादा परदादाओं को मुड़वाती रही वही सरेआम मुंशी जी का मुंडन करवायेगी। पोपा रानी के हुकुम से मैं रसद का मालिक हो गया हूं। मैं जानता हूं कि पाव भर अन्न के लिए चूल्हे से रात भर कैसे लड़ा जाता है। इस जश्न में भूखे पेट हर्गिज शामिल न होइए। गोदाम खुला है। अनाज आपका है।

(डउवा आगे ब॰ जाता है । मच के सभी पात्र जैसे जुलूस म शामि॰ होते हैं और गाते हैं ।)

गीत

दौड के आओ, भाग क आओ
नदी किनारे जाओ जाओ ।
अनाचार का मुडन होगा
सुख विलास का खडन होगा

नयी रोशनी नये सहर की
करामात यह नही मुहर की

पोपा रानी के गुन गाओ ।
जिसने धरती का दुख जाना
अपने जन जन को पहचाना
दुश्मन को ना पीठ दिखाना,
आजादी का यही तराना
मन से गाओ, कदम बढाओ
दौड के आओ भाग के आओ ।



कमला प्रसाद के पत्र से झाकती लोकसस्कृति

इधर मने दखा है कि लोक सस्कृति पर कई तरह के लोगो का ध्यान गया है ? अलग अलग क्षेत्रो म आयोजन होन हैं । उनम कभी बु देली कभी छत्तीसगढी, कभी बघेली या मालवी कभी तरह अ य क्षेत्रीय सस्कृतियो की कभी स्वायत्त प्रशसा होती है कि जैस अ य क्षेत्र उसक सामन तुच्छ हैं । उ माद की हद तक तारीफ होती है । अपने मुँह मिया मिट्ठू बनत है लोग । प्रशसक मण्डली के बाच लोग भूल जात है कि देश के दूसरे हिस्स भी जीवित है । इस प्रवृत्ति म शामिल वे लोग होत है, जो अपनी जाति, धम और सम्प्रदाय का राजनीतिक इस्तेमाल करते है । व अवधारणा के शत्रु हो जात हैं । विश्वविद्यालयो के अधिकाश शोध इस पुष्ट करत हैं । सरकार की ओर स लोकसस्कृति के विभिन्न रूपो की रक्षा का स्वाग रचा गया है । इस तरह लोकसस्कृति की तथाकथित रक्षा, शोध तथा आयोजन क्षेत्रीय सतुलन म बाधक है । इनका अभिप्राय लोकजीवन की अविराम धारा को जानने समझने वाला नही है । लोकसस्कृति की चर्चा दूसरी दिशाओ म भी होती है । वहा ज्यादातर सैद्धान्तिक विवेचन होता है । इसम सदेह नही कि सैद्धान्तिक विश्लेषण यहाँ सटीक होता है पर उस विवेचन मे वस्तु की अतरग क्षीणता आती-जाती है । *लोकसस्कृति जीवन के समहे समहे चप्पे चप्पे और बूद बूद मे बिखरी है* जिस समटकर उसके भीतरी ततुओ को पकडने का श्रमसाध्य काम लोग नही करते । इसीलिए एक सीमा के बाद सैद्धान्तिक विश्लेषण उबाऊ हो जाते है । वे जीवन की व्याप्ति की पहचान नहा बनाते ।

बधुवर, तुम लोग छत्तीसगढ के रहवासी हो । यह इलाका स्वय सास्कृतिक

सम्पदा से भरपूर है। जैसे जैसे लोग यहाँ आये, वे बसे प्रकृति के साथ उनका सम्बन्ध भाव विकसित हुआ—इस क्षेत्र की संस्कृति अपना रूप ग्रहण करती गयी। उस संस्कृति में जनता का श्रम और तपस्या मौजूद है। उसमें सामुदायिक जीवन की झांकियां है। जीवन का स्वाभाविक छन्द उस संस्कृति में लबालब भरा है। उसकी छान बीन की जाये तो मालूम पड़ता है कि छत्तीसगढ़ की जनता का कौन सा वर्ग कब निराश हुआ, दुःखी हुआ और सुख के उसके अवसर क्या हैं? उसकी रोजी-रोटी की समस्यायें क्या हैं? जनता की संघर्ष गाथा वहाँ छिपी है। वह कैसे जूझती है सहती है और कैसे बदलती है—इनके प्रमाण हैं। यदि हम लोग लोकगीतों मुहावरों प्रतीकों, बिम्बों, कथाओं रीति रिवाज, त्यौहार, पूजा पाठ के केन्द्रों आदि का सर्वेक्षण करें, उन सबकी व्यवस्थित छान बीन करें तो अद्भुत बातें मालूम पड़ेंगी। संस्कृति के निर्माण में एक एक आदमी की भूमिका होती है। सार्वभौमिक विश्वासों की किसी न किसी धारा से प्रेरित संचालित हर आदमी अपनी जीवन पद्धति के विकास में जो लय धुन और आचरण ढालता है वह व्यापक संस्कृति का एक अंश होता है।

प्रेमचन्द्र या निराला के उपन्यासों में धीसू माधव कुल्ली भाट या बिल्लेसुर बकरिहा जैसों के जो चरित्र हैं स्वभाव आदतें हैं, मुद्रायें या जीवन शैलियां हैं—उन्हें किसी भी भाषा में व्यक्त किया गया हो—उनका कथानक लोकसंस्कृति ही है। एक लेखक जब इस संसार से प्रतिनिधि व्यक्तियों को चुनता और रचता है तो इसके पहले वह सर्वेक्षण करता है उनके भीतर की तात्विक बुनावट भी देखता है।

प्यारे भाई, मैं चाहता हूं कि ऐसा कुछ किया जाय कि एक क्षेत्र का सब कुछ इस तरह पहचाना जाय कि वह इलाका सजीव हो उठे। देखा जाय कि वहां के लोक-जीवन में कैसे चित्र बने, कैसी छवियां ढलीं और कैसे कैसे कलारूप विकसित हुए। तुम्हारे काम की महत्वाकांक्षा ऐसी हो, जिसमें किताबों की मदद से लिखे जाने की कम श्रम से बिखरी संस्कृति को समेटने उसका विश्लेषण और नियमन करने की ज्यादा हो। जिस दृष्टि से यह काम किया जायगा, वह पूरी योजना में अनुस्यूत होगी। टोलियां घूमेंगी, संग्रह करेंगी, गोष्ठियों में उन पर बातचीत होगी और जो हासिल होगा, उससे लोग चकित होंगे।

लोकसंस्कृति के अध्ययन में मेरी राय में छलांग सम्भव नहीं है। यह व्यक्ति से विश्व तक गुंथी धुन और लय जानने से पकड़ में आयेगी। यही तो एक जगह है, जहाँ ज्ञान सहज होकर बार-बार नये बीज के रूप में उगता है। वह स्वतः स्फूर्त हो जाता है। उसमें पशु पक्षी, प्रकृति देवी देवता और मानव-जीवन खुलेपन के साथ मिले हैं। वहाँ परम्परा का मौखिक रूपान्तरण होता है। इस दौरान परिवर्तन-परिवर्द्धन भी होता है। जीवन सहचरण की भावना वहाँ मिलती है। संस्कृति का यथार्थ और उसका स्वप्न संगम यहीं होता है। यदि इसी पूरी प्रक्रिया का अनुशीलन करने की पद्धति हम विकसित कर पायें तो नयी शुरुआत होगी, संस्कृति का साम्प्रदायिक इस्तेमाल बंद होगा। तुम जानते हो कि संस्कृति को साम्प्रदायिक रंग में रंग देना सबसे आसान काम होता है। हमें इस प्रवृत्ति से स्वयं भी बचना है और लोगों को बचाना भी है।

(कमला प्रसाद के पत्र का एक अंश)

★